ॐ 581

श्रीमद्भगवद्गीता

श्रीरामानुज-भाष्य हिन्दी अनुवादसहित

गीताप्रेस, गोरखपुर

श्रीमद्भगवद्गीता

श्रीरामानुज-भाष्य हिन्दी अनुवादसहित

(इसमें श्लोक, श्लोकार्थ, भाष्य, भाष्यार्थ
और टिप्पणी भी है)

अनुवादक-

श्रीहरिकृष्णदास गोयन्दका

मुद्रक तथा प्रकाशक—
घनश्यामदास जालान
गीताप्रेस, गोरखपुर

सं० २००४ प्रथम संस्करण ५,२५०
सं० २००८ द्वितीय संस्करण १०,०००

मूल्य २॥) ढाई रुपया

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

श्रीहरिः

नम्र निवेदन

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥
त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव ।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देवदेव ॥
मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम् ।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम् ॥

परम आदरणीय श्रीसम्प्रदायप्रवर्तक पूज्यपाद भगवान् श्रीरामानुजाचार्यकृत श्रीमद्भगवद्गीताका भाष्य जगत्में विख्यात है । भक्तिमार्गमें चलनेवालोंके लिये यह खास कामकी चीज है । इसी कारण प्राय: भक्तिपक्षके टीकाकारोंने अधिकांशमें इसका अनुकरण किया है । आचार्यके कथनसे यह सिद्ध होता है कि श्रीशङ्कराचार्यका अद्वैतसिद्धान्त इस भाष्यके लेखनकालमें भलीभाँति प्रचलित था । आपने इस भाष्यका निर्माण किस उद्देश्यसे किया ?—आचार्यने इस विषयपर भाष्यमें कुछ नहीं लिखा है ।

भाष्यके आरम्भमें आचार्यने भगवान् विष्णुके स्वरूपका बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है । दूसरे अध्यायके बारहवें श्लोकमें प्रचलित अद्वैतवादका यानी मायावादका और बिम्बवादका श्रुति-स्मृतियोंके प्रमाणसहित सुन्दर युक्तियोंद्वारा खण्डन किया है । इनके सिद्धान्तमें कर्मोंके झंझटसे अलग रहकर मन और इन्द्रियोंके संयमपूर्वक आत्माको जड़ प्रकृतिसे सर्वथा विलक्षण, चेतन, निर्विकार, असङ्ग और समानाकार समझकर उसका निरन्तर चिन्तन करते रहना ही ज्ञानयोग है (गीता ३ । ४); इसीका गीतामें ज्ञाननिष्ठा, अकर्म, संन्यास, सांख्ययोग, कर्मसंन्यास आदि नामोंसे वर्णन हुआ है—(गीता ३ । ४, ८; ५ । २, ४) । तथा नित्य-नैमित्तिक कर्मोंको मोक्षके साधन समझकर आत्मज्ञानपूर्वक भगवान्की आराधनाके रूपमें करना और उसके लिये शरीर धारण करना आवश्यक होनेके कारण शरीरनिर्वाहके लिये एवं यज्ञादि कर्मोंकी पूर्तिके लिये भी द्रव्योपार्जनादि वर्णाश्रमके अन्यान्य शास्त्रसम्मत कर्म करते रहना और उसके

साथ-साथ आत्माके यथार्थ खरूपका भी अनुभव करते रहना, यह कर्मयोग है, (गीता अध्याय ३, ४ और ५ के आरम्भमें इसका स्पष्ट वर्णन है); इसमें काम्यकर्म और निषिद्ध कर्मोंका खरूपसे भी त्याग है। प्रकृतिस्थ पुरुषके लिये यह सुगम है (५ । २, ८) क्योंकि प्रकृतिके गुणोंसे ओतप्रोत होनेके कारण उसके लिये कर्म नियत है अर्थात् वह कर्मोंसे व्याप्त है (३ । ८)। अतः मनुष्य सर्वथा कर्मोंका त्याग नहीं कर सकता (३ । ५)।

आत्मचिन्तनरूप सांख्ययोग कठिन है क्योंकि वह पूर्वाभ्यस्त नहीं है, उसमें प्रमादका भी डर है क्योंकि बुद्धिमान् प्रयत्नशील मनुष्यके मनको भी इन्द्रियाँ विचलित कर देती हैं (२ । ६०) इत्यादि। दूसरे अध्यायमें जो स्थितप्रज्ञ पुरुषके लक्षण हैं, उसे आप ज्ञाननिष्ठाका वर्णन मानते हैं (२ । ५९)। इस नित्य आत्मज्ञानपूर्वक असङ्गभावसे कर्मोंमें स्थितिको ही ब्राह्मी स्थिति कहते हैं (२ । ७२)।

इनके सिद्धान्तमें कर्मयोग और ज्ञानयोग दोनों ही आत्माके यथार्थ स्वरूपके ज्ञानमें हेतु हैं और आत्मस्वरूपका यथार्थ ज्ञान परब्रह्म परमेश्वरकी भक्तिका अङ्ग है (३ । १)। इस सिद्धान्तकी पुष्टि गीतामें जो ब्रह्मभूतयोगीको परा भक्ति प्राप्त होनेका वर्णन है (१८ । ५४), उससे की गयी है।

इनके मतमें कर्मोंका प्रकृतिमें निक्षेप करके कर्तापनका त्याग करना (३ । २७ और ५ । ८, ९, १० आदि) तथा परमात्मामें कर्म समर्पण करके अपनेको कर्ता न समझना—दोनों ही कर्मयोगके अन्तर्गत हैं।

लोकमान्य बालगङ्गाधर तिलकका जो यह सिद्धान्त है कि गीतामें आत्म-स्वरूपका जो वर्णन है वह कर्मोंके साथ ज्ञानकी आवश्यकता समझकर उसके लिये किया गया है तथा ज्ञानयोग भी परमात्माकी प्राप्तिका साधन है, यह गीता मानती है परन्तु उसका गीतामें वर्णन नहीं है—यह भगवान् श्रीरामानुजाचार्यके भाष्यका ही असर प्रतीत होता है।

आचार्यके सिद्धान्तमें बारहवें अध्यायके तीसरे-चौथे श्लोकोंमें बतायी हुई अव्यक्तोपासना परब्रह्मकी उपासना नहीं है; वह प्रत्यक् चेतनके शुद्ध आत्मस्वरूपका चिन्तन ही है। और बारहवें अध्यायमें वर्णित 'अद्वेष्टा' आदि सद्गुण निष्कामभावसे

कर्म करनेवाले कर्मयोगीके लिये उपादेय माने गये हैं। और इनको वे आत्मनिष्ठ योगीके लक्षण मानते हैं (१२। १३ से १९)।

तेरहवें अध्यायमें जो ज्ञेयतत्त्वका वर्णन है (१३। १२ से १८) इसे भी आप आत्माके ही शुद्ध स्वरूपका वर्णन मानते हैं, परब्रह्मका नहीं।

वर्तमान अद्वैतसिद्धान्तका खण्डन आपने तेरहवें अध्यायके दूसरे श्लोकके भाष्यमें भी विस्तारपूर्वक किया है, वहाँ इन्होंने अपने विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तका प्रतिपादन भी बड़ी युक्ति और श्रुति-स्मृतियोंके प्रमाणोंद्वारा विस्तारपूर्वक सिद्ध किया है।

पंद्रहवें अध्यायके पुरुषोत्तम-तत्त्वके वर्णनमें आप क्षर पुरुषका अर्थ प्रकृतिस्थ पुरुष यानी बद्ध जीव, अक्षर पुरुषका अर्थ मुक्त पुरुष और पुरुषोत्तमका अर्थ परब्रह्म परमेश्वर मानते हैं।

गीता-परीक्षा-समितिने श्रीरामानुजभाष्यके अध्ययनको अपने पाठ्यक्रममें रक्खा है, इस कारण परीक्षार्थियोंको उसके ज्ञानकी आवश्यकता समझी गयी; इसके सिवा और भी गीतापर खास-खास भाष्योंका मत जाननेकी इच्छावाले पाठकोंको इसकी आवश्यकता थी एवं संस्कृतभाषा न जाननेके कारण हरेक जिज्ञासुके लिये भगवान् श्रीरामानुजका भाव प्रायः दुष्प्राप्य ही था; क्योंकि हिन्दी-भाषामें इसका कोई सरल अनुवाद सर्वसुलभ नहीं था। अतः इसके एक ऐसे अनुवादकी आवश्यकता प्रतीत हुई, जिससे गीताप्रेमी हिन्दी-भाषी पाठक सुगमतासे आचार्यका मत जान सकें।

यह देखकर अपने प्रेमी मित्रोंकी प्रेरणासे तथा पूज्यपाद मेरे ज्येष्ठ भ्राता श्रीजयदयालजी गोयन्दकाकी आज्ञा पाकर अपनेमें योग्यताका सर्वथा अभाव समझते हुए भी मैं इस कार्यमें प्रवृत्त हो गया।

गत विक्रम-संवत् १९९० कार्तिक मासमें मैंने अपने व्यापारके कामसे समय निकालकर अनुवादका कार्य आरम्भ करके उसे फाल्गुन मासतक समाप्त कर दिया था। इसके बाद बहुत बार इसके प्रकाशनकी बात चलती रही, परन्तु अपनी अल्पज्ञताकी ओर देखकर किसी अच्छे विद्वान् और आचार्य सम्प्रदायके ज्ञाता प्रतिष्ठित पुरुषसे इसका संशोधन करवाये बिना छपानेका मेरा साहस नहीं हुआ। गत संवत् २००२ में जब मैं स्वर्गाश्रमके सत्संगमें गया था तब श्रीरामानुजसम्प्रदायके

सुप्रतिष्ठित आचार्य पुष्करराजमन्दिरके अधिष्ठाता पूज्यपाद श्रीवीरराघवाचार्यजीने अपना अमूल्य समय देकर इसका संशोधन करवा देनेकी कृपा कर दी। उसके बाद वृन्दावननिवासी श्रीसम्प्रदायके वेदान्ताचार्य श्रीचक्रपाणिजी महाराज भी उसी समय स्वर्गाश्रम पधारे। आपने भी वहाँ रहकर प्रायः एक महीनेतक अपना अमूल्य समय देकर इसका भलीभाँति निरीक्षण करनेकी दया कर दी और जहाँ-तहाँ उसके कठिन स्थलोंको सरल बना देनेमें काफी सहायता प्रदान की। इसके लिये मैं दोनों पूज्यपाद महोदयोंका हृदयसे कृतज्ञ हूँ, उन्हींकी कृपासे आज यह पाठकोंको मुद्रितरूपमें मिल रहा है।

इसकी छपाईका काम संवत् २००२ में आरम्भ हो गया था, परन्तु कागजपर कंट्रोल होनेके कारण प्रेसमें अवकाश नहीं मिला, इसलिये छठे अध्यायतक छपकर बंद हो गया। अब किसी तरह अवकाश निकालकर प्रकाशनका प्रयत्न किया गया।

इसकी भाषाको सुन्दर और सरल बनानेमें पूज्य भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार और पूज्य पण्डितजी श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्रीने भी काफी सहयोग दिया है। उन लोगोंकी कृपासे ही आज यह इस रूपमें आपलोगोंके सम्मुख प्रस्तुत किया जा सका है।

उपर्युक्त विद्वज्जनोंके सहयोगसे अपनी अल्पबुद्धि और तुच्छ शक्तिके अनुरूप मैंने सरल हिन्दी-भाषामें आचार्यका भाव ज्यों-का-त्यों रखनेकी यथासाध्य चेष्टा की है तथापि मैं यह नहीं कह सकता कि मैं इस कार्यमें पूर्णतया सफल हो गया हूँ। एक तो यह परम तात्त्विक विषय, दूसरे आचार्यकी बड़े-बड़े समासोंसे युक्त कठिन संस्कृत, जिसका समझना बड़े-बड़े विद्वानोंके लिये भी गीतासम्बन्धी विषयका अध्ययन कम होनेके कारण कठिन हो जाया करता है; मेरे-जैसा साधारण मनुष्य भूल कर बैठे तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? तथापि जो कुछ भगवान्की दया, प्रेरणा और उन्हींसे मिली हुई बुद्धिशक्तिसे हो सका है, आपके सामने है।

विषयकी कठिनताके कारण कहीं-कहीं वाक्य-रचनामें कुछ शैथिल्य आ सकता है, इसके लिये सहृदय पाठक क्षमा करें। ऐसे ग्रन्थके अनुवादमें किन-किन कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता है और अपनी स्वतन्त्रता छोड़कर

पराधीनताके किन-किन नियमोंमें कैसे बँध जाना पड़ता है, इसका अनुभव उन्हीं पाठक और लेखक महोदयोंको हो सकता है जो कभी इस प्रकारका कार्य कर चुके हैं या कर रहे हैं।

भगवान् श्रीकृष्णकी परमकृपासे ही मुझ-सरीखे व्यक्तिको आचार्यकृत भाष्यके कुछ मननका सुअवसर मिला, यह मेरे लिये बड़े ही सौभाग्यकी बात है। श्रद्धेय विद्वन्मण्डली और गीताप्रेमी महानुभावोंसे प्रार्थना है कि वे इस बालकके प्रयासको स्नेहपूर्वक देखें और जहाँ-कहीं अज्ञानवश या प्रमादवश भूल रह गयी हो, उसे बतलानेकी अवश्य कृपा करें, जिससे मुझे अपनी भूलोंको सुधारनेका अवसर मिले और आगामी संस्करणमें उसका सुधार करनेकी चेष्टा की जा सके।

एक बात यह भी है कि अनुवाद कितना ही सुन्दर क्यों न हो, जो आनन्द और स्वारस्य मूल ग्रन्थमें होता है, वह अनुवादमें नहीं आ सकता। इसी विचारसे इसमें मूल भाष्य भी साथ रक्खा गया है। गीताके श्लोकोंका शब्दार्थ समझनेके लिये भाष्यके सिद्धान्तकी रक्षा करते हुए मूल श्लोकोंका अनुवाद भी सरल हिन्दी-भाषामें श्लोकोंके नीचे अलग दे दिया है। साधारण संस्कृत जाननेवाले भी आचार्यके मूल लेखको सहज ही समझ सकें, इस विचारसे भाष्यके पद अलग-अलग करके और वाक्योंके भी छोटे-छोटे भाग करके लिखे गये हैं। व्याकरणके नियमानुसार यदि इसमें किसी प्रकारकी त्रुटि जान पड़े तो विद्वान् महोदयगण क्षमा करें।

जहाँ शास्त्रार्थका प्रकरण है, वहाँ पूर्वपक्षके स्थानपर 'शङ्का' शब्द अधिक लिख दिया गया है और उत्तरपक्षको समझनेके लिये 'उत्तर'——ऐसा शब्द अधिक लिख दिया गया है। सम्भवतः इससे पाठकोंको सुविधा मिलेगी।

भाष्यमें जो मूल श्लोकके पद या शब्द आये हैं, वे दूसरे टाइपोंमें और ग्रन्थोंके प्रमाणरूपसे आये हुए वाक्य एवं पद दूसरे ही टाइपोंमें दिये गये हैं। मूल श्लोकोंके आगे-पीछेके शब्दोंका अन्वय करनेकी जहाँ-कहीं भाष्यकारने प्रेरणा की है, उसके अनुसार अर्थ कर दिया गया है किन्तु उस प्रेरणाके शब्दोंका अर्थ सब जगह नहीं किया जा सका है। क्योंकि वैसा करनेसे विषयको समझनेमें कठिनता आ जाती थी।

आचार्यने मूल श्लोकोंके समस्त पदोंका जो विग्रह दिखाया है उसे प्रायः उसी प्रकार हिन्दीमें दिखानेका ध्यान रक्खा गया है; परन्तु जहाँ भाषाकी शैली बिगड़नेका ढंग आ गया, वहाँ केवल उस विग्रहके अनुरूप अर्थ ही कर दिया गया है, विग्रह नहीं दिखाया गया है। पाठकगण मेरी असुविधाकी ओर देखकर क्षमा करें।

आचार्यने जो श्रुति-स्मृति, पुराण, इतिहासोंके प्रमाण उद्‌धृत किये हैं वे किस ग्रन्थके और किस स्थलके हैं यह भी मूल भाष्यमें ही कोष्ठकके अंदर दिखलानेकी चेष्टा की गयी है।

अनुवादमें पर्याय बतानेके लिये कहीं 'अर्थात्' कहीं 'यानी' और कहीं (—) डैससे काम लिया गया है। समासके पदोंका सम्बन्ध दिखलानेके लिये (-) इस चिह्नसे काम लिया गया है।

विनीत

हरिकृष्णदास गोयन्दका

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

श्रीमद्भगवद्रामानुजाचार्यकृत भाष्य
और
उसका हिन्दी-भाषानुवाद

प्रथम षट्क

पहला अध्याय

यत्पदाम्भोरुहध्यानविध्वस्ताशेषकल्मषः ।

वस्तुतामुपयातोऽहं यामुनेयं नमामि तम् ॥

जिनके चरण-कमलोंका चिन्तन करनेसे समस्त पापोंका नाश हो जानेके कारण मैं वास्तविक तत्त्वको प्राप्त हुआ हूँ, उन श्रीयामुनाचार्यको प्रणाम करता हूँ ।

हरिः ॐ श्रियः पतिः निखिलहेयप्रत्यनीककल्याणैकतानः, स्वेतरसमस्तवस्तुविलक्षणानन्तज्ञानानन्दैकस्वरूपः, स्वाभाविकानवधिकातिशयज्ञानबलैश्वर्यवीर्यशक्तितेजःप्रभृत्यसंख्येयकल्याणगुणगणमहोदधिः, स्वाभिमतानुरूपैकरूपाचिन्त्यदिव्याद्भुतनित्यनिरवद्यनिरतिशयौज्ज्वल्यसौगन्ध्यसौन्दर्यसौकुमार्यलावण्ययौवनाद्यनन्तगुणनिधिदिव्यरूपः, स्वोचितविविधविचि-

हरिः ॐ जो श्रीलक्ष्मीजीके पति सम्पूर्ण हेय गुणगणोंसे रहित, एकतान कल्याणमय एवं अपनेसे अतिरिक्त समस्त वस्तुओंसे विलक्षण एकमात्र अनन्त ज्ञानानन्द-स्वरूप हैं, जो स्वाभाविक असीम अतिशय ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, शक्ति और तेज प्रभृति असंख्य कल्याणमय गुण-समूहोंके महान् समुद्र हैं; जिनका दिव्य श्रीविग्रह स्वेच्छानुरूप सदा एकरस अचिन्त्य दिव्य अद्भुत नित्य निर्मल निरतिशय औज्ज्वल्य, सौगन्ध्य, सौन्दर्य, सौकुमार्य, लावण्य और यौवन आदि अनन्त गुणोंका भण्डार है; जो अपने

त्रानन्ताश्चर्यनित्यनिरवद्यापरिमित-
दिव्यभूषणः, स्वानुरूपासंख्येया-
चिन्त्यशक्तिनित्यनिरवद्यनिरतिशय-
कल्याणदिव्यायुधः, स्वाभिमतानु-
रूपनित्यनिरवद्यस्वरूपरूपगुणविभ-
वैश्वर्यशीलाद्यनवधिकातिशयासंख्ये-
यकल्याणगुणगणश्रीवल्लभः, स्वसंक-
ल्पानुविधायिस्वरूपस्थितिप्रवृत्तिभे-
दाशेषशेषतैकरतिरूपनित्यनिरवद्यनि-
रतिशयज्ञानक्रियैश्वर्याद्यनन्तगुणग-
णापरिमितसूरिभिः अनवरताभिष्टुत-
चरणयुगलः, वाङ्मनसापरिच्छेद्यस्व-
रूपस्वभावः, स्वोचितविविधविचित्रा-
नन्तभोग्यभोगोपकरणभोगस्थान-
समृद्धानन्ताश्चर्यानन्तमहाविभवान-
न्तपरिमाणनित्यनिरवद्याक्षरपरमव्यो-
मनिलयः, विविधविचित्रानन्तभोग्य-
भोक्तृवर्गपरिपूर्णनिखिलजगदुदयवि-
भवलयलीलः, परं ब्रह्म पुरुषोत्तमो

ही योग्य विविध विचित्र अनन्त आश्चर्यमय नित्य निर्मल अपरिमित दिव्य आभूषणोंसे युक्त हैं; जो अपने ही अनुरूप अचिन्त्य शक्तियुक्त नित्य निर्मल निरतिशय कल्याणमय असंख्य दिव्य आयुधोंसे सम्पन्न हैं; जो अपने मनके अनुरूप नित्य निरवद्य स्वरूपभूत श्रीविग्रह तथा गुण, वैभव, ऐश्वर्य, शील आदि सीमारहित अतिशय असंख्य कल्याणगुण-गण-सम्पन्ना श्रीलक्ष्मीजीके प्रियतम हैं; जिनके श्रीयुगल-चरणोंकी स्तुति,--उन्हीं (भगवान्) के संकल्पानुसार स्वरूप, स्थिति और प्रवृत्तिके भेदोंसे सम्पन्न, पूर्ण दास-भावयुक्त अनन्य प्रेमी नित्य निर्मल निरतिशय ज्ञान, क्रिया, ऐश्वर्य आदि अनन्त गुणसमूहोंसे युक्त अनेकों पार्षद — निरन्तर किया करते हैं; जिनका स्वरूप और स्वभाव मन-वचनसे अतीत है; अपने ही योग्य विविध विचित्र अनन्त भोग्य, भोग-पदार्थ और भोग-स्थानोंसे सुसमृद्ध, अनन्त आश्चर्य, अनन्त महावैभव और अनन्त विस्तारयुक्त नित्य निर्मल क्षयरहित परम व्योम जिनका निवास-स्थान है; विविध विचित्र अनन्त भोग्य और भोक्तृवर्गसे परिपूर्ण निखिल जगत्का उद्भव, पालन और संहार जिनकी लीला है; वे परब्रह्म पुरुषोत्तम(प्रकृति और पुरुष दोनोंसे उत्तम)

नारायणो ब्रह्मादिस्थावरान्तम् अखिलं जगत् सृष्ट्वा स्वेन रूपेण अवस्थितः, ब्रह्मादिदेवमनुष्याणां ध्यानाराधनाद्यगोचरः अपि अपारकारुण्यसौशील्यवात्सल्यौदार्यमहोदधिः, स्वमेव रूपं तत्तत्सजातीयसंस्थानं स्वस्वभावम् अजहद् एव कुर्वन् तेषु तेषु लोकेषु अवतीर्य अवतीर्य तैः तैः आराधितः, तत्तदिष्टानुरूपं धर्मार्थकाममोक्षाख्यं फलं प्रयच्छन्, भूभारावतारणापदेशेन अस्मदादीनाम् अपि समाश्रयणीयत्वाय अवतीर्य उर्व्यां सकलमनुजनयनविषयतां गतः, परावरनिखिलजनमनोनयनहारिदिव्यचेष्टितानि कुर्वन्, पूतनाशकटयमलार्जुनारिष्टप्रलम्बधेनुककालियकेशिकुवलयापीडचाणूरमुष्टिकतोसलकंसादीन् निहत्य अनवधिकदयासौहार्दानुरागगर्भावलोकनालापामृतैः विश्वम् आप्याययन् निरतिशयसौन्दर्यसौशी-

नारायण ब्रह्मासे लेकर स्थावरपर्यन्त समस्त जगत्को रचकर अपने अचिन्त्य स्वरूपमें स्थित हैं, अतः वे ब्रह्मादि देवता तथा मनुष्योंके द्वारा ध्यान और आराधनाके विषय नहीं हैं, तथापि अपार कारुण्य, सौशील्य, वात्सल्य और औदार्यके महान् समुद्र होनेके कारण अपने स्वभावको न छोड़ते हुए ही वे उन-उन देव-मनुष्योंके सजातीय स्वरूपमें अपनेको ही प्रकट करते हुए उन-उन लोकोंमें पुनः-पुनः अवतार ले-लेकर उन उन देव-मनुष्योंके द्वारा आराधित होते हैं और उन-उनकी इच्छाके अनुरूप धर्म-अर्थ-काम एवं मोक्षरूप फल प्रदान करते हैं। वे ही भगवान् भूमिका भार हरण करनेके बहाने हम-जैसे जीवोंको भी शरण देनेके लिये भूमिपर अवतीर्ण होकर समस्त मनुष्योंके नेत्रगोचर हुए। तदनन्तर छोटे-बड़े सभी मनुष्योंके मन और नयनोंको हरण करनेवाली दिव्य लीला करते हुए उन्होंने पूतना, शकट, यमलार्जुन, अरिष्ट, प्रलम्ब, धेनुकासुर, कालिय, केशी, कुवलयापीड, चाणूर, मुष्टिक, तोसल और कंस आदिका वध करके उनका उद्धार किया; अपरिसीम दया, सौहार्द और अनुरागसे भरे हुए दर्शन-भाषणरूप अमृतसे विश्वको तृप्त करते हुए निरतिशय सौन्दर्य और

ल्यादिगुणगणाविष्कारेण अक्रूरमालाकारादीन् परमभागवतान् कृत्वा पाण्डुतनययुद्धप्रोत्साहनव्याजेन परमपुरुषार्थलक्षणमोक्षसाधनतया वेदान्तोदितं स्वविषयं ज्ञानकर्मानुगृहीतं भक्तियोगम् अवतारयामास ।

सौशील्यादि गुणसमूहोंको प्रकट करके अक्रूर, मालाकार आदिको परम भक्त बनाया एवं पाण्डुपुत्र अर्जुनको युद्धके लिये प्रोत्साहित करनेके बहाने परम-पुरुषार्थ मोक्षके साधनरूपसे वेदान्तमें वर्णित ज्ञान-कर्मके द्वारा साध्य स्वविषयक भक्तियोगको प्रकट किया ।

तत्र पाण्डवानां कुरूणां च युद्धे प्रारब्धे स भगवान् पुरुषोत्तमः सर्वेश्वरेश्वरो जगदुपकृतिमर्त्य आश्रितवात्सल्यविवशः पार्थं रथिनम् आत्मानं च सारथिं सर्वलोकसाक्षिकं चकार ।

वहाँ (कुरुक्षेत्रमें) जब कौरव और पाण्डवोंमें युद्धकी तैयारी हो चुकी थी, तब जगत्का उपकार करनेके लिये मनुष्यरूप धारण करनेवाले, सम्पूर्ण ईश्वरोंके भी ईश्वर भगवान् पुरुषोत्तम श्रीकृष्णचन्द्रने शरणागत-वत्सलतासे विवश होकर सब लोगोंके सामने अर्जुनको रथी बनाया और स्वयं सारथि बने ।

एवम् अर्जुनस्य उत्कर्षं ज्ञात्वा अपि सर्वात्मना अन्धो धृतराष्ट्रः सुयोधनविजयबुभुत्सया संजयं पप्रच्छ ।

इस प्रकार अर्जुनकी उत्कृष्टता जानकर भी सब प्रकारसे अन्धे धृतराष्ट्रने दुर्योधनका विजय-संवाद सुननेकी इच्छासे संजयसे पूछा—

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—सञ्जय ! धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्रमें युद्धकी इच्छासे एकत्रित मेरे और पाण्डुके पुत्रोंने क्या किया ? ॥ १ ॥

संजय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥
पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ ३ ॥

संजयने कहा—उस समय राजा दुर्योधनने व्यूहाकारसे खड़ी हुई पाण्डवोंकी सेनाको देखकर द्रोणाचार्यके समीप जाकर कहा—॥ २ ॥ आचार्य ! पाण्डुपुत्रोंकी इस महान् सेनाको आप देखिये, जो कि आपके बुद्धिमान् शिष्य धृष्टद्युम्नद्वारा व्यूहाकारमें खड़ी की गयी है ॥ ३ ॥

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ ४ ॥
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥ ५ ॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥ ६ ॥

इस सेनामें भीम और अर्जुनके समान ही युद्धकुशल महाधनुर्धर शूरवीर हैं—युयुधान, विराट, महारथी द्रुपद, धृष्टकेतु, चेकितान, वीर्यवान् काशिराज, पुरुजित्, कुन्तिभोज, नरश्रेष्ठ शैब्य, महापराक्रमी युधामन्यु, बलवान् उत्तमौजा, सुभद्रापुत्र अभिमन्यु और द्रौपदीके (पाँचों) पुत्र—ये सभी महारथी हैं ॥ ४—६ ॥

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥ ७ ॥

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥ ८ ॥
अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ९ ॥

द्विजोत्तम ! अब आप हमारी सेनाके भी जो विशिष्ट (योद्धा) हैं, उनको जान लीजिये । जो मेरी सेनाके नायक हैं, उनको मैं आपकी जानकारीके लिये बतलाता हूँ ॥ ७ ॥ आप स्वयं, भीष्म, कर्ण, रणविजयी कृपाचार्य, अश्वत्थामा, विकर्ण और वैसे ही सोमदत्तके पुत्र भूरिश्रवा ॥८॥ (इनके अतिरिक्त) और भी बहुत-से शूरवीर हैं, जिन्होंने मेरे लिये जीवन समर्पण कर दिया है । ये सभी विविध शस्त्रास्त्रोंसे सुसज्जित और युद्ध-कलामें प्रवीण हैं ॥ ९ ॥

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥ १० ॥
अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥ ११ ॥

तथापि भीष्मद्वारा सुरक्षित हमारी सेना अपर्याप्त (पाण्डवोंपर विजय प्राप्त करनेमें असमर्थ) है । परन्तु भीमके द्वारा सुरक्षित इन पाण्डवोंकी यह सेना पर्याप्त (हमपर विजय पानेमें समर्थ) है ॥ १० ॥ (इसलिये) सभी मोर्चोंपर अपने-अपने स्थानोंपर डटे हुए आपलोग सब-के-सब भीष्मपितामहकी ही रक्षा करें ॥ ११ ॥

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥ १२ ॥
ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥ १३ ॥

(इस प्रकार खिन्नचित्त) उस दुर्योधनके मनमें हर्ष उत्पन्न करनेके लिये कुरुकुलवृद्ध प्रतापी पितामह भीष्मने सिंहके समान ऊँचे स्वरसे गरजकर शङ्ख बजाया ॥ १२ ॥ फिर (सारी सेनामें) एक ही साथ बहुतसे शङ्ख, नगारे, ढोल, मृदंग और रणसिंहे बज उठे, उनका वह शब्द बहुत ही ऊँचा हुआ ॥ १३ ॥

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥ १४ ॥
पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥ १५ ॥

तदनन्तर श्वेत घोड़ोंसे युक्त महान् रथपर विराजमान श्रीकृष्णचन्द्र और अर्जुन दोनोंने (अपने) दिव्य शङ्खोंको बजाया ॥ १४ ॥ हृषीकेश भगवान् श्रीकृष्णने (अपने) पाञ्चजन्य नामक शङ्खको, धनञ्जय अर्जुनने देवदत्त नामक शङ्खको तथा भयानक कर्म करनेवाले भीमसेनने पौण्ड्र नामक महाशङ्खको बजाया ॥ १५ ॥

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ १६ ॥
काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥ १७ ॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक् ॥ १८ ॥

कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरने अनन्तविजय एवं नकुल तथा सहदेवने (क्रमसे) सुघोष और मणिपुष्पक नामक शङ्ख बजाये ॥ १६ ॥ पृथ्वीपते ! इनके अतिरिक्त महाधनुर्धर काशिराज, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, विराट, (किसीसे भी) न जीते जानेवाले सात्यकि, राजा द्रुपद, द्रौपदीके (पाँचों) पुत्र तथा सुभद्रापुत्र महाबाहु अभिमन्यु—इन सबने भी सब ओरसे अलग-अलग शङ्ख बजाये ॥ १७-१८ ॥

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन्॥ १९॥

वह भयंकर शब्द आकाश और पृथ्वीको पूर्णरूपसे प्रतिध्वनित करता हुआ धृतराष्ट्र-पुत्रोंके हृदयोंको विदीर्ण करने लगा॥ १९॥

दुर्योधनः स्वयमेव भीमाभिरक्षितं पाण्डवानां बलम् आत्मीयं च भीष्माभिरक्षितं बलम् अवलोक्य आत्मविजये तस्य बलस्य पर्याप्तताम् आत्मीयस्य बलस्य तद्विजये चापर्याप्तताम् आचार्याय निवेद्य अन्तरे विषण्णः अभवत्। तस्य विषादम् आलोक्य भीष्मः तस्य हर्षं जनयितुं सिंहनादं शङ्खाध्मानं च कृत्वा शङ्खभेरीनिनादैः च विजयाभिशंसिनं घोषं च अकारयत्। ततः तं घोषम् आकर्ण्य सर्वेश्वरेश्वरः पार्थसारथी रथी च पाण्डुतनयः त्रैलोक्यविजयोपकरणभूते महति स्यन्दने स्थितौ त्रैलोक्यं कम्पयन्तौ

इसपर अपने पुत्रोंका विजय चाहनेवाले धृतराष्ट्रसे संजयने इस प्रकार कहा—दुर्योधन स्वयं ही पाण्डवोंकी सेनाको भीमसे सुरक्षित और अपनी सेनाको भीष्मसे सुरक्षित देखकर, 'पाण्डवोंकी सेना हमलोगोंपर विजय पानेके लिये पर्याप्त (समर्थ) है और अपनी सेना उनपर विजय पानेके लिये पर्याप्त (समर्थ) नहीं है' यह बात आचार्य द्रोणसे निवेदन करके वह मनमें खिन्न हो गया। उसके विषादको देखकर पितामह भीष्मने उस (दुर्योधन) के हृदयमें हर्ष उत्पन्न करनेके लिये सिंहके समान गरजकर और शङ्खध्वनि करके शङ्ख-भेरी आदि वाद्योंके द्वारा विजयसूचक शब्द करवाया। फिर उस शब्दको सुनकर तीनों लोकोंको जीतनेके साधनरूप महान् रथपर आरूढ़ हुए पार्थसारथि सर्वेश्वरेश्वर श्रीकृष्ण और महारथी पाण्डुपुत्र अर्जुन—इन दोनोंने भी त्रिलोकीको प्रकम्पित करते हुए श्रीसम्पन्न

श्रीमत्पाञ्चजन्यदेवदत्तौ दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः। ततो युधिष्ठिरवृकोदरादयः च स्वकीयान् शङ्खान् पृथक् पृथक् प्रदध्मुः। स घोषो दुर्योधनप्रमुखानां सर्वेषाम् एव भवत्पुत्राणां हृदयानि बिभेद। अद्य एव नष्टं कुरूणां बलम् इति धार्त्तराष्ट्रा मेनिरे। एवं तद्विजयाभिकाङ्क्षिणे धृतराष्ट्राय संजयःअकथयत्॥ १–१९॥

पाञ्चजन्य और देवदत्त नामक दिव्य शङ्खोंको बजाया। फिर युधिष्ठिर, भीमसेन आदिने भी अपने-अपने शङ्खोंको अलग-अलग बजाया। वह भयानक शब्द आपके दुर्योधन आदि सभी पुत्रोंके हृदयोंको विदीर्ण करने लगा। वे सब आपके पुत्र समझने लगे कि बस, कौरवी सेना अभी नष्ट हो जायगी॥ १–१९॥

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः॥ २०॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत॥ २१॥
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे॥ २२॥

पृथ्वीपते! इसके अनन्तर, ठीक शस्त्रपातकी तैयारीके समय युद्धके लिये सुसज्जित धृतराष्ट्रपक्षीय योद्धाओंको देखकर वानरकी ध्वजावाले अर्जुनने धनुष उठाकर हृषीकेश भगवान् श्रीकृष्णसे ये वचन कहे—अच्युत! आप मेरे रथको दोनों सेनाओंके बीचमें (ऐसी जगह) खड़ा कीजिये, जहाँसे मैं युद्धकी इच्छासे सज-धजकर खड़े हुए इन योद्धाओंको अच्छी तरह देख सकूँ कि इस रणक्षेत्रमें मुझे किन-किनके साथ युद्ध करना है॥ २०–२२॥

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः॥ २३॥

युद्धमें धृतराष्ट्रके दुर्बुद्धि पुत्र दुर्योधनका हित चाहनेवाले जो ये सब लोग यहाँ एकत्रित हुए हैं, इन युद्ध करनेवालोंको मैं देख लूँ॥ २३॥

संजय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥ २४ ॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥ २५ ॥

संजय बोले—भारत (धृतराष्ट्र) ! निद्राविजयी अर्जुनके इस प्रकार कहनेपर, इन्द्रियोंके स्वामी भगवान् श्रीकृष्णने भीष्म-द्रोणादिके सामने तथा अन्य समस्त राजाओंके देखते-देखते ही उस उत्तम रथको दोनों सेनाओंके बीचमें खड़ा करके ऐसे कहा—पार्थ ! इन एकत्र हुए कुरुवंशियोंको तू देख ॥ २४-२५ ॥

अथ युयुत्सून् अवस्थितान् धार्तराष्ट्रान् भीष्मद्रोणप्रमुखान् दृष्ट्वा लङ्कादहनवानरध्वजः पाण्डुतनयो ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजसां निधिं स्वसंकल्पकृतजगदुदयविभवलयलीलं हृषीकेशं परावरनिखिलजनान्तर्बाह्य-सर्वकरणानां सर्वप्रकारकनियमने अवस्थितं समाश्रितवात्सल्य-विवशतया स्वसारथ्ये अवस्थितं युयुत्सून् यथावद् अवेक्षितुं तदीक्षणक्षमे स्थाने रथं स्थापय इति अचोदयत्।

फिर, युद्धकी इच्छासे प्रस्तुत धृतराष्ट्र-पक्षीय भीष्मद्रोणादिको देखकर—जिसके रथकी ध्वजापर लङ्कादहनकारी श्री-हनूमान्‌जी विराजमान हैं, उस पाण्डुपुत्र अर्जुनने ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेजके भण्डार, अपने संकल्पमात्रसे जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और लयरूप लीला करनेवाले, छोटे-बड़े समस्त मनुष्योंके आन्तरिक और बाह्य समस्त करणोंका सब प्रकारसे नियमन करनेमें प्रवृत्त रहनेवाले तथा शरणागतवत्सलताके विवश होकर अपने सारथिके आसनपर विराजित हृषीकेश श्रीकृष्णचन्द्रसे कहा कि 'इन युद्धकी इच्छावालोंको भलीभाँति देखनेके लिये उनको देखनेके योग्य स्थानमें मेरे रथको खड़ा कीजिये।'

स च तेन चोदितः तत्क्षणाद् एव भीष्मद्रोणादीनां सर्वेषाम् एव महीक्षितां पश्यतां यथाचोदितम् अकरोत् । ईदृशी भवदीयानां विजयस्थितिः इति च अवोचत् ॥२०-२५॥

उस अर्जुनके द्वारा प्रेरित श्रीकृष्णने भीष्म-द्रोण आदिके तथा सभी राजाओंके देखते-देखते उसी क्षण अर्जुनकी प्रेरणाके अनुसार (रथको दोनों सेनाओंके बीचमें खड़ा) कर दिया । आपके पुत्रोंकी विजयस्थिति इस प्रकारकी है, ये सब बातें भी संजयने कहीं ॥ २०—२५ ॥

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥ २६ ॥
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥ २७ ॥
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

वहाँ उन दोनों सेनाओंमें अर्जुनने युद्धके लिये सुसज्जित होकर स्थित पिता (ताऊ-चाचा), पितामह, आचार्य, मामा, भाई, पुत्र, पौत्र, मित्र, श्वशुर और सुहृदोंको देखा । उन सब बन्धु-बान्धवोंको खड़ा देखकर वह कुन्तीपुत्र अर्जुन परम करुणासे भर गया और विषाद करता हुआ इस प्रकार कहने लगा ॥ २६—२८ ॥

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥ २८ ॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥ २९ ॥
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥ ३० ॥

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥ ३१ ॥

अर्जुन बोला—श्रीकृष्ण ! युद्धकी इच्छासे समुपस्थित इस स्वजन-समुदायको देखकर मेरे सारे अंग शिथिल हुए जा रहे हैं; मुख सूखा जा रहा है, मेरे शरीरमें कम्प हो रहा है, रोएँ खड़े हो रहे हैं, मेरे हाथसे गाण्डीव धनुष फिसला जा रहा है और मेरी त्वचा जल रही है । मैं खड़ा रहनेमें भी असमर्थ हो रहा हूँ, मेरा मन चक्कर-सा खा रहा है । केशव ! मैं सारे लक्षणोंको भी विपरीत ही देख रहा हूँ । और युद्धमें स्वजन-समुदायको मारकर मैं किसी प्रकार भी कल्याण नहीं देख रहा हूँ ॥ २८—३१ ॥

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥ ३२ ॥
येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥ ३३ ॥
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः संबन्धिनस्तथा ॥ ३४ ॥
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥ ३५ ॥

श्रीकृष्ण ! मैं न विजय चाहता हूँ और न राज्य या सुखोंको ही । गोविन्द ! हमें राज्य, भोग अथवा जीवनसे भी क्या प्रयोजन है ? ॥ ३२ ॥ हमें जिनके लिये राज्य, भोग और सुखोंकी आवश्यकता है वे ही ये गुरुजन, पितामह, पिता (ताऊ-चाचा), पुत्र, पौत्र, मामा, श्वशुर, साले तथा अन्यान्य सम्बन्धीगण प्राण और धनका परित्याग करके युद्धमें सज-धजकर खड़े हैं ॥ ३३-३४ ॥ मधुसूदन ! इनके द्वारा मारे जानेपर भी अथवा तीनों लोकोंके राज्यके लिये भी मैं इन सबको मारना नहीं चाहता, फिर पृथ्वीके लिये तो कहना ही क्या है ॥ ३५ ॥

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥ ३६ ॥
तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥ ३७ ॥

जनार्दन ! इन धृतराष्ट्रपक्षीय लोगोंको मारकर हमें क्या लाभ होगा ? (बल्कि) इन आततायियोंको मारनेसे हमें पाप ही लगेगा ॥ ३६ ॥ इसलिये धृतराष्ट्रपक्षीय अपने बान्धवोंको मारना हमारे लिये उचित नहीं है । क्योंकि माधव ! हम अपने कुटुम्बको मारकर कैसे सुखी होंगे ? ॥ ३७ ॥

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥ ३८ ॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥ ३९ ॥

यद्यपि जिनका चित्त लोभके कारण भ्रष्ट हो चुका है ऐसे ये लोग कुलनाश-जनित दोषको और मित्र-द्रोहसे उत्पन्न पापको नहीं देख रहे हैं ॥३८॥ परन्तु जनार्दन ! हमलोगोंको, जो कि कुलनाशजन्य दोषको भलीभाँति समझते हैं, इस पापसे बचनेका उपाय क्यों नहीं सोचना चाहिये ? ॥ ३९ ॥

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥ ४० ॥
अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥ ४१ ॥
संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥ ४२ ॥

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥ ४३ ॥
उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥ ४४ ॥

कुलका नाश होनेपर सनातन कुल-परम्परागत धर्म नष्ट हो जाते हैं और धर्मका नाश हो जानेपर फिर अधर्म समस्त कुलको सब ओरसे दबा लेता है ॥४०॥ श्रीकृष्ण ! अधर्मके छा जानेपर कुलकी स्त्रियाँ अत्यन्त दूषित हो जाती हैं । वार्ष्णेय ! स्त्रियोंके दूषित हो जानेपर वर्णसंकर उत्पन्न हो जाता है ॥४१॥ वह वर्णसंकर कुलघातियोंको और कुलको नरकमें डालनेवाला होता है । अतः उनके कुलमें पिण्ड और जलदानकी क्रिया (श्राद्धतर्पण) लुप्त हो जानेके कारण उनके पितरोंका पतन हो जाता है ॥४२॥ कुलघातियोंके इन वर्णसंकरजनित दोषोंके कारण सनातन कुल-धर्म और जाति-धर्म सर्वथा नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं ॥४३॥ जनार्दन ! जिनके कुल-धर्म नष्ट हो जाते हैं, उन मनुष्योंका अवश्य ही नरकमें निवास होता है; ऐसा हमने सुना है ॥४४॥

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥ ४५ ॥

अहो ! बड़े शोककी बात है कि हमलोगोंने बड़े भारी पाप करनेका निश्चय कर लिया है । जो कि राज्य और सुखके लोभसे अपने ही कुटुम्बको मारनेके लिये उद्यत हुए हैं ॥ ४५ ॥

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥ ४६ ॥

यदि मुझ न सामना करनेवाले और शस्त्ररहितको ये शस्त्रधारी धृतराष्ट्रके पुत्र रणमें मार डालें तो वह मेरे लिये अधिक कल्याणकर होगा ॥ ४६ ॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः॥ ४७॥

संजय बोले—रणाङ्गणमें इस प्रकार कहकर शोकमें निमग्न मनवाला अर्जुन बाणसहित धनुषका परित्याग करके रथके पिछले भागमें बैठ गया ॥४७॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादेऽर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

स तु पार्थो महामनाः परमकारुणिको दीर्घबन्धुः परमधार्मिकः सभ्रातृको भवद्भिः अतिघोरैः मारणैः जतुगृहादिभिः असकृद्वञ्चितः अपि परमपुरुषसहायः अपि हनिष्यमाणान् भवदीयान् विलोक्य बन्धुस्नेहेन परमया च कृपया धर्माधर्मभयेन च अतिमात्रस्विन्नसर्वगात्रः सर्वथा अहं न योत्स्यामि इति उक्त्वा बन्धुविश्लेषजनितशोकसंविग्नमानसः सशरं चापं विसृज्य रथोपस्थे उपाविशत् ॥ २६—४७ ॥

इति श्रीमद्भगवद्रामानुजाचार्यविरचिते श्रीमद्भगवद्गीताभाष्ये प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

वह महामना परमदयालु, परमबन्धुस्नेही, परमधार्मिक अर्जुन अपने भाइयोंसहित यद्यपि आपलोगोंके द्वारा लाक्षागृह आदि अनेक अत्यन्त घोर मृत्युजनक उपायोंसे बार-बार धोखा खा चुका है, और परमपुरुष (भगवान् श्रीकृष्ण) की सहायता भी उसे प्राप्त है; तथापि आपके पुत्रोंके मारे जानेका संयोग देखकर बन्धुस्नेह, परमकृपा और धर्माधर्मके भयसे उसके सारे अंग पसीनेसे भर गये और 'मैं किसी तरह भी युद्ध नहीं करूँगा' ऐसा कहकर वह (भावी) बन्धुवियोगजनित शोकसे खिन्नमन हो बाणोंसहित धनुषको छोड़कर रथपर बैठ गया ॥२६—४७॥

इस प्रकार श्रीमान् भगवान् रामानुजाचार्यद्वारा रचित गीता-भाष्यके हिन्दी-भाषानुवादका पहला अध्याय समाप्त हुआ॥१॥

ॐ

दूसरा अध्याय

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।

विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ १ ॥

संजय बोले—इस प्रकार करुणासे ओतप्रोत, आँसूभरे व्याकुल नेत्रोंवाले, तथा अत्यन्त विषादयुक्त उस अर्जुनसे भगवान् मधुसूदनने यह बात कही ॥१॥

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।

अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥

श्रीभगवान् बोले—अर्जुन ! इस असमयमें (संकटके समय) यह अनार्य पुरुषोंद्वारा सेवित, परलोकविरोधी और अकीर्ति फैलानेवाला शोक तुझे कहाँसे प्राप्त हो गया ॥ २ ॥

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।

क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥ ३ ॥

पार्थ ! तू नपुंसकता न ग्रहण कर, यह तुझे शोभा नहीं देती, परन्तप ! हृदयकी तुच्छ दुर्बलताको त्याग कर तू (युद्धके लिये) खड़ा हो जा ॥३॥

एवम् उपविष्टे पार्थे कुतः अयम् अस्थाने समुत्थितः शोक इति आक्षिप्य तम् इमं विषमस्थं शोकम् अविद्वत्सेवितं परलोकविरोधिनम् अकीर्तिकरम् अतिक्षुद्रं हृदयदौर्बल्यकृतं परित्यज्य युद्धाय उत्तिष्ठ इति श्रीभगवान् उवाच ॥ १—३ ॥

अर्जुनके इस प्रकार रथपर बैठ जानेपर 'यह बिना अवसरका शोक तुझमें कहाँसे आ गया ?' इस प्रकार आक्षेप करते हुए भगवान् श्रीकृष्णने यह कहा कि अज्ञानियोंके द्वारा सेवित, परलोकविरोधी, अकीर्तिकारक, हृदयकी दुर्बलतासे उत्पन्न अत्यन्त क्षुद्र इस असामयिक शोकको छोड़कर तू युद्धके लिये खड़ा हो जा ॥ १—३ ॥

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् । विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥
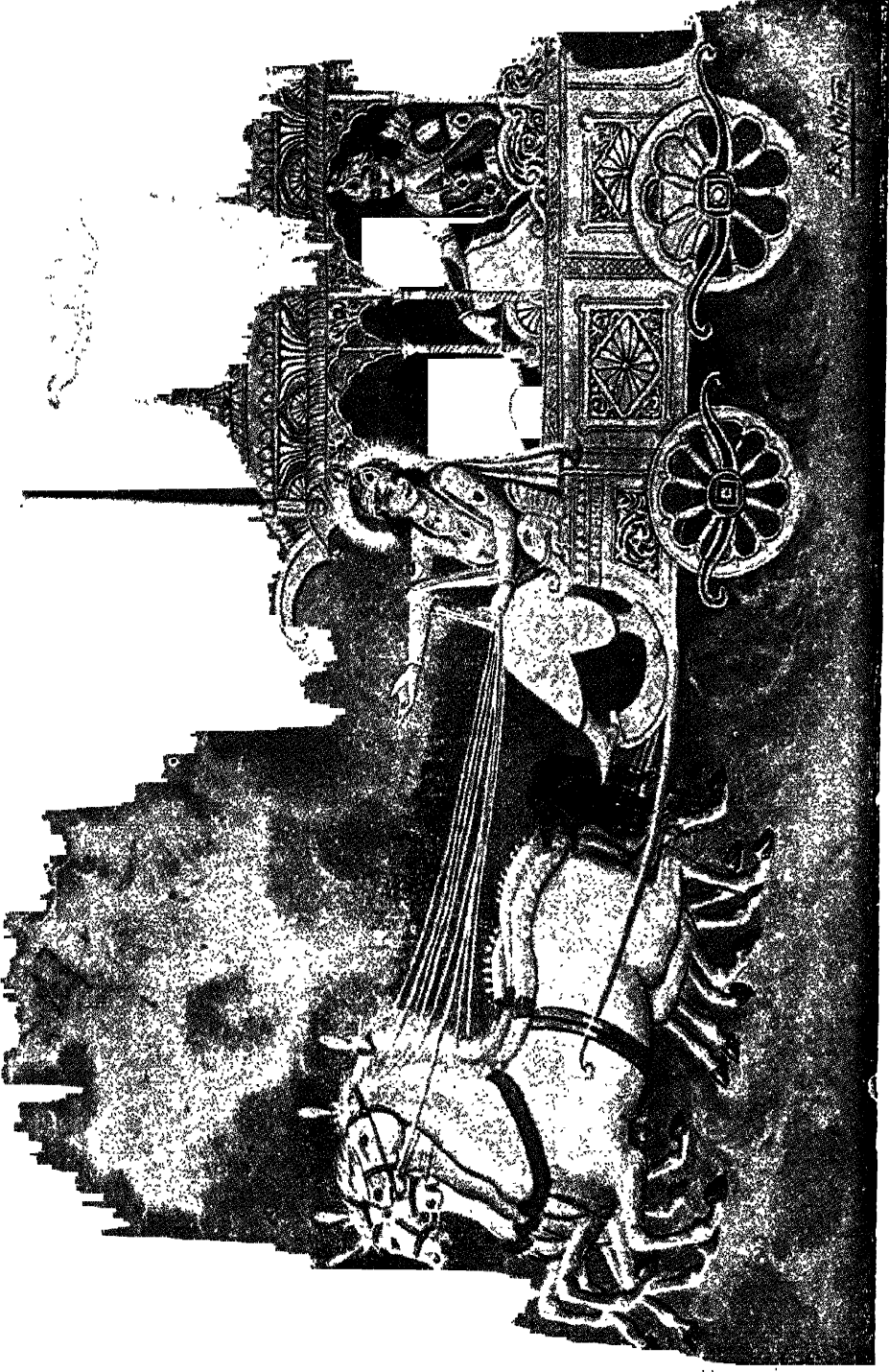
क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते । क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४ ॥

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ॥ ५ ॥

अर्जुन कहने लगा—मधुसूदन ! अरिसूदन ! पूजाके योग्य इन पितामह भीष्म और आचार्य द्रोणका, मैं युद्धमें बाणोंके द्वारा किस प्रकार सामना कर सकूँगा ? ॥ ४ ॥ (मैं तो समझता हूँ कि) इन महानुभाव गुरुजनोंको न मारकर इस लोकमें भीखका अन्न खाना ही अच्छा है; क्योंकि इन अर्थकामी गुरुजनोंको मारकर यहाँ उनके रुधिरसे सने हुए भोगोंको ही तो भोगना है ॥५॥

पुनरपि पार्थः स्नेहकारुण्यधर्माधर्मभयाकुलो भगवदुक्तं हिततमम् अजानन् इदम् उवाच ।

भीष्मद्रोणादिकान् बहुमन्तव्यान् गुरून् कथम् अहं हनिष्यामि कथन्तरां भोगेष्वतिमात्रसक्तान् तान् हत्वा तैः भुज्यमानान् तान् एव भोगान् तद्रुधिरेण उपसिच्य तेषु आसनेषु उपविश्य भुञ्जीय ॥४-५॥

स्नेह, करुणा और धर्माधर्मके भयसे व्याकुल अर्जुन भगवान्‌के द्वारा कथित अत्यन्त हितकर उपदेशको न समझकर पुनः इस प्रकार कहने लगा—

परम सम्मानास्पद भीष्म-द्रोण आदि गुरुजनोंको मैं कैसे तो मारूँगा और फिर, कैसे मैं उन भोगोंमें अत्यन्त आसक्त गुरुजनोंको मारकर उनके द्वारा भोगे हुए उन्हीं भोगोंको उन्हींके रक्तसे सींचकर उन्हीं आसनोंपर बैठकर भोगूँगा ? ॥ ४-५ ॥

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥ ६ ॥

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥ ७ ॥

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥ ८ ॥

हमें तो यह भी मालूम नहीं है कि हमारे लिये क्या करना अच्छा है अथवा हम जीतेंगे या वे हमें जीतेंगे । जिनको मारकर हम जीना भी नहीं चाहते, वे ही धृतराष्ट्रपुत्र हमारे सामने डटकर खड़े हैं ॥ ६ ॥ (इन्हें देखकर) करुणाके दोषसे मेरा स्वभाव दब गया है, और मेरा चित्त धर्मके विषयमें मोहित हो गया है । अतः मैं आपसे पूछ रहा हूँ, (कृपया) मेरे लिये जो कल्याणका निश्चित साधन हो, वह मुझे बतलाइये । मैं आपका शिष्य हूँ, आपके शरणापन्न मुझ दीनको शिक्षा दीजिये ॥ ७ ॥ क्योंकि पृथ्वीका सब ओरसे समृद्ध निष्कण्टक राज्य पाकर अथवा देवताओंका आधिपत्य मिलनेपर भी मैं उस उपायको नहीं देख रहा हूँ, जो इन्द्रियोंको सुखानेवाले मेरे शोकको दूर कर सके ॥ ८ ॥

एवं युद्धम् आरम्भ्य निवृत्तव्यापारान् भवतो धार्तराष्ट्राः प्रसह्य हन्युः

यदि कहो कि इस प्रकार युद्धका आरम्भ करके उससे हट जानेपर तुमलोगोंको धृतराष्ट्रके पुत्र बलपूर्वक मार

इति चेत्, अस्तु, तद्वधलब्धविजयात् अधर्म्याद् अस्माकं धर्माधर्मौ अजानद्भिः तैः हननम् एव गरीयः इति मे प्रतिभाति इति उक्त्वा यत् मह्यं श्रेय इति निश्चितं तत् शरणागताय तव शिष्याय मे ब्रूहि इति अतिमात्रकृपणो भगवत्पादाम्बुजम् उपससार॥६-८॥

डालेंगे तो ऐसा भले ही हो; क्योंकि मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि उन गुरुजनोंके वधसे प्राप्त होनेवाले अधर्मयुक्त विजयकी अपेक्षा, उन धर्माधर्मका ज्ञान न रखनेवाले लोगोंके द्वारा हमलोगोंका मारा जाना ही श्रेष्ठ है। इतना कहकर, 'मेरे लिये जो निश्चित कल्याणकारक साधन हो, वह आपके शरणागत मुझ शिष्यसे कहिये।' ऐसी प्रार्थना करता हुआ अर्जुन अत्यन्त दीन होकर भगवान्‌के श्रीचरण-कमलोंके आश्रित हो गया॥ ६-८॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह॥ ९॥
तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः॥१०॥

संजय बोले—राजन्! निद्राविजयी अर्जुन हृषीकेश भगवान् श्रीकृष्णसे इस प्रकार कहकर फिर गोविन्दसे (स्पष्ट) यह कहकर कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' चुप हो गया॥ ९॥ तब धृतराष्ट्र! दोनों सेनाओंके मध्यमें विषाद करते हुए उस अर्जुनसे हृषीकेश भगवान् श्रीकृष्णने परिहास करते हुए-से यह वचन कहे॥ १०॥

एवम् अस्थाने समुपस्थितस्नेहकारुण्याभ्याम् अप्रकृतिं गतं क्षत्रियाणां युद्धं परमं धर्मम् अपि अधर्मं मन्वानं

इस प्रकार असमयमें उत्पन्न स्नेह और करुणाके कारण जो अपने स्वभावसे विचलित हो गया है, क्षत्रियोंके लिये युद्ध परमधर्म होनेपर भी जो उसको

धर्मबुभुत्सया च शरणागतं पार्थम् उद्दिश्य आत्मयाथात्म्यज्ञानेन युद्धस्य फलाभिसन्धिरहितस्य स्वधर्मस्य आत्मयाथार्थ्यप्राप्त्युपायताज्ञानेन च विना अस्य मोहो न शाम्यति इति मत्वा भगवता परमपुरुषेण अध्यात्मशास्त्रावतरणं कृतम्। तदुक्तम् '*अस्थाने स्नेहकारुण्यधर्माधर्मधियाकुलम्। पार्थं प्रपन्नमुद्दिश्य शास्त्रावतरणं कृतम्॥*' (*गीतार्थसंग्रह ५*) इति॥

तम् एवं देहात्मनोः याथात्म्याज्ञाननिमित्तशोकाविष्टं देहातिरिक्तात्मज्ञाननिमित्तं च धर्मं भाषमाणं परस्परं विरुद्धगुणान्वितम् उभयोः सेनयोः युद्धाय उद्युक्तयोः मध्ये अकस्मात् निरुद्योगं पार्थम् आलोक्य परमपुरुषः प्रहसन् इव इदम् उवाच। परिहासवाक्यं वदन् इव आत्मपरम् आत्मयाथात्म्यतत्प्राप्त्युपायभूत-कर्मयोगज्ञानयोगभक्तियोगगोचरम्

अधर्म मान रहा है और जो धर्मको समझनेकी इच्छासे भगवान्‌के शरणागत हो गया है, उस अर्जुनको निमित्त बनाकर परमपुरुष भगवान् श्रीकृष्णने यह समझकर कि, आत्मस्वरूपके यथार्थ ज्ञानके बिना और फलाभिसन्धिरहित स्वधर्मरूप युद्ध आत्माके यथार्थ ज्ञानका उपाय है—इस बातको समझे बिना, इसका मोह शान्त नहीं होगा, अध्यात्मशास्त्रका वर्णन आरम्भ किया। कहा भी गया है कि '**असमयमें स्नेह, करुणा और धर्माधर्मके भयसे व्याकुल होकर शरणमें आये हुए अर्जुनके लिये गीताशास्त्रका उपदेश आरम्भ किया गया।**'

इस प्रकार जो शरीर और आत्माके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान न होनेके कारण शोकमें निमग्न हो रहा है, और साथ ही शरीरसे आत्माको अलग समझना ही जिसका हेतु है—ऐसे धर्मका भी वर्णन कर रहा है। उस परस्पर-विरुद्ध गुणोंसे युक्त अर्जुनको युद्धके लिये प्रस्तुत दोनों सेनाओंके बीचमें अकस्मात् निश्चेष्ट देखकर परम पुरुष श्रीकृष्ण हँसते हुए-से इस प्रकार बोले। अर्थात् परिहास वचन कहते हुए-से उन्होंने आत्मा और परमात्माके यथार्थ स्वरूपका तथा उसकी प्राप्तिके उपायरूप कर्मयोग, ज्ञानयोग

'न त्वेवाहं जातु नासम्' (गीता २।१२) इत्यारभ्य *'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।' (गीता १८।६६)* इत्येतदन्तम् उवाच इत्यर्थः॥९-१०॥

और भक्तियोगका बोध करानेवाले 'न त्वेवाहं जातु नासम्' यहाँसे लेकर 'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः' यहाँतकके प्रसंगको कहा।९-१०।

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥११॥

श्रीभगवान् बोले—जिनके लिये शोक नहीं करना चाहिये, उनके लिये तू शोक कर रहा है तथा पण्डितोंकी-सी बातें भी बना रहा है। (किन्तु) पण्डित-लोग मरणशील शरीरोंके लिये और अविनाशी आत्माओंके लिये भी शोक नहीं किया करते॥ ११ ॥

अशोच्यान् **प्रति अनुशोचसि** *'पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः।' (गीता १ । ४१)* इत्या**दिकान् देहात्मस्वभावप्रज्ञानिमित्त**वादान् च भाषसे। **देहात्मस्वभावज्ञानवतां न अत्र किंचित् शोकनिमित्तम् अस्ति।** गतासून् **देहान्** अगतासून् **आत्मनश्च प्रति तयोः स्वभावयाथात्म्यविदो** न शोचन्ति। **अतः त्वयि विप्रतिषिद्धम् इदम्**

जिनके लिये शोक करना उचित नहीं, उनके लिये तू शोक करता है और साथ ही **'पिण्ड और जलकी क्रिया लुप्त होनेके कारण इनके पितृगण नरकमें पड़ते हैं'** इत्यादि शरीर और आत्माके स्वभाव-ज्ञानसे सम्बन्धित बातें भी कर रहा है। परन्तु शरीर और आत्माका स्वभाव जाननेवालोंके लिये यहाँ शोकका तनिक भी कारण नहीं है। उन दोनोंके स्वभावको यथार्थरूपसे जाननेवाले पुरुष 'गतासु'—मरणशील शरीरोंके लिये और 'अगतासु'—अविनाशी आत्माओंके लिये भी शोक नहीं करते। परन्तु तुझमें

उपलभ्यते, यद् 'एतान् हनिष्यामि' इति अनुशोचनं यच्च देहातिरिक्तात्मज्ञानकृतं धर्माधर्मभाषणम्। अतो देहस्वभावं च न जानासि, तदतिरिक्तम् आत्मानं च नित्यम्, तत्प्राप्त्युपायभूतं युद्धादिकं धर्मं च। इदं च युद्धं फलाभिसन्धिरहितम् आत्मयाथात्म्यावाप्त्युपायभूतम्। आत्मा हि न जन्माधीनसद्भावो न मरणाधीनविनाशश्च; तस्य जन्ममरणयोः अभावात्; अतः स न शोकस्थानम्। देहः तु अचेतनः परिणामस्वभावः, तस्य उत्पत्तिविनाशयोगः स्वाभाविकः, इति सोऽपि न शोकस्थानम् इति अभिप्रायः॥ ११॥

ये परस्पर-विरोधी भाव प्राप्त हो रहे हैं, जो कि 'मैं इनको मारूँगा' इस प्रकार तू शोक कर रहा है और साथ ही शरीरसे अलग आत्माके ज्ञानजनित धर्माधर्मका वर्णन कर रहा है। इससे (यह सिद्ध होता है कि) तू न तो देहके स्वभावको जानता है, न उससे भिन्न नित्य आत्माको, और न उसकी प्राप्तिके उपायरूप युद्धादि धर्मको ही। वस्तुतः यही युद्ध यदि फलाभिसन्धिरहित होकर किया जाय तो आत्माके यथार्थरूपकी प्राप्तिका साधन होता है। अभिप्राय यह है कि न तो आत्माकी सत्ता जन्माधीन है और न उसका अभाव ही मरणाधीन है; क्योंकि आत्माके जन्ममरण हैं ही नहीं; इसलिये वह शोकका विषय नहीं है। तथा शरीर जड है, वह स्वभावसे ही परिणामी (परिवर्तनशील) है और उसका उत्पन्न तथा नष्ट होना भी स्वाभाविक है; अतएव वह भी शोकका विषय नहीं है॥ ११॥

प्रथमं तावद् आत्मनां स्वभावं शृणु—

अब (उन दोनोंमेंसे) पहले आत्माओंका स्वभाव सुन—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥ १२॥

क्योंकि न तो यह बात है कि मैं पहले कभी नहीं था या तू नहीं था अथवा ये राजालोग नहीं थे, और न यही है कि हमलोग सब-के-सब अबसे पीछे (भविष्यमें) नहीं रहेंगे ॥ १२ ॥

अहं **सर्वेश्वरः तावद् अतो वर्तमानात् पूर्वस्मिन् अनादौ काले** न नासम् **अपि तु आसम्। त्वन्मुखाः च एते ईशितव्याः क्षेत्रज्ञा** न **नासन् अपि त्वासन्। अहं च यूयं च** सर्वे वयमतः परम् **अस्माद् अनन्तरे काले** न चैव न भविष्यामः **अपि तु भविष्याम एव।**

मैं सर्वेश्वर इस वर्तमान समयसे पूर्व अनादि कालमें नहीं था—ऐसा नहीं, किन्तु अवश्य था। मेरे शासनमें रहनेवाले तेरे सहित ये सभी क्षेत्रज्ञ (आत्मा) पहले नहीं थे, ऐसा नहीं, किन्तु अवश्य थे। मैं और तुमलोग अर्थात् हमलोग सभी इसके बाद भविष्यकालमें नहीं रहेंगे, ऐसा नहीं, किन्तु अवश्य रहेंगे।

यथा अहं सर्वेश्वरः परमात्मा नित्य इति न अत्र संशयः, तथैव भवन्तः क्षेत्रज्ञा आत्मानः अपि नित्या एव इति मन्तव्याः।

जिस प्रकार मैं सर्वेश्वर परमात्मा नित्य हूँ—इसमें कुछ भी सन्देह नहीं, उसी प्रकार तुम सब क्षेत्रज्ञ आत्मागण भी निस्सन्देह नित्य हो, ऐसा समझना चाहिये।

एवं भगवतः सर्वेश्वराद् आत्मनां परस्परं च भेदः पारमार्थिकः, इति भगवता एव उक्तम् इति प्रतीयते। अज्ञानमोहितं प्रति तन्निवृत्तये पारमार्थिकनित्यत्वोपदेशसमये 'अहम्' 'त्वम्' 'इमे' 'सर्वे' 'वयम्' इति व्यपदेशात्।

इस प्रकार जीवोंका भगवान् सर्वेश्वर परमात्मासे, और (जीवोंका) परस्परमें भी भेद यथार्थ है, यह स्वयं भगवान्ने ही कहा है—ऐसा प्रतीत होता है। क्योंकि अज्ञानमोहित अर्जुनके प्रति उस अज्ञानकी निवृत्तिके लिये पारमार्थिक नित्यताका उपदेश करते समय 'मैं' (अहम्), तुम (त्वम्), ये (इमे), सब (सर्वे) और हमलोग (वयम्) इन पदोंका प्रयोग किया गया है।

औपाधिकात्मभेदवादे हि आत्मभेदस्य अतात्त्विकत्वेन तत्त्वोपदेशसमये भेदनिर्देशो न संगच्छते ।

भगवदुक्तात्मभेदः स्वाभाविकः, इति श्रुतिः अपि आह—'*नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्* ।' (श्वेता० ६ । १३) इति । नित्यानां बहूनां चेतनानां य एकः चेतनो नित्यः स कामान् विदधाति इत्यर्थः । अज्ञानकृतभेददृष्टिवादे तु परमपुरुषस्य परमार्थदृष्टेः निर्विशेषकूटस्थनित्यचैतन्यात्मयाथात्म्यसाक्षात्कारात् निवृत्ताज्ञानतत्कार्यतया अज्ञानकृतभेददर्शनं तन्मूलोपदेशादिव्यवहाराः च न संगच्छन्ते ।

अथ परमपुरुषस्य अधिगताद्वैतज्ञानस्य बाधितानुवृत्तिरूपम् इदं भेदज्ञानं दग्धपटादिवत् न बन्धकम् इति उच्येत, न एतद् उपपद्यते; मरीचिका-

उपाधिकृत आत्म-भेद मान लेनेपर आत्माओंका भेद तात्त्विक नहीं ठहरता, इसलिये तत्त्वज्ञानका उपदेश करते समय भेदका उपदेश करना सुसङ्गत नहीं है ।

भगवान्‌के द्वारा उपदिष्ट यह आत्म-भेद स्वाभाविक है, यही बात श्रुति भी कहती है—'**नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्**' अर्थात् बहुत-से नित्य चेतन आत्माओंका जो एक नित्य चेतन आत्मा है, वह उनकी कामनाओंको पूर्ण करता है । आत्म-भेद-दृष्टिको अज्ञानजनित माननेवालोंके मतमें (जो दोष आता है, उसे बतलाते हैं—) परमार्थदृष्टिसे युक्त परम पुरुषको निर्विशेष कूटस्थ नित्य चैतन्य आत्माके यथार्थ स्वरूपका साक्षात्कार होनेके कारण उनमें अज्ञान और उसके कार्यका अभाव है, अतएव उनके द्वारा अज्ञानजनित भेद-दर्शन और तज्जनित उपदेशादिके व्यवहार नहीं बन सकते ।

यदि यह कहा जाय कि जिनको अद्वैतज्ञान प्राप्त हो चुका है, ऐसे परम पुरुष श्रीकृष्णका बाधितानुवृत्तिरूप यह भेद-ज्ञान दग्ध वस्त्र आदिकी भाँति उनके लिये बन्धनकारक नहीं होता, तो यह कहना भी नहीं बन सकता; क्योंकि मृग-

जलज्ञानादिकं हि बाधितम् अनुवर्तमानम् अपि न जलाहरणादिप्रवृत्तिहेतुः। एवम् अत्र अपि अद्वैतज्ञानेन बाधितं भेदज्ञानम् अनुवर्तमानम् अपि मिथ्यार्थविषयत्वनिश्चयात् न उपदेशादिप्रवृत्तिहेतुः भवति। न च ईश्वरस्य पूर्वम् अज्ञस्य शास्त्राधिगततत्त्वज्ञानतया बाधितानुवृत्तिः शक्यते वक्तुम्; *'यः सर्वज्ञः सर्ववित्'* (मु० उ० १।१।९) *'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।'* (श्वेता० ६।८) *'वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन। भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥'* (गीता ७।२६) इति श्रुतिस्मृतिविरोधात्।

तृष्णादिमें होनेवाला जलज्ञान (वास्तविक ज्ञानके द्वारा) बाधित हो जानेके बाद वह पूर्ववत् दीखता रहनेपर भी जल भरनेके लिये प्रवृत्त करनेवाला नहीं होता। इसी प्रकार यहाँ भी अद्वैतज्ञानसे बाधित किया हुआ भेदज्ञान कथनमात्रके लिये रहनेपर भी उसका मिथ्यात्व निश्चित हो जानेके कारण वह उपदेशादिकी प्रवृत्तिका कारण नहीं बन सकता। इसके अतिरिक्त, यह भी नहीं कहा जा सकता कि ईश्वर पहले अज्ञानी थे, पीछेसे वे शास्त्रद्वारा तत्त्वज्ञानको प्राप्त हुए और उनमें बाधितानुवृत्ति द्वैतभाव रहा; क्योंकि ऐसा कहनेसे **'जो सर्वज्ञ है, सर्ववित् है'** **'इस परमेश्वरकी ज्ञान, बल तथा क्रियारूप स्वाभाविक पराशक्ति विविध प्रकारकी ही सुनी जाती है।' 'और हे अर्जुन! मैं भूत, वर्तमान और भविष्यमें होनेवाले समस्त प्राणियोंको जानता हूँ, मुझको कोई नहीं जानता'** इत्यादि श्रुति-स्मृतियोंसे विरोध आता है।

किं च परमपुरुषश्च इदानीन्तनगुरुपरम्परा च अद्वितीयात्मस्वरूपनिश्चये सति अनुवर्तमाने

इसके अतिरिक्त उन (भेदवादको अज्ञानजनित माननेवालों) को यह भी बतलाना चाहिये कि परम पुरुष और अबतककी गुरुपरम्परा—ये सब

अपि भेदज्ञाने स्वनिश्चयानुरूपम् अद्वितीयम् आत्मज्ञानं कस्मै उपदिशति इति वक्तव्यम् ।

प्रतिबिम्बवत्प्रतीयमानेभ्यः अर्जुनादिभ्यः इति चेत्, न एतद् उपपद्यते; न हि अनुन्मत्तः कोऽपि मणिकृपाणदर्पणादिषु प्रतीयमानेषु स्वात्मप्रतिबिम्बेषु तेषां स्वात्मनः अनन्यत्वं जानन् तेभ्यः कमपि अर्थम् उपदिशति ।

बाधितानुवृत्तिः अपि तैः न शक्यते वक्तुम्; बाधकेन अद्वितीयात्मज्ञानेन आत्मव्यतिरिक्तभेदज्ञानकारणस्य अज्ञानादेः विनष्टत्वात्। द्विचन्द्रज्ञानादौ तु चन्द्रैकत्वज्ञानेन पारमार्थिकतिमिरादिदोषस्य द्विचन्द्रज्ञानहेतोः अविनष्टत्वाद् बाधितानुवृत्तिः युक्ता । अनुवर्तमानम् अपि प्रबलप्रमाणबाधितत्वेन अकिंचि-

अद्वितीय आत्मस्वरूपका निश्चय हो जानेके उपरान्त कल्पित भेदज्ञानके रहनेपर भी अपने निश्चयके अनुसार अद्वितीय आत्मज्ञानका उपदेश किसके प्रति करते हैं ?

यदि कहा जाय कि प्रतिबिम्बकी भाँति प्रतीत होनेवाले अर्जुनादिके प्रति करते हैं, तो यह नहीं बन सकता; क्योंकि कोई भी मनुष्य, जो उन्मत्त नहीं हो गया है, मणि, तलवार या दर्पण आदिमें दीखनेवाले प्रतिबिम्बोंको अपना और उनका अभेद जानता हुआ किसी प्रकारका भी उपदेश नहीं करता ।

वे (अद्वैतवादी) इस प्रसङ्गमें बाधितानुवृत्ति भी सिद्ध नहीं कर सकते, क्योंकि (भेदज्ञानके) बाधक अद्वितीय आत्मज्ञानके द्वारा आत्मातिरिक्त अन्य भेदज्ञानके कारणरूप अज्ञानादिका अभाव हो चुका है। दृष्टिदोषसे दो चन्द्रमा दीखने आदिमें तो चन्द्रमाकी एकताका ज्ञान हो जानेपर भी दो चन्द्रमा दीखनेके वास्तविक कारण तिमिरादि (चक्षुदोष) का नाश न होनेसे बाधितानुवृत्तिका होना उचित है । तथा यह भी ठीक है कि दो चन्द्रमाका दिखायी देना आदि वैसा ही रहनेपर भी प्रबल प्रमाणसे बाधित हो जानेके कारण वह कुछ

त्करम् । इह तु भेदज्ञानस्य सविषयस्य सकारणस्य अपारमार्थिकत्वेन वस्तुयाथात्म्यज्ञानविनष्टत्वात् न कथंचिद् अपि बाधितानुवृत्तिः संभवति । अतः सर्वेश्वरस्य इदानीन्तनगुरुपरम्परायाः च तत्त्वज्ञानम् अस्ति चेद् भेददर्शनं तत्कार्योपदेशाद्यसंभवः । भेददर्शनमस्ति इति चेद्, अज्ञानस्य तद्धेतोः स्थितत्वेन अज्ञत्वाद् एव सुतराम् उपदेशो न संभवति ।

किं च गुरोः अद्वितीयात्मविज्ञानाद् एव ब्रह्माज्ञानस्य सकार्यस्य विनष्टत्वात् शिष्यं प्रति उपदेशो निष्प्रयोजनः । गुरुः तज्ज्ञानं च कल्पितम् इति चेत्, शिष्यतज्ज्ञानयोः अपि कल्पितत्वात् तदपि अनिवर्त्तकम् । कल्पितत्वेऽपि पूर्वविरोधित्वेन निवर्त्तकम् इति चेत्,

कर नहीं सकता । परन्तु यहाँ (अद्वैतज्ञानके विषयमें) तो विषय और कारणसहित भेदज्ञान मिथ्या है, अतः वस्तुके यथार्थ ज्ञानसे उसका समूल विनाश हो जाता है, ऐसी स्थितिमें बाधितानुवृत्ति किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है । इसलिये (अद्वैतसिद्धान्तके अनुसार) यदि सर्वेश्वरको और अबतककी गुरुपरम्पराको तत्त्वज्ञान है तब तो भेददर्शन और उसका कार्य उपदेशादि असंभव है । यदि कहा जाय कि (उनमें) भेददर्शन रहता है तो फिर अज्ञान और उसका कारण वर्तमान रहनेसे वे अज्ञानी सिद्ध होते हैं, इसलिये भी उनके द्वारा (यह) उपदेश कदापि संभव नहीं ।

इसके सिवा, गुरुको अद्वितीय आत्मज्ञान हो जानेसे ही ब्रह्मके अज्ञानका कार्यसहित अत्यन्त अभाव हो जानेके कारण शिष्यको उपदेश देना व्यर्थ है । यदि कहा जाय कि गुरु और उसका ज्ञान भी कल्पित ही है तो फिर शिष्य और उसका ज्ञान भी कल्पित है; अतः वह भी अज्ञानका निवर्तक नहीं होगा । यदि कहो कि कल्पित होनेपर भी वह अज्ञानका विरोधी है, इसलिये उसका निवर्तक होता है, तो आचार्यके ज्ञानमें

तदाचार्यज्ञानेऽपि समानम् इति तद् एव निवर्तकं भवति, इति उपदेशानर्थक्यम् एव; इति कृतम् असमीचीनवादैः निरस्तैः ॥१२॥

भी वैसी ही शक्ति विद्यमान है; अतः वही समस्त अज्ञानका निवर्तक हो जाता है, फिर उपदेश तो व्यर्थ ही हुआ। अतएव जिनका ऊपर खण्डन किया जा चुका है उन असमीचीनवादों (असंगत सिद्धान्तों) से हमारा कोई प्रयोजन नहीं है ॥१२॥

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥१३॥

इस (वर्तमान) शरीरमें जैसे जीवात्माको कुमार, युवा और वृद्धावस्थाकी प्राप्ति होती है, वैसे ही शरीरान्तरकी प्राप्ति (भी हो जाती है)। इस बातको समझनेवाला धैर्यवान् पुरुष (ऐसा) शोक नहीं करता (कि आत्मा नष्ट होता है) ॥ १३ ॥

एकस्मिन् देहे वर्तमानस्य देहिनः कौमारावस्थां विहाय यौवनाद्यवस्थाप्राप्तौ आत्मनः स्थिरबुद्ध्या यथा आत्मा नष्ट इति न शोचति, देहाद् देहान्तरप्राप्तौ अपि तथा एव स्थिर आत्मा इति बुद्धिमान् न शोचति। अत आत्मनां नित्यत्वाद् आत्मानो न शोकस्थानम्।

एक शरीरमें वर्तमान जीवात्मा जब कुमार-अवस्थाको छोड़कर यौवनादि अवस्थाओंको प्राप्त होता है, तब आत्मा (जैसा पहले था वैसा ही) स्थिर है, इस बुद्धिके कारण जैसे बुद्धिमान् पुरुष यह शोक नहीं करता कि 'आत्मा नष्ट हो गया' वैसे ही एक शरीरसे दूसरे शरीरकी प्राप्तिमें भी आत्मा (ज्यों-का-त्यों ही) स्थिर है, ऐसा जाननेवाला पुरुष शोक नहीं करता। अतएव आत्मा नित्य हैं, इसलिये ये शोकके विषय नहीं हैं।

एतावद् अत्र कर्तव्यम् आत्मनां नित्यानाम् एव अनादिकर्मवश्यतया तत्तत्कर्मोचितदेहसंसृष्टानां तैरेव

जीवात्मा जो कि नित्य होते हुए भी अनादि कर्मोंके अधीन होनेके कारण उन-उन कर्मोंके अनुसार शरीरोंसे सम्बन्धित हैं, उनका इतना ही कर्तव्य है कि वे

देहैः बन्धनिवृत्तये शास्त्रीयं स्ववर्णोचितं युद्धादिकम् अनभिसंहितफलं कर्म कुर्वताम् अवर्जनीयतया इन्द्रियैः इन्द्रियार्थस्पर्शाः शीतोष्णादिप्रयुक्तसुखदुःखदा भवन्ति, ते तु यावच्छास्त्रीयकर्मसमाप्ति क्षन्तव्या इति ॥ १३ ॥

बन्धनकी निवृत्तिके लिये उन्हीं शरीरोंके द्वारा स्ववर्णोचित शास्त्रीय युद्धादि कर्म फलाभिसन्धिरहित होकर करते रहें और इन्द्रिय एवं विषयोंके संयोग, जो शीतोष्णादिजनित सुख-दुःख देनेवाले हैं, उनको अनिवार्य मानकर जबतक शास्त्रीय कर्मकी समाप्ति हो, तबतक सहन करते रहें ॥१३॥

इमम् अर्थम् अनन्तरम् एव आह—

यही (उपर्युक्त) अभिप्राय अगले श्लोकमें कहते हैं—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥१४॥

कुन्तीपुत्र ! ये विषय और इन्द्रियोंके संयोग सर्दी-गरमीरूप सुख-दुःख देनेवाले, उत्पत्ति-विनाशशील और अनित्य हैं; अतः भारत ! तू इनको सहन कर ॥१४॥

शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः साश्रयाः तन्मात्राकार्यत्वात् मात्रा इति उच्यन्ते। श्रोत्रादिभिः तेषां स्पर्शाः शीतोष्णमृदुपरुषादिरूपसुखदुःखदा भवन्ति। शीतोष्णशब्दः प्रदर्शनार्थः, तान् धैर्येण यावद्युद्धादिशास्त्रीयकर्मसमाप्ति

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँचों विषय अपने अधिष्ठानोंसहित तन्मात्राओंके कार्य हैं, अतः इनको 'मात्रा' कहते हैं। श्रोत्रादि इन्द्रियोंके साथ उन विषयोंके संयोग शीत, उष्ण, मृदु, कठोर आदिके रूपमें सुख-दुःखोंको देनेवाले होते हैं। यहाँ शीत-उष्ण शब्द उपलक्षणके लिये हैं। (अतः इनसे शस्त्रपातादिद्वारा होनेवाले सभी प्रकारके सुख-दुःखोंको ग्रहण करना चाहिये)। उन विषय और इन्द्रियोंके संयोगोंको तू

तितिक्षस्व । ते च आगमापायित्वाद् धैर्यवतां क्षन्तुं योग्याः । अनित्याः च एते बन्धहेतुभूतकर्मनाशे सति, आगमापायित्वेन अपि निवर्तन्ते इत्यर्थः ॥ १४ ॥

युद्धादि शास्त्रीय कर्मोंकी समाप्तिपर्यन्त धैर्य-पूर्वक सहन करता रह । वे आगमापायी होनेके कारण धैर्यशील पुरुषोंके द्वारा सहन (उपेक्षा) करने योग्य हैं । तथा ये अनित्य भी हैं, तात्पर्य यह कि बन्धनके हेतुभूत कर्मोंका नाश होनेपर नष्ट हो जाते हैं और आगमापायी (उत्पत्ति-विनाशशील) होनेसे भी इनका नाश होना स्वाभाविक है । १४ ।

तत्क्षान्तिः किमर्था ? इत्यत आह—

उनको क्यों सहन करना चाहिये, सो बतलाते हैं—

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ १५ ॥

पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन ! दुःख-सुखको समान समझनेवाले जिस धैर्ययुक्त पुरुषको ये (विषय और इन्द्रियोंके संयोग) व्यथित नहीं कर सकते वही अमृतत्वका पात्र होता है ॥ १५ ॥

यं पुरुषं धैर्ययुक्तम् अवर्जनीय-दुःखं सुखवन्मन्यमानम् अमृतत्व-साधनतया स्ववर्णोचितं युद्धादि-कर्म अनभिसंहितफलं कुर्वाणं तदन्त-र्गताः शस्त्रपातादिमृदुक्रूरस्पर्शाः न व्यथयन्ति स एव अमृतत्वं साधयति, न त्वादृशो दुःखासहिष्णुः इत्यर्थः । अतः आत्मनां नित्यत्वाद् एतावद् अत्र कर्तव्यम् इत्यर्थः । १५ ।

अनिवार्य दुःखको सुखके समान समझनेवाले तथा मोक्षका साधन मानकर फलाभिसन्धिरहित स्ववर्णोचित युद्धादि कर्मोंको करनेवाले जिस धैर्यवान् पुरुषको उन कर्मोंका अनुष्ठान करते समय होने-वाले शस्त्रपातादिके कोमल-कठोर स्पर्श व्यथित नहीं कर सकते, वही अमृतत्व (मोक्ष)को प्राप्त कर सकता है, तात्पर्य यह कि तुम-जैसा दुःख-सहन न कर सकने-वाला नहीं प्राप्त कर सकता । अतः आत्मा नित्य होनेके कारण यहाँ इतना ही (इन सबको सहन करना ही) तुम्हारा कर्तव्य है, यह अभिप्राय है ॥ १५ ॥

यत्तु आत्मनां नित्यत्वं देहानां स्वाभाविकं नाशित्वं च शोकानिमित्तम् उक्तम् '*गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः*' (*गीता २ । ११*) इति; तद् उपपादयितुम् आरभते—

'**गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः**' इस श्लोकमें आत्माओंके नित्यत्व और शरीरोंके स्वाभाविक विनाशित्वको जो शोकनिवृत्तिका उपाय बताया गया है, उसीका उपपादन करनेके लिये अगला प्रसंग आरम्भ किया जाता है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥१६॥

असत्का (शरीरका) भाव नहीं है और सत्का (आत्माका) अभाव नहीं है । इस प्रकार इन दोनोंका यह निर्णय तत्त्वज्ञानियोंद्वारा प्रत्यक्ष किया गया है ॥ १६ ॥

असतो **देहस्य सद्**भावो न विद्यते सतः **च आत्मनो** न असद्भावः । उभयोः **देहात्मनोः उपलभ्यमानयोः यथोपलब्धि** तत्त्वदर्शिभिः अन्तो दृष्टः ।

असत्का—देहका सद्भाव (होनापन) नहीं है और सत्—आत्माका असद्भाव (न होनापन) नहीं है । जाननेमें आनेवाले देह और आत्मा—इन दोनोंका यह अन्त—निर्णय यथार्थ ज्ञानसम्पन्न तत्त्वदर्शियोंके द्वारा देखा गया है ।

निर्णयान्तत्वात् निरूपणस्य निर्णय इह अन्तशब्देन उच्यते । देहस्य अचिद्वस्तुनोः असत्त्वम् एव स्वरूपम्, आत्मनः चेतनस्य सत्त्वम् एव स्वरूपम्; इति निर्णयो दृष्टः इत्यर्थः ।

निरूपणका अन्त निर्णयमें होता है, इसलिये यहाँ निर्णयको 'अन्त' शब्दसे कहा गया है । अभिप्राय यह कि देहका—अचित् (जड) वस्तुका असत्ता ही स्वरूप है और आत्माका—चेतनका सत्ता ही स्वरूप है, यह निर्णय देखा गया है ।

विनाशस्वभावो हि असत्त्वम्, अविनाशस्वभावश्च सत्त्वम् । यथा उक्तं भगवता पराशरेण—

'तस्मान्न विज्ञानमृतेऽस्ति किंचित्

क्वचित्कदाचिद्द्विज वस्तुजातम् ।'
(वि० पु० २ । १२ । ४३)

'सद्भाव एवं भवतो मयोक्तो ज्ञानं यथा सत्यमसत्यमन्यत्' *(वि० पु० २ । १२ । ४५)* *'अनाशी परमार्थश्च प्राज्ञैरभ्युपगम्यते । तत्तु नाशि न संदेहो नाशिद्रव्योपपादितम् ॥' (वि० पु० २।१४।२४) 'यत्तु कालान्तरेणापि नान्यां संज्ञामुपैति वै । परिणामादिसंभूतां तद्वस्तु नृप तच्च किम् ॥' (वि० पु० २ । १३। १००)* इति ।

अत्रापि *'अन्तवन्त इमे देहाः' (गीता२ । १८)'अविनाशि तु तद्विद्धि' (गीता २ । १७)* इति उच्यते । तदेव सत्त्वासत्त्वव्यपदेशहेतुः इति गम्यते । अत्र तु सत्कार्यवादस्य असङ्गतत्वात् न तत्परोऽयं श्लोकः ।

विनाशी (एक अवस्थासे दूसरी अवस्थामें बदल जानेवाले) स्वभावका ही नाम 'असत्ता' है, और अविनाशी (सदा एकरूप रहनेवाले) स्वभावका नाम 'सत्ता' है । जैसा कि भगवान् पराशरजीने कहा है—'इसलिये हे द्विज ! विज्ञानसे अतिरिक्त कहीं, कभी, कोई भी वस्तु नहीं है ।' 'इस प्रकार मैंने तुमसे सद्भाव (परमार्थ) का वर्णन किया । केवल 'ज्ञान*'ही सत्य है, उससे भिन्न सब कुछ असत्य है ।', 'ज्ञानी पुरुषोंने यही स्वीकार किया है कि परमार्थवस्तु अविनाशी है, इसमें कुछ सन्देह नहीं कि जो नाशवान् वस्तुसे उत्पादित है, वह तो नाशवान् ही है ।' 'हे राजन् ! जो वस्तु कालान्तरमें भी कभी परिणाम आदिके कारण होनेवाली किसी अन्य संज्ञाको नहीं प्राप्त होती, वही सद् वस्तु है, राजन् ! वह वस्तु क्या है(ज्ञानस्वरूप आत्मा)'

यहाँ (गीताशास्त्रमें) भी कहा है—'ये सब शरीर अन्तवाले हैं''अविनाशी तो उसको समझना चाहिये' ऐसा प्रतीत होता है कि यह कथन भी सत्त्व और असत्त्वका लक्षण करनेके लिये ही है । क्योंकि यहाँ सत्कार्यवाद सिद्ध नहीं हो सकता इसलिये यह श्लोक सत्कार्यवाद-सम्बन्धी

---

* यहाँ 'ज्ञान' शब्द आत्माका वाचक है; क्योंकि आत्मा ही ज्ञानस्वरूप है ।

देहात्मस्वभावाज्ञानमोहितस्य तन्मोहशान्तये हि उभयोः नाशित्वानाशित्वरूपस्वभावविवेक एव वक्तव्यः ।

स एव *'गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति'* (२ । ११) इति प्रस्तुतः । स एव *'अविनाशि तु तद्विद्धि'* (२ । १७) *'अन्तवन्त इमे देहाः'* (२ । १८) इत्यनन्तरम् उपपाद्यते; अतो यथोक्त एव अर्थः ॥ १६ ॥

नहीं है । देह और आत्माके स्वभावको न जाननेके कारण मोहित हुए मनुष्यके प्रति उसका मोह मिटानेके लिये उन दोनों (देह और आत्मा) के क्रमसे नाशित्व और अविनाशित्वरूप स्वभावका विवेचन कर देना ही इस श्लोकका अभिप्राय है ।

यही विषय **'गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति'** इस श्लोकमें प्रस्तुत किया गया है और **'अविनाशि तु तद्विद्धि'** **'अन्तवन्त-इमे देहाः'** इन अगले श्लोकोंमें इसी विषयका प्रतिपादन किया जाता है । अतः इस श्लोकका अर्थ जैसा किया गया है, वही ठीक है ॥ १६ ॥

आत्मनः तु अविनाशित्वं कथम् उपपद्यते इति अत्र आह—

आत्माका अविनाशित्व कैसे सिद्ध होता है, इस विषयमें यहाँ कहते हैं—

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥ १७ ॥

जिससे यह सम्पूर्ण (जडवर्ग) व्याप्त है, उस (चेतन आत्मतत्त्व) को तू अविनाशी जान । इस अविनाशीका नाश करनेमें कोई भी समर्थ नहीं है ॥ १७ ॥

तद् **आत्मतत्त्वम्** अविनाशि **इति** विद्धि, येन **आत्मतत्त्वेन चेतनेन** तद्व्यतिरिक्तम् इदम् **अचेतनतत्त्वं** सर्वं ततं **व्याप्तम्** । **व्यापकत्वेन निरतिशयसूक्ष्मत्वाद् आत्मनो विनाशानर्हस्य तद्व्यतिरिक्तो** न

जिस चेतन आत्मतत्त्वके द्वारा, उससे भिन्न यह समस्त अचेतन (जड़) तत्त्व व्याप्त है, उस आत्मतत्त्वको तू अविनाशी समझ । व्यापक होनेके कारण अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे जो नाश होने योग्य नहीं है, उस आत्मतत्त्वका, उससे भिन्न अन्य कोई भी पदार्थ

कश्चित् पदार्थो विनाशं कर्तुम् अर्हति, तद्व्याप्यतया तस्मात् स्थूलत्वात् । नाशकं हि शस्त्रं जलाग्निवाय्वादिकं नाश्यं व्याप्य शिथिलीकरोति । मुद्गरादयः अपि हि वेगवत्संयोगेन वायुम् उत्पाद्य तद्द्वारेण नाशयन्ति; अत आत्मतत्त्वम् अविनाशि ॥१७॥

विनाश नहीं कर सकता; क्योंकि जडपदार्थ उससे स्थूल होनेके कारण उस (आत्मतत्त्व) के व्याप्य हैं । शस्त्र, जल, अग्नि, वायु आदि जितने भी नाशक पदार्थ हैं, वे जिसका नाश करना होता है, उसमें प्रवेश करके उसको शिथिल—नष्ट करते हैं । मुद्गर आदि भी वेगयुक्त संयोगसे वायु उत्पन्न करके उसके द्वारा ही उसका नाश करते हैं; (परन्तु आत्मतत्त्व इन सबकी अपेक्षा सूक्ष्म होनेके कारण ये सब उसमें प्रवेश नहीं कर सकते) अतएव आत्मतत्त्व अविनाशी है ॥१७॥

देहानां तु विनाशित्वम् एव स्वभाव इत्याह—

देहोंका स्वभाव ही नष्ट होना है, यह बात कहते हैं—

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥१८॥

शरीरधारी नित्य आत्माके ये (कर्मानुसार प्राप्त होनेवाले) शरीर अन्तवाले हैं और आत्मा अप्रमेय है, अतः अविनाशी है, इसलिये भारत ! तू (शोक त्यागकर) युद्ध कर ॥ १८ ॥

'दिह उपचये' इति उपचयरूपा इमे देहा अन्तवन्तः विनाशस्वभावाः, उपचयात्मका हि घटादयः अन्तवन्तो दृष्टाः । नित्यस्य शरीरिणः कर्मफलभोगार्थतया भूतसंघातरूपा देहाः

'देह' शब्द 'दिह उपचये' इस धातुसे बनता है; अतः उपचय अर्थात् अनेक अवयवोंके संघातरूप ये सब देह अन्तवान्—विनाशशील हैं; क्योंकि अवयवोंके संघातरूप सभी घटादि पदार्थ अन्तवान् देखे गये हैं । नित्य आत्माको कर्मफल भुगतानेके लिये उत्पन्न भूतसंघातरूप ये शरीर, जो 'पुण्यकर्मसे पुरुष

'पुण्यः पुण्येन' (बृ० उ० ४ । ४ । ५) इत्यादिशास्त्रैः उक्ताः कर्मावसानविनाशिनः । आत्मा तु अविनाशी, कुतः अप्रमेयत्वात् । न हि आत्मा प्रमेयतया उपलभ्यते, अपि तु प्रमातृतया । तथा च वक्ष्यते—*'एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥'* (गीता १३ । १) इति ।

न च अनेकोपचयात्मक आत्मा उपलभ्यते । सर्वत्र देहे 'अहम् इदं जानामि' इति देहाद् अन्यस्य प्रमातृतया एकरूपेण उपलब्धेः । न च देहादेः इव प्रदेशभेदे प्रमातुः आकारभेद उपलभ्यते, अत एकरूपत्वेन अनुपचयात्मकत्वात् प्रमातृत्वाद् व्यापकत्वात् च आत्मा नित्यः । देहः तु उपचयात्मकत्वात् शरीरिणः कर्मफलभोगार्थत्वाद् अनेकरूपत्वाद् व्याप्यत्वात् च विनाशी । तस्माद् देहस्य विनाशस्वभावत्वाद् आत्मनो नित्यस्वभावत्वात् च उभौ अपि न शोकस्थानम्

पुण्यात्मा होता अर्थात् पवित्र शरीर धारण करता है' इत्यादि शास्त्रोंमें बतलाये गये हैं, कर्मोंकी समाप्तिके साथ-साथ नष्ट होनेवाले हैं। परन्तु आत्मा अविनाशी है, क्योंकि वह अप्रमेय (किसी माप-तौल या गणनासे परिमाणमें न आनेवाला) है। आत्मा (शरीरादिकी भाँति) प्रमेयरूपसे उपलब्ध नहीं होता, बल्कि प्रमातारूपसे होता है। यह बात गीतामें भी कहेंगे कि—**'जो इसको जानता है उसको ज्ञानीजन क्षेत्रज्ञ कहते हैं।'**

आत्मा अनेक अवयवोंके समुदायरूपमें उपलब्ध नहीं होता । सारे शरीरमें 'मैं इसको जानता हूँ' इस प्रकार शरीरसे भिन्न आत्माकी प्रमाताभावसे एकरूपमें ही उपलब्धि होती है। तथा देह आदिकी भाँति देशभेदमें प्रमाता आत्माका आकारभेद नहीं प्राप्त होता; अतः एकरूप होने, अनेक अवयवोंका समुदाय न होने एवं प्रमाता और व्यापक होनेके कारण आत्मा नित्य है। देह अनेक अवयवोंका समुदाय, आत्माको कर्मफल भुगतानेके लिये उत्पन्न—अनेक रूप और व्याप्य होनेके कारण विनाशशील है। अतएव देहका स्वभाव विनाशी और आत्माका स्वभाव नित्य होनेके कारण दोनों ही शोकके विषय नहीं हैं, इसलिये

इति शस्त्रपातादिपरुषस्पर्शान् अवर्जनीयान् स्वगतान् अन्यगतांश्च धैर्येण सोढ्वा अमृतत्वप्राप्तये अनभिसंहितफलं युद्धाख्यं कर्म आरभस्व ॥१८॥

शस्त्रपातादि अनिवार्य कठोर स्पर्शोंको, जो कि अपनेको और दूसरोंको प्राप्त होनेवाले हैं, धैर्यके साथ सहन करता हुआ (तू) अमृतत्व (मोक्ष) की प्राप्तिके लिये फलाभिसन्धिरहित युद्धरूप कर्मका आरम्भ कर ॥ १८ ॥

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥१९॥

इस आत्माको जो मारनेवाला जानता है तथा जो इसको मरा हुआ मानता है, वे दोनों ही नहीं जानते; क्योंकि यह न तो मारता है और न मारा जाता है ॥ १९ ॥

एनम् उक्तस्वभावम् आत्मानं प्रतिहन्तारं हननहेतुकम् अपि यो मन्यते यः च एनं केन अपि हेतुना हतं मन्यते उभौ तौ न विजानीतः । उक्तैः हेतुभिः अस्य नित्यत्वाद् एव अयं हननहेतुः न भवति; अत एव च अयम् आत्मा न हन्यते । हन्तिधातुः अपि आत्मकर्मकःशरीरवियोगकरणवाची । *'न हिंस्यात् सर्वा भूतानि' 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः'* (क० स्मृ० ८ । २) इत्यादीनि अपि शास्त्राणि अविहितशरीरवियोगकरणविषयाणि ॥१९॥

इस उपर्युक्त स्वभाववाले आत्माको जो पुरुष मारनेवाला—किसीको मारनेमें हेतु समझता है, और जो इस (आत्मा) को किसी भी हेतुसे मरा समझता है, वे दोनों ही नहीं जानते । पहले बतलाये हुए कारणोंसे यह आत्मा नित्य है; अतएव यह किसीको मारनेमें हेतु नहीं होता और इसीलिये यह (किसीसे) मारा भी नहीं जाता । यद्यपि यहाँ 'हन्' धातुका कर्म आत्मा है, तथापि उसका अर्थ शरीरसे आत्माका वियोग करना ही है (आत्माको नष्ट करना नहीं) । **'समस्त प्राणियोंकी हिंसासे बचना चाहिये' 'ब्राह्मण मारने योग्य नहीं है'** इत्यादि शास्त्रवाक्य भी अविहित शरीर-वियोग करनेका ही प्रतिषेध करनेवाले हैं ॥१९॥

उक्तैः एव हेतुभिः नित्यत्वाद् अपरिणामित्वाद् आत्मनो जन्म-मरणादयः सर्वे एव अचेतनदेहधर्मा न सन्ति, इति उच्यते—

उपर्युक्त कारणोंसे ही आत्मा नित्य और परिणामरहित होनेके कारण उसमें अचेतन (जड) देहके जन्म-मरणादि समस्त धर्म नहीं हैं, यह बात कहते हैं—

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ २० ॥

यह (आत्मा) न कभी जन्मता है और न मरता ही है । तथा न यह होकर फिर न होनेवाला ही है । यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुराण है; अतः शरीरके मारे जानेपर भी यह मारा नहीं जाता ॥ २० ॥

तत्र न जायते म्रियत इति वर्तमानतया सर्वेषु देहेषु सर्वैः अनुभूयमाने जन्ममरणे कदाचिद् अपि आत्मानं न स्पृशतः । नायं भूत्वा भविता वा न भूयः अयं कल्पादौ भूत्वा भूयः कल्पान्ते च न भविता इति न । केषुचित् प्रजापतिप्रभृति-देहेषु आगमेन उपलभ्यमानं कल्पादौ जननं कल्पान्ते च मरणम् आत्मानं न स्पृशति इत्यर्थः ।

'आत्मा जन्मता और मरता नहीं' इसका अभिप्राय यह है कि वर्तमान साधारण दृष्टिसे सब शरीरोंमें सबके अनुभवमें आनेवाले जन्म और मृत्यु कभी किसी भी समय आत्माका स्पर्श नहीं करते । 'यह आत्मा होकर फिर नहीं होनेवाला है' सो नहीं यानी 'यह कल्पके आरम्भमें उत्पन्न होकर फिर कल्पके अन्तमें नहीं रहेगा' यह बात नहीं है । अभिप्राय यह कि किन्हीं प्रजापति आदिके शरीरोंमें कल्पके आरम्भमें होनेवाले जन्म और कल्पके अन्तमें होनेवाले मरण, जो शास्त्रोंमें पाये जाते हैं, वे भी आत्माका स्पर्श नहीं करते ।

अतः सर्वदेहगत आत्मा अजः अत एव नित्यः शाश्वतः प्रकृतिवद् अविशदसततपरिणामैः अपि न अन्वीयते। अतः पुराणः पुरातनः अपि नवः, सर्वदा अपूर्ववद् अनुभाव्य इत्यर्थः। अतः शरीरे हन्यमाने अपि न हन्यते अयम् आत्मा ॥ २० ॥

अतएव (चींटीसे लेकर ब्रह्मांतक) सभी देहोंमें स्थित आत्मा अजन्मा है; इसलिये नित्य और शाश्वत है, प्रकृतिकी भाँति निरन्तर होनेवाले अविशद (संकुचितसूक्ष्म) परिणाम भी इसमें नहीं होते। इसीलिये यह पुराण—पुरातन होनेपर भी नवीन है—सर्वदा अपूर्वकी भाँति ही अनुभवमें आनेवाला है। अतएव शरीरके मारे जानेपर भी यह आत्मा मारा नहीं जाता ॥२०॥

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥२१॥

जो इस आत्माको अविनाशी, नित्य, अजन्मा और अव्यय जानता है वह पुरुष कैसे, किसको मरवाता है और कैसे, किसको मारता है ॥ २१ ॥

एवम् अविनाशित्वेन अजत्वेन व्ययानर्हत्वेन च नित्यम् एनम् आत्मानं यः पुरुषो वेद स पुरुषो देवमनुष्यतिर्यक्स्थावरशरीरावस्थितेषु आत्मसु कम् अपि आत्मानं कथं घातयति कं वा कथं हन्ति; कथं नाशयति कथं वा तत्प्रयोजको भवति इत्यर्थः। एतान् आत्मनो घातयामि हन्मि इति अनुशोचनम् आत्मस्वरूपयाथात्म्याज्ञानमूलम् एव इत्यभिप्रायः ॥ २१ ॥

इस प्रकार जो पुरुष इस आत्माको जन्मरहित, विनाशरहित और व्ययरहित होनेके कारण नित्य जानता है, वह देवता, मनुष्य, तिर्यक् और स्थावर शरीरोंमें स्थित आत्माओंमेंसे किसी भी आत्माको कैसे मरवा सकता है, अथवा कैसे किसीको मार सकता है? तात्पर्य यह कि कैसे किसीका नाश कर सकता है, अथवा कैसे इस कार्यके लिये किसी दूसरेका नियोजक हो सकता है? अभिप्राय यह कि इन आत्माओंको 'मैं मरवाता हूँ और मारता हूँ' इस प्रकारका शोक आत्मस्वरूपका यथार्थ ज्ञान न होनेके कारण ही होता है ॥२१॥

यद्यपि नित्यानाम् आत्मनां शरीरविश्लेषमात्रं क्रियते, तथापि रमणीयभोगसाधनेषु शरीरेषु नश्यत्सु तद्वियोगरूपं शोकनिमित्तम् अस्ति एव, इति अत आह—

यद्यपि नित्य आत्माओंका शरीरोंसे वियोगमात्र ही किया जाता है, तथापि रमणीय भोगोंके साधन शरीरोंका नाश होनेपर उनसे वियोग होनारूप शोकका कारण तो प्रत्यक्ष है ही; इसपर कहते हैं—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥२२॥

जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंका त्याग करके दूसरे नये वस्त्रोंको ग्रहण कर लेता है, वैसे ही यह जीवात्मा भी पुराने शरीरोंका परित्याग करके अन्य नवीन शरीरोंको प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

धर्मयुद्धे शरीरं त्यजतां त्यक्तशरीराद् अधिकतरकल्याणशरीरग्रहणं शास्त्राद् अवगम्यते इति । जीर्णानि वासांसि विहाय नवानि कल्याणानि वासांसि गृह्णताम् इव हर्षनिमित्तम् एव अत्र उपलभ्यते ॥ २२ ॥

धर्मयुद्धमें शरीर त्याग करनेवालोंको उस छोड़े हुए शरीरकी (विविध भोगयुक्त नृपशरीरकी) अपेक्षा अधिकतर कल्याणमय (दिव्य देवादिका) शरीर मिलता है, ऐसा शास्त्रसे जाना जाता है। अतएव पुराने वस्त्रोंको त्यागकर नवीन उत्तम वस्त्र धारण करनेवालोंकी भाँति यह (शरीरोंका परिवर्तन तो) यहाँ हर्षका ही निमित्त जान पड़ता है ॥ २२ ॥

पुनरपि *'अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।' (गीता २।१७)* इति पूर्वोक्तम् अविनाशित्वं सुखग्रहणाय व्यञ्जयन् द्रढयति—

'अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्' इस श्लोकमें पहले बतलाये हुए आत्माके अविनाशीपनको सुखपूर्वक ग्रहण करनेके लिये पुनः स्पष्टरूपसे वर्णन करते हुए दृढ़ करते हैं—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥२३॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥२४॥

इस आत्माको शस्त्र काट नहीं सकते, अग्नि इसे जला नहीं सकता, जल इसे गला नहीं सकता और वायु सुखा नहीं सकता ॥ २३ ॥ क्योंकि यह अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य और अशोष्य है एवं नित्य, सर्वव्यापी, स्थिरस्वभाव, अचल और सनातन है ॥ २४ ॥

शस्त्राग्न्यम्बुवायवः छेदनदहनक्लेदनशोषणानि आत्मानं प्रति कर्तुं न शक्नुवन्ति । सर्वगतत्वाद् आत्मनः सर्वतत्त्वव्यापकस्वभावतया सर्वेभ्यः तत्त्वेभ्यः सूक्ष्मत्वात् अस्य तैः व्याप्त्यनर्हत्वाद् व्याप्यकर्तव्यत्वात् च छेदनदहनक्लेदनशोषणानाम् । अत आत्मा नित्यः स्थाणुः अचलः अयं सनातनः स्थिरस्वभावः अप्रकम्प्यः पुरातनः च ॥ २३-२४ ॥

शस्त्र, अग्नि, जल और वायु इस आत्माको काट, जला, गला और सुखा नहीं सकते; क्योंकि आत्मा सर्वव्यापी है एवं सब तत्त्वोंमें व्यापक स्वभाववाला होनेसे सब तत्त्वोंसे सूक्ष्म है; इसलिये वे इसको व्याप्त नहीं कर सकते तथा काटना, जलाना, गलाना और सुखाना व्याप्त होकर ही किया जाता है । अतएव यह आत्मा नित्य, स्थाणु, अचल और सनातन—स्थिर स्वभाव है, किसीसे भी विचलित नहीं किया जा सकनेवाला और पुरातन है ॥२३-२४॥

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।

तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥२५॥

तथा यह अव्यक्त, अचिन्त्य और निर्विकार कहलाता है; अतएव इसे ऐसा जानकर तुझे (इसके लिये) शोक नहीं करना चाहिये ॥ २५ ॥

छेदनादियोग्यानि वस्तूनि यैः प्रमाणैः व्यज्यन्ते तैः अयम् **आत्मा न व्यज्यते इति** अव्यक्तः । **अतः छेद्यादिविजातीयः** । अचिन्त्यः च **सर्ववस्तुविजातीयत्वेन तत्तत्स्वभाव-युक्ततया चिन्तयितुम् अपि न अर्हः** । **अतः च** अविकार्यः **विकारानर्हः** । तस्माद् **उक्तलक्षणम्** एनम् **आत्मानं** विदित्वा **तत्कृते** न अनुशोचितुम् अर्हसि ॥ २५ ॥

काटने आदिके योग्य वस्तुएँ जिन प्रमाणोंसे व्यक्त की जा सकती हैं, उन प्रमाणोंसे यह आत्मा व्यक्त नहीं किया जा सकता; इसलिये आत्मा अव्यक्त है । अतः जिन वस्तुओंको काटा-जलाया आदि जा सकता है, उनका यह विजातीय (उनसे सर्वथा भिन्न) है । और समस्त वस्तुओंसे विजातीय होनेके कारण उन-उन वस्तुओंके स्वभावसे युक्त मानकर इसका चिन्तन भी नहीं किया जा सकता । अतः यह अचिन्त्य है तथा इसीलिये यह अविकारी है—विकारके योग्य नहीं है । अतएव उक्त लक्षणोंवाले इस आत्माको जानकर तुझे इसके लिये शोक नहीं करना चाहिये ॥ २५ ॥

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।

तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥२६॥

महाबाहो ! यदि तू इसे सदा जन्मने और सदा मरनेवाला (शरीर) ही माने, तो भी तुझे इस प्रकार शोक करना उचित नहीं है ॥ २६ ॥

अथ नित्यजातं नित्यमृतं **देहम्** **एव** एनम् **आत्मानं मनुषे न** **देहातिरिक्तम्** **उक्तलक्षणं** तथापि **एवम्** **अतिमात्रं** शोचितुं न अर्हसि । **परिणामस्वभावस्य देहस्य उत्पत्तिविनाशयोः अवर्जनीयत्वात्** ॥ २६ ॥

यदि सदा जन्मने और मरनेवाले शरीरको ही तू आत्मा माने, आत्माको शरीरसे भिन्न उपर्युक्त लक्षणोंवाला न माने तो भी तुझे इस प्रकार अतिमात्रामें शोक करना उचित नहीं है; क्योंकि परिवर्तनशील शरीरकी उत्पत्ति और विनाश अनिवार्य है ॥ २६ ॥

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥२७॥

क्योंकि जन्मे हुएकी मृत्यु निश्चित है और मरे हुएका जन्म निश्चित है; अतएव इस अनिवार्य (अवश्यम्भावी) परिणामके लिये तुझे शोक नहीं करना चाहिये ॥ २७ ॥

उत्पन्नस्य विनाशो ध्रुवः **अवर्जनीय उपलभ्यते । तथा विनष्टस्य अपि** जन्म **अवर्जनीयम्** ।

कथम् इदम् उपलभ्यते विनष्टस्य उत्पत्तिः इति ।

सत एव उत्पत्त्युपलब्धेः, असतः च अनुपलब्धेः । उत्पत्तिविनाशादयः सतो द्रव्यस्य अवस्थाविशेषाः । तन्तुप्रभृतीनि द्रव्याणि सन्ति एव रचनाविशेषयुक्तानि पटादीनि उच्यन्ते ।

उत्पन्न वस्तुका विनाश निश्चित—अनिवार्य देखा जाता है । इसी प्रकार नष्ट वस्तुका जन्म भी अनिवार्य है ।

प्रश्न—नष्ट वस्तुकी उत्पत्ति (अनिवार्य) है, यह कैसे सिद्ध होता है ?

उ०—सत्‌की ही उत्पत्ति देखी जाती है, असत्‌की नहीं देखी जाती । उत्पत्ति और विनाश—ये दोनों सत् द्रव्यके अवस्थाविशेष हैं । तन्तु (सूत्र) आदि द्रव्य सत् रहते हुए ही रचनाविशेषसे युक्त होकर पट (वस्त्र) आदि नामोंसे कहे जाते हैं ।

असत्कार्यवादिना अपि एतावद् एव उपलभ्यते । न हि तत्र तन्तुसंस्था न विशेषातिरेकेण द्रव्यान्तरं प्रतीयते ।

असत्कार्यवादी भी (तो) यही मानते हैं; क्योंकि उस वस्त्रमें सूत्रोंकी विशेषरूपसे स्थापनाके अतिरिक्त अन्य कोई द्रव्य नहीं दिखलायी देता ।

कारकव्यापारनामान्तरभजनव्यवहारविशेषाणाम् एतावता एव उपपत्तेः, न च द्रव्यान्तरकल्पना युक्ता । अत उत्पत्तिविनाशादयः सतो द्रव्यस्य अवस्थाविशेषाः ।

ऐसा माननेसे ही कर्ताके व्यापारकी, वस्तुके नामान्तर-धारणकी और व्यवहार-भेदकी सफलता होती है, इसलिये द्रव्यान्तरकी कल्पना उचित नहीं है । अतः यह सिद्ध है कि उत्पत्ति और विनाश आदि सब द्रव्यके ही अवस्थाविशेष हैं ।

उत्पत्त्याख्याम् अवस्थाम् उपयातस्य द्रव्यस्य तद्विरोध्यवस्थान्तरप्राप्तिः विनाश इति उच्यते ।

उत्पत्ति नामक अवस्थाको प्राप्त द्रव्यका उससे विरोधी दूसरी अवस्थाको प्राप्त होना ही विनाश कहलाता है ।

मृद्द्रव्यस्य पिण्डत्वघटत्वकपालत्वचूर्णत्वादिवत् परिणामिद्रव्यस्य परिणामपरम्परा अवर्जनीया । तत्र पूर्वावस्थस्य द्रव्यस्य उत्तरावस्थाप्राप्तिः विनाशः; सा एव तदवस्थस्य उत्पत्तिः । एवम् उत्पत्तिविनाशाख्यपरिणामपरम्परा परिणामिनो द्रव्यस्य अपरिहार्या इति न तत्र शोचितुम् अर्हसि ॥ २७ ॥

मिट्टीरूप द्रव्यको पिण्डत्व, घटत्व, कपालत्व और चूर्णत्व प्राप्त होनेकी भाँति प्रत्येक परिणामी द्रव्यकी परिणाम-परम्परा अनिवार्य है । वहाँ केवल पूर्वावस्थामें स्थित द्रव्यका दूसरी अवस्थाको प्राप्त होना ही उसका नाश है; और वही उस दूसरी अवस्थाको प्राप्त द्रव्यकी उत्पत्ति है । इस प्रकार परिवर्तनशील द्रव्यकी यह उत्पत्ति-विनाशरूप परिणाम-परम्परा अनिवार्य है; अतः उसके विषयमें तुझे शोक करना उचित नहीं है ॥२७॥

सतो द्रव्यस्य पूर्वावस्थाविरोध्यवस्थान्तरप्राप्तिदर्शनेन यः अल्पीयान् शोकः सोऽपि मनुष्यादिभूतेषु न संभवति इत्याह—

सत् वस्तुको पूर्वावस्थाविरोधी दूसरी अवस्थाकी प्राप्ति देखकर जो थोड़ा शोक हुआ करता है, वह भी मनुष्य आदि प्राणियोंके लिये नहीं बन सकता, यह कहते हैं—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ २८ ॥

भारत ! इन मनुष्यादि शरीरोंकी आदि यानी पूर्वावस्था प्रत्यक्ष नहीं है और निधन यानी मरणके बादकी अवस्था भी प्रत्यक्ष नहीं है, केवल मनुष्यत्वादि मध्यकी यानी वर्तमान अवस्था ही प्रत्यक्ष है; फिर इनके विषयमें चिन्ता कैसी ? ॥२८॥

मनुष्यादि भूतानि सन्ति एव द्रव्याणि अनुपलब्धपूर्वावस्थानि उपलब्धमनुष्यत्वादिमध्यमावस्थानि अनुपलब्धोत्तरावस्थानि स्वेषु स्वभावेषु वर्तन्ते इति न तत्र परिदेवनानिमित्तम् अस्ति ॥ २८ ॥

ये मनुष्यादि प्राणी ऐसे ही सत् द्रव्य हैं जिनकी पूर्वावस्था—जन्मसे पूर्वकी अवस्था उपलब्ध (प्रत्यक्ष) नहीं है, और उत्तरावस्था—मृत्युके बादकी अवस्था भी उपलब्ध नहीं है, केवल मनुष्यत्वादि मध्यकी अवस्था—वर्तमान अवस्था ही प्रत्यक्ष है और ये अपने-अपने स्वभावमें ही बरत रहे हैं; अतः इनके विषयमें शोकका कोई भी कारण नहीं है ॥२८॥

एवं शरीरात्मवादे अपि नास्ति शोकनिमित्तम् इति उक्त्वा शरीरातिरिक्त आश्चर्यस्वरूप आत्मनि द्रष्टा वक्ता श्रोता श्रवणायत्तात्मनिश्चयः च दुर्लभ इत्याह—

इस प्रकार देहात्मवाद—शरीरको आत्मा माननेके सिद्धान्तमें भी शोकका कोई कारण नहीं है, यह बात कहकर अब यह कहते हैं कि शरीरसे भिन्न आश्चर्यस्वरूप आत्माके द्रष्टा, वक्ता और श्रोता दुर्लभ हैं एवं केवल श्रवणके द्वारा आत्मस्वरूपका निश्चय होना भी दुर्लभ है—

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२९॥

कोई एक ही इस आत्माको आश्चर्यकी भाँति देखता है, तथा कोई एक ही इसका आश्चर्यकी भाँति वर्णन करता है। इसी तरह दूसरा कोई एक ही इसे आश्चर्यकी भाँति सुनता है। पर सुनकर भी इसके यथार्थ स्वरूपको कोई नहीं जानता ॥ २९ ॥

एवम् उक्तस्वभावं स्वेतरसमस्तवस्तुविसजातीयतया आश्चर्यवद् **अवस्थितम् अनन्तेषु जन्तुषु महता तपसा क्षीणपाप उपचितपुण्यः** कश्चित् पश्यति **तथाविधः कश्चित् परस्मै** वदति **एवं कश्चिद् एव** 'शृणोति श्रुत्वा अपि एनं **यथावद् अवस्थितं तत्त्वतो** न कश्चिद् वेद। **चकाराद् द्रष्टृवक्तृश्रोतृषु अपि तत्त्वतो दर्शनं तत्त्वतो वचनं तत्त्वतः श्रवणं दुर्लभम् इति उक्तं भवति** ॥ २९ ॥

अनन्त जीवोंमेंसे कोई एक (पुरुष), जिसके पाप महान् तपके द्वारा क्षीण हो चुके हैं और जिसने पुण्यका सञ्चय कर लिया है, उपर्युक्त स्वभाववाले इस आत्माको अपनेसे अतिरिक्त समस्त वस्तुओंसे सर्वथा विजातीय (भिन्न) रूपमें आश्चर्यकी भाँति स्थित देखता है और वैसा ही कोई महापुरुष दूसरोंको बतलाता है, इसी प्रकार कोई एक ही सुनता है और सुनकर भी इस आत्माको, यह जैसा है ठीक वैसा ही, तत्त्वसे कोई नहीं जानता। 'चकार'से यह तात्पर्य है कि द्रष्टा, वक्ता और श्रोताओंमें भी तत्त्वसे देखना, तत्त्वसे कहना और तत्त्वसे सुनना दुर्लभ है ॥ २९ ॥

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥३०॥

भारत! सबके शरीरमें रहनेवाला यह आत्मा सदा ही अवध्य है। अतः इन सब प्राणियोंके लिये तुझे शोक नहीं करना चाहिये ॥ ३० ॥

सर्वस्य **देवादिदेहिनो** देहे **वध्यमाने अपि** अयं देही नित्यम् अवध्य **इति मन्तव्यः**। तस्मात् सर्वाणि **देवादिस्थावरान्तानि** भूतानि **विषमाकाराणि अपि उक्तेन स्वभावेन स्वरूपतः समानानि नित्यानि च। देहगतं तु वैषम्यम् अनित्यत्वं च। ततो देवादीनि सर्वाणि भूतानि उद्दिश्य** न शोचितुम् अर्हसि **न केवलं भीष्मादीन् प्रति** ॥ ३० ॥

यह मानना चाहिये कि देवादि समस्त जीवोंके देहोंका वध हो जानेपर भी यह देही—आत्मा नित्य अवध्य ही है। इसलिये देवोंसे लेकर स्थावरपर्यन्त सब प्राणी विषम आकारवाले होनेपर भी उपर्युक्त स्वभावके अनुसार स्वरूपतः समान और नित्य हैं। विषमता और अनित्यता तो केवल शरीरोंमें ही है। अतः केवल भीष्मादि श्रेष्ठ पुरुषोंके उद्देश्यसे ही नहीं, देवादि सभी प्राणियोंके उद्देश्यसे (भी) तुझे शोक नहीं करना चाहिये ॥ ३० ॥

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥३१॥

(युद्धरूप) अपने धर्मको भी देखकर तुझे घबड़ाना नहीं चाहिये; क्योंकि क्षत्रियके लिये धर्मरूप युद्धसे बढ़कर दूसरा कुछ भी कल्याणकारक नहीं है ॥३१॥

अपि च इदं **प्रारब्धं युद्धं प्राणिमारणम् अपि अग्नीषोमीयादिवत्** स्वधर्मम् अवेक्ष्य न विकम्पितुम् अर्हसि धर्म्यात् **न्यायतः प्रवृत्तात्** युद्धाद्

इसके सिवा, यह आरम्भ किया हुआ युद्ध प्राणियोंकी हिंसा करनेवाला होनेपर भी इसे अग्नीषोमीय आदि यज्ञोंकी भाँति स्वधर्म समझकर तुझे घबड़ाना नहीं चाहिये; क्योंकि धर्मसे—न्यायतः प्राप्त

अन्यत् न हि क्षत्रियस्य श्रेयो विद्यते। *'शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्। दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥' (गीता १८।४३)* इति हि वक्ष्यते।

युद्धसे बढ़कर क्षत्रियके लिये दूसरा कुछ भी श्रेय नहीं है। आगे कहेंगे भी कि **'शौर्य, तेज, धृति, दक्षता, युद्धमें पीठ न दिखानेका स्वभाव, दान और ईश्वरभाव—ये क्षत्रियके स्वाभाविक कर्म हैं।'**

अग्नीषोमीयादिषु च न हिंसा पशोः निहीनतरच्छागादिदेहपरित्यागपूर्वककल्याणदेहस्वर्गादिप्रापकत्वश्रुतेः संज्ञपनस्य। *'न वा उ वेतन्म्रियसे न रिष्यसि देवाँ इदेषि पथिभिः सुगेभिः। यत्र यन्ति सुकृतो नापि दुष्कृतस्तत्र त्वा देवः सविता दधातु' (यजुर्वेद ४। ६। ९। ४६)* इति हि श्रूयते।

अग्नीषोमीय आदि यज्ञोंमें होनेवाला पशु-बलिदान हिंसा नहीं है. वह तो वेदमें अत्यन्त निकृष्ट छागादि शरीरको छुड़ाकर कल्याणमय देह और स्वर्गादिकी प्राप्ति करानेवाला बताया गया है। श्रुतिमें कहा है—**'हे पशो! इस कर्मके द्वारा निश्चय ही तुम मर नहीं रहे हो, तुम्हें मारा नहीं जा रहा है; बल्कि सुगम मार्गसे तुम देवोंको प्राप्त हो रहे हो, जहाँ केवल पुण्यकर्मा पुरुष ही जाते हैं, पापी नहीं। वहाँ तुम्हें सविता देव स्थापित करें।'**

इह च युद्धे मृतानां कल्याणतरदेहादिप्राप्तिः उक्ता *'वासांसि जीर्णानि' (गीता २।२२)* **इत्यादिना। अतः चिकित्सककर्म आतुरस्य इव अस्य रक्षणम् एव अग्नीषोमीयादिषु संज्ञपनम्॥ ३१॥**

यहाँ (गीताशास्त्रमें) भी **'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति'** इत्यादि श्लोकमें युद्धमें प्राणत्याग करनेवालोंको कल्याणमय शरीरादिकी प्राप्ति बतलायी गयी है। अतएव अग्नीषोमीय आदि यज्ञोंमें होनेवाला पशुबलिदान, रोगीकी रक्षाके लिये चिकित्सकके द्वारा चीरा देनेके कर्मकी भाँति उनकी रक्षा करना ही है॥ ३१॥

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥३२॥

पार्थ ! अपने-आप प्राप्त यह (स्वधर्मरूप युद्ध) स्वर्गका खुला द्वार है । भाग्यशाली क्षत्रिय ही इस प्रकारके युद्धको पाते हैं ॥ ३२ ॥

अयत्नोपनतम् इदं निरतिशयसुखोपायभूतं निर्विघ्नम् ईदृशं युद्धं सुखिनः पुण्यवन्तः क्षत्रिया लभन्ते ॥ ३२ ॥

बिना प्रयत्नके अपने-आप प्राप्त हुए ऐसे बाधारहित निरतिशय सुखके साधनभूत इस युद्धको सुखी—पुण्यवान् क्षत्रिय ही प्राप्त करते हैं ॥ ३२ ॥

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥३३॥

अब यदि तू इस धर्मरूप संग्रामको नहीं करेगा, तो अपने धर्मको और कीर्तिको खोकर पापको प्राप्त होगा ॥ ३३ ॥

अथ **क्षत्रियस्य स्वधर्मभूतम्** इमम् **आरब्धं** संग्रामं **मोहाद् अज्ञानात्** न करिष्यसि चेत् ततः **प्रारब्धस्य धर्मस्याकरणात् स्वधर्मफलं निरतिशयसुखं विजयेन निरतिशयां** कीर्तिं च हित्वा पापं **निरतिशयम्** अवाप्स्यसि ॥ ३३ ॥

यदि क्षत्रियके स्वधर्मरूप इस आरम्भ किये हुए संग्रामको तू मोह—अज्ञानके कारण नहीं करेगा तो प्रारम्भ किये हुए धर्मका सम्पादन न करनेके कारण तू स्वधर्मपालनके फल निरतिशय सुख और विजयसे प्राप्त होनेवाली निरतिशय कीर्तिको खोकर निरतिशय पापको प्राप्त होगा ॥३३॥

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥३४॥

(इतना ही नहीं) सब लोग तेरी सब जगह सदा रहनेवाली अकीर्तिकी भी चर्चा करेंगे। प्रतिष्ठित पुरुषके लिये अकीर्ति मरनेसे भी अधिक (बुरी) होती है॥३४॥

न केवलं निरतिशयसुखकीर्ति-हानिमात्रं पार्थो युद्धे प्रारब्धे पलायित इति अव्ययां सर्वदेशकाल-व्यापिनीम् अकीर्तिं च समर्थानि असमर्थानि सर्वाणि भूतानि कथयिष्यन्ति ततः किमिति चेत्, शौर्यवीर्य-पराक्रमादिभिः सर्वसंभावितस्य तद्विपर्ययजा हि अकीर्तिः मरणाद् अतिरिच्यते । एवंविधाया अकीर्तेः मरणम् एव तव श्रेयः इत्यर्थः ॥३४॥

न केवल निरतिशय सुख और कीर्तिकी ही हानि होगी, बल्कि 'युद्ध आरम्भ होते ही अर्जुन भाग गया'—ऐसी कभी न मिटनेवाली—सब देशों और सब समयमें रहनेवाली अकीर्ति भी समर्थ और असमर्थ सभी प्रकारके लोग करेंगे। यदि कहो कि इससे क्या होगा (तो कहते हैं—) शौर्य, वीर्य और पराक्रम आदिमें सर्वजनसम्मानित पुरुषके लिये उन शौर्यादिके विपरीत कायरता आदिके कारण होनेवाली अकीर्ति मृत्युसे भी बढ़कर है । अभिप्राय यह कि ऐसी अकीर्तिकी अपेक्षा तो तेरे लिये मरना ही श्रेष्ठ है ॥३४॥

बन्धुस्नेहात् कारुण्याच्च युद्धात् निवृत्तस्य शूरस्य मम अकीर्तिः कथम् आगमिष्यति इति अत्राह—

बन्धुस्नेह और कृपाके कारण युद्धसे निवृत्त होनेवाले मुझ वीरको अकीर्ति क्यों प्राप्त होगी ? इसपर कहते हैं—

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥३५॥

जिनका तू बड़ा माननीय है (उन्हींके मतमें अब) तुच्छताको प्राप्त हो जायगा । वे महारथी तुझे भयके कारण युद्धसे विरत हुआ मानेंगे ॥ ३५ ॥

येषां कर्णदुर्योधनादीनां महारथानाम् इतः पूर्वं त्वं शूरो वैरी इति

जिन कर्ण-दुर्योधनादि महारथियोंके मतमें तू अबसे पहले 'यह हमारा बड़ा वीर वैरी है' इस भावसे सम्मानित

बहुमतो भूत्वा इदानीं युद्धे समुपस्थिते निवृत्तव्यापारतया लाघवं सुग्रहतां यास्यसि। ते महारथाः त्वां भयाद् युद्धाद् उपरतं मंस्यन्ते। शूराणां हि वैरिणां शत्रुभयाद् ऋते बन्धुस्नेहादिना युद्धाद् उपरतिः न उपपद्यते ॥३५॥

है, अब युद्ध उपस्थित होनेपर (यदि तू) उससे निवृत्त हो गया तो (बड़ी) लघुताको—सहज ही (शत्रुओंके हाथों) पकड़े जानेकी स्थितिको प्राप्त हो जायगा। वे महारथी समझेंगे कि तू डरकर (ही) युद्धसे विरत हो गया है। क्योंकि शूर वैरियोंका शत्रुभयके सिवा, बन्धुस्नेह आदि कारणोंसे युद्धसे विरत होना संभव नहीं है ॥ ३५ ॥

किं च—

इसके अतिरिक्त—

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥३६॥

तेरे शत्रु तेरी शक्तिकी निन्दा करते हुए तुझे बहुतसे न कहने योग्य दुर्वचन भी कहेंगे। इससे बढ़कर दुःख फिर क्या होगा ? ॥३६॥

शूराणाम् अस्माकं सन्निधौ कथम् अयं पार्थः क्षणम् अपि स्थातुं शक्नुयाद् अस्मत्संनिधानाद् अन्यत्र हि अस्य सामर्थ्यम्; इति तव सामर्थ्यं निन्दन्तः शूराणाम् अग्रे अवाच्यवादान् च बहून् वदिष्यन्ति तव शत्रवो धार्तराष्ट्राः ततः अधिकतरं दुःखं किं तव ? एवंविधावाच्यश्रवणात् मरणम् एव श्रेयः, इति त्वम् एव मन्यसे ॥३६॥

'हम वीरोंके सामने यह पार्थ क्षणभर भी कैसे ठहर सकता है ? हमलोगोंकी सन्निधिसे परे दूर-दूर ही इसकी (डींग हाँकनेकी) सामर्थ्य है।' इस प्रकार तेरी सामर्थ्यकी निन्दा करते हुए तेरे शत्रु धृतराष्ट्रके पुत्र सब योद्धाओंके सामने तुझे बहुत-से न कहने योग्य वचन भी कहेंगे। तेरे लिये इससे बढ़कर और दुःख क्या (हो सकता) है ? इस प्रकारके दुर्वचन सुननेकी अपेक्षा तो मरना ही उत्तम है, यह तू स्वयं ही मानने लगेगा ॥३६॥

अतः शूरस्य आत्मना परेषां हननम् आत्मनो वा परैः हननम् उभयम् अपि श्रेयसे भवति इति आह—

अतः वीरके लिये अपने द्वारा दूसरोंका मारा जाना या दूसरोंके द्वारा अपना मारा जाना—दोनों ही कल्याण-कारक होते हैं, यह कहते हैं—

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥३७॥

कुन्तीपुत्र अर्जुन ! यदि तू (युद्धमें) मारा गया तो तुझे स्वर्ग प्राप्त होगा; नहीं तो (शत्रुओंको) जीतकर पृथ्वीको भोगेगा । अतः युद्धका निश्चय करके उसके लिये खड़ा हो जा ॥३७॥

धर्मयुद्धे परैः हतः चेत्, तत एव परमनिःश्रेयसं प्राप्स्यसि; परान् वा हत्वा अकण्टकं राज्यं भोक्ष्यसे । अनभिसंहितफलस्य युद्धाख्यस्य धर्मस्य परमनिःश्रेयसोपायत्वात्, तत् च परमनिःश्रेयसं प्राप्स्यसि । तस्माद् युद्धाय उद्योगः परमपुरुषार्थलक्षणमोक्षसाधनम् इति निश्चित्य तदर्थम् उत्तिष्ठ । कुन्तीपुत्रस्य तव एतद् एव युक्तम् इत्यभिप्रायः ॥३७॥

धर्मयुद्धमें तू यदि दूसरोंके द्वारा मारा गया, तो उसीसे परम कल्याणको प्राप्त हो जायगा; नहीं तो दूसरोंको मारकर निष्कण्टक राज्य भोगेगा । तथा फलाभिसन्धिरहित युद्धरूपी धर्म परम कल्याणकी प्राप्तिका उपाय है, इसलिये भी तू उस परम कल्याणको प्राप्त होगा । अतएव युद्धके लिये उद्योग करना परम पुरुषार्थरूप मोक्षका साधन है—मनमें ऐसा निश्चय करके युद्धके लिये खड़ा हो । 'कौन्तेय' सम्बोधनका तात्पर्य यह है कि तुझ कुन्तीपुत्रके लिये यही उचित है ॥३७॥

मुमुक्षोः युद्धानुष्ठानप्रकारम् आह—

मोक्षकी इच्छावाले पुरुषके लिये युद्ध करनेकी रीति बतलाते हैं—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥३८॥

सुख-दुःख, लाभ-हानि और जय-पराजयको समान करके उसके बाद तू युद्ध आरम्भ कर। इस प्रकार करनेसे तू पापको प्राप्त नहीं होगा ॥३८॥

एवं देहातिरिक्तम् अस्पृष्टसमस्तदेहस्वभावं नित्यम् आत्मानं ज्ञात्वा युद्धे च अवर्जनीयशस्त्रपातादिनिमित्तसुखदुःखार्थलाभालाभजयपराजयेषु अविकृतबुद्धिःस्वर्गादिफलाभिसन्धिरहितः केवलकार्यबुद्ध्या युद्धम् आरभस्व। एवं कुर्वाणो न पापम् अवाप्स्यसि पापं दुःखरूपं संसारं न अवाप्स्यसि। संसारबन्धात् मोक्ष्यसे इत्यर्थः ॥३८॥

आत्मा शरीरसे भिन्न है, शरीरके समस्त स्वभावोंसे सर्वथा सम्पर्कशून्य है और वह नित्य है; इस प्रकार जानकर युद्धमें अवश्य होनेवाले शस्त्रपातादिजनित सुख-दुःख, धनादि पदार्थोंकी लाभ-हानि और जय-पराजयोंमें विकाररहित रहकर तथा स्वर्गादिकी फलाभिसन्धिसे रहित होकर केवल कर्तव्यबुद्धिसे ही तू युद्धका आरम्भ कर। इस प्रकार करनेपर तुझे पाप नहीं होगा। अभिप्राय यह कि पाप—दुःखरूप संसार तुझे नहीं मिलेगा। तू संसारबन्धनसे मुक्त हो जायगा ॥३८॥

एवम् आत्मयाथात्म्यज्ञानम् उपदिश्य तत्पूर्वकं मोक्षसाधनभूतं कर्मयोगं वक्तुम् आरमते—

इस प्रकार आत्माके यथार्थ स्वरूपके ज्ञानका उपदेश करके उस ज्ञानके सहित मोक्ष-साधनरूप कर्मयोगका वर्णन आरम्भ करते हैं—

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥३९॥

पार्थ! यह बुद्धि तुझे सांख्यके विषयमें कह दी गयी। अब कर्मयोगके विषयमें उस बुद्धिको तू सुन। जिस बुद्धिसे सम्पन्न होकर तू कर्मबन्धनका भलीभाँति त्याग कर सकेगा ॥३९॥

संख्या बुद्धिः, बुद्धयावधारणीयम् आत्मतत्त्वं सांख्यम्। ज्ञातव्ये आत्मतत्त्वे तज्ज्ञानाय या बुद्धिः अभिधेया 'न त्वेवाहम्' (गीता २।१२) इत्यारभ्य 'तस्मात् सर्वाणि भूतानि' (गीता २।३०) इत्यन्तेन, सा एषा अभिहिता।

बुद्धिका नाम संख्या है, इसलिये बुद्धिसे धारण होनेवाले आत्मतत्त्वका नाम सांख्य है। जाननेयोग्य आत्मतत्त्वके विषयमें उसको जाननेके लिये जो बुद्धि कहनी चाहिये, वह तुझको **'न त्वेवाहम्'** से लेकर **'तस्मात् सर्वाणि भूतानि'** इस श्लोकतक कही जा चुकी है।

आत्मज्ञानपूर्वकमोक्षसाधनभूतकर्मानुष्ठाने यो बुद्धियोगो वक्तव्यः, स इह योगशब्देन उच्यते 'दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगात्' (गीता २।४९) इति हि वक्ष्यते। तत्र योगे या बुद्धिः वक्तव्या ताम् इमाम् अभिधीयमानां शृणु यया बुद्धया युक्तः कर्मबन्धं प्रहास्यसि। कर्मणा बन्धः, संसारबन्ध इत्यर्थः ॥३९॥

अब आत्मज्ञानसहित मोक्षसाधनभूत कर्मानुष्ठानके लिये जो बुद्धियोग कहना है, वह यहाँ 'योग' शब्दसे कहा जाता है। क्योंकि आगे चलकर कहेंगे— **'दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद् धनञ्जय।'** उस योगके विषयमें जो बुद्धि कहनी है, जिस बुद्धिसे युक्त होकर तू कर्मबन्धनका नाश कर सकेगा, उस आगे कही जानेवाली बुद्धिको तू सुन। कर्मोंके द्वारा होनेवाले बन्धनको 'कर्मबन्ध' कहते हैं, इसलिये कर्मबन्धनका अर्थ संसारबन्धन है ॥ ३९॥

वक्ष्यमाणबुद्धियुक्तस्य कर्मणो माहात्म्यम् आह—

आगे कही जानेवाली बुद्धिसे युक्त कर्मोंका माहात्म्य कहते हैं—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥४०॥

यहाँ (इस कर्मयोगमें) आरम्भका नाश नहीं है तथा प्रत्यवाय भी नहीं है। इस धर्मका थोड़ा-सा भी अंश बड़े भारी भयसे रक्षा कर लेता है ॥४०॥

इह कर्मयोगे न अभिक्रमनाशः अस्ति । अभिक्रम आरम्भः नाशः फलसाधनभावनाशः । आरब्धस्य असमाप्तस्य विच्छिन्नस्य अपि न निष्फलत्वम् । आरब्धस्य विच्छेदे प्रत्यवायः अपि न विद्यते । अस्य कर्मयोगाख्यस्य स्वधर्मस्य स्वल्पांशः अपि महतो भयात् संसारभयात् त्रायते । अयम् अर्थः—'*पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते*।' (*गीता* ६ । ४०) इति उत्तरत्र प्रपञ्चयिष्यते ।

अन्यानि हि लौकिकानि वैदिकानि च साधनानि विच्छिन्नानि न हि फलप्रसवाय भवन्ति प्रत्यवायाय च भवन्ति ॥ ४० ॥

इस कर्मयोगमें अभिक्रमका नाश नहीं है । अभिक्रम कहते हैं 'आरम्भ'को । फलसाधनताके नाशको 'नाश' कहते हैं । आरम्भ किया हुआ कर्मयोग यदि पूर्ण होनेसे पहले बीचमें ही खण्डित हो जाय तो भी वह निष्फल नहीं होता और आरम्भ होकर खण्डित हो जानेके कारण (साधकको) कोई प्रत्यवाय भी नहीं होता । इस कर्मयोगरूप स्वधर्मका थोड़ा-सा अंश भी महान् भयसे—संसारभयसे बचा लेता है । यही बात **'हे पार्थ ! उस (कर्मयोगी) का इस लोकमें या परलोकमें कहीं भी नाश नहीं होता'** इस प्रकार आगे चलकर(छठे अध्यायमें) विस्तारपूर्वक कही जायगी ।

दूसरे-दूसरे जो (सकाम) लौकिक और वैदिक साधन हैं वे (पूरे होनेके पहले बीचमें ही) खण्डित हो जानेपर फल देनेवाले नहीं होते, साथ ही प्रत्यवाय (पाप) के हेतु भी बन जाते हैं ॥ ४० ॥

काम्यकर्मविषयाया बुद्धेः मोक्षसाधनभूतकर्मविषयां बुद्धिं विशिनष्टि—

काम्यकर्मविषयक बुद्धिकी अपेक्षा मोक्षसाधनभूत (निष्काम) कर्मविषयक बुद्धिकी विशेषता बतलाते (प्रशंसा करते) हैं—

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥ ४१ ॥

कुरुनन्दन ! इस (शास्त्रीय कर्म) में निश्चयात्मिका बुद्धि एक होती है और निश्चयहीन मनुष्योंकी बुद्धियाँ अनन्त एवं बहुत शाखाओंवाली होती हैं ॥ ४१ ॥

इह शास्त्रीये सर्वस्मिन् कर्मणि व्यवसायात्मिका बुद्धिः एका । मुमुक्षुणा अनुष्ठेये कर्मणि बुद्धिः व्यवसायात्मिका बुद्धिः । व्यवसायो निश्चयः, सा हि बुद्धिः आत्मयाथात्म्यनिश्चयपूर्विका । काम्यकर्मविषया तु बुद्धिः अव्यवसायात्मिका । तत्र हि कामाधिकारे देहाद् अतिरिक्तात्मास्तित्वमात्रम् अपेक्षितम्, न आत्मस्वरूपयाथात्म्यनिश्चयः; स्वरूपयाथात्म्यानिश्चये अपि स्वर्गादिफलार्थित्वतत्साधनानुष्ठानतत्फलानुभवानां संभवाद् अविरोधाच्च ।

सा इयं व्यवसायात्मिका बुद्धिः एकफलसाधनविषयतया एका । एकस्मै मोक्षफलाय हि मुमुक्षोः र्वाणि कर्माणि विधीयन्ते ।

यहाँ शास्त्रीय सभी कर्मोंमें व्यवसायात्मिका बुद्धि एक है । मुमुक्षु पुरुषोंके द्वारा किये जानेवाले कर्मोंमें होनेवाली बुद्धिको 'व्यवसायात्मिका बुद्धि' कहते हैं । व्यवसाय निश्चयका नाम है और वह बुद्धि आत्मस्वरूपके यथार्थ निश्चयसे युक्त होती है । परन्तु काम्य कर्मविषयक बुद्धि अव्यवसायात्मिका (आत्मस्वरूपके यथार्थ निश्चयसे रहित) होती है । क्योंकि वहाँ काम्यकर्मोंके अधिकारमें देहसे भिन्न आत्माके अस्तित्वमात्रका ज्ञान अपेक्षित है, आत्मस्वरूपके यथार्थ निश्चयका नहीं । कारण, आत्मस्वरूपका यथार्थ निश्चय न होनेपर भी स्वर्गादि-फलकी कामना, उसके साधनोंका अनुष्ठान और उन साधनोंके फलोंका अनुभव होना सम्भव है और इसमें शास्त्रका भी कोई विरोध नहीं है ।

ऊपर बतायी हुई यह व्यवसायात्मिका बुद्धि एकमात्र मोक्षरूप फलके साधनभूत कर्मोंको ही विषय करनेवाली है, इसलिये एक है; क्योंकि मुमुक्षुके लिये समस्त कर्मोंका विधान एकमात्र मोक्षरूप फलके लिये ही किया जाता है ।

अतः शास्त्रार्थस्य एकत्वात् सर्वकर्मविषया बुद्धिः एका एव। यथा एकफलसाधनतया आग्नेयादीनां षण्णां सेतिकर्तव्यताकानाम् एकशास्त्रार्थतया तद्विषया बुद्धिः एका, तद्वद् इत्यर्थः।

अव्यवसायिनां तु स्वर्गपुत्रपश्वन्नादिफलसाधनकर्माधिकृतानां बुद्धयः फलानन्त्याद् अनन्ताः; तत्रापि बहुशाखाः। एकस्मै फलाय चोदिते अपि दर्शपूर्णमासादौ कर्मणि 'आयुराशास्ते सुप्रजस्त्वमाशास्ते' इत्याद्यवगतावान्तरफलभेदेन बहुशाखात्वं च विद्यते। अतः अव्यवसायिनां बुद्धयः अनन्ता बहुशाखाश्च।

एतद् उक्तं भवति—नित्येषु नैमित्तिकेषु कर्मसु प्रधानफलानि अवान्तरफलानि च यानि श्रूयमाणानि तानि सर्वाणि परित्यज्य मोक्षैकफलतया सर्वाणि कर्माणि एकशास्त्रार्थतया अनुष्ठेयानि।

अतः शास्त्रका अभिप्राय एक होनेके कारण वह (व्यवसायात्मिका) बुद्धि सर्वकर्मविषयक होनेपर भी एक ही है। जैसे एक ही फलकी सिद्धिके लिये किये जानेवाले इतिकर्तव्यतासहित आग्नेय आदि छः कर्मोंमें शास्त्रके अभिप्रायकी एकता होनेसे तद्विषयक बुद्धि एक होती है, वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिये।

स्वर्ग, पुत्र, पशु और अन्न आदि फलोंके साधनभूत कर्मोंमें अधिकार रखनेवाले अव्यवसायी पुरुषोंकी बुद्धियाँ फलोंकी अनन्तताके कारण अनन्त होती हैं, इसपर वे बहुशाखावाली भी होती हैं। किसी एक फलके लिये ही विधान किये हुए दर्श-पूर्णमास आदि कर्ममें भी 'लंबी आयुकी कामना करता है, सुन्दर सन्तानकी इच्छा करता है' इत्यादिरूपसे देखे जानेवाले अवान्तर फल-भेद होते हैं; इसलिये ये बुद्धियाँ बहुशाखावाली हैं। अतएव अव्यवसायी पुरुषोंकी बुद्धियाँ अनन्त और बहुशाखावाली होती हैं।

कहनेका अभिप्राय यह होता है कि नित्य और नैमित्तिक कर्मोंमें जो प्रधान और अवान्तर फल श्रुतिमें प्रतिपादित हैं, उन सबका परित्याग करके केवल मोक्षरूप फलके लिये, उसीको शास्त्रका एकमात्र अभिप्राय जानकर समस्त कर्मोंका अनुष्ठान करना चाहिये। तथा जो

काम्यानि च स्ववर्णाश्रमोचितानि तत्तत्फलानि परित्यज्य मोक्षफल-साधनतया नित्यनैमित्तिकैः एकीकृत्य यथाबलम् अनुष्ठेयानि इति ॥ ४१ ॥

स्ववर्णोचित काम्यकर्म हैं, उनके फलको छोड़कर मोक्षरूप फलके साधनरूपमें, नित्य और नैमित्तिक कर्मोंके साथ उनकी एकता करके उनका भी यथा-शक्ति अनुष्ठान करना चाहिये ॥ ४१ ॥

अथ काम्यकर्माधिकृतान् निन्दति—

अब काम्यकर्मके अधिकारियोंकी निन्दा करते हैं—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥ ४२ ॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥ ४३ ॥

पार्थ! केवल फलश्रुतिमें रत, (स्वर्गादि सांसारिक सुखोंसे बढ़कर) और कुछ नहीं है ऐसे कहनेवाले, स्वर्गपरायण, विषयासक्त, अल्पज्ञ, मनुष्य पुनर्जन्मरूप कर्म-फल देनेवाली, भोग-ऐश्वर्यकी प्राप्तिके लिये भाँति-भाँतिकी बहुत-सी क्रियाओंसे युक्त, जिस पुष्पित (सुहावनी) वाणीको कहा करते हैं ॥४२-४३॥

याम् इमां पुष्पितां **पुष्पमात्रफलाम् आपातरमणीयां** वाचम् अविपश्चितः **अल्पज्ञा भोगैश्वर्यगतिं प्रति वर्तमानां प्रवदन्ति,** वेदवादरताः **वेदेषु ये स्वर्गादिफलवादाः तेषु सक्ताः** न अन्यद् अस्ति इति वादिनः **तत्सङ्गाति-रेकेण स्वर्गादेः अधिकं फलं न अन्यद् अस्ति इति वदन्तः।** कामात्मानः **कामप्रवणमनसः** स्वर्गपराः **स्वर्गपरायणाः स्वर्गादिफला-**

'वेदवादरत'—वेदोंमें जो स्वर्गादि फलोंको बतलानेवाले वाक्य हैं, उनमें आसक्त अज्ञानी—अल्पज्ञ पुरुष उन (फलोंमें) आसक्तिकी अधिकताके कारण इस प्रकार कहा करते हैं कि 'स्वर्गादिसे अधिक फल दूसरा कुछ है ही नहीं।' वे कामात्मा—भोगासक्तचित्त, स्वर्गपरायण पुरुष स्वर्गादि फलके पूरे होनेपर पुनः जन्म और कर्मरूपी फल देनेवाली, भोग-ऐश्वर्यकी प्राप्तिका प्रतिपादन करनेवाली

वसाने पुनर्जन्मकर्माख्यफलप्रदां क्रियाविशेषबहुलां तत्त्वज्ञानरहिततया क्रियाविशेषप्रचुरां तेषां भोगैश्वर्यगतिं प्रति वर्तमानां याम् इमां वाचं ये प्रवदन्ति इति सम्बन्धः ॥४२-४३॥

तथा अनेक प्रकारकी क्रियाओंके भेदवाली—तत्त्वज्ञानसे रहित होनेके कारण जिसमें क्रियाभेदोंकी अत्यन्त प्रचुरता है, ऐसी—पुष्पमात्र फलवाली—आपातरमणीय (केवल पहले सुन्दर और सुखकर दीखनेवाली) वाणी बोलते हैं। इस प्रकार यहाँ पूर्व श्लोकके 'याम् इमां वाचं प्रवदन्ति' इस वाक्यके साथ इस श्लोकका सम्बन्ध है ॥ ४२-४३ ॥

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥४४॥

उस वाणीके द्वारा अपहरण किये हुए मनवाले, भोग-ऐश्वर्यमें अत्यन्त आसक्त मनुष्योंके मनमें निश्चयात्मिका बुद्धि उत्पन्न नहीं होती ॥ ४४ ॥

तेषां भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तया वाचा भोगैश्वर्यविषयया अपहृतात्मज्ञानानां यथोदिता व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ मनसि न विधीयते, न उत्पद्यते। समाधीयते अस्मिन् आत्मज्ञानम् इति समाधिः मनः। तेषां मनसि आत्मयाथात्म्यनिश्चय-ज्ञानपूर्वकमोक्षसाधनभूतकर्मविषया बुद्धिः कदाचिद् अपि न उत्पद्यते इत्यर्थः। अतः काम्येषु कर्मसु मुमुक्षुणा न सङ्गः कर्तव्यः ॥ ४४ ॥

उन भोगैश्वर्यमें अत्यन्त आसक्त पुरुषोंका आत्मज्ञान उस भोगैश्वर्य-विषयक वाणीके द्वारा नष्ट हो चुका है, अतएव उनके मनमें उपर्युक्त व्यवसायात्मिका बुद्धिका उदय नहीं होता। इस मनमें आत्मज्ञान भलीभाँति समाहित—प्रतिष्ठित किया जाता है, इसलिये इसका नाम समाधि है। अभिप्राय यह कि उन लोगोंके मनमें आत्माके स्वरूपका यथार्थ निश्चय करनेवाले ज्ञानसे युक्त मोक्षके साधनरूप कर्मोंसे सम्बन्ध रखनेवाली बुद्धि कभी उत्पन्न ही नहीं होती। अतएव मुमुक्षु पुरुषोंको काम्य कर्मोंमें आसक्त नहीं होना चाहिये ॥ ४४ ॥

एवम् अत्यन्ताल्पफलानि पुनर्जन्मप्रसवानि कर्माणि मातापितृसहस्रेभ्यः अपि वत्सलतरतया आत्मोपजीवने प्रवृत्ता वेदाः किमर्थं वदन्ति कथं वा वेदोदितानि त्याज्यतया उच्यन्ते इति अत्र आह—

सहस्रों माता-पिताओंसे भी अधिक वात्सल्य करके आत्माका अभ्युदय और कल्याण करनेके लिये जिनकी प्रवृत्ति हुई है, वे वेद इस प्रकार अत्यन्त अल्प फल और पुनर्जन्म देनेवाले कर्मोंका प्रतिपादन क्यों करते हैं? तथा उन वेदप्रतिपादित कर्मोंको त्याग करनेके योग्य कैसे बतलाया जाता है? इसके उत्तरमें कहते हैं—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥४५॥

वेद (सत्, रज और तम—इन) तीनों गुणोंवाले मनुष्योंको विषय करनेवाले हैं, तू इन तीनों गुणोंकी अधिकतासे रहित, सदा सत्त्वगुणमें स्थित, समस्त द्वन्द्वोंसे अतीत और योग (सांसारिक पदार्थोंकी प्राप्ति) तथा क्षेम (उनकी रक्षा) को न चाहनेवाला एवं आत्मपरायण हो ॥४५॥

त्रयो गुणाः त्रैगुण्यं सत्त्वरजस्तमांसि; सत्त्वरजस्तमःप्रचुराः पुरुषाः त्रैगुण्यशब्देन उच्यन्ते । तद्विषया वेदाः; तमःप्रचुराणां रजःप्रचुराणां सत्त्वप्रचुराणां च वत्सलतरतया एव हितम् अवबोधयन्ति वेदाः ।

सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंका नाम त्रैगुण्य है; इसलिये सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंकी प्रचुरतासे युक्त सभी पुरुष 'त्रैगुण्य' शब्दसे पुकारे जाते हैं। वेद उनको विषय करनेवाले हैं; अतः वे वेद तमोगुणबहुल, रजोगुणबहुल और सत्त्वगुणबहुल पुरुषोंके लिये उनपर वात्सल्य करके ही उनके हितका (यथायोग्य) उपदेश करते हैं।

यदि एषां स्वगुणानुगुण्येन स्वर्गादिसाधनम् एव हितं न

यदि वेद उन लोगोंको उनके अपने गुणोंके तारतम्यानुसार स्वर्गादिके साधनरूप हितका उपदेश न

अवबोधयन्ति, तदा एव ते रजस्तमःप्रचुरतया सात्त्विकफल-मोक्षविमुखाः स्वापेक्षितफलसाधनम् अजानन्तः कामप्रावण्यविवशा अनुपायेषु उपायभ्रान्त्या प्रविष्टाः प्रणष्टा भवेयुः। अतः त्रैगुण्यविषया वेदाः; त्वं तु निस्त्रैगुण्यो भव, इदानीं सत्त्वप्रचुरः त्वं तदेव वर्धय; नान्योन्यसंकीर्णगुणत्रयप्रचुरो भव। न तत्प्राचुर्यं वर्धय इत्यर्थः निर्द्वन्द्वः निर्गतसकलसांसारिकस्वभावः। नित्यसत्त्वस्थः गुणद्वयरहितनित्यप्रवृद्धसत्त्वस्थो भव।

कथम्? इति चेत्, निर्योगक्षेमः आत्मस्वरूपतत्प्राप्त्युपायबहिर्भूतानाम् अर्थानां योगं प्राप्तानां च क्षेमं परिपालनं परित्यज्य आत्मवान् भव, आत्मस्वरूपान्वेषणपरो भव। अप्राप्तस्य प्राप्तिः योगः, प्राप्तस्य परिरक्षणं क्षेमः। एवं वर्तमानस्य ते रजस्तमःप्रचुरता नश्यति सत्त्वं च वर्धते॥४५॥

करें तो फिर वे रज और तमकी अधिकताके कारण सात्त्विक फल—मोक्षसे विमुख हो जायँ और अपने लिये अपेक्षित फलके साधनको न जाननेके कारण भोग-लोलुपतासे विवश होकर, जो वस्तुतः सुखके साधन नहीं हैं, उन्हींको भ्रमसे सुखके साधन समझकर उन्हींमें प्रवेश करके नष्ट हो जायँ। इसलिये ये वेद त्रैगुण्यविषयक हैं; अतः तू निस्त्रैगुण्य हो, इस समय तुझमें सत्त्वगुण अधिक है, तू उसीको बढ़ा; एक-दूसरेसे मिले हुए तीनों गुणोंकी प्रचुरतावाला मत हो। तात्पर्य यह कि उन तीनोंकी प्रचुरताको मत बढ़ा। निर्द्वन्द्व—समस्त सांसारिक स्वभावोंसे रहित हो और नित्यसत्त्वस्थ—दोनों (रज-तम) गुणोंसे रहित केवल बढ़े हुए सत्त्वमें नित्य स्थित रह।

यदि पूछे कि कैसे स्थित रहूँ (तो उपाय बतलाते हैं कि) निर्योगक्षेम हो—आत्मस्वरूप और उसकी प्राप्तिके उपायसे भिन्न समस्त अर्थोंके योग (प्राप्ति) और प्राप्त अर्थोंके क्षेम (संरक्षण) दोनोंको छोड़कर आत्मवान् हो—आत्मस्वरूपकी खोजमें तत्पर हो। इस प्रकार करनेसे तेरी रज और तमकी प्रचुरता नष्ट हो जायगी और सत्त्व बढ़ जायगा। अप्राप्तकी प्राप्ति 'योग' और प्राप्तकी रक्षा 'क्षेम' है॥४५॥

न च वेदोदितं सर्वं सर्वस्य उपादेयम्—

वेदप्रतिपादित सभी बातें सबके लिये उपादेय नहीं हैं; किन्तु—

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥४६॥

जैसे सब ओरसे परिपूर्ण जलाशयमें (प्यासे मनुष्यको जितना आवश्यक होता है उतना ही जल ले लेता है) वैसे ही वेदविद् ब्राह्मणको समस्त वेदोंमें जितना अंश आवश्यक हो उतना ही (ग्रहण करना चाहिये ।) ॥ ४६ ॥

यथा सर्वार्थपरिकल्पिते सर्वतः संप्लुतोदके उदपाने **पिपासोः** यावान् अर्थः **यावद् एव प्रयोजनं पानीयम् तावद् एव तेन उपादीयते न सर्वम्; एवम्** सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः **वैदिकस्य मुमुक्षोः यदेव मोक्षसाधनं तद् एव उपादेयम्, न अन्यत्** ॥ ४६ ॥

जैसे सबके लिये बनाये हुए और सब ओरसे परिपूर्ण जलाशयमें प्यासे मनुष्यको जितना प्रयोजन होता है—उसे जितने जलकी आवश्यकता होती है, वह उतना ही लेता है, सब नहीं; वैसे ही वेदार्थ जाननेवाले ब्राह्मणको*—वैदिक मुमुक्षुको सब वेदोंमेंसे जितना मोक्षसाधनविषयक वर्णन है, उतना ही ग्रहण करना चाहिये, दूसरा नहीं ॥४६॥

अतः सत्त्वस्थस्य मुमुक्षोः एतावद् एव उपादेयम् इत्याह—

अतः सत्त्वगुणमें स्थित मुमुक्षुके लिये कितना उपादेय है, यह बतलाते हैं—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥४७॥

तेरा कर्मोंमें ही अधिकार है, (उनके) फलोंमें कभी नहीं । अतः तू कर्मफलका हेतु मत हो । तथा कर्म न करनेमें भी तेरी आसक्ति न हो ॥४७॥

---

* वेदका नाम ब्रह्म है, उससे सम्बन्ध रखनेवालेका नाम ब्राह्मण है । अतः यहाँ ब्राह्मणपद मुमुक्षुका वाचक है ।

नित्ये नैमित्तिके काम्ये च केनचित् फलविशेषेण संबन्धितया श्रूयमाणे कर्मणि नित्यसत्त्वस्थस्य मुमुक्षोः ते कर्ममात्रे अधिकारः। तत्संबन्धितया अवगतेषु फलेषु न कदाचिद् अपि अधिकारः। सफलस्य बन्धरूपत्वात् फलरहितस्य केवलस्य मदाराधनरूपस्य मोक्षहेतुत्वाच्च।

मा च कर्मफलयोः हेतुः भूः। त्वया अनुष्ठीयमाने अपि कर्मणि नित्यसत्त्वस्थस्य मुमुक्षोः तव अकर्तृत्वम् अपि अनुसन्धेयम्। फलस्य अपि क्षुन्निवृत्त्यादेः न त्वं हेतुः इति अनुसन्धेयम्। तद् उभयं गुणेषु वा सर्वेश्वरे मयि वा अनुसन्धेयम् इति उत्तरत्र वक्ष्यते। एवम् अनुसन्धाय कर्म कुरु। अकर्मणि अननुष्ठाने न योत्स्यामि इति यत् त्वया अभिहितं न तत्र ते सङ्गः अस्तु। उक्तेन प्रकारेण युद्धादिकर्मणि एव सङ्गः अस्तु इत्यर्थः॥ ४७॥

किसी प्रकारके फल-विशेषसे सम्बन्ध बतलाकर जिन कर्मोंका शास्त्रमें विधान किया गया है, ऐसे नित्य, नैमित्तिक और काम्य कर्मोंमें तुझ सदा सत्त्वगुणमें स्थित मुमुक्षुका केवल करनेमात्रका अधिकार है। उन-उन कर्मोंके सम्बन्धमें जाने हुए फलोंमें तेरा अधिकार कभी भी नहीं है; क्योंकि फलसहित कर्म बन्धनरूप हैं और फलरहित केवल मेरी आराधनाके रूपसे किये जानेवाले कर्म मोक्ष देनेवाले हैं।

इसके सिवा, तू कर्म और उसके फलका कारण भी मत बन। तेरे द्वारा कर्मोंका अनुष्ठान किया जानेपर भी सदा सत्त्वगुणमें स्थित तुझ मुमुक्षुको उन कर्मोंमें अपना अकर्तापन ही देखते रहना चाहिये। और उन कर्मोंसे होनेवाले क्षुधानिवृत्ति आदि फलका हेतु भी अपनेको नहीं मानना चाहिये। इन (कर्तापन और फल) दोनोंका सम्बन्ध या तो गुणोंसे समझना चाहिये अथवा मुझ सर्वेश्वरसे, यह आगे कहेंगे। अतः तू इस प्रकार समझकर कर्म कर। कर्म न करनेमें—जैसा कि तूने कहा है 'मैं युद्ध नहीं करूँगा'—इस प्रकार कर्म-त्यागमें तेरी आसक्ति न हो। किन्तु उपर्युक्त रीतिसे युद्धादि कर्म करनेमें ही तेरी प्रीति हो; यह अभिप्राय है॥ ४७॥

एतद् एव स्पष्टीकरोति— | इसीको फिर स्पष्ट करते हैं—

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥४८॥

धनंजय ! योगमें स्थित हुआ आसक्तिको त्याग कर तथा सिद्धि और असिद्धिमें भी सम होकर तू कर्म कर । इस समताका ही नाम योग है ॥ ४८॥

राज्यबन्धुप्रभृतिषु सङ्गं त्यक्त्वा **युद्धादीनि** कर्माणि योगस्थः कुरु । **तदन्तर्भूतविजयादिसिद्ध्यसिद्ध्योः**समो भूत्वा **कुरु । तद् इदं सिद्ध्यसिद्ध्योः** समत्वम्, **योगस्थ इत्यत्र योगशब्देन** उच्यते । योगः **सिद्ध्यसिद्ध्योः समत्वरूपं चित्तसमाधानम्** ॥ ४८ ॥

राज्य और बन्धु आदिमें आसक्तिका त्याग करके तथा योगमें स्थित होकर तू युद्धादि कर्मोंको कर । उन कर्मोंमें होनेवाली विजय आदि सिद्धि-असिद्धिमें सम होकर कर्म कर । यह जो सिद्धि और असिद्धिमें समत्व है, इसीको 'योगस्थ' शब्दके अन्तर्गत 'योग' शब्दसे कहा गया है । सिद्धि-असिद्धिमें समत्वरूप चित्त-समाधानका नाम योग है ॥४८॥

किमर्थम् इदम् असकृद् उच्यते ? इत्यत आह— | यह बात बार-बार क्यों कही जाती है, इसपर कहते हैं—

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥४९॥

क्योंकि धनंजय ! बुद्धियोगकी (बुद्धियुक्त कर्मोंकी) अपेक्षा अन्य कर्म अत्यन्त तुच्छ है, अतः तू बुद्धियोगके ही आश्रयकी इच्छा कर । फलासक्तिपूर्वक कर्म करनेवाले दीन हैं ॥ ४९ ॥

यः अयं प्रधानफलत्यागविषयः अवान्तरफलसिद्ध्यसिद्ध्योः समत्व-

यह जो प्रधान फलके त्यागविषयक और अवान्तर फलरूप सिद्धि-असिद्धिमें समत्वविषयक बुद्धियोग है, इस बुद्धि-

विषयश्च बुद्धियोगः तद्युक्तात् कर्मणः इतरत् कर्म दूरेण अवरम् । महद् एतद् द्वयोः उत्कर्षापकर्षरूपं वैरूप्यम्—उक्तबुद्धियोगयुक्तं कर्म निखिलं सांसारिकं दुःखं विनिवर्त्य परमपुरुषार्थलक्षणं च मोक्षं प्रापयति; इतरद् अपरिमितदुःखरूपं संसारम् इति अतः कर्मणि क्रियमाणे उक्तायां बुद्धौ शरणम् अन्विच्छ । शरणं वासस्थानम्; तस्याम् एव बुद्धौ वर्तस्व इत्यर्थः । कृपणाः फलहेतवः फलसङ्गादिना कर्म कुर्वाणाः कृपणाः संसारिणो भवेयुः ॥ ४९ ॥

योगसे युक्त कर्मोंकी अपेक्षा दूसरे कर्म अत्यन्त निकृष्ट हैं । दोनोंमें परस्पर उत्कर्ष और अपकर्षरूप यह बड़ी भारी विषमता है—उपर्युक्त बुद्धियोगसे युक्त कर्म तो समस्त सांसारिक दुःखोंका पूर्णतया निवारण करके परम पुरुषार्थरूप मोक्षकी प्राप्ति कराते हैं और दूसरे (बुद्धियोगसे रहित) कर्म अपरिमित दुःखरूप संसारको प्राप्त कराते हैं । अतएव कर्म करते समय तू उपर्युक्त बुद्धियोगका आश्रय लेनेकी इच्छा कर । वासस्थान (आश्रय) को शरण कहते हैं । तात्पर्य यह कि तू उस बुद्धियोगमें ही स्थित रहकर कर्माचरण कर । फलहेतुक मनुष्य कृपण हैं—फलासक्ति आदिसे कर्म करनेवाले मनुष्य कृपण—संसारी (विषयी) होते हैं ॥ ४९ ॥

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥५०॥

बुद्धियुक्त मनुष्य पुण्य और पाप दोनोंका यहीं परित्याग कर देता है । अतः तू कर्मयोगके लिये चेष्टा कर, कर्मोंमें यह योग ही कुशलता है ॥५०॥

बुद्धियोगयुक्तः तु कर्म कुर्वाण उभे सुकृतदुष्कृते अनादिकालसञ्चिते अनन्ते बन्धहेतुभूते जहाति । तस्माद्

बुद्धियोगसे युक्त होकर कर्म करनेवाला पुरुष अनादिकालसे सञ्चित, बन्धनके हेतुभूत जो अनन्त पुण्य-पाप हैं इन दोनोंको त्याग देता है । इसलिये तू उक्त

उक्ताय बुद्धियोगाय युज्यस्व । योगः कर्मसु कौशलं कर्मसु क्रियमाणेषु अयं बुद्धियोगः कौशलम्, अतिसामर्थ्यम्; अतिसामर्थ्यसाध्यः इत्यर्थः ॥ ५० ॥

बुद्धियोगके लिये प्रयत्न कर । कर्मोंमें योग ही कौशल है—कर्मोंके आचरणमें यह बुद्धियोग ही कौशल है—अत्यन्त सामर्थ्य है । अभिप्राय यह कि यह बुद्धियोग बड़ी शक्ति लगानेसे ही सिद्ध होता है ॥ ५० ॥

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥५१॥

कर्मजनित फलका त्याग करके (कर्म करनेवाले) बुद्धियोगसे युक्त विवेकी पुरुष जन्मरूप बन्धनसे मुक्त होकर निरामय पद (मोक्ष) को प्राप्त कर लेते हैं ॥ ५१ ॥

बुद्धियोगयुक्ताः कर्मजं फलं त्यक्त्वा कर्म कुर्वन्तः, तस्माद् जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः अनामयं पदं गच्छन्ति । हि प्रसिद्धम् एतत् सर्वासु उपनिषत्सु इत्यर्थः ॥ ५१ ॥

बुद्धियोगयुक्त पुरुष कर्मजनित फलका त्याग करके कर्म करते हैं, अतएव वे जन्मरूप बन्धनसे भलीभाँति मुक्त होकर अनामय पद (मोक्ष) को जा पहुँचते हैं । यहाँ 'हि' का यह अभिप्राय है कि यह सिद्धान्त सभी उपनिषदोंमें प्रसिद्ध है ॥५१॥

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥५२॥

(इस प्रकार कर्म करते-करते) जब तेरी बुद्धि मोहरूप कीचड़से पार हो जायगी, तब तू पहले सुने हुए और भविष्यमें सुने जानेवाले (सब प्रकारके फलोंसे स्वयं ही) विरक्त हो जायगा ॥५२॥

उक्तप्रकारेण कर्मणि वर्तमानस्य तया वृत्त्या निर्धूतकल्मषस्य ते बुद्धिः यदा मोहकलिलम् अत्यल्पफलसङ्ग-हेतुभूतं मोहरूपं कलुषं व्यतितरिष्यति। तदा असत्त इतः पूर्वं त्याज्यतया श्रुतस्य फलादेः इतः पश्चात् श्रोत-व्यस्य च कृते स्वयम् एव निर्वेदं गन्तासि गमिष्यसि ॥ ५२ ॥

उक्त प्रकारसे कर्मका आचरण करते-करते जब उस आचरणके द्वारा पापरहित हो जानेपर तेरी बुद्धि मोह-कलिलको—अत्यन्त अल्प फलकी आसक्तिके हेतुभूत मोहरूपी कीचड़-को भलीभाँति लाँघ जायगी, तब हमारे द्वारा इससे पूर्व त्याज्यरूपमें सुने हुए और पीछे सुने जानेवाले सब फलादिसे तू स्वयं ही विरक्त हो जायगा ॥५२॥

'योगे त्विमां शृणु' इत्यादिना उक्तस्य आत्मयाथात्म्यज्ञानपूर्वकस्य बुद्धिविशेषसंस्कृतकर्मानुष्ठानस्य ल-क्षणभूतं योगाख्यं फलम् आह—

'योगे त्विमां शृणु' इत्यादि श्लोकों-द्वारा जिसका वर्णन किया गया है तथा जो आत्मस्वरूपके यथार्थ ज्ञानसे युक्त है, उस बुद्धिविशेषसे संशोधित कर्मानुष्ठानका जो लक्ष्य है, उस 'योग' नामक फलका वर्णन करते हैं—

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥५३॥

(हमारे द्वारा) सुने हुए उपदेशसे भलीभाँति प्रतिपन्न हुई तेरी बुद्धि जब स्वयं अचल—एकरूप होकर मनमें निश्चलभावसे ठहर जायगी, तब तू (आत्मदर्शन-रूप) योगको प्राप्त होगा ॥५३॥

श्रुतिः श्रवणम्; असत्तः श्रवणेन विशेषतः प्रतिपन्ना सकलेतरविसजा-तीयनित्यनिरतिशयसूक्ष्मतत्त्वविषया स्वयम् अचला एकरूपा बुद्धिः अस-

श्रवणको श्रुति कहते हैं; हमारे द्वारा सुननेके कारण विशेषरूपसे प्रतिपन्न—दूसरे समस्त (अनात्म) पदार्थोंसे विलक्षण, नित्य निरतिशय सूक्ष्म आत्मतत्त्वको विषय करनेवाली स्वयं अचल—एकरस तेरी बुद्धि जब

ङ्गकर्मानुष्ठानेन विमलीकृते मनसि यदा निश्चला स्थास्यति तदा योगम् आत्मावलोकनम् अवाप्स्यसि । एतद् उक्तं भवति—शास्त्रजन्यात्मज्ञानपूर्वककर्मयोगः स्थितप्रज्ञताख्यज्ञाननिष्ठाम् आपादयति, ज्ञाननिष्ठारूपा स्थितप्रज्ञता तु योगाख्यम् आत्मावलोकनं साधयति इति ॥५३॥

आसक्तिरहित कर्मानुष्ठानके द्वारा निर्मल किये हुए मनमें निश्चल ठहर जायगी, तब तू योगको—आत्मसाक्षात्कारको प्राप्त होगा। कहनेका अभिप्राय यह है कि शास्त्रजनित आत्मज्ञानसहित कर्मयोग स्थितप्रज्ञतानामक ज्ञाननिष्ठाको प्राप्त कराता है और ज्ञाननिष्ठारूपा स्थितप्रज्ञता योग नामक आत्मसाक्षात्कारको सिद्ध करती है ॥५३॥

एवम् उक्तः पार्थो निःसङ्गकर्मानुष्ठानरूपकर्मयोगसाध्यस्थितप्रज्ञताया योगसाधनभूतायाः स्वरूपं स्थितप्रज्ञस्यानुष्ठानप्रकारं च पृच्छति—

भगवान्‌के इस प्रकार कहनेपर आसक्तिरहित कर्मानुष्ठानरूप कर्मयोगके द्वारा सिद्ध होनेवाली और (आत्मसाक्षात्काररूप) योगकी साधनरूपा स्थितप्रज्ञताका स्वरूप तथा स्थितप्रज्ञ पुरुषके कर्मानुष्ठानकी रीति अर्जुन पूछता है—

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥५४॥

अर्जुनने पूछा—केशव! समाधिमें स्थित स्थितप्रज्ञ पुरुषका क्या लक्षण है? वह स्थिरबुद्धि पुरुष कैसे बोलता है? कैसे बैठता है? और कैसे चलता है? ॥५४॥

समाधिस्थस्य स्थितप्रज्ञस्य का भाषा को वाचकः शब्दः—तस्य स्वरूपं कीदृशम् इत्यर्थः । स्थितप्रज्ञः किं च भाषणादिकं करोति ॥ ५४ ॥

समाधिस्थ—स्थितप्रज्ञ पुरुषकी भाषा क्या है—उसको बतानेवाला कौन-सा लक्षण है? अभिप्राय यह कि उसका स्वरूप कैसा होता है तथा वह स्थितप्रज्ञ पुरुष स्वयं क्या भाषणादि करता है ५४

वृत्तिविशेषकथनेन स्वरूपम् अपि उक्तं भवति इति वृत्तिविशेष उच्यते—

आचरणभेदका वर्णन करनेसे स्वरूपका वर्णन भी हो जाता है। अतः स्थितप्रज्ञ पुरुषके आचरणभेदका वर्णन करते हैं—

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५॥

श्रीभगवान्‌ने उत्तर दिया—पार्थ! मनसे आत्मस्वरूपका चिन्तन करते-करते उसीमें सन्तुष्ट हुआ साधक जब अन्य समस्त मनोगत कामनाओंका सर्वथा त्याग कर देता है, तब वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है ॥५५॥

आत्मनि एव आत्मना **मनसा** **आत्मैकावलम्बनेन** तुष्टः **तेन तोषेण तद्व्यतिरिक्तान्** सर्वान् मनोगतान् कामान् यदा **प्रकर्षेण** जहाति तदा **अयं** स्थितप्रज्ञ इति उच्यते। ज्ञाननिष्ठाकाष्ठा इयम् ॥५५॥

जब मनुष्य आत्मासे—मनसे केवल एक आत्माका अवलम्बन करके आत्मामें ही सन्तुष्ट हो जाता है और उस सन्तोषके कारण उस (आत्मा) के अतिरिक्त अन्य समस्त मनोगत कामनाओंका पूर्ण रूपसे त्याग कर देता है, तब वह 'स्थितप्रज्ञ' कहलाता है। यह ज्ञाननिष्ठाकी काष्ठा (अन्तिम सीमा) है ॥५५॥

अनन्तरं ज्ञाननिष्ठस्य ततः अर्वाचीना अदूरविप्रकृष्टावस्था उच्यते—

इसके बाद अब ज्ञाननिष्ठ पुरुषकी उससे इधरकी स्थिति, जो अन्तिम स्थितिके समीपकी अवस्था है, कही जाती है—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥५६॥

दुःखमें उद्वेगरहित मनवाला, सुखमें स्पृहारहित तथा राग, भय और क्रोधसे रहित मुनि स्थिरबुद्धि कहलाता है ॥५६॥

प्रियविश्लेषादिदुःखनिमित्तेषु उपस्थितेषु अनुद्विग्नमनाः **न दुःखी भवति,** सुखेषु विगतस्पृहः **प्रियेषु सन्निहितेषु अपि निःस्पृहः** वीतरागभयक्रोधः **अनागतेषु स्पृहा रागस्तद्रहितः; प्रियविश्लेषाप्रियागमनहेतुदर्शननिमित्तं दुःखं भयम्, तद्रहितः; प्रियविश्लेषाप्रियागमनहेतुभूतचेतनान्तरगतो दुःखहेतुः स्वमनोविकारः क्रोधः, तद्रहितः; एवंभूतो** मुनिः **आत्ममननशीलः** स्थितधीः **इति** उच्यते ॥ ५६ ॥

प्रिय-वियोगादि दुःख-निमित्तोंके उपस्थित होनेपर भी जो अनुद्विग्न-चित्त रहता है—दुखी नहीं होता और सुखोंमें स्पृहारहित रहता है—प्रिय पदार्थोंके सन्निकट रहनेपर भी जो उनकी इच्छा नहीं करता तथा जो राग, भय और क्रोधसे रहित हो गया है। अप्राप्त पदार्थोंमें स्पृहाको 'राग' कहते हैं, प्रियके वियोग और अप्रियकी प्राप्तिके निमित्तको देखकर जो दुःख होता है, वह 'भय' कहलाता है; एवं प्रियके वियोग और अप्रियकी प्राप्तिके निमित्तसे दूसरे जीवपर होनेवाला जो दुःखका हेतुभूत अपने मनका विकार है, वह क्रोध है—जो इन तीनों दोषोंसे रहित है, ऐसा मुनि—आत्ममननशील पुरुष स्थितप्रज्ञ कहलाता है ॥५६॥

ततः अर्वाचीनदशा प्रोच्यते—

उससे नीची स्थिति बतलायी जाती है—

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५७॥

जो पुरुष सर्वत्र स्नेहरहित हुआ उस-उस शुभ और अशुभको प्राप्त होकर न हर्ष करता है और न द्वेष, उसकी बुद्धि स्थिर है ॥ ५७ ॥

यः सर्वत्र **प्रियेषु** अनभिस्नेहः **उदासीनः प्रियसंश्लेषविश्लेषरूपं** शुभाशुभं प्राप्य **अभिनन्दनद्वेषरहितः सोऽपि स्थितप्रज्ञः** ॥५७॥

जो सर्वत्र प्रिय पदार्थोंमें स्नेहसे रहित—उदासीन है तथा प्रिय पदार्थोंके संयोग-वियोगरूप शुभाशुभको पाकर जो हर्ष और द्वेषसे रहित है, वह भी स्थितप्रज्ञ है ॥५७॥

ततः अर्वाचीनदशा प्रोच्यते— | उससे नीची स्थिति बतलायी जाती है—

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५८ ॥

जैसे कछुआ अपने अङ्गोंको (समेट लेता है) वैसे ही यह पुरुष जब सब ओरसे अपनी इन्द्रियोंको इन्द्रियोंके विषयोंसे समेट लेता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर होती है ॥ ५८ ॥

यदा इन्द्रियाणि **इन्द्रियार्थान् स्प्रष्टुम् उद्युक्तानि तदा एव** कूर्मः अङ्गानि इव इन्द्रियार्थेभ्यः सर्वशः **प्रतिसंहृत्य मन आत्मनि एव स्थापयति सोऽपि स्थितप्रज्ञः ॥५८॥**

जब इन्द्रियाँ इन्द्रियोंके विषयोंको भोगनेके लिये उद्यत हों उसी समय, जैसे कछुआ अपने अङ्गोंको समेट लेता है वैसे ही जो इन्द्रियोंके विषयोंसे मनको सब प्रकार हटाकर केवल आत्मामें ही स्थापित कर लेता है, वह भी स्थितप्रज्ञ है ॥५८॥

एवं चतुर्विधा ज्ञाननिष्ठा पूर्वपूर्वोत्तरोत्तरत्र निष्पाद्या इति प्रतिपादितम् । इदानीं ज्ञाननिष्ठाया दुष्प्रापतां तत्प्राप्त्युपायं च आह—

इस प्रकार यह चार तरहकी ज्ञाननिष्ठा है । इनमें पहली-पहली पिछली-पिछली-के द्वारा सिद्ध होनेवाली है, यह कहा गया । अब ज्ञाननिष्ठाकी दुर्लभता और उसकी प्राप्तिके उपाय बतलाते हैं—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ ५९ ॥

निराहारी (विषयोंसे इन्द्रियोंको हटा लेनेवाले) पुरुषके विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, परन्तु रागको छोड़कर; (राग निवृत्त नहीं होता) । इस (स्थितधी) पुरुषका तो विषय-राग भी परम (सुखरूप आत्मस्वरूप) का साक्षात् करके निवृत्त हो जाता है ॥ ५९ ॥

इन्द्रियाणाम् आहारो विषयाः, निराहारस्य **विषयेभ्यः प्रत्याहृतेन्द्रि-**

विषय इन्द्रियोंके आहार हैं, निराहारीके—इन्द्रियोंको विषयोंसे हटा

यस्य देहिनो विषयाः विनिवर्तमाना रसवर्जं विनिवर्तन्ते । रसो रागः, विषयरागो न निवर्तते इत्यर्थः । रागः अपि आत्मस्वरूपं विषयेभ्यः परं सुखतरं दृष्ट्वा विनिवर्तते ॥५९॥

लेनेवाले मनुष्यके जो विषय छूटते हैं, वे रसके बिना छूटते हैं । आसक्तिको रस कहते हैं, तात्पर्य यह कि विषयोंकी आसक्ति (विषय छूटनेके साथ) नहीं छूटती । (परन्तु) विषयोंकी अपेक्षा अत्यन्त श्रेष्ठ अतिशय सुखमय आत्मस्वरूपका साक्षात्कार होनेपर आसक्ति भी छूट जाती है ॥ ५९ ॥

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥६०॥

अर्जुन ! यत्न करते हुए बुद्धिमान् पुरुषके भी मनको ये प्रबल इन्द्रियाँ बलपूर्वक हर लेती हैं ॥ ६० ॥

आत्मदर्शनेन विना विषयरागो न निवर्तते, अनिवृत्ते विषयरागे विपश्चितो यतमानस्य अपि पुरुषस्य इन्द्रियाणि प्रमाथीनि बलवन्ति मनः प्रसह्य हरन्ति । एवम् इन्द्रियजय आत्मदर्शनाधीन आत्मदर्शनम् इन्द्रियजयाधीनम्; इति ज्ञाननिष्ठा दुष्प्राप्या ॥६०॥

आत्मसाक्षात्कारके बिना विषयासक्ति नहीं छूटती, और विषयासक्तिके छूटे बिना यत्न करनेवाले विवेकशील पुरुषके मनको भी मथ डालनेवाली बलवती इन्द्रियाँ बलात्कारसे हर लेती (विषयोंकी ओर खींच लेती) हैं, इस प्रकार इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करना आत्मसाक्षात्कारके अधीन है और आत्मदर्शन इन्द्रिय-विजयके अधीन है; अतएव ज्ञाननिष्ठाकी प्राप्ति बड़ी कठिन है ॥६०॥

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६१॥

अतः योगीको चाहिये कि उन सबको रोककर मुझमें मन लगाकर बैठे । क्योंकि जिसकी इन्द्रियाँ वशमें हैं उसकी बुद्धि स्थिर है ॥ ६१ ॥

सर्वस्य दोषस्य परिजिहीर्षया विषयानुरागयुक्ततया दुर्जयानि इन्द्रियाणि संयम्य चेतसः शुभाश्रयभूते मयि मनः अवस्थाप्य समाहितः आसीत । मनसि मद्विषये सति निर्दग्धाशेषकल्मषतया निर्मलीकृतं विषयानुरागरहितं मन इन्द्रियाणि स्ववशानि करोति । ततो वश्येन्द्रियं मन आत्मदर्शनाय प्रभवति । उक्तं च—'*यथाग्निरुद्धतशिखः कक्षं दहति सानिलः । तथा चित्तस्थितो विष्णुर्योगिनां सर्वकिल्बिषम् ॥*' (वि० पु० ६।७।७४) इति । तदाह—वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता इति ॥६१॥

समस्त (अन्योन्याश्रयादि) दोषोंको दूर करनेकी इच्छासे, विषयानुरागसे युक्त होनेके कारण जिनपर सहजमें विजय प्राप्त नहीं की जा सकती, उन इन्द्रियोंका संयम करके चित्तके शुभ आश्रयरूप मुझ (परमेश्वर) में मनको स्थिर करके सावधान होकर बैठना चाहिये । मनके मुझमें लग जानेपर, मेरेद्वारा समस्त पापोंको पूर्णतया भस्म करके निर्मल किया हुआ विषयासक्तिरहित मन, इन्द्रियोंको अपने वशमें कर लेता है, फिर इन्द्रियोंको वशमें कर लेनेवाला मन आत्माका साक्षात्कार करनेमें समर्थ हो जाता है । कहा भी गया है— '**जैसे ऊँची लपटोंवाली प्रज्वलित अग्नि वायुका साथ पाकर घासके ढेरको भस्म कर देती है, वैसे ही योगियोंके चित्तमें स्थित भगवान् विष्णु समस्त पापसमूहको भस्म कर डालते हैं ।**' इसीलिये कहते हैं कि जिसकी इन्द्रियाँ वशमें हैं, उसकी बुद्धि स्थित है ॥६१॥

एवं मयि अनिवेश्य मनः स्वयत्नगौरवेण इन्द्रियजये प्रवृत्तो विनष्टो भवति इत्याह—

इस प्रकार मुझ (परमेश्वर) में मन न लगाकर जो अपने प्रयत्नके बलसे इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करने जाता है, वह नष्ट हो जाता है, यह कहते हैं—

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥६२॥

(मेरे परायण न होकर) विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषकी उन विषयोंमें आसक्ति हो जाती है, आसक्तिसे काम उत्पन्न होता है और कामसे क्रोधकी उत्पत्ति होती है ॥ ६२॥

अनिरस्तविषयानुरागस्य हि मयि अनिवेशितमनस इन्द्रियाणि संयम्य अवस्थितस्य अपि अनादिपापवासनया विषयध्यानम् अवर्जनीयं स्यात्। ध्यायतो विषयान् पुंसः **पुनरपि** सङ्गः **अतिप्रवृद्धो जायते ।** सङ्गात् संजायते कामः । **कामो नाम सङ्गस्य विपाकदशा । पुरुषो यां दशाम् आपन्नो विषयान् अभुक्त्वा स्थातुं न शक्नोति स कामः ।** कामात् क्रोधः अभिजायते । **कामे वर्तमाने विषये च असन्निहिते सन्निहितान् पुरुषान् प्रति एभिः अस्मदिष्टं विहतम् इति क्रोधो भवति ॥६२॥**

जो विषयासक्तिका नाश नहीं कर चुका है और जिसने मुझमें मन नहीं लगा लिया है, वह चाहे इन्द्रियोंका संयम करके ही क्यों न बैठ गया हो, अनादि पापवासनाके कारण उसके द्वारा विषयोंका चिन्तन होना अनिवार्य हो जाता है । विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषकी उन विषयोंमें आसक्ति फिरसे बहुत अधिक बढ़ जाती है । आसक्तिसे काम उत्पन्न होता है । आसक्तिकी परिपक्वावस्थाका नाम 'काम' है । जिस दशाको प्राप्त होकर मनुष्य विषयोंका भोग किये बिना रह नहीं सकता, वह दशा 'काम' है । कामसे क्रोध उत्पन्न होता है । काम बना रहे और कामनानुसार विषयोंकी प्राप्ति न हो तो उस समय पास रहनेवाले पुरुषोंपर क्रोध होता है कि इन लोगोंके द्वारा हमारा अभीष्ट विषय नष्ट कर दिया गया ॥६२॥

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥६३॥

क्रोधसे विवेकशून्यता होती है; अविवेकसे स्मृतिका भ्रंश और स्मृतिभ्रंशसे बुद्धिका नाश होता है तथा बुद्धिके नाशसे वह आप नष्ट हो जाता है—(संसारसागरमें डूब जाता है) ॥ ६३ ॥

क्रोधाद् भवति संमोहः । **संमोहः कृत्याकृत्यविवेकशून्यता, तया सर्वं करोति । ततश्च प्रारब्धे इन्द्रिय-जयादिके प्रयत्ने स्मृतिभ्रंशो भवति ।** स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशः, **आत्मज्ञाने यो व्यवसायः कृतः, तस्य नाशः स्यात्** । बुद्धिनाशाद् **पुनरपि संसारे निमग्नो नष्टो भवति** ॥६३॥

क्रोधसे सम्मोह होता है । कर्तव्या-कर्तव्यका विवेक न रहना सम्मोह है, उसके कारण मनुष्य सब कुछ कर डालता है । उससे फिर, इन्द्रिय-जय आदिके लिये प्रारम्भ किये हुए प्रयत्नकी स्मृति नष्ट हो जाती है । स्मृतिनाशसे बुद्धि नष्ट हो जाती है-—आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये जो निश्चय किया गया था, उसका नाश हो जाता है । और इस प्रकार बुद्धिनाश होनेपर वह फिरसे संसारमें डूबकर नष्ट हो जाता है ॥६३॥

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥६४॥

परन्तु मनको वशमें रखनेवाला पुरुष राग-द्वेषसे रहित और अपने वशमें की हुई इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंको भोगता हुआ भी अन्तःकरणकी निर्मलताको प्राप्त होता है ॥ ६४ ॥

उक्तेन प्रकारेण मयि सर्वेश्वरे चेतसः शुभाश्रयभूते न्यस्तमना निर्दग्धाशेषकल्मषतया रागद्वेषवियुक्तैः आत्मवश्यैः इन्द्रियैः विषयान् चरन् **विषयान् तिरस्कृत्य वर्तमानो** विधेयात्मा **विधेयमनाः** प्रसादम् अधिगच्छति । **निर्मलान्तःकरणो भवति इत्यर्थः** ॥६४॥

जो पहले बतलायी हुई विधिके अनुसार चित्तके शुभ आश्रयरूप मुझ सर्वेश्वर भगवान्‌में मनका निक्षेप करनेवाला पुरुष समस्त पाप पूर्णतया भस्म हो जानेके कारण राग-द्वेषसे रहित और अपने वशमें की हुई इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका सेवन करता है—विषयोंकी उपेक्षा करके उनमें व्यवहार करता है । वह मनको वशमें रखनेवाला पुरुष प्रसादको प्राप्त करता है । अभिप्राय यह कि उसका अन्तःकरण निर्मल हो जाता है ॥६४॥

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥६५॥

अन्तःकरणकी निर्मलतासे इसके समस्त दुःखोंका नाश हो जाता है; क्योंकि प्रसन्नचित्तवाले पुरुषकी बुद्धि शीघ्र ही स्थिर हो जाती है ॥ ६५ ॥

अस्य **पुरुषस्य मनसः** प्रसादे **सति प्रकृतिसंसर्गप्रयुक्त**सर्वदुःखानां हानिः उपजायते । प्रसन्नचेतसः **आत्मावलोकनविरोधिदोषरहितमनसः तदानीम् एव हि विविक्तात्मविषया** बुद्धिः **मयि** पर्यवतिष्ठते; **अतो मनःप्रसादे सर्वदुःखानां हानिः भवति एव** ॥६५॥

ऐसे पुरुषका मन निर्मल हो जानेके कारण उसके प्रकृति-संसर्गसे प्रयुक्त समस्त दुःखोंका नाश हो जाता है। उस प्रसन्नचित्त—आत्मसाक्षात्कारके विरोधी दोषोंसे रहित मनवाले पुरुषकी प्रकृतिसंसर्गरहित आत्मविषयक बुद्धि उसी क्षण मुझमें भलीभाँति स्थित हो जाती है। अतएव मनके प्रसादसे (निर्मल हो जानेसे) समस्त दुःखोंका नाश निश्चय ही हो जाता है ॥६५॥

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥६६॥

अयुक्त (मुझमें मनका निक्षेप न करनेवाले) पुरुषकी बुद्धि (आत्मविषयक) नहीं होती, और न अयुक्त पुरुषकी (आत्मविषयक) भावना ही होती है। भावनारहित पुरुषको शान्ति नहीं और अशान्तको सुख कहाँ? ॥६६॥

मयि संन्यस्तमनोरहितस्य स्वयत्नेन इन्द्रियदमने प्रवृत्तस्य कदाचिद् अपि विविक्तात्मविषया बुद्धिः **न सेत्स्यति । अत एव तस्य तद्भावना** च न **संभवति । विविक्तात्मानम्**

मनका मुझमें निक्षेप न करनेवाले अपने ही प्रयत्नसे इन्द्रियदमनमें लगे हुए पुरुषमें प्रकृतिसंसर्गरहित आत्मविषयक बुद्धि कभी भी सिद्ध नहीं हो सकती। अतएव उसकी तद्विषयक भावना भी नहीं हो सकती। प्रकृतिसंसर्गरहित आत्माकी

अभावयतो **विषयस्पृहा**शान्तिः **न भवति** । अशान्तस्य **विषयस्पृहा-युक्तस्य** कुतो **नित्यनिरतिशयसुख-प्राप्तिः** ॥ ६६ ॥

भावना न करनेवाले पुरुषकी विषयेच्छा शान्त नहीं होती और शान्तिशून्य विषयलालसायुक्त पुरुषको नित्य निरतिशय सुखकी प्राप्ति कहाँ ? ॥ ६६ ॥

पुनरपि उक्तेन प्रकारेण इन्द्रिय-नियमनम् अकुर्वतः अनर्थम् आह—

पहले बतलायी हुई विधिसे इन्द्रिय-दमन न करनेवाले मनुष्यको जिस अनर्थकी प्राप्ति होती है, उसे फिर भी कहते हैं—

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥ ६७ ॥

क्योंकि विषयोंमें विचरनेवाली इन्द्रियोंके पीछे जो मन लगाया जाता है, वह इसकी बुद्धिको वैसे ही हर लेता है, जैसे जलमें नौकाको वायु ॥ ६७ ॥

इन्द्रियाणां **विषयेषु** चरतां **विषयेषु वर्तमानानां वर्तनम् अनु** यन्मनः अनु विधीयते **पुरुषेण अनुवर्त्यते** तत् **मनः** अस्य **विविक्तात्मप्रवणां** प्रज्ञां हरति **विषयप्रवणतां करोति इत्यर्थः** । **यथा** अम्भसि **नीयमानां** नावं **प्रति-कूलो** वायुः **प्रसह्य हरति** ॥ ६७ ॥

मनुष्यके द्वारा जो मन विषयोंमें विचरण करनेवाली—विषय-सेवनमें लगी हुई इन्द्रियोंके मार्गमें (उनके साथ-साथ) लगा दिया जाता है, वह मन उस मनुष्यकी प्रकृतिसंसर्गरहित आत्माकी ओर प्रवृत्त प्रज्ञा (बुद्धि) को हर लेता है, अर्थात् उसे विषयोंकी ओर प्रवृत्त कर देता है । ठीक उसी तरह, जैसे जलमें चलायी जानेवाली नावको प्रतिकूल वायु बलपूर्वक हर लेता (मार्गच्युत कर देता) है ॥ ६७ ॥

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६८ ॥

अतएव महाबाहो ! जिसकी इन्द्रियाँ सब ओरसे इन्द्रियोंके विषयोंसे रुकी हुई हैं, उसकी बुद्धि स्थिर होती है ॥६८॥

तस्माद् **उक्तेन प्रकारेण शुभाश्रये मयि निविष्टमनसो** यस्य इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेभ्यः सर्वशो निगृहीतानि तस्य **एव आत्मनि** प्रज्ञा प्रतिष्ठिता **भवति** ॥ ६८ ॥

अतएव पहले बतलायी हुई **विधिसे** शुभाश्रयरूप मुझ परमेश्वरमें संलग्न **मन**वाले जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ **इन्द्रियोंके** विषयोंसे सर्वथा निगृहीत **हैं, उसीकी** बुद्धि आत्मामें स्थिर होती है ॥ ६८ ॥

एवं नियतेन्द्रियस्य प्रसन्नमनसः सिद्धिम् आह—

इस प्रकार जिसकी इन्द्रियाँ **वशमें** हो चुकी हैं और मन प्रसन्न (निर्मल) हो चुका है, उस पुरुषकी **सिद्धिका** वर्णन करते हैं—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥६९॥

जो समस्त प्राणियोंकी रात्रि है, उसमें संयमी जागता है और जिसमें **समस्त** भूतप्राणी जागते हैं वह आत्मदर्शी मुनिकी रात्रि है ॥ ६९ ॥

या **आत्मविषया बुद्धिः** सर्वभूतानां निशा **निशा इव अप्रकाशिका ।** तस्याम् **आत्मविषयायां बुद्धौ इन्द्रिय**संयमी **प्रसन्नमना** जागर्ति—**आत्मानम् अवलोकयन् आस्ते इत्यर्थः ।** यस्यां **शब्दादिविषयायां बुद्धौ सर्वाणि** भूतानि जाग्रति **प्रबुद्धानि भवन्ति,** सा **शब्दादिविषया बुद्धिः आत्मानं** पश्यतो मुनेः निशा **इव अप्रकाशिका भवति** ॥ ६९ ॥

जो आत्मविषयक बुद्धि **समस्त** प्राणियोंके लिये रात्रि—रात्रिकी **भाँति** प्रकाशसे रहित है, उस आत्म**विषयक** बुद्धिमें प्रसन्न (निर्मल) **मनवाला** इन्द्रियसंयमी पुरुष जागता है—**आत्म**साक्षात्कार करता रहता **है । शब्दादि** विषयोंमें लगी हुई जिस बुद्धिमें **समस्त** प्राणी जागते—सावधान रहते **हैं, वह** शब्दादि विषयोंमें लगी हुई बुद्धि **आत्माका** साक्षात् कर लेनेवाले मुनिके लिये **रात्रि**की भाँति प्रकाशरहित होती **है** ॥ ६९ ॥

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥७०॥

जैसे सब ओरसे परिपूर्ण अचल प्रतिष्ठावाले समुद्रमें (नद-नदियोंके) जल (उसमें कुछ भी क्षोभ पैदा न करके) समा जाते हैं, वैसे ही जिस पुरुषमें सारे भोग (बिना विकार उत्पन्न किये ही) समा जाते हैं, वही शान्तिको प्राप्त होता है, भोगोंकी कामनावाला नहीं ! ॥ ७० ॥

यथा आत्मना एव आपूर्यमाणम् **एकरूपं** समुद्रं **नादेया** आपः प्रविशन्ति, **आसाम् अपां प्रवेशे अपि अप्रवेशे वा समुद्रो न कश्चन विशेषम् आपद्यते ।** एवं सर्वे कामाः **शब्दादिविषया** यं **संयमिनं** प्रविशन्ति **इन्द्रियगोचरतां यान्ति** स शान्तिम् आप्नोति । **शब्दादिषु इन्द्रियगोचरताम् आपन्नेषु अनापन्नेषु च स्वात्मावलोकनतृप्त्या एव यो न विकारम् आप्नोति स एव शान्तिम् आप्नोति इत्यर्थः;** न कामकामी, **यः शब्दादिभिर्विक्रियते स कदाचिद् अपि न शान्तिम् आप्नोति** ॥७०॥

जैसे अपने-आपसे परिपूर्ण एकरूप समुद्रमें नदियोंके जल प्रवेश करते हैं, उनके जलोंके प्रवेश करने या न करनेसे समुद्र किसी भी विशेषताको नहीं प्राप्त होता, वैसे ही समस्त काम—शब्दादि विषय जिस संयमी पुरुषमें प्रवेश कर जाते हैं—उसकी इन्द्रियोंके द्वारा सेवन किये जाते हैं, वह शान्ति पाता है । अभिप्राय यह कि इन्द्रियोंके द्वारा शब्दादि विषयोंका सेवन किये जाने और न किये जानेमें भी, जो पुरुष अपने आत्मसाक्षात्कारसे सदा तृप्त रहनेके कारण विकारको प्राप्त नहीं होता, वही शान्तिको प्राप्त करता है, भोगोंकी कामना करनेवाला नहीं, अर्थात् जो शब्दादि विषयोंके द्वारा विकारको प्राप्त होता है, वह कभी भी शान्तिको नहीं पाता ॥ ७० ॥

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥७१॥

जो सब विषयोंको छोड़कर, उनमें निःस्पृह होकर तथा ममता और अभिमानसे रहित होकर विचरता है, वह शान्तिको प्राप्त होता है ॥७१॥

काम्यन्ते इति कामाः शब्दादयो विषयाः । यः पुमान् **शब्दादीन्** सर्वान् **विषयान्** विहाय **तत्र** निःस्पृहः **ममतारहितश्च अनात्मनि देहे आत्माभिमानरहितः** चरति स **आत्मानं दृष्ट्वा** शान्तिम् अधिगच्छति ॥ ७१ ॥

जिनकी कामना की जाय, उनका नाम काम है इस व्युत्पत्तिके अनुसार शब्दादि विषयों (भोगों) को काम कहते हैं । जो पुरुष शब्दादि सब विषयोंको छोड़कर उनमें निःस्पृह और ममतारहित होकर एवं अनात्मा—शरीरमें आत्माभिमानसे रहित होकर आचरण करता है, वह आत्माका साक्षात्कार करके शान्तिको प्राप्त हो जाता है ॥ ७१ ॥

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्म निर्वाणमृच्छति ॥७२॥

अर्जुन ! यह ब्राह्मी स्थिति है । इसको पाकर (मनुष्य) फिर मोहित नहीं होता, अन्तकालमें भी इस स्थितिमें स्थित होकर आत्यन्तिक सुखरूप ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है ॥ ७२ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

एषा **नित्यात्मज्ञानपूर्विका असङ्गकर्मणि** स्थितिः **स्थितधीलक्षणा** ब्राह्मी

नित्य आत्माके ज्ञानसे युक्त, आसक्तिरहित कर्मोंमें होनेवाली यह स्थिर बुद्धिकी साधनरूपा स्थिति ब्राह्मी—ब्रह्मको

ब्रह्मप्रापिका । ईदृशीं कर्मस्थितिं प्राप्य न विमुह्यति **न पुनः संसारम् आप्नोति** । अस्यां **स्थित्याम् अन्तिमे अपि वयसि** स्थित्वा ब्रह्म निर्वाणम् ऋच्छति **निर्वाणमयं ब्रह्म गच्छति, सुखैकतानम् आत्मानम् आप्नोति इत्यर्थः ।**

एवम् आत्मयाथात्म्यं युद्धाख्यस्य च कर्मणः तत्प्राप्तिसाधनताम् अजानतः शरीरात्मज्ञानेन मोहितस्य तेन च मोहेन युद्धात् निवृत्तस्य तन्मोहशान्तये नित्यात्मविषया सांख्यबुद्धिः तत्पूर्विका च असङ्गकर्मानुष्ठानरूपकर्मयोगविषया बुद्धिः स्थितप्रज्ञतायोगसाधनभूता द्वितीयेऽध्याये प्रोक्ता । तदुक्तम्—'*नित्यात्मासङ्गकर्मेहागोचरा सांख्ययोगधीः । द्वितीये स्थितधीलक्ष्या प्रोक्ता तन्मोहशान्तये ॥*' (*गीतार्थसंग्रहे ६*) **इति ॥७२॥**

इति श्रीमद्भगवद्रामानुजाचार्यविरचिते श्रीमद्भगवद्गीताभाष्ये द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

प्राप्त करानेवाली स्थिति है । इस प्रकारकी कर्मस्थितिको पाकर पुरुष फिर मोहित नहीं होता—फिर संसारको प्राप्त नहीं होता । (यहाँतक कि) अन्तिम आयुमें भी इस स्थितिमें स्थित होकर मनुष्य निर्वाण ब्रह्मको—शान्तिमय ब्रह्मको पा जाता है अर्थात् एकतान सुखस्वरूप आत्माको प्राप्त हो जाता है ।

इस प्रकार दूसरे अध्यायमें आत्माके यथार्थस्वरूपको और युद्धरूप कर्म उस आत्माकी प्राप्तिका साधन है, इस बातको न जाननेवाले, शरीरको आत्मा समझकर मोहित हुए और उसी मोहके कारण युद्धसे विरत हुए अर्जुनके प्रति उसके मोहकी शान्तिके लिये भगवान्‌ने नित्य आत्मविषयक सांख्यबुद्धि और उसके सहित आसक्तिरहित कर्मानुष्ठानरूप कर्मयोग-विषयक बुद्धि बतलायी—स्थितप्रज्ञतारूप योगको प्राप्त करानेवाली बुद्धिका वर्णन किया । ऐसा ही कहा गया है—'**दूसरे अध्यायमें उस अर्जुनके मोहकी शान्तिके लिये नित्यात्मज्ञानविषयक सांख्यबुद्धि और आसक्तिरहित कर्मानुष्ठानविषयक योगबुद्धि, जिनका साध्य 'स्थितप्रज्ञता' है, भगवान्‌ने कही**' ॥७२॥

इस प्रकार श्रीमान् भगवान् रामानुजाचार्यद्वारा रचित गीता-भाष्यके हिन्दी-भाषानुवादका दूसरा अध्याय पूरा हुआ ॥२॥

ॐ

तीसरा अध्याय

तद् एव मुमुक्षुभिः परमप्राप्यतया वेदान्तोदितनिरस्तनिखिलाविद्यादिदोषगन्धानवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणगणपरब्रह्मपुरुषोत्तमप्राप्त्युपायभूतवेदनोपासनध्यानादिशब्दवाच्यतदैकान्तिकात्यन्तिकभक्तियोगं वक्तुं तदङ्गभूतम् *'य आत्मापहतपाप्मा'* (छा० उ० ८ । ७ । १) इत्यादिप्रजापतिवाक्योदितं प्राप्तुः आत्मनो याथात्म्यदर्शनं तन्नित्यताज्ञानपूर्वकासङ्गकर्मनिष्पाद्यज्ञानयोगसाध्यम् उक्तम् ।

प्रजापतिवाक्ये हि दहरवाक्योदितपरविद्याशेषतया प्राप्तुः आत्मनः स्वरूपदर्शनं *'यस्तमात्मानमनुविद्य विजानाति'* (छा० उ० ८ । १२ । ६)

जो मुमुक्षु पुरुषोंके द्वारा प्राप्त करने योग्य वेदान्तवर्णित पर-तत्त्व है, अविद्या आदि सम्पूर्ण दोषोंकी गन्धसे भी रहित है और असीम अतिशय असंख्य कल्याणमय गुणोंका समूह है, उस परब्रह्म पुरुषोत्तमकी प्राप्तिके उपायरूप—वेदना, उपासना और ध्यान आदि नामोंसे कथित ऐकान्तिक[१] और आत्यन्तिक[२] भक्तियोगका वर्णन करनेके लिये (यहाँतक) उसके अङ्गभूत मुमुक्षु जीवात्माके यथार्थ स्वरूपज्ञानको, जिसका वर्णन **'य आत्मापहतपाप्मा'** इत्यादि प्रजापतिके वाक्योंमें (उपनिषद्में) किया गया है तथा जो आत्माकी नित्यताके ज्ञानपूर्वक किये जानेवाले आसक्तिरहित कर्मोंके फलरूप ज्ञानयोगसे प्राप्त होता है, कहा गया ।

प्रजापतिके वचनोंमें दहर-विद्या-विषयक प्रसङ्गमें वर्णित पराविद्याके अङ्गरूपसे जीवात्माके स्वरूपज्ञानका उपसंहार दहरविद्याके फलके साथ किया गया है । वहाँ **'जो उस आत्माको (आचार्यद्वारा) समझकर जानता है'**

---

१. अन्य देवता और अन्य फलके आश्रयसे रहित भक्तिको 'ऐकान्तिक भक्ति' कहते हैं ।

२. अनन्त दुःखराशिके अभाव और अप्रमेय सुखप्राप्तिके एकमात्र निर्दोष और अव्यर्थ साधनको 'आत्यन्तिक भक्ति' कहते हैं ।

इति उक्त्वा जागरितस्वप्नसुषुप्त्यतीतं प्रत्यगात्मस्वरूपम् अशरीरं प्रतिपाद्य *'एवमेवैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरूपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते'* (छा० उ० ८ । १२ । ३) इति दहरविद्याफलेन उपसंहृतम् ।

अन्यत्र अपि *'अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति'* (क० उ० १ । २ । १२) इत्येवमादिषु 'देवं मत्वा' इति विधीयमानपरविद्याङ्गतया 'अध्यात्मयोगाधिगमेन' इति, प्रत्यगात्मज्ञानम् अपि विधाय *'न जायते म्रियते वा विपश्चित्'* (क० उ० १ । २ । १८) इत्यादिना प्रत्यगात्मस्वरूपं विशोध्य *'अणोरणीयान्'* (१ । २ । २०) इत्यारभ्य *'महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति'* (क० उ० १ । २ । २२) *'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन । यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥'* (क० उ० १ । २ । २३)

यह कहकर आत्माको जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओंसे अतीत, प्रत्यगात्म-स्वरूप और शरीरसे रहित बतलाया है । पश्चात्, **'इसी प्रकार यह सम्प्रसाद इस शरीरसे निकलकर परम ज्योतिकी समीपता प्राप्त करके अपने रूपसे ही सिद्ध होता है।'** यह कहा गया है ।

(इसके सिवा) अन्य उपनिषदोंमें भी **'अध्यात्मयोगकी प्राप्तिके द्वारा धीर पुरुष देवको जानकर हर्ष-शोकको त्याग देता है'** इत्यादि वचनोंमें यही बात कही गयी है; क्योंकि वहाँ 'देवं मत्वा' इस प्रकार बतलायी हुई पराविद्याके अङ्गरूपसे जीवात्माके स्वरूप-ज्ञानका वर्णन 'अध्यात्मयोगाधिगमेन' इस वाक्यमें किया है । तथा **'ज्ञाता पुरुष (आत्मा) न कभी जन्मता है, न मरता है'** इत्यादि वाक्योंसे जीवात्माके स्वरूपका निरूपण किया है । तदनन्तर **'वह छोटे-से भी छोटा है'** यहाँसे लेकर **'महान् व्यापक परमात्माको जानकर धीर पुरुष शोक नहीं करता'** यहाँतकके वर्णनसे तथा **'यह परमात्मा न प्रवचनसे, न बुद्धिसे और न बहुत शास्त्र-श्रवण करनेसे ही प्राप्त हो सकता है, किन्तु यह स्वयं जिसको वरण करता है, (जिसपर कृपा करता है) उसीको प्राप्त होता है और उसके लिये यह परमात्मा अपना स्वरूप प्रकट कर देता**

इत्यादिभिः परस्वरूपं तदुपासनम् उपासनस्य च भक्तिरूपतां प्रतिपाद्य '*विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः। सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्॥*' (क० उ० १।३।९) **इति परविद्याफलेनोपसंहृतम्।**

अतः परम् अध्यायचतुष्टयेन इदम् एव प्राप्तुः प्रत्यगात्मनो दर्शनं ससाधनं प्रपञ्च्यते—

है।' इत्यादि वचनोंसे परब्रह्म परमात्माके स्वरूप, उसकी उपासना और उपासनाकी भक्तिरूपताका प्रतिपादन किया गया है। उसके पश्चात् **'जिस मनुष्यका सारथि विज्ञान (सद्बुद्धि) है और मन लगाम है, वह इस मार्गके पार उस विष्णुके परम पदको प्राप्त करता है'** इस प्रकार आत्मज्ञानका उपसंहार पराविद्याके फलके साथ किया गया है।

अब यहाँसे आरम्भ करके (तृतीयसे षष्ठपर्यन्त) चार अध्यायोंके द्वारा यह मुमुक्षु जीवात्माके स्वरूपज्ञानका ही विषय साधनोंसहित विस्तारके साथ कहा जाता है—

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥ १॥

अर्जुन बोला—जनार्दन! यदि आप कर्मकी अपेक्षा बुद्धिको श्रेष्ठ मानते हैं तो फिर केशव! मुझे (इस) **घोर कर्ममें** क्यों लगाते हैं?॥ १॥

यदि कर्मणः बुद्धिः **एव ज्यायसी इति** ते मता **किमर्थं तर्हि** घोरे कर्मणि मां नियोजयसि? **एतदुक्तं भवति—ज्ञाननिष्ठा एव आत्मावलोकनसाधनम्, कर्मनिष्ठा तु तस्याः**

यदि आपके मतमें कर्मोंकी अपेक्षा बुद्धि ही श्रेष्ठ है तो फिर आप मुझे घोर कर्ममें किसलिये नियुक्त करते हैं? यहाँ कहनेका अभिप्राय यह है कि आत्मसाक्षात्कारका (एकमात्र) साधन ज्ञाननिष्ठा ही है, कर्मनिष्ठा तो

निष्पादिका, आत्मावलोकनसाधन-भूता च ज्ञाननिष्ठा सकलेन्द्रिय-मनसां शब्दादिविषयव्यापारोपरति-निष्पाद्या इत्यभिहिता। इन्द्रियव्या-पारोपरतिनिष्पाद्यम् आत्मावलोकनं चेद् सिषाधयिषितम्, सकलकर्म-निवृत्तिपूर्वकज्ञाननिष्ठायाम् एव अहं नियोजयितव्यः; किमर्थं घोरे कर्मणि सर्वेन्द्रियव्यापाररूपे आत्मावलोकन-विरोधिनि कर्मणि मां नियोजयसि इति ॥ १ ॥

केवल उसे उत्पन्न करनेवाली है, तथा आत्मसाक्षात्कारकी साधनभूता वह ज्ञाननिष्ठा समस्त इन्द्रियों और मनके शब्दादि विषय-सेवनरूप व्यापारको छोड़नेसे ही सिद्ध होती है, यह बात आपने बतायी है। यदि इन्द्रिय-व्यापारकी उपरतिसे सिद्ध होनेवाले आत्मज्ञानको प्राप्त करना ही आपको अभीष्ट है, तो समस्त कर्मोंकी निवृत्ति-पूर्वक ज्ञाननिष्ठामें ही मुझे नियुक्त करना उचित है; फिर आप मुझको इस आत्म-साक्षात्कारके विरोधी सब इन्द्रियोंके व्यापाररूप घोर कर्ममें किसलिये नियुक्त कर रहे हैं? ॥ १ ॥

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ २ ॥

आप इन मिले हुए-से वचनोंसे मेरी बुद्धिको मानो मोह रहे हैं। (अतएव) एक निश्चित बात कहिये जिससे मैं कल्याणको प्राप्त होऊँ ॥ २ ॥

अतो व्यामिश्रवाक्येन मां मोहयसि इव इति मे प्रतिभाति; तथा हि आत्मावलोकनसाधनभूतायाः सर्वेन्द्रियव्यापारोपरतिरूपाया ज्ञान-निष्ठायाः तद्विपर्ययरूपं कर्म साधनं तद् एव कुरु इति वाक्यं विरुद्धं

इससे मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि इन मिश्रित वचनोंद्वारा आप मुझे मानो मोहमें डाल रहे हैं; क्योंकि आत्म-साक्षात्कारकी साधनभूता ज्ञाननिष्ठाका स्वरूप है समस्त इन्द्रिय-व्यापारोंसे उपरत होना; और आप उसके विपरीत कर्मोंको उसका साधन बतलाकर यह कहते हैं कि तू उसी (कर्म) को कर; आपका यह कथन परस्पर-विरुद्ध

व्यामिश्रम् एव; तस्माद् एकम् अमिश्ररूपं वाक्यं वद; येन **वाक्येन** अहम् **अनुष्ठेयरूपं** निश्चित्य **आत्मनः** श्रेयः **प्राप्नुयाम्** ॥ २ ॥

और व्यामिश्र है । इसलिये आप एक, जिसमें किसी प्रकारका मिश्रण न हो, ऐसा स्पष्ट वचन कहिये; जिससे मैं साधनके स्वरूपको निश्चित करके आत्म-कल्याणको प्राप्त करूँ ॥२॥

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ ३ ॥

श्रीभगवान् बोले—निष्पाप अर्जुन ! इस लोकमें दो प्रकारकी निष्ठा पहले मेरेद्वारा कही जा चुकी है । सांख्योंकी ज्ञानयोगसे और योगियोंकी कर्मयोगसे ॥ ३ ॥

पुरा उक्तं न सम्यग् अवधृतं त्वया; पुरा **अपि** अस्मिन् लोके **विचित्राधिकारिसंपूर्णे** द्विविधा निष्ठा **ज्ञानकर्मविषया यथाधिकारम् असंकीर्णा** एव मया उक्ता । **न हि सर्वो लौकिकः पुरुषः संजातमोक्षाभिलाषः तदानीम् एव ज्ञानयोगाधिकारे प्रभवति, अपि तु अनभिसंहितफलेन केवलपरमपुरुषाराधनरूपेण अनुष्ठितेन कर्मणा विध्वस्तमनोमलः अव्याकुलेन्द्रियो ज्ञाननिष्ठायाम् अधिकरोति**—

(अर्जुन !) तू पहले कही हुई मेरी बातको भलीभाँति समझ नहीं पाया । तरह-तरहके अधिकारियोंसे भरे हुए इस संसारमें मेरेद्वारा पहलेसे ही ज्ञानविषयक और कर्मविषयक—दो प्रकारकी निष्ठा अधिकारीके अनुसार अलग-अलग ही बतायी हुई हैं । क्योंकि सभी संसारी मनुष्य मोक्षकी इच्छा उत्पन्न होनेपर उसी क्षण ज्ञानयोगके अधिकारी नहीं हो जाते । बल्कि फलाभिसन्धि-रहित केवल परम पुरुष परमात्माकी आराधनाके रूपमें किये जानेवाले कर्मोंसे जिसके मनका मल नष्ट हो जाता है और जिसकी इन्द्रियाँ शान्त हो चुकती हैं, वही पुरुष ज्ञाननिष्ठाका अधिकारी

'यतः प्रवृत्तिर्भूतानां
येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य
सिद्धिं विन्दति मानवः ॥'
(गीता १८ । ४६)

—इति परमपुरुषाराधनैकवेषता कर्मणां वक्ष्यते ।

होता है । **'जिससे समस्त भूतोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह सारा संसार व्याप्त है, उस परमेश्वरको अपने कर्मोंके द्वारा पूजकर मनुष्य सिद्धिको प्राप्त करता है'** इस प्रकार परमपुरुषकी आराधना ही कर्मोंका एकमात्र प्रयोजन है, यह बात आगे कहेंगे ।

इहापि *'कर्मण्येवाधिकारस्ते'* (*गीता २।४७*) इत्यादिना अनभिसंहितफलं कर्म अनुष्ठेयं विधाय तेन विषयव्याकुलतारूपमोहाद् उत्तीर्णबुद्धेः *'प्रजहाति यदा कामान्'* (*गीता २ । ५५*) इत्यादिना ज्ञानयोग उदितः । अतः सांख्यानाम् एव ज्ञानयोगेन स्थितिः उक्ता, योगिनां तु कर्मयोगेन ।

यहाँ (दूसरे अध्यायमें) भी **'कर्मण्येवाधिकारस्ते'** इत्यादि श्लोकोंद्वारा फलाभिसन्धिरहित कर्मको कर्तव्य बतलाकर, फिर उसके द्वारा जिसकी बुद्धि विषय-व्याकुलतारूप मोहसे उत्तीर्ण हो चुकी है, ऐसे पुरुषके लिये **'प्रजहाति यदा कामान्'** इत्यादि श्लोकोंसे ज्ञानयोगका विधान किया है । अतएव यह सिद्ध हुआ कि केवल सांख्ययोगियोंकी ही स्थिति ज्ञानयोगसे कही है और योगियोंकी कर्मयोगसे ।

संख्या बुद्धिः, तद्युक्ताः सांख्याः—आत्मैकविषयया बुद्धया युक्ताः सांख्याः; अतदर्हाः कर्मयोगाधिकारिणो योगिनः । विषयव्याकुलबुद्धियुक्तानां कर्मयोगे अधिकारः, अव्याकुलबुद्धीनां तु ज्ञानयोगे अधि-

संख्या बुद्धिको कहते हैं और जो उससे युक्त हैं वे सांख्य हैं—जो एकमात्र आत्मविषयक बुद्धिसे युक्त हैं, वे सांख्य हैं; और जो इसके योग्य नहीं हैं; कर्मयोगके अधिकारी हैं, वे योगी हैं । जो विषय-व्याकुलबुद्धिसे युक्त हैं, उनका कर्मयोगमें अधिकार है, जिनकी बुद्धि अव्याकुल (स्थिर) है, उनका ज्ञानयोगमें

कार उक्तः, इति न किंचिद् इह विरुद्धम्, न अपि व्यामिश्रम् अभिहितम् ॥ ३ ॥

अधिकार है; यह बात कही गयी है; अतएव यहाँ न तो कुछ परस्पर-विरुद्ध ही कहा गया है और न व्यामिश्र ही ॥३॥

सर्वस्य लौकिकस्य पुरुषस्य मोक्षेच्छायां संजातायां सहसा एव ज्ञानयोगो दुष्कर इत्याह—

सभी संसारी पुरुषोंके लिये मोक्षकी इच्छा उत्पन्न होते ही सहसा ज्ञानयोगका साधन करना कठिन है; यह कहते हैं—

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ४ ॥

मनुष्य न तो कर्मोंके अनारम्भसे ज्ञाननिष्ठाको प्राप्त होता है और न (शास्त्रीय) कर्मोंके त्यागसे ही सिद्धिको प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

न शास्त्रीयाणां कर्मणाम् अनारम्भाद् एव पुरुषः नैष्कर्म्यं ज्ञाननिष्ठाम् आप्नोति; सर्वेन्द्रियव्यापाराख्यकर्मोपरतिपूर्विकां ज्ञाननिष्ठां न प्राप्नोति इत्यर्थः । न च आरब्धस्य शास्त्रीयस्य कर्मणः त्यागात्; यतः अनभिसंहितफलस्य परमपुरुषाराधनविषयस्य कर्मणः सिद्धिः आत्मनिष्ठा स्यात्; अतः तेन विना तां न प्राप्नोति; अनभिसंहितफलैः कर्मभिः अनाराधितगोविन्दैः अवि-

शास्त्रविहित कर्मोंका आरम्भ न करनेसे ही, कोई मनुष्य निष्कर्मताको—ज्ञाननिष्ठाको नहीं पा सकता अर्थात् समस्त इन्द्रियोंके व्यापाररूप कर्मोंकी उपरतिसे होनेवाली ज्ञाननिष्ठाको (कर्मोंके अनारम्भमात्रसे) नहीं प्राप्त कर सकता । और आरम्भ किये हुए शास्त्रविहित कर्मोंके त्यागसे भी ज्ञाननिष्ठाको नहीं प्राप्त कर सकता; क्योंकि जो कर्म फलाभिसन्धि छोड़कर केवल परम पुरुषकी आराधनाके लिये किये जाते हैं, उन्हीं कर्मोंका फल आत्मनिष्ठा है; अतः उसके बिना (उनके त्यागसे) आत्मनिष्ठा नहीं मिलती; जिन पुरुषोंने फलाभिसन्धिरहित कर्मोंके द्वारा भगवान् गोविन्दकी आराधना नहीं की,

नष्टानादिकालप्रवृत्तानन्तपापसंचयैः अव्याकुलेन्द्रियतापूर्विका आत्मनिष्ठा दुःसंपाद्या ॥ ४ ॥

और अनादिकालसे प्रवृत्त अनन्त पापराशिका नाश नहीं किया, ऐसे मनुष्योंके लिये इन्द्रियोंकी विकाररहित स्थिति होनेपर प्राप्त होनेवाली आत्मनिष्ठाका सम्पादन बड़ा कठिन है ॥ ४ ॥

एतद् एव उपपादयति—

इसी बातको सिद्ध करते हैं—

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥

क्योंकि कोई पुरुष क्षणभर भी बिना कर्म किये नहीं रहता । मनुष्यमात्रको प्रकृतिसे उत्पन्न गुणोंसे विवश होकर कर्म करना पड़ता ही है ॥ ५ ॥

न हि **अस्मिन् लोके वर्तमानः पुरुषः** कश्चित् **कदाचिद्** अपि **कर्म अकुर्वाणः** तिष्ठति । **'न किंचित्करोमि'** इति **व्यवसितः** अपि सर्वः **पुरुषः** प्रकृतिसमुद्भवैः **सत्त्वरजस्तमोभिः प्राक्तनकर्मानुगुणं प्रवृद्धैः** गुणैः **स्वोचितं** कर्म **प्रति** अवशः कार्यते **प्रवर्त्यते । अत उक्तलक्षणेन कर्मयोगेन प्राचीनं पापसञ्चयं नाशयित्वा गुणांश्च सत्त्वादीन् वशे कृत्वा निर्मलान्तःकरणेन संपाद्यो ज्ञानयोगः ॥ ५ ॥**

इस लोकमें रहनेवाला कोई भी मनुष्य किसी भी समय बिना कर्म किये नहीं रह सकता; क्योंकि 'हम कुछ भी नहीं करेंगे' इस प्रकार निश्चय कर बैठनेवाले सभी मनुष्योंको पूर्वकृत कर्मानुसार बढ़े हुए प्रकृतिजन्य सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंके द्वारा अवश (बाध्य) होकर अपनी-अपनी योग्यताके अनुसार कर्मोंमें प्रवृत्त होना पड़ता है; अतएव बतलाये हुए कर्मयोगके द्वारा पुराने पापोंके सञ्चयका नाश करके तथा सत्त्वादि तीनों गुणोंको वशमें करके निर्मल अन्तःकरणसे ज्ञानयोगका सम्पादन करना चाहिये ॥ ५ ॥

अन्यथा ज्ञानयोगाय प्रवृत्तः अपि मिथ्याचारो भवति इति आह—

अन्यथा (कर्मयोगका साधन किये बिना ही) ज्ञानयोगमें प्रवृत्त होनेवाला पुरुष मिथ्याचारी हो जाता है; यह बात कहते हैं—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ ६ ॥

जो पुरुष कर्मेन्द्रियोंको रोककर मनसे इन्द्रियोंके विषयोंको स्मरण करता बैठा रहता है, वह मूढात्मा मिथ्याचारी कहलाता है ॥ ६ ॥

अविनष्टपापतया अजितबाह्यान्तःकरण आत्मज्ञानाय प्रवृत्तो विषयप्रवणतया आत्मनि विमुखीकृतमनाः विषयान् एव स्मरन् य आस्ते; **अन्यथा संकल्प्य अन्यथा चरति इति** स मिथ्याचारः उच्यते; **आत्मज्ञानाय उद्युक्तो विपरीतो विनष्टो भवति इत्यर्थः ॥ ६ ॥**

पूर्वकृत पापोंका नाश न होनेके कारण जो अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त नहीं कर सका है, ऐसा मनुष्य जब आत्मज्ञानके लिये साधन करता है तो उसका मन विषयोंकी ओर झुका रहनेके कारण आत्मासे विमुख हो जाता है, अतः (वह मनुष्य) विषयोंका ही स्मरण करता रहता है। इस प्रकार जो मनमें संकल्प कुछ करता है और आचरण कुछ और ही करता है, वह मिथ्याचारी कहलाता है। अर्थात् आत्मज्ञानके लिये चेष्टा करता हुआ उससे विपरीत होकर नष्ट हो जाता है ॥ ६ ॥

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ७ ॥

अर्जुन ! जो पुरुष मनसे इन्द्रियोंको रोककर आसक्तिरहित हुआ कर्मेन्द्रियोंसे कर्मयोगका आरम्भ करता है, वह श्रेष्ठ होता है ॥ ७ ॥

अतः **पूर्वाभ्यस्तविषयसजातीये शास्त्रीये कर्मणि** इन्द्रियाणि **आत्मावलोकनप्रवृत्तेन** मनसा नियम्य **तैः स्वत एव** कर्म**प्रवणैः** इन्द्रियैः **असङ्गपूर्वकं** यः कर्मयोगम् आरभते, सः **असंभाव्यमानप्रमादत्वेन ज्ञाननिष्ठाद् अपि पुरुषाद्** विशिष्यते ॥७॥

अतः पूर्वकालसे अभ्यस्त विषयोंके सजातीय शास्त्रविहित कर्मोंमें (लगी हुई) इन्द्रियोंको आत्म-साक्षात्कारमें प्रवृत्त मनके द्वारा संयमित करके जो पुरुष उन स्वभावसे ही कर्मपरायण रहनेवाली इन्द्रियोंके द्वारा अनासक्तिपूर्वक कर्मयोगका आचरण करता है, वह भावी प्रमादके भयसे रहित होनेके कारण ज्ञाननिष्ठाके साधक पुरुषकी अपेक्षा भी श्रेष्ठ होता है ॥ ७ ॥

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥ ८ ॥

तू नियत कर्म कर, क्योंकि अकर्म (ज्ञाननिष्ठा) की अपेक्षा कर्म श्रेष्ठ है । अकर्म (ज्ञाननिष्ठा) से तो तेरी शरीर-यात्रा भी सिद्ध नहीं होगी ॥ ८ ॥

नियतं व्याप्तम् **प्रकृतिसंसृष्टेन हि** व्याप्तं कर्म, **प्रकृतिसंसृष्टत्वम् अनादिवासनया । नियतत्वेन सुशकत्वाद् असंभावितप्रमादत्वाच्च कर्मणः, कर्म एव कुरु**; अकर्मणः **ज्ञाननिष्ठाया अपि** कर्म एव ज्यायः 'नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते' (गीता ३ । ४)

नियतका अर्थ यहाँ व्याप्त है; क्योंकि कर्म प्रकृति-संसर्गयुक्त जीवात्मासे व्याप्त है । अनादि वासनाके कारण जीवात्माका प्रकृतिसे संसर्ग होना प्रसिद्ध है । इस प्रकार नियत होनेसे कर्म सुखसाध्य हैं और इसीलिये इनमें प्रमादका भय भी नहीं है; अतएव तू कर्म ही कर । अकर्म—ज्ञाननिष्ठाकी अपेक्षा भी कर्म ही श्रेष्ठ है । **'नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते'** इस

इति प्रक्रमात् अकर्मशब्देन ज्ञाननिष्ठा एव उच्यते;

श्लोकमें प्रकरणका प्रारम्भ करते ही 'ज्ञाननिष्ठा' शब्दके बदले 'नैष्कर्म्य' शब्दका प्रयोग किया गया है; इसलिये यहाँ अकर्म शब्दसे 'ज्ञाननिष्ठा' ही कही गयी है।

ज्ञाननिष्ठाधिकारिणः अपि अनभ्यस्तपूर्वतया हि अनियतत्वेन दुःशकत्वात् सप्रमादत्वाच्च ज्ञाननिष्ठायाः कर्मनिष्ठा एव ज्यायसी।

ज्ञाननिष्ठाके अधिकारीके लिये भी ज्ञाननिष्ठा पहलेसे अभ्यस्त न होनेके कारण नियत नहीं है; अतः कठिनतासे सिद्ध होनेवाली है और उसमें प्रमादका भी भय लगा है; इसलिये (भी) ज्ञाननिष्ठाकी अपेक्षा कर्मनिष्ठा ही श्रेष्ठ है।

कर्मणि क्रियमाणे च आत्मयाथात्म्यज्ञानेन आत्मनः अकर्तृत्वानुसंधानम् अनन्तरम् एव वक्ष्यते; अत आत्मज्ञानस्य अपि कर्मयोगान्तर्गतत्वात् स एव ज्यायान् इत्यर्थः।

अभिप्राय यह कि कर्मोंका आचरण करते समय आत्माके यथार्थ स्वरूपज्ञानके द्वारा उस (आत्मा) का अकर्तृत्व देखते रहना अगले ही श्लोकमें बतलाया जायगा। अतएव कर्मयोगमें आत्मज्ञानका भी अन्तर्भाव होनेके कारण वही श्रेष्ठ है।

कर्मणो ज्ञाननिष्ठाया ज्यायस्त्ववचनं ज्ञाननिष्ठायाम् अधिकारे सति एव उपपद्यते। यदि सर्वं कर्म परित्यज्य केवलं ज्ञाननिष्ठायाम् अधिकरोषि तर्हि अकर्मणः ते ज्ञाननिष्ठस्य ज्ञाननिष्ठोपकारिणी शरीरयात्रा अपि न सेत्स्यति।

साधकका ज्ञाननिष्ठामें अधिकार होनेपर ही ज्ञाननिष्ठाकी अपेक्षा कर्मोंकी श्रेष्ठता बतलाना युक्तियुक्त हो सकता है, (अन्यथा नहीं)। यदि समस्त कर्मोंको छोड़कर तू केवल ज्ञाननिष्ठाको ही स्वीकार करेगा तो (उस अवस्थामें) तुझ अकर्मीकी—ज्ञाननिष्ठकी ज्ञाननिष्ठामें सहायता देनेवाली शरीरयात्रा भी नहीं सिद्ध होगी।

यावत्साधनसमाप्ति शरीरधारणं च अवश्यं कार्यम्; न्यायार्जितधनेन

जबतक साधनकी समाप्ति न हो जाय, तबतक शरीरको धारण करना आवश्यक है; और वह शरीर-संरक्षण न्यायसे

महायज्ञादिकं कृत्वा तच्छिष्टाशनेन एव शरीरधारणं कार्यम्; *'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः ।' (छा० उ० ७ । २६ । २)* इत्यादिश्रुतेः । *'भुञ्जते ते त्वघं पापाः' (गीता ३ । १३)* इति च वक्ष्यते । अतो ज्ञाननिष्ठस्य अपि कर्म अकुर्वतो देहयात्रा न सेत्स्यति ।

उपार्जित धनके द्वारा महायज्ञादि करके उससे बचे हुए अन्नके आहारसे ही करना उचित है; क्योंकि **'आहारकी शुद्धिसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है और उससे निश्चित स्मृति होती है'** इत्यादि श्रुति (प्रसिद्ध) है । यहाँ (गीतामें) भी **'वे पापी पाप ही खाते हैं'** इत्यादि वचन कहेंगे । अतएव ज्ञाननिष्ठ पुरुषकी भी शरीरयात्रा कर्म किये बिना नहीं सिद्ध हो सकती ।

यतो ज्ञाननिष्ठस्य अपि ध्रियमाणशरीरस्य यावत्साधनसमाप्ति महायज्ञादिनित्यनैमित्तिकं कर्म अवश्यं कार्यम् । यतश्च कर्मयोगे अपि आत्मनः अकर्तृत्वभावनया आत्मयाथात्म्यानुसन्धानम् अन्तर्भूतम्; यतश्च प्रकृतिसंसृष्टस्य कर्मयोगः सुशकः अप्रमादश्च, अतो ज्ञाननिष्ठायोग्यस्य अपि ज्ञानयोगात् कर्मयोगो ज्यायान् । तस्मात् त्वं कर्मयोगम् एव कुरु इत्यभिप्रायः ॥८॥

जब कि शरीर रखनेवाले ज्ञाननिष्ठ पुरुषको भी जबतक साधनकी समाप्ति न हो जाय, महायज्ञादि नित्य और नैमित्तिक कर्म अवश्य करने चाहिये । एवं आत्माके अकर्तृत्वकी भावनासे आत्माके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान कर्मयोगके अन्तर्गत है; तथा प्रकृतिसे ओतप्रोत मनुष्यके लिये कर्मयोग सहजमें आचरण करने योग्य और प्रमादरहित भी है; तब ज्ञाननिष्ठामें समर्थ पुरुषके लिये भी ज्ञानयोगकी अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ है; अतएव तू कर्मयोगका ही आचरण कर, यह अभिप्राय है ॥ ८ ॥

एवं तर्हि द्रव्यार्जनादेः कर्मणः अहङ्कारममकारादिसर्वेन्द्रियव्याकुल-

ऐसा करनेपर तो द्रव्योपार्जनादि कर्मोंमें अहंता और ममता आदि समस्त इन्द्रियोंकी व्याकुलतारूप दोष छिपे

तागर्भत्वेन अस्य पुरुषस्य कर्मवासनया बन्धनं भविष्यति इति अत्र आह—

रहनेके कारण इस पुरुषका कर्मवासनासे बन्धन हो जायगा, इसपर कहते हैं—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥ ९ ॥

यज्ञके लिये किये जानेवाले कर्मके सिवा अन्य कर्म करनेपर यह मनुष्य कर्मबन्धनसे बँध जाता है । अतएव अर्जुन ! तू आसक्तिरहित होकर यज्ञके लिये कर्मका भलीभाँति आचरण कर ॥ ९ ॥

यज्ञादिशास्त्रीयकर्मशेषभूताद् द्रव्यार्जनादेः कर्मणः अन्यत्र **आत्मीयप्रयोजनशेषभूते कर्मणि क्रियमाणे** अयं लोकः कर्मबन्धनो **भवति । अतः त्वं यज्ञाद्यर्थं द्रव्यार्जनादिकं** कर्म समाचर; **तत्र आत्मप्रयोजनसाधनतया यः सङ्गः तस्मात् सङ्गात् मुक्तः सन् समाचर ।**

एवं मुक्तसङ्गेन यज्ञाद्यर्थतया कर्मणि क्रियमाणे यज्ञादिभिः कर्मभिः आराधितः परमपुरुषः अस्य अनादिकालप्रवृत्तकर्मवासनां समुच्छिद्य अव्याकुलात्मावलोकनं ददाति इत्यर्थः ॥९॥

यज्ञादि शास्त्रीय कर्मोंके अङ्गभूत द्रव्योपार्जनादि कर्मोंसे भिन्न जो अपने भोगोंके लिये किये जानेवाले कर्म हैं, उनसे ही यह मनुष्य-लोक कर्मबन्धनको प्राप्त होता है; अतएव तू यज्ञादिके लिये द्रव्योपार्जनादि कर्मका भलीभाँति आचरण कर । उसमें जो निजी स्वार्थसाधनसम्बन्धी आसक्ति है, उस आसक्तिसे रहित होकर कर्माचरण कर ।

इस प्रकार आसक्तिरहित होकर यज्ञादिके लिये कर्म किये जानेपर उन यज्ञादि कर्मोंके द्वारा आराधित परम पुरुष परमेश्वर—इस साधककी अनादिकालसे प्रवृत्त कर्मवासनाको जड़से काटकर इसे अविकल (यथार्थरूपसे) आत्मसाक्षात्कार प्रदान करता है, यह अभिप्राय है ॥ ९ ॥

यज्ञशिष्टेन एव सर्वपुरुषार्थसाधन-निष्ठानां शरीरधारणकर्तव्यताम् अयज्ञशिष्टेन शरीरधारणं कुर्वतां दोषं च आह—

सभी पुरुषार्थोंके साधनमें लगे हुए पुरुषोंको यज्ञसे बचे हुए अन्नादिके द्वारा ही शरीर-संरक्षण करना उचित है; तथा बिना यज्ञसे बचे हुए अन्नादिके द्वारा (कामोपभोगके लिये उपार्जित द्रव्यके द्वारा) शरीर-धारण करनेवालोंको दोष होता है, यह बात कहते हैं—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१०॥

प्रजापति (भगवान् नारायण) ने पहले प्रजाको रचकर कहा था कि इस (यज्ञ) के द्वारा तुम फूलो-फलो और यह यज्ञ तुम्हें इच्छित भोगोंको देनेवाला हो ॥१०॥

'पतिं विश्वस्य आत्मेश्वरम्' (*तै० ना० ११ । ३*) इत्यादि-श्रुतेः निरुपाधिकः प्रजापतिशब्दः सर्वेश्वरं विश्वस्रष्टारं विश्वात्मानं परायणं नारायणम् आह—

'विश्वके पति और आत्माके ईश्वरको' इत्यादि श्रुतिप्रमाणसे (यह सिद्ध होता है कि) इस श्लोकमें उपाधिरहित प्रजापति शब्द विश्वके रचयिता विश्वात्मा परम आश्रयरूप सर्वेश्वर नारायणका वाचक है ।

पुरा **सर्गकाले स भगवान्** प्रजापतिः **अनादिकालप्रवृत्ताचित्संसर्गविवशा उपसंहृतनामरूपविभागाः स्वस्मिन् प्रलीनाः सकलपुरुषार्थानर्हाः चेतनेतरकल्पाः** प्रजाः **समीक्ष्य परमकारुणिकः तदुज्जिजीवयिषया स्वारा-**

जो (प्रजा) अनादिकालसे प्रवृत्त जड प्रकृतिके संसर्गसे विवश है, जिसके नाम-रूप-विभागोंका उपसंहार हो चुका है और जो भगवान्में लय होकर जडके समान तथा सब प्रकारके पुरुषार्थ-साधनके अयोग्य हो रही है, ऐसी समस्त प्रजाको देखकर उस परम दयालु भगवान् प्रजापतिने पहले—विश्वरचनाके समय उस प्रजाका उज्जीवन (उत्कर्ष) करनेकी इच्छासे अपने आराधनरूप यज्ञ-

धनभूतयज्ञनिर्वृत्तये यज्ञैः सह **ताः** सृष्ट्वा **एवम्** उवाच—

अनेन **यज्ञेन** प्रसविष्यध्वम् **आत्मनो वृद्धिं कुरुध्वम्** । एष **वो यज्ञः परमपुरुषार्थलक्षणमोक्षाख्यस्य कामस्य तदनुगुणानां च कामानां प्रपूरयिता भवतु** ॥ १० ॥

की सिद्धिके लिये यज्ञके सहित उसको रचकर समस्त प्रजासे यह कहा—

इस यज्ञके द्वारा तुमलोग बढ़ो—अपनी उन्नति करो । यह यज्ञ तुमलोगोंके लिये परम पुरुषार्थरूप मोक्ष नामक कामका और उसके अनुकूल समस्त इच्छित भोगोंका पूर्ण करनेवाला हो ॥१०॥

कथम्—

यह कैसे हो ? (इसपर कहते हैं—)

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ ११ ॥

इस (यज्ञ) के द्वारा तुम देवताओंकी आराधना करो और वे देवता तुम्हारा पोषण करें । इस प्रकार एक दूसरेको सन्तुष्ट करते हुए तुम दोनों परम कल्याण (मोक्ष) को प्राप्त होओगे ॥ ११ ॥

अनेन **देवताराधनभूतेन** देवान् **मच्छरीरभूतान् मदात्मकान् आराधयत** '*अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च*' (*गीता ९।२४*) **इति वक्ष्यते । यज्ञेन आराधिताः** ते देवा **मदात्मकाः स्वाराधनापेक्षितान्नपानाद्यैः युष्मान् पुष्णन्तु । एवं** परस्परं भावयन्तः परं श्रेयो **मोक्षाख्यम्** अवाप्स्यथ ॥११॥

'मैं ही सब यज्ञोंका भोक्ता और प्रभु हूँ' यह आगे कहेंगे; अतः जो मेरे शरीररूप होनेसे मेरी ही प्रतिमूर्ति हैं, ऐसे देवोंकी इस देवाराधनरूप यज्ञद्वारा तुमलोग आराधना करो; और मेरे ही स्वरूप वे देव यज्ञके द्वारा आराधित होकर तुमलोगोंको अपनी आराधनाके लिये आवश्यक अन्नपानादि देकर तुम्हारा पोषण करें । इस प्रकार परस्पर (एक-दूसरेका) पोषण करते हुए तुमलोग मोक्षनामक परमकल्याणको प्राप्त करोगे ॥११॥

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥१२॥

यज्ञके द्वारा आराधित देवता तुम्हें अवश्य ही इच्छित भोग देंगे। उनके दिये हुए भोगोंको जो पुरुष उन्हें बिना अर्पण किये भोगता है, वह निश्चय ही चोर है ॥१२॥

यज्ञभाविताः **यज्ञेन आराधिताः मदात्मका** देवा इष्टान् भोगान् वो दास्यन्ते **परमपुरुषार्थलक्षणं मोक्षं साधयतां ये इष्टा भोगाः तान् पूर्व-पूर्वयज्ञभाविता देवा दास्यन्ते । उत्तरोत्तराराधनापेक्षितान् सर्वान् भोगान् वो दास्यन्ति इत्यर्थः ।**

स्वाराधनार्थतया तैः दत्तान् **भोगान् तेभ्यः** अप्रदाय यो भुङ्क्ते **चोर** एव सः । **चौर्यं हि नाम अन्यदीये तत्प्रयोजनाय एव परिक्लृप्ते वस्तुनि स्वकीयताबुद्धिं कृत्वा तेन स्वात्मपोषणम् ।**

अतः अस्य न परमपुरुषार्थानर्हतामात्रम्, अपि तु निरयगामित्वं च भविष्यति, इत्यभिप्रायः ॥१२॥

यज्ञभावित—यज्ञके द्वारा आराधित मेरे ही स्वरूप देवगण तुमलोगोंको इच्छित भोग प्रदान करेंगे अर्थात् पूर्व-पूर्व यज्ञद्वारा आराधित देवता परमपुरुषार्थरूप मोक्षके लिये साधन करनेवाले तुमलोगोंको तुम्हारे अनुकूल जो भोग होंगे, उन्हें देंगे; तात्पर्य यह कि वे समस्त भोग, जो उत्तरोत्तर उनकी आराधनाके लिये आवश्यक हैं, देवता तुम्हें प्रदान करेंगे।

इस प्रकार उनकी आराधनाके लिये उन्हींके द्वारा दिये हुए भोगोंको उनके अर्पण किये बिना ही जो खाता है, वह चोर ही है। दूसरेकी वस्तुको, जो कि उसीके काममें आनेके लिये निर्माण की गयी है, अपनी मानकर उससे अपना पोषण करना, इसीका नाम चोरी है।

अतएव इस प्रकार यज्ञादि कर्म न करनेवाला केवल परम पुरुषार्थरूप मोक्षके लिये ही अयोग्य नहीं हो जाता, बल्कि उसे नरकमें भी जाना पड़ता है, यह अभिप्राय है ॥१२॥

तद् एव विवृणोति— | इसीका विस्तारसे वर्णन करते हैं—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥ १३ ॥

यज्ञसे बचे हुए (पदार्थोंको) खानेवाले सत्पुरुष सब पापोंसे छूट जाते हैं; परन्तु जो केवल अपने लिये ही पकाते हैं, वे पापी तो पाप ही खाते हैं ॥१३॥

इन्द्राद्यात्मना अवस्थितपरमपुरुषाराधनार्थतया एव द्रव्याणि उपादाय विपच्य तैः यथावस्थितं परमपुरुषम् आराध्य तच्छिष्टाशनेन ये शरीरयात्रां कुर्वते, ते तु अनादिकालोपार्जितैः किल्बिषैः **आत्मयाथात्म्यावलोकनविरोधिभिः सर्वैः विमुच्यन्ते ।**

जो पुरुष इन्द्रादि देवोंके रूपमें स्थित परम पुरुष भगवान्‌की आराधनाको निमित्त बनाकर ही वस्तुओंका संग्रह करते हैं और उनसे पाक बनाकर उनके द्वारा विभिन्न देवोंके रूपमें स्थित परमपुरुषकी आराधना करके उससे बचे हुए प्रसादरूप अन्नके आहारसे शरीरनिर्वाह करते हैं, वे तो आत्माके यथार्थ स्वरूपज्ञानके विरोधी अनादिकालसे उपार्जित समस्त पापोंसे छूट जाते हैं ।

ये तु **परमपुरुषेण इन्द्राद्यात्मना स्वाराधनाय दत्तानाम् आत्मार्थतया उपादाय विपच्य अश्नन्ति** ते **पापात्मानः** अघम् एव भुञ्जते। **अघपरिणामित्वाद् अघम् इति उच्यते। आत्मावलोकनविमुखा नरकाय एव पच्यन्ते॥१३॥**

परन्तु जो इन्द्रादिके रूपमें स्थित परमपुरुष भगवान्‌के द्वारा उनकी अपनी आराधनाके लिये दिये हुए पदार्थोंको अपने भोगकी सामग्री बनाकर संग्रह करते हैं और पकाकर खाते हैं, वे पापी पापको ही खाते हैं । परिणाममें पापका उत्पादक होनेसे ऐसे भोजनको पाप कहते हैं । आत्मसाक्षात्कारसे विमुख मनुष्य नरकके लिये ही तैयार हो रहे हैं ॥१३॥

पुनरपि लोकदृष्ट्या शास्त्रदृष्ट्या च सर्वस्य यज्ञमूलत्वं दर्शयित्वा यज्ञानुवर्तनस्य अवश्यकार्यताम् अननुवर्तने च दोषं च आह—

लोकदृष्टि और शास्त्रदृष्टिसे 'सब कुछ यज्ञमूलक है' यह दिखलाकर अब यज्ञका आचरण करना अवश्यकर्तव्य है और न करना दोष है, यह बात फिर भी कहते हैं—

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ १४ ॥

अन्नसे सब प्राणी होते हैं, अन्नकी उत्पत्ति वर्षासे होती है, वर्षा यज्ञसे होती है और यज्ञ कर्मसे उत्पन्न होता है ॥ १४ ॥

अन्नात् **सर्वाणि** भूतानि भवन्ति पर्जन्याद् अन्नसंभवः **इति सर्वलोकसाक्षिकम्** । यज्ञात् पर्जन्यो भवति **इति च शास्त्रेण अवगम्यते**—'*अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते । आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥*' (*मनु० ३।७६*) **इत्यादिना** । यज्ञः **च द्रव्यार्जनादिकर्तृपुरुषव्यापाररूपकर्म**समुद्भवः ॥ १४ ॥

सब प्राणी अन्नसे होते हैं, अन्न मेघ (वर्षा) से होता है, यह सबके प्रत्यक्ष है । मेघ (वर्षा) यज्ञसे होते हैं, यह बात **'अग्निमें भलीभाँति दी हुई आहुति सूर्यकी किरणोंमें स्थित होती है, सूर्यसे वर्षा होती है, वर्षासे अन्न होता है और अन्नसे प्रजा होती है।'** इत्यादि शास्त्रवचनोंसे जानी जाती है; और यज्ञ, कर्ता पुरुषके व्यापाररूप द्रव्योपार्जनादि कर्मसे समुत्पन्न होता है ॥ १४ ॥

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥

कर्मको तू ब्रह्म (सजीव शरीर) से उत्पन्न हुआ जान और ब्रह्म (शरीर) अक्षर (जीवात्मा) से उत्पन्न हुआ है । इसलिये सर्वगत ब्रह्म (समस्त अधिकारियोंको प्राप्त शरीर) सदा ही यज्ञमें प्रतिष्ठित है ॥१५॥

कर्म ब्रह्मोद्भवम्। **अत्र च ब्रह्मशब्द-निर्दिष्टं प्रकृतिपरिणामरूपशरीरम्** *'तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते'* (मु० १।१।९) **इति ब्रह्म-शब्देन प्रकृतिः निर्दिष्टा। इहापि** *'मम योनिर्महद्ब्रह्म'* (गीता १४। ३) **इति वक्ष्यते। अतः कर्म ब्रह्मोद्भवम् इति प्रकृतिपरिणामरूप-शरीरोद्भवं कर्म इत्युक्तं भवति।** ब्रह्म अक्षरसमुद्भवम्, **इत्यत्र अक्षरशब्दनि-र्दिष्टो जीवात्मा, अन्नपानादिना तृप्ताक्षराधिष्ठितं शरीरं कर्मणे प्रभ-वति, इति कर्मसाधनभूतं शरीरम् अक्षरसमुद्भवम्।** तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म **सर्वाधिकारिगतं शरीरं** नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् **यज्ञमूलम् इत्यर्थः** ॥१५॥

कर्म ब्रह्मसे उत्पन्न होता है। यहाँ 'ब्रह्म' शब्दसे प्रकृतिका परिणामरूप शरीर निर्दिष्ट है। **'उससे यह ब्रह्म, नाम, रूप और अन्न उत्पन्न होता है'** इस प्रकार श्रुतिमें ब्रह्म शब्दसे प्रकृतिका निर्देश किया गया है। इस गीताशास्त्रमें भी **'मेरी योनि (प्रकृति) महद् ब्रह्म है'** यह कहेंगे। अतएव कर्म ब्रह्मसे उत्पन्न है, इस कथनका तात्पर्य यह होता है कि प्रकृतिके परिणामरूप शरीरसे कर्म उत्पन्न होता है। ब्रह्म अक्षरसे उत्पन्न होता है, यहाँ अक्षरशब्दसे जीवात्मा-का निर्देश है; इस प्रकार जीवात्मासे अधिष्ठित और अन्नपानादिसे परितृप्त शरीर कर्म करनेमें समर्थ होता है; अतः कर्मका साधनरूप शरीर अक्षरसे उत्पन्न होता है। अतएव सर्वगत ब्रह्म—समस्त अधिकारिवर्गको प्राप्त शरीर सदा ही यज्ञमें प्रतिष्ठित है, अर्थात् यज्ञ-मूलक है ॥ १५ ॥

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥ १६ ॥

पार्थ! जो इस प्रकार प्रचलित चक्रके अनुसार नहीं चलता है, वह इन्द्रियोंमें रमण करनेवाला पाप-जीवन मनुष्य व्यर्थ ही जीता है ॥१६॥

एवं **परमपुरुषेण** प्रवर्तितम् **इदं** चक्रम् **'अन्नाद् भवन्ति भूतानि'**

'अन्नाद् भवन्ति भूतानि' इस वाक्य-में 'भूत' शब्दसे सजीव शरीरोंका निर्देश

इत्यत्र भूतशब्दनिर्दिष्टानि सजीवानि शरीराणि। पर्जन्यादन्नम्, यज्ञात् पर्जन्यः; यज्ञश्च कर्तृव्यापारानुरूपात् कर्मणः, कर्म च सजीवात् शरीरात्, सजीवं शरीरं च पुनरन्नाद् इति अन्योन्यकार्यकारणभावेन चक्रवत् परिवर्तमानम्—इह साधने वर्तमानो यः कर्मयोगाधिकारी ज्ञानयोगाधिकारी वा न अनुवर्तयति न प्रवर्तयति, यज्ञशिष्टेन देहधारणम् अकुर्वन् सः अघायुः भवति, अघारम्भाय एव अस्य आयुः अघपरिणतं वा, उभयरूपं वा, सः अघायुः।

अत एव इन्द्रियारामो भवति, न आत्मारामः; इन्द्रियाणि एव अस्य उद्यानानि भवन्ति, अयज्ञशिष्टवर्द्धितदेहमनस्त्वेन उद्रिक्तरजस्तमस्कः, आत्मावलोकनविमुखतया विषयभोगैकरतिः भवति, अतो ज्ञान-

है। (इसके अनुसार) सजीव शरीर अन्नसे उत्पन्न होते हैं, अन्न वर्षासे, वर्षा यज्ञसे, यज्ञ कर्ताके व्यापाररूप कर्मसे, कर्म सजीव शरीरसे तथा सजीव शरीर पुनः अन्नसे होता है, इस प्रकार एक दूसरेके कार्य-कारणरूपसे जो चक्रकी भाँति घूमता रहता है, ऐसे उपर्युक्त रूपसे परमपुरुषके द्वारा प्रवर्तित यज्ञचक्रका इस मोक्ष-मार्गके साधनमें लगा हुआ जो मनुष्य, चाहे वह कर्मयोगका अधिकारी हो या ज्ञानयोगका, अनुसरण नहीं करता—उसके अनुसार नहीं चलता, वह यज्ञसे बचे हुए प्रसादसे शरीर धारण न करनेके कारण पापायु होता है। उसका जीवन पापोंका प्रारम्भ करनेके लिये है, इसलिये, या उसका जीवन पापोंका ही परिणाम है, इसलिये, अथवा दोनों ही प्रकारसे वह पापायु है।

इसीलिये वह इन्द्रियोंमें रमण करनेवाला होता है, आत्मामें रमण करनेवाला नहीं; इन्द्रियाँ ही उसके विश्रामकी वाटिकाएँ होती हैं; उसका शरीर और मन यज्ञशिष्ट अन्नद्वारा संवर्धित न होनेके कारण उसके रज तथा तम बढ़े होते हैं; इसलिये वह आत्मसाक्षात्कारसे विमुख होकर केवल विषयभोगोंमें ही फँसा रहता है; अतएव अर्जुन! ज्ञानयोगादिके

योगादौ यतमानः अपि निष्फल-प्रयत्नतया मोघं पार्थ स जीवति ॥१६॥

लिये प्रयत्नवान् होनेपर भी उसका प्रयत्न निष्फल होता है और इसलिये वह व्यर्थ ही जीता है ॥ १६ ॥

असाधनायत्तात्मदर्शनस्य मुक्तस्य एव महायज्ञादिवर्णाश्रमोचितकर्मा-नारम्भ इत्याह—

जिसको आत्मसाक्षात्कारके लिये साधन करनेकी आवश्यकता नहीं रही, ऐसे मुक्त पुरुषके लिये ही महायज्ञादि वर्णाश्रमोचित कर्मोंका आरम्भ न करना युक्तिसङ्गत है (सबके लिये नहीं), यह कहते हैं—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥१७॥

परन्तु जो मनुष्य आत्मामें ही रमण करनेवाला, आत्मामें ही तृप्त और आत्मामें ही सन्तुष्ट हो, उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है ॥१७॥

यः तु **ज्ञानयोगकर्मयोगसाधन-निरपेक्षः स्वत** एव **आत्मरतिः आत्माभिमुखः** आत्मना **एव** तृप्तः, **न अन्नपानादिभिः आत्मव्यतिरिक्तैः**, आत्मनि एव च सन्तुष्टः; **न उद्यानस्रक्चन्दनगीतवादित्रनृत्यादौ, धारण-पोषणभोग्यादिकं सर्वम् आत्मा एव यस्य** तस्य **आत्मदर्शनाय कर्तव्यं** न विद्यते; **स्वत एव सर्वदा दृष्टात्म-स्वरूपत्वात्** ॥ १७ ॥

जो पुरुष ज्ञानयोग या कर्मयोगरूप साधनोंकी अपेक्षा नहीं रखता, अपने-आप ही आत्मामें प्रीतिमान्—आत्म-सम्मुख और आत्मासे ही तृप्त है, आत्माके अतिरिक्त अन्नपानादिके द्वारा तृप्तिकी आवश्यकता नहीं रखता तथा जो आत्मामें ही सन्तुष्ट है; पुष्पवाटिका, हार, चन्दन, संगीत, वाद्य और नृत्य आदिसे नहीं; जिसके धारण-पोषण और भोग आदि सब कुछ आत्मा ही है, उसको आत्मसाक्षात्कारके लिये कुछ भी कर्तव्य नहीं रहता; क्योंकि उसको तो अपने-आप ही सब समय आत्मस्वरूप-का साक्षात्कार प्राप्त है ॥१७॥

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ १८ ॥

क्योंकि इस लोकमें उसका न तो (साधन) करनेसे ही कोई प्रयोजन है और न न करनेसे ही । तथा उसका (आकाशादि) समस्त भूतोंसे भी किसी प्रकारके स्वार्थका सम्बन्ध नहीं है ॥ १८ ॥

अत एव तस्य **आत्मदर्शनाय** कृतेन **तत्साधनेन** न अर्थः—**न किंचित् प्रयोजनम्,** अकृतेन **आत्मदर्शनसाधनेन** न **कश्चिद् अनर्थः**—**असाधनायत्तात्मदर्शनत्वात् । स्वत एवात्मव्यतिरिक्तसकलाचिद्वस्तुविमुखस्य** अस्य **सर्वेषु प्रकृतिपरिणामविशेषेषु आकाशादिषु** भूतेषु **सकार्येषु** न कश्चित् **प्रयोजनतया साधनतया वा** व्यपाश्रयः, **यतः तद्विमुखीकरणाय साधनारम्भः; स हि मुक्त एव॥१८॥**

अतएव उसको न तो आत्म-साक्षात्कारके लिये तत्सम्बन्धी साधन करनेसे कोई लाभ—प्रयोजन है और न आत्मसाक्षात्कारके लिये साधन न करनेसे ही कोई हानि है; क्योंकि उसका आत्मसाक्षात्कार साधनके अधीन नहीं है । इस प्रकार जो अपने-आप ही आत्माके अतिरिक्त सब जड पदार्थोंसे विमुख है, उस पुरुषका प्रकृतिके परिणाम-विशेष आकाशादि समस्त भूतोंसे और उनके कार्योंसे (उनसे बने हुए पदार्थोंसे) प्रयोजनके रूपमें या साधनके रूपमें कोई भी सम्बन्ध नहीं रहता, जिससे उनकी ओरसे अपनेको विमुख करनेके लिये कोई साधन करना पड़े । वह तो बस, मुक्त ही है ॥१८॥

यस्माद् असाधनायत्तात्मदर्शनस्य एव साधनाप्रवृत्तिः, यस्मात् च साधने प्रवृत्तस्य अपि सुशकत्वाद्

जब कि यह बात है कि जिसका आत्मसाक्षात्कार साधनके अधीन नहीं है, केवल उसीकी साधनमें प्रवृत्ति नहीं होती तथा कर्मयोग सुशक्य (सुख-साध्य)

अप्रमादत्वात् तदन्तर्गतात्मयाथात्म्यानुसन्धानत्वाद् च ज्ञानयोगिनः अपि देहयात्रायाः कर्मानुवृत्त्यपेक्षत्वात् च कर्मयोग एव आत्मदर्शन निर्वृत्तौ श्रेयान्—

एवं प्रमादरहित होने और उसके अन्तर्गत आत्माके यथार्थस्वरूपका ज्ञान भी आ जानेके कारण साधनमें प्रवृत्त ज्ञानयोगीके लिये भी शरीर-यात्राके निमित्त कर्मका आचरण अपेक्षित है. तब तो आत्मसाक्षात्कारके लिये कर्मयोग ही सब प्रकारसे श्रेष्ठ है—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ १९॥

इसलिये तू आसक्तिरहित होकर लगातार कर्तव्य कर्म करता रह; क्योंकि अनासक्त पुरुष कर्म करता हुआ ही परम (आत्मा) को प्राप्त होता है ॥१९॥

तस्माद् **असङ्गपूर्वकं** कार्यम् इत्येव सततं **यावदात्मप्राप्ति** कर्म एव समाचर । असक्तः **कार्यम्** इति **वक्ष्यमाणाकर्तृत्वानुसन्धानपूर्वकं च** कर्म **अनुचरन्** पूरुषः **कर्मयोगेन एव** परम् आप्नोति **आत्मानं प्राप्नोति इत्यर्थः** ॥ १९ ॥

इसलिये तू अनासक्त होकर, केवल कर्तव्य समझकर ही, जबतक आत्म-साक्षात्कार न हो, सदैव भलीभाँति कर्म ही करता रह । कर्तव्य समझकर आगे बतलायी हुई रीतिसे अकर्तापनको लक्ष्यमें रखता हुआ जो पुरुष अनासक्त होकर कर्म करता है वह कर्मयोगसे ही परम पदको प्राप्त कर लेता अर्थात् आत्माको पा जाता है ॥ १९ ॥

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥ २० ॥

जनकादि (आसक्तिरहित) कर्मके आचरणसे ही परमसिद्धिको प्राप्त हुए । (इसके सिवा) लोकसंग्रहको देखकर भी तुझे कर्म ही करना चाहिये ॥२०॥

यतो ज्ञानयोगाधिकारिणः अपि कर्मयोग एव आत्मदर्शने श्रेयान्,

जो ज्ञानयोगका अधिकारी है, उसको भी आत्मसाक्षात्कारके लिये कर्मयोग ही

यदि मैं सजग रहकर कदाचित् कर्ममें प्रवृत्त न होऊँ तो अर्जुन ! सब मनुष्य सब प्रकारसे मेरे मार्गका अनुसरण करते हैं, (अतः वे भी कर्मोंको छोड़ दें) ॥२३॥

अहं **सर्वेश्वरः सत्यसंकल्पः स्वसंकल्पकृतजगदुदयविभवलयलीलः स्वच्छन्दतो जगदुपकृतये मर्त्यो जातः अपि मनुष्येषु शिष्टजनाग्रेसरवसुदेवगृहे अवतीर्णः तत्कुलोचिते** कर्मणि अतन्द्रितः **सर्वदा** यदि न वर्तेयम्, मम **शिष्टजनाग्रेसरवसुदेवसूनोः** वर्त्म **अकृत्स्नविदः शिष्टाः च सर्वप्रकारेण 'अयम् एव धर्मः'** इति अनुवर्तन्ते **ते च स्वकर्तव्याननुष्ठानेन अकरणे प्रत्यवायेन च आत्मानम् अनुपलभ्य निरयगामिनो भवेयुः ॥ २३ ॥**

मैं सत्यसंकल्प, तथा अपने संकल्पमात्रसे ही जगत्‌का सृजन, पालन और संहाररूप लीला करनेवाला सर्वेश्वर, यद्यपि जगत्‌का उपकार करनेके लिये स्वच्छन्दरूपसे ही मनुष्यरूपमें प्रकट हुआ हूँ, तो भी मनुष्योंमें श्रेष्ठ जनोंमें अग्रगण्य श्रीवसुदेवजीके घरमें अवतीर्ण होकर यदि उनके कुलोचित कर्मोंको सदा सजग रहकर न आचरण करूँ तो जो अल्पज्ञ तथा उत्तम पुरुष मुझ श्रेष्ठजनाग्रणी वसुदेवनन्दनके मार्गका, सब प्रकारसे 'यही धर्म है' ऐसा मानकर अनुसरण करते हैं, वे भी (मेरी देखादेखी) अपने कर्तव्यका अनुष्ठान न करनेके कारण कर्मत्यागजनित पापसे आत्माको न पाकर नरकगामी हो जायँ ॥२३॥

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥२४॥

(फलतः) यदि मैं कर्म न करूँ तो (मेरे पीछे चलकर) ये सब लोक नष्ट हो जायँ और मैं फिर वर्णसङ्करका कर्ता बनूँ तथा इन प्रजाओंका नाश करनेवाला होऊँ ॥२४॥

अहं **कुलोचितं** कर्म न चेत् कुर्याम्, **एवम् एव सर्वे शिष्टलोका**

यदि मैं कुलोचित कर्म न करूँ तो सभी श्रेष्ठ पुरुष, जो मेरे आचारको

मदाचारायत्तधर्मनिश्चया अकरणाद् एव उत्सीदेयुः—**नष्टा भवेयुः, शास्त्रीयाचाराणाम् अपालनात् सर्वेषां शिष्टकुलानां** संकरस्य च कर्ता स्याम्, **अत एव** इमाः प्रजा उपहन्याम् ।

आदर्श मानकर धर्मका निश्चय करनेवाले हैं, इस प्रकार केवल कर्म न करनेके कारण ही उत्सन्न—नष्ट हो जायँ। और मैं शास्त्रीय आचारोंका पालन न करनेके कारण समस्त श्रेष्ठ कुलीन पुरुषोंको सङ्कर बनानेवाला होऊँ और इसी कारण इस सारी प्रजाको नष्ट करनेवाला बनूँ।

एवम् एव त्वम् अपि शिष्टजनाग्रेसरपाण्डुतनयः युधिष्ठिरानुजः अर्जुनः सन् शिष्टतया यदि ज्ञाननिष्ठायाम् अधिकरोषि ततः त्वदाचारानुवर्तिनः अकृत्स्नविदः शिष्टाः च मुमुक्षवः स्वाधिकारम् अजानन्तः कर्मनिष्ठायाम् अनधिकुर्वन्तो विनश्येयुः, अतो व्यपदेश्येन विदुषा कर्म एव कर्तव्यम् ॥ २४॥

इसी प्रकार तू भी श्रेष्ठ पुरुषोंमें अग्रणी पाण्डुका पुत्र और युधिष्ठिरका छोटा भाई होकर यदि ज्ञाननिष्ठाको उत्तम समझकर स्वीकार कर लेगा तो तेरे पीछे चलनेवाले अल्पज्ञ तथा उत्तम पुरुष भी, जो मुमुक्षु हैं, अपने अधिकारको न जाननेके कारण कर्मनिष्ठाको स्वीकार न करके नष्ट हो जायँगे; अतः आदर्श माने जानेवाले विद्वान्‌को कर्म ही करना चाहिये ॥२४॥

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥ २५॥

(इसलिये) भारत ! कर्ममें आसक्त हुए अज्ञानीलोग जैसे कर्म करते हैं, वैसे ही ज्ञानीको भी अनासक्त होकर (केवल) लोकसंग्रह (लोगोंकी भलाई) चाहते हुए कर्म करना चाहिये ॥२५॥

अविद्वांसः **आत्मनि अकृत्स्नविदः** कर्मणि सक्ताः **कर्मणि अवर्जनीय-**

जो अज्ञानी हैं—आत्माको भलीभाँति जाननेवाले नहीं हैं, कर्मोंमें आसक्त हैं, कर्मोंमें अनिवार्य सम्बन्ध

संबन्धाः, आत्मनि अकृत्स्नवित्तया तदभ्यासरूपज्ञानयोगे अनधिकृताः, कर्मयोगाधिकारिणः कर्मयोगम् एव यथा **आत्मदर्शनाय कुर्वते,** तथा **आत्मनि कृत्स्नवित्तया कर्मणि** असक्तः **ज्ञानयोगाधिकारयोग्यः अपि व्यपदेश्यः शिष्टः,** लोकरक्षणार्थं **स्वाचारेण शिष्टलोकानां धर्मनिश्चयं** चिकीर्षुः **कर्मयोगम् एव** कुर्यात् ॥२५॥

रखनेवाले हैं, आत्माको भलीभाँति जाननेवाले न होनेके कारण जो उसके अभ्यासरूप ज्ञानयोगके अधिकारी नहीं हैं, कर्मयोगके ही अधिकारी हैं, वे जैसे आत्मसाक्षात्कारके लिये कर्मयोग ही किया करते हैं, वैसे ही जो आत्माको भलीभाँति जाननेवाला होनेके कारण कर्मोंमें अनासक्त है और ज्ञानयोगका अधिकारी है, पर आदर्श एवं श्रेष्ठ पुरुष है, उसे भी लोकरक्षाके लिये अपने आचरणोंसे श्रेष्ठ पुरुषोंका धर्म निश्चित करनेकी इच्छासे कर्मयोग ही करना चाहिये ॥२५॥

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥२६॥

ज्ञानी पुरुष कर्मोंमें आसक्त अज्ञानियोंकी बुद्धिमें भेद न उत्पन्न करे, (किन्तु स्वयं) योगयुक्त होकर कर्म करता हुआ उनकी समस्त कर्मोंमें प्रीति उत्पन्न करता रहे ॥२६॥

अज्ञानाम् **आत्मन्यकृत्स्नवित्तया ज्ञानयोगोपादानाशक्तानां मुमुक्षूणां** कर्मसङ्गिनाम् **अनादिकर्मवासनया कर्मणि एव नियतत्वेन कर्मयोगा-**धिकारिणां **'कर्मयोगाद् अन्यथात्मा-**

आत्माको पूर्णरूपसे जाननेवाला होनेके कारण जो ज्ञानयोगके साधनमें समर्थ है, उसे भी चाहिये कि जो लोग आत्माको पूर्णरूपसे न समझनेके कारण ज्ञानयोगके सम्पादनमें असमर्थ हैं और अनादि कर्मवासनाके द्वारा कर्मोंमें ही लगे रहनेके कारण कर्मयोगके ही अधिकारी हैं, ऐसे कर्मासक्त अज्ञानी मुमुक्षुओंके

वलोकनम् अस्ति' इति न बुद्धिभेदं जनयेत् । **किं तर्हि ? आत्मनि कृत्स्नवित्तया ज्ञानयोगशक्तः अपि पूर्वोक्तरीत्या 'कर्मयोग एव ज्ञानयोगनिरपेक्ष आत्मावलोकनसाधनम्'** इति **बुद्धया** युक्तः **कर्म एव** आचरन् **सर्वकर्मसु अकृत्स्नविदां प्रीतिं जनयेत्** ॥ २६ ॥

अन्तःकरणमें, 'कर्मयोगके सिवा अन्य किसी प्रकारसे भी आत्मसाक्षात्कार हो सकता है' ऐसा बुद्धिभेद न उत्पन्न करे । किन्तु पहले बतलायी हुई रीतिके अनुसार 'ज्ञानयोगकी अपेक्षा न रखनेवाला कर्मयोग ही आत्मसाक्षात्कारका साधन है' ऐसी बुद्धिसे युक्त होकर स्वयं कर्मोंका ही आचरण करते हुए अल्पज्ञ पुरुषोंकी समस्त कर्मोंमें प्रीति उत्पन्न करता रहे ॥ २६ ॥

अथ कर्मयोगम् अनुतिष्ठतो विदुषः अविदुषश्च विशेषं प्रदर्शयन् कर्मयोगापेक्षितम् आत्मनः अकर्तृत्वानुसन्धानप्रकारम् उपदिशति—

अब कर्मयोगका आचरण करनेवाले ज्ञानी और अज्ञानीका भेद दिखलाते हुए, आत्माके अकर्तापनको, जो कर्मयोगमें भी आवश्यक है, समझनेकी रीति बतलाते हैं—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥२७॥

(यद्यपि) कर्म सब ओरसे प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये हुए होते हैं (तथापि) अहङ्कारसे मूढात्मा ऐसा मानता है कि 'मैं करनेवाला हूँ' ॥ २७ ॥

प्रकृतेः गुणैः **सत्त्वादिभिः स्वानुरूपं** क्रियमाणानि कर्माणि **प्रति** अहंकारविमूढात्मा अहं कर्ता इति मन्यते । **अहंकारेण विमूढ आत्मा यस्य असौ अहंकारविमूढात्मा; अहंकारो नाम अनहमर्थे प्रकृतौ अहम् इति**

प्रकृतिके सत्त्वादि (तीनों) गुणोंके द्वारा उन्हींके अनुरूप किये गये कर्मोंके सम्बन्धमें अहङ्कारविमूढात्मा ऐसा मानता है कि इन्हें करनेवाला मैं हूँ । जिसका मन अहङ्कारसे विमूढ हो रहा है, उसे अहङ्कारविमूढात्मा कहते हैं । जो अहंका विषय नहीं है, उस प्रकृतिमें 'मैंपन' का अभिमान कर लेना अहङ्कार

अभिमानः, तेन अज्ञातात्मस्वरूपो गुणकर्मसु अहं कर्ता इति मन्यते इत्यर्थः ॥ २७ ॥

है । उस अहङ्कारके कारण जो आत्माके यथार्थ स्वरूपको नहीं जानता, वह मनुष्य गुणोंके द्वारा होनेवाले कर्मोंमें 'मैं करनेवाला हूँ' ऐसा मानता है, यह अभिप्राय है ॥ २७ ॥

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥२८॥

परन्तु अर्जुन ! गुणकर्म-विभागके तत्त्वको जाननेवाला पुरुष गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं, ऐसा मानकर आसक्त नहीं होता ॥ २८ ॥

गुणकर्मविभागयोः **सत्त्वादिगुणविभागे तत्तत्कर्मविभागे च** तत्त्ववित्, गुणाः **सत्त्वादयः स्वगुणेषु स्वेषु कार्येषु** वर्तन्ते इति मत्वा **गुणकर्मसु अहं कर्ता इति** न सज्जते ॥ २८ ॥

सत्त्वादि गुणविभागके और उन-उनके कर्मविभागके विषयमें जो पुरुष उनके तत्त्वको जान चुका है, वह पुरुष सत्त्वादि गुण ही अपने कार्यरूप नाना प्रकारके गुणों और कर्मोंमें बरत रहे हैं, ऐसा समझकर उन गुण-कर्मोंमें 'इनका कर्ता मैं हूँ' इस प्रकार आसक्त नहीं होता ॥ २८ ॥

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥२९॥

प्रकृतिके गुणोंसे मोहित पुरुष गुण-कर्मोंमें आसक्त होते हैं, उन अल्पज्ञ मन्दबुद्धि मनुष्योंको पूर्ण जाननेवाला (ज्ञानी) पुरुष चलायमान न करे ॥२९॥

अकृत्स्नविदः तु आत्मदर्शनाय प्रवृत्ताः प्रकृतिसंसृष्टतया प्रकृतेः **गुणैः यथावस्थितात्मनि** संमूढाः

अपने आत्माका साक्षात्कार करनेकी चेष्टामें लगे हुए अल्पज्ञ मनुष्य, जो कि प्रकृति-संसर्गयुक्त होनेके कारण आत्माके यथार्थ स्वरूपके विषयमें प्रकृतिके गुणोंसे सम्मोहित हो रहे हैं,

गुणकर्मसु क्रियासु एव सज्जन्ते, न तद्विविक्तात्मस्वरूपे; अतः ते ज्ञानयोगाय न प्रभवन्ति, इति कर्मयोगे एव तेषाम् अधिकारः। एवंभूतान् तान् मन्दान् अकृत्स्नविदः कृत्स्नवित् स्वयं ज्ञानयोगावस्थानेन न विचालयेत्। ते किल मन्दाः श्रेष्ठजनाचारानुवर्तिनः, कर्मयोगाद् उत्थितम् एनं दृष्ट्वा कर्मयोगात् प्रचलितमनसो भवेयुः। अतः श्रेष्ठः स्वयम् अपि कर्मयोगे तिष्ठन् आत्मयाथात्म्यज्ञानेन आत्मनः अकर्तृत्वम् अनुसन्दधानः 'कर्मयोग एव आत्मावलोकने निरपेक्षसाधनम्' इति दर्शयित्वा तान् अकृत्स्नविदो मन्दान् जोषयेद् इत्यर्थः।

तथा गुण और कर्मोंमें—क्रियाओंमें ही आसक्त रहते हैं, उन गुण-कर्मोंके संसर्गसे रहित आत्मस्वरूपमें नहीं; इसलिये वे ज्ञानयोगके साधनमें समर्थ नहीं हैं, अतः उनका अधिकार कर्मयोगमें ही है। ऐसे मन्दबुद्धि उन अल्पज्ञ मनुष्योंको पूर्णज्ञानी पुरुष स्वयं ज्ञानयोगमें स्थित होकर (कर्मयोगसे विरक्त होकर) विचलित न करे। क्योंकि वे मन्दबुद्धि मनुष्य श्रेष्ठ पुरुषोंके आचारका ही अनुकरण किया करते हैं, वे जब ज्ञानी पुरुषको कर्मयोगसे विरत देखेंगे तो उनका मन भी कर्मयोगसे हट जायगा। इसलिये श्रेष्ठ पुरुषको उचित है कि स्वयं भी कर्मयोगमें स्थित रहता हुआ और आत्माके यथार्थ स्वरूपज्ञानके द्वारा आत्माके अकर्तापनको समझता हुआ तथा यह दिखाता हुआ कि 'कर्मयोग ही आत्मसाक्षात्कारका निरपेक्ष साधन है' उन मन्दबुद्धि अल्पज्ञ मनुष्योंको कर्मोंमें लगावे, यह अभिप्राय है।

ज्ञानयोगाधिकारिणः अपि ज्ञानयोगाद् अस्य एव कर्मयोगस्य ज्यायस्त्वं पूर्वम् एव उक्तम्। अतो व्यपदेश्यो लोकसंग्रहाय कर्म एव कुर्यात्।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि ज्ञानयोगके अधिकारीके लिये भी ज्ञानयोगकी अपेक्षा यह कर्मयोग ही श्रेष्ठ है। अतएव आदर्श पुरुषको लोकसंग्रहके लिये कर्म ही करना चाहिये।

प्रकृतिविविक्तात्मस्वभावनिरूपणेन गुणेषु कर्तृत्वम् आरोप्य कर्मानुष्ठानप्रकार उक्तः। गुणेषु कर्तृत्वानुसन्धानं च इदम् एव 'आत्मनो न स्वरूपप्रयुक्तम् इदम् कर्तृत्वम्, अपि तु गुणसम्बन्धकृतम्' इति प्राप्ताप्राप्तविवेकेन गुणकृतम्—इति अनुसन्धानम् ॥ २९ ॥

(इस श्लोकमें) प्रकृतिसंसर्गरहित आत्माके स्वभावका निरूपण करते हुए गुणोंमें कर्तापनका आरोप करके कर्म करनेकी रीति बतलायी गयी। यहाँ जो अन्वय-व्यतिरेकके द्वारा विवेचनपूर्वक यह समझना है कि 'यह कर्तापन आत्मामें स्वाभाविक नहीं है, किन्तु गुणोंके सम्बन्धसे आरोपित किया गया है, अतः सब कर्म गुणोंके द्वारा ही किये गये हैं' यही गुणोंमें कर्तापनका अनुसन्धान करना है ॥२९॥

इदानीम् आत्मनां परमपुरुषशरीरतया तन्नियाम्यत्वस्वरूपनिरूपणेन भगवति पुरुषोत्तमे सर्वात्मभूते गुणकृतं च कर्तृत्वम् आरोप्य कर्मकर्तव्यता उच्यते—

अब सब जीव परमपुरुषके शरीर होनेके कारण उनके शासनमें रहना ही जीवोंका स्वरूप है, ऐसा निरूपण करके गुणकर्तृक कर्तापनको भी, सबके आत्मस्वरूप पुरुषोत्तम भगवान्‌में आरोप करके कर्म करनेकी विधि बतलाते हैं—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥ ३० ॥

अध्यात्मचित्तसे सब कर्मोंको मुझमें निक्षेप करके, आशा, ममता और सन्तापसे रहित होकर तू युद्ध कर ॥ ३० ॥

मयि सर्वेश्वरे सर्वभूतान्तरात्मभूते सर्वाणि कर्माणि अध्यात्मचेतसा संन्यस्य निराशीः निर्ममो विगतज्वरः युद्धादिकं सर्वं चोदितं कर्म कुरुष्व। आत्मनि

समस्त प्राणियोंके अन्तरात्मारूप मुझ सर्वेश्वरमें अध्यात्मचित्तसे सब कर्मोंका निक्षेप (समर्पण) करके आशा-ममतासे रहित और विगतज्वर होकर युद्धादि समस्त विहित कर्मोंको कर। यहाँ आत्मविषयक चेतना (ज्ञान)

यत् चेतः तद् अध्यात्मचेतः, आत्मस्वरूपविषयेण श्रुतिशतसिद्धेन ज्ञानेन इत्यर्थः ।

'अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा····अन्तः प्रविष्टं कर्तारमेतम्' (तै० आ० ३ । ११) 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद । यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः' (बृ० ५।७ मा० दि०) **इत्येवमाद्याः श्रुतयः परमपुरुषप्रवर्त्यं तच्छरीरभूतम् एनम् आत्मानं परमपुरुषं च प्रवर्तयितारम् आचक्षते । स्मृतयश्च—** *'प्रशासितारं सर्वेषाम्' (मनु० १२ । १२२)* **इत्याद्याः** *'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः' (गीता १५ । १५) 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति । भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥' (गीता १८ । ६१)* **इति वक्ष्यते ।**

अतो मच्छरीरतया मत्प्रवर्त्यात्मस्वरूपानुसन्धानेन सर्वाणि कर्माणि मया एव क्रियमाणानि इति मयि

को ही 'अध्यात्मचित्तके नामसे कहा गया है; अतः अभिप्राय यह है कि सैकड़ों श्रुतियोंसे सिद्ध आत्मस्वरूपविषयक ज्ञानके द्वारा (सब कर्मोंको मुझमें समर्पण करके कर्म कर) ।

'सबका आत्मा (परमेश्वर) सबके भीतर प्रविष्ट हुआ सब जीवोंका शासक है ··अन्तरमें प्रविष्ट इस कर्ताको' 'जो आत्मामें रहता हुआ आत्माके भीतर है, जिसको आत्मा नहीं जानता है, जिसका आत्मा शरीर है, जो इस आत्माका अन्तर्यामीरूपसे नियमन करता है, वह अन्तर्यामी अमृतस्वरूप परमेश्वर तेरा आत्मा है' इत्यादि श्रुतियाँ भी परम पुरुषके शरीररूप इस आत्माको परम पुरुषके द्वारा प्रवर्तित किया जानेवाला और परम पुरुषको इसका प्रवर्तक बतलाती हैं तथा **'सबका भलीभाँति शासन करनेवाले परमेश्वरको'** इत्यादि स्मृतियाँ भी (यही कहती हैं) । इसके अतिरिक्त गीतामें भी **'मैं सबके हृदयमें प्रविष्ट हूँ' 'अर्जुन ! ईश्वर यन्त्रारूढ समस्त प्राणियोंको अपनी मायासे भ्रमाते हुए सब प्राणियोंके हृदयमें स्थित हैं'** यह बात कहेंगे ।

अतएव आत्मा मेरा शरीर होनेके कारण वह मेरे ही शासनमें मेरी ही शक्तिसे बर्तनेवाला है, उसके स्वरूपको ऐसा समझकर सब कर्म मेरे (भगवान्के) द्वारा ही किये हुए हैं, इस भावसे

परमपुरुषे संन्यस्य तानि च केवलं मदाराधनानि इति कृत्वा तत्फले निराशीः तत एव तत्र कर्मणि ममतारहितो भूत्वा विगतज्वरो युद्धादिकं कुरुष्व ।

स्वकीयेन आत्मना कर्त्रा स्वकीयैः एव करणैः स्वाराधनैकप्रयोजनाय परमपुरुषः सर्वेश्वरः सर्वशेषी स्वयम् एव स्वकर्माणि कारयति; इति अनुसन्धाय कर्मसु ममतारहितः प्राचीनेन अनादिकालप्रवृत्तानन्तपापसञ्चयेन 'कथम् अहं भविष्यामि' इत्येवंभूतान्तर्ज्वरविनिर्मुक्तः 'परमपुरुष एव कर्मभिः आराधितो बन्धात् मोचयिष्यति' इति स्मरन् सुखेन कर्मयोगम् एव कुरुष्व इत्यर्थः ।

'तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम् ।' (श्वेता० ६ । ७)

'पतिं विश्वस्य' (म० ना० ३ । १)

'पतिं पतीनाम्' (श्वेता० ६ । ७)

इत्यादिश्रुतिसिद्धं हि सर्वेश्वरत्वं सर्वशेषित्वं च । ईश्वरत्वं नियन्तृत्वम्, शेषित्वं पतित्वम् ॥ ३० ॥

मुझ परम पुरुषमें सब कर्मोंको समर्पण करके और उनको केवल मेरी आराधना मानकर उनके फलमें आशारहित हो और इसी भावसे उन कर्मोंमें ममतारहित होकर सन्तापरहित हुआ (तू) युद्धादि कर्म कर ।

अभिप्राय यह कि सर्वशेषी (सबके स्वामी) परम पुरुष सर्वेश्वर भगवान् अपने ही जीवात्मारूप कर्ताद्वारा, अपने ही इन्द्रियादि करणोंसे, एकमात्र अपनी ही आराधनाके लिये, अपने-आप ही अपने कर्म करवाते हैं, ऐसा समझकर कर्मोंमें ममतारहित हुआ और अनादिकालसे प्रवृत्त अनन्त पापोंके पुराने सञ्चयसे 'मेरी क्या दशा होगी ?' इस प्रकारके आन्तरिक सन्तापको छोड़कर, तथा 'इन कर्मोंद्वारा आराधित परम पुरुष ही सब बन्धनोंसे छुड़ा देगा' इस (बात) का स्मरण करता हुआ सुखके साथ केवल कर्मयोगका ही आचरण करता रह ।

क्योंकि भगवान्का सर्वेश्वरत्व तथा सर्वशेषित्व **'उन ईश्वरोंके भी परम महान् ईश्वर, उन देवताओंके परम देवको' 'विश्वके स्वामीको' 'पतियोंके पतिको (समझना चाहिये)'** इत्यादि श्रुतियोंसे सदा ही सिद्ध है । 'ईश्वर'का अर्थ नियन्ता और 'शेषी' का अर्थ स्वामी है ॥३०॥

अयम् एव साक्षादुपनिषत्सारभूतः अर्थ इत्याह—

यही सिद्धान्त साक्षात् उपनिषदोंका सार है, यह कहते हैं—

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥३१॥

जो मनुष्य श्रद्धा रखते और दोष न देखते हुए मेरे इस मतका नित्य अनुष्ठान करते हैं, वे भी कर्मोंसे छूट जाते हैं ॥३१॥

ये मानवाः **आत्मनिष्ठशास्त्राधिकारिणः 'अयम् एव शास्त्रार्थः' इत्येतत्** मे मतं **निश्चित्य तथा** अनुतिष्ठन्ति, **ये च अननुतिष्ठन्तः अपि अस्मिन् शास्त्रार्थे श्रद्दधाना भवन्ति, ये च अश्रद्दधाना अपि 'एवं शास्त्रार्थो न संभवति' इति न अभ्यसूयन्ति, अस्मिन् महागुणे शास्त्रार्थे दोषदर्शिनो न भवन्ति इत्यर्थः;** ते **सर्वे बन्धहेतुभिः अनादिकालप्रारब्धैः** कर्मभिः मुच्यन्ते । **'ते** अपि **कर्मभिः,** इति **अपिशब्दाद् एषां पृथक्करणम् । इदानीम् अननुतिष्ठन्तः अपि अस्मिन् शास्त्रार्थे श्रद्दधाना अनभ्यसूयवः च श्रद्धया च अनसूयया च क्षीणपापा अचिरेण**

जो आत्मनिष्ठशास्त्रके अधिकारी मनुष्य इस मेरे मतको 'यही सब शास्त्रोंका निचोड़ है' ऐसा निश्चय करके इसके अनुसार साधन करते हैं तथा जो साधन न करके इस शास्त्रके निचोड़-रूप मेरे मतमें श्रद्धा रखते हैं और जो श्रद्धावान् न होते हुए भी 'शास्त्रोंका निचोड़ ऐसा नहीं हो सकता' यों कह-कर मेरे मतकी निन्दा नहीं करते अर्थात् इस महान् गुणरूप शास्त्रके निचोड़में दोष देखनेवाले नहीं होते; वे सभी बन्धनके कारणरूप अनादिकालसे चले आते हुए समस्त कर्मोंसे छूट जाते हैं । यहाँ 'तेऽपि कर्मभिः' इस प्रकार 'अपि' शब्दसे इन श्रद्धालु और निन्दा न करने-वालोंको पृथक् किया गया है । अभिप्राय यह कि जो इस शास्त्रके निचोड़रूप मेरे मतमें श्रद्धा रखनेवाले और इसकी निन्दा नहीं करनेवाले हैं, वे यद्यपि इस समय इसके अनुसार अनुष्ठान नहीं करते, तथापि श्रद्धा और अनसूयासे उनके पापोंका क्षय हो जानेपर वे शीघ्र ही

इमम् एव शास्त्रार्थम् अनुष्ठाय मुच्यन्ते इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

इसी शास्त्रसिद्धान्तके अनुसार अनुष्ठान करके मुक्त हो जाते हैं ॥३१॥

भगवदभिमतम् औपनिषदम् अर्थम् अननुतिष्ठताम् अश्रद्दधानानाम् अभ्यसूयतां च दोषम् आह—

भगवान्‌के अभिमत, उपनिषदोंके साररूप इस सिद्धान्तके अनुसार न चलनेवालोंको तथा उसमें श्रद्धा न रखने और उसकी निन्दा करनेवालोंको दोष होता है, यह बात कहते हैं—

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥३२॥

परन्तु जो मेरे इस मतमें दोष देखते हुए इसका अनुष्ठान नहीं करते, उनको तू सर्वज्ञानसे मूढ (घोर मूर्ख) नष्ट और चेतनारहित समझ ॥३२॥

ये तु एतत् सर्वम् आत्मवस्तु मच्छरीरतया मदाधारं मच्छेषभूतं मदेकप्रवर्त्यम् इति मे मतं न अनुतिष्ठन्ति न एवम् अनुसन्धाय सर्वाणि कर्माणि कुर्वते, ये च न श्रद्दधते, ये च अभ्यसूयन्तो वर्तन्ते, तान् सर्वेषु ज्ञानेषु विशेषेण मूढान् तत एव नष्टान् अचेतसो विद्धि । चेतःकार्यं हि वस्तुयाथात्म्यनिश्चयः, तदभावाद् अचेतसः विपरीतज्ञानाः सर्वत्र विमूढाश्च ॥ ३२ ॥

'समस्त आत्मपदार्थ मेरा शरीर होनेके कारण मेरे ही आधारपर स्थित मेरा ही दास स्वरूप तथा केवल मेरेद्वारा ही चलाया जानेवाला है, इस प्रकारके इस मेरे मतका जो अनुसरण नहीं करते, —जो ऐसा मानकर सब कर्म नहीं करते, तथा जो इस मतमें श्रद्धा नहीं रखते और जो इसमें दोषारोपण करते रहते हैं, उन सबको तू सब प्रकारके ज्ञानोंमें विशेषरूपसे मूढ तथा इसी कारण नष्ट एवं चेतनारहित समझ; क्योंकि वस्तुको यथार्थ समझ लेना ही चेतनाका कार्य है, उसका उनमें अभाव है, इसलिये वे चेतनारहित—विपरीत ज्ञानवाले और सभी विषयोंमें सर्वथा मूढ हैं ॥३२॥

एवं प्रकृतिसंसर्गिणः तद्गुणोद्रेककृतं कर्तृत्वं तच्च परमपुरुषायत्तम् इति अनुसन्धाय कर्मयोगयोग्येन ज्ञानयोगयोग्येन च कर्मयोगस्य सुशकत्वाद् अप्रमादत्वाद् अन्तर्गतात्मज्ञानतया निरपेक्षत्वाद् इतरस्य दुःशकत्वात् सप्रमादत्वात् शरीरधारणाद्यर्थतया कर्मापेक्षत्वात् कर्मयोग एव कर्तव्यः। व्यपदेश्यस्य तु विशेषतः स एव कर्तव्य इति च उक्तम्। अतः परम् अध्यायशेषेण ज्ञानयोगस्य दुःशकतया सप्रमादता उच्यते—

कर्मयोगका आचरण सुखसाध्य है, उसमें प्रमादका भय नहीं है और उसके अन्तर्गत आत्मज्ञान होनेसे उसे अन्य साधनकी अपेक्षा नहीं है तथा ज्ञानयोगका आचरण दुःसाध्य है, उसमें प्रमादका भय है तथा शरीरनिर्वाहादिके लिये आवश्यक होनेसे उसे कर्मोंकी अपेक्षा है; इन सब कारणोंसे कर्मयोगके अधिकारीको और ज्ञानयोगके अधिकारीको भी, यों समझकर कि 'प्रकृतिसे संसर्ग रखनेवाले जीवात्माका प्रकृतिके गुणोंकी अधिकतासे उत्पन्न जो कर्तापन है, वह उपर्युक्त प्रकारसे परम पुरुषके ही अधीन है,' कर्मयोग ही करना चाहिये। और आदर्श माने जानेवाले श्रेष्ठ पुरुषके लिये तो विशेषरूपसे कर्मयोग ही कर्तव्य है, यह कहा गया। अब यहाँसे लेकर अध्यायकी समाप्तिपर्यन्त यह उपदेश करते हैं कि ज्ञानयोगका आचरण दुःसाध्य होनेके कारण उसमें प्रमादको स्थान है—

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥ ३३ ॥

ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृति (पूर्ववासना) के सदृश चेष्टा करता है। सभी प्राणी (अपनी) प्रकृतिकी ओर जा रहे हैं फिर निग्रह क्या करेगा ? ॥ ३३ ॥

प्रकृतिविविक्तम् ईदृशम् आत्मस्वरूपम्, तदेव सर्वदानुसन्धेयम्, इति च शास्त्राणि प्रतिपादयन्ति; इति ज्ञानवान् अपि स्वस्याः प्रकृतेः **प्राचीनवासनायाः** सदृशं **प्राकृतविषयेषु एव** चेष्टते; **कुतः** ? प्रकृतिं यान्ति भूतानि **अचित्संसृष्टा जन्तवः अनादिकालप्रवृत्तवासनाम् एव यान्ति, तानि वासनानुयायीनि भूतानि शास्त्रकृतो** निग्रहः किं करिष्यति ॥ ३३ ॥

'प्रकृतिसंसर्गसे रहित आत्माका स्वरूप ऐसा है और उसीका सदा-सर्वदा अनुसन्धान करना चाहिये; इस बातका शास्त्र प्रतिपादन करते हैं; इस बातको जाननेवाला ज्ञानवान् पुरुष भी अपनी प्रकृति—पुरानी वासनाके सदृश प्राकृत विषयोंमें ही चेष्टा करता है; क्योंकि सभी प्राणी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं—जड प्रकृतिसे संसर्गयुक्त प्राणी अनादिकालसे प्रवृत्त वासनाका ही अनुसरण करते हैं। वासनाका अनुगमन करनेवाले उन प्राणियोंका शास्त्रजनित निग्रह क्या करेगा ? ॥ ३३ ॥

प्रकृत्यनुयायित्वप्रकारम् आह—

प्राणी प्रकृतिके अनुयायी कैसे होते हैं, सो बतलाते हैं—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥ ३४ ॥

इन्द्रिय-इन्द्रियके विषयमें (समस्त इन्द्रियोंके भोगोंमें) जो राग-द्वेष स्थित हैं, उनके वशमें नहीं होना चाहिये; क्योंकि वे दोनों इस (पुरुष) के बटमार हैं ॥ ३४ ॥

श्रोत्रादिज्ञानेन्द्रियस्य अर्थे शब्दादौ वागादिकर्मेन्द्रियस्य च अर्थे **वचनादौ प्राचीनवासनाजनिततदनुबुभूषारूपो रागः अवर्जनीयो व्यवस्थितः; तदनुभवे प्रतिहते च**

श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियोंके शब्दादि विषयोंमें और वागादि कर्मेन्द्रियोंके वचनादि विषयोंमें, उन-उन विषयोंको भोगनेकी इच्छारूप प्राचीन वासनाजनित राग (आसक्ति) अनिवार्यरूपसे बना हुआ है और उनके अनुभवमें

अवर्जनीयो द्वेषो व्यवस्थितः; तौ एव ज्ञानयोगाय यतमानं नियमितसर्वेन्द्रियं स्ववशे कृत्वा प्रसह्य स्वकार्येषु नियोजयतः। ततः च अयम् आत्मस्वरूपानुभवविमुखो विनष्टो भवति तयोः न वशम् आगच्छेत्—**ज्ञानयोगारम्भेण राग-द्वेषवशम् आगम्य न विनश्येत्।** तौ **रागद्वेषौ** हि अस्य **दुर्जयौ शत्रू आत्म-ज्ञानाभ्यासं वारयतः॥ ३४॥**

(विषयभोगमें) बाधा पड़नेपर द्वेष भी अनिवार्यरूपसे बना है। वे ही (राग-द्वेष), जो मनुष्य सारी इन्द्रियोंका संयम करके ज्ञानयोगके लिये प्रयत्न करता है, उसे अपने वशमें करके जबरदस्ती अपने कामोंमें लगा देते हैं। ऐसा होनेपर वह साधक आत्मस्वरूपके अनुभवसे विमुख होकर नष्ट हो जाता है। अतएव उन (राग-द्वेष) के वशमें नहीं होना चाहिये—ज्ञानयोगका आरम्भ करके राग-द्वेषके वशमें होकर नष्ट नहीं होना चाहिये। वे राग-द्वेष ही इसके दुर्जय शत्रु हैं वे ही इसके आत्मज्ञान-विषयक अभ्यासको छुड़ा देते हैं॥३४॥

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥ ३५॥

अच्छी तरहसे अनुष्ठान किये हुए पराये धर्मसे अपना गुणरहित भी धर्म श्रेष्ठ है। अपने धर्ममें मरना भी श्रेष्ठ है (परन्तु) पराया धर्म भयकारक है॥३५॥

अतः सुशकतया स्वधर्म**भूतः कर्मयोगो** विगुणः **अपि अप्रमाद-गर्भः प्रकृतिसंसृष्टस्य दुःशकतया परधर्मभूतात् ज्ञानयोगात् सगुणाद् अपि किञ्चित्कालम्** अनुष्ठितात् **सप्रमादात्** श्रेयान्।

अतः प्रकृतिसंसर्गयुक्त जीवके लिये कर्मयोग सुखसाध्य होनेके कारण स्वधर्म है और विगुण होनेपर भी प्रमादसे रहित है; इसलिये वह (कर्मयोग) कुछ काल साधन किये हुए उस ज्ञान-योगकी अपेक्षा कहीं श्रेष्ठ है, जो कि गुणयुक्त होनेपर भी प्रकृतिस्थ पुरुषके लिये दुःसाध्य होनेके कारण परधर्म और प्रमादयुक्त है।

स्वेन एव उपादातुं योग्यतया स्वधर्म**भूते कर्मयोगे वर्तमानस्य एकस्मिन् जन्मनि अप्राप्त-फलतया** निधनम् **अपि** श्रेयः; **अन-न्तरायहततया अनन्तरजन्मनि अपि अव्याकुलकर्मयोगारम्भसंभवात्** । **प्रकृतिसंसृष्टस्य स्वेन एव उपा-दातुम् अशक्यतया** परधर्म**भूतो ज्ञान-योगः प्रमादगर्भतया** भयावहः ॥३५॥

अपने-आप ही सुगमतासे सम्पादन करने योग्य होनेके कारण जो स्वधर्म है, ऐसे कर्मयोगमें लगे हुए पुरुषका एक ही जन्ममें मोक्षरूप फलको प्राप्त न होकर मर जाना भी उत्तम है, क्योंकि विघ्नोंसे नष्ट न होनेके कारण दूसरे जन्ममें भी सावधानीके साथ कर्मयोगका आरम्भ होना सम्भव है। परन्तु प्रकृतिसंसर्गयुक्त जीवके लिये अपने-आप प्राप्त करना अशक्य होनेके कारण जो परधर्मरूप है, ऐसा ज्ञान-योग तो प्रमादभरा होनेसे भयदायक (ही) है ॥३५॥

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥ ३६ ॥

अर्जुन बोला—श्रीकृष्ण ! फिर यह मनुष्य न चाहता हुआ भी किससे प्रेरित होकर पाप करता है, मानो जबरदस्ती लगा दिया गया हो ॥३६॥

अथ अयं **ज्ञानयोगाय प्रवृत्तः** पूरुषः **स्वयं विषयान् अनुभवितुम्** अनिच्छन् अपि केन प्रयुक्तो **विषयानु-भवरूपं** पापं बलात् नियोजित इव चरति ॥ ३६ ॥

अब (यह बतलाइये कि) यह ज्ञानयोगमें लगा हुआ पुरुष स्वयं विषयोंका अनुभव करना न चाहता हुआ भी किसके द्वारा प्रेरित होकर जबरदस्ती लगाये हुएकी भाँति विषयानुभवरूप पापका आचरण करता है ? ॥३६॥

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥ ३७ ॥

श्रीभगवान् बोले—रजोगुणसे उत्पन्न यह काम ही क्रोध है, यह बहुत खानेवाला और महापापी है, यहाँ तू इसीको वैरी जान ॥३७॥

अस्य उद्भवाभिभवरूपेण वर्तमानगुणमयप्रकृतिसंसृष्टस्य प्रारब्धज्ञानयोगस्य रजोगुणसमुद्भवः **प्राचीनवासनाजनितः शब्दादिविषयः अयं** कामो महाशनः **शत्रुः; सर्वविषयेषु एनम् आकर्षति ।** एष **एव प्रतिहतगतिः प्रतिहननहेतुभूतचेतनान् प्रति** क्रोध**रूपेण परिणतो** महापाप्मा **परहिंसादिषु प्रवर्तयति;** एवं **रजोगुणसमुद्भवं सहजं ज्ञानयोगविरोधिनं** वैरिणं विद्धि ॥ ३७ ॥

उत्पन्न और क्षीण होनेके रूपमें बर्तती हुई त्रिगुणमयी प्रकृतिसे सम्बन्धित रहनेपर भी जिसने ज्ञानयोगका साधन आरम्भ कर रक्खा है, उस मनुष्यका यह रजोगुणसे समुद्भूत—प्राचीन वासनाओंसे उत्पन्न और शब्दादि विषयोंसे सम्बन्ध रखनेवाला तथा बहुत खानेवाला यह काम ही शत्रु है; यही उसको खींचकर शब्दादि समस्त विषयोंमें लगाता है । और यही महापापी (काम) जब अपनी गतिमें बाधा पाता है, तब उस बाधामें हेतु बने हुए चेतनों (प्राणियों) के प्रति क्रोधके रूपमें परिणत होकर साधकको परहिंसामें प्रवृत्त कर देता है । इस रजोगुणसे उत्पन्न कामको ही तू ज्ञानयोगका स्वाभाविक विरोधी शत्रु समझ ॥३७॥

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥३८॥

जैसे धुएँसे अग्नि और मैलसे दर्पण ढक जाता है तथा जैसे झिल्लीसे गर्भ ढका रहता है, वैसे उस (काम) से यह (जीवसमुदाय) ढका हुआ है ॥३८॥

यथा धूमेन वह्निः आव्रियते, यथा च आदर्शो मलेन, यथा **च** उल्बेन आवृतो गर्भः तथा तेन **कामेन** इदं **जन्तुजातम्** आवृतम् ॥ ३८ ॥

जिस प्रकार धुएँसे अग्नि तथा मैलसे दर्पण ढका जाता है और जैसे झिल्लीसे गर्भ ढका रहता है, वैसे ही उस कामसे यह समस्त जीवसमुदाय ढका हुआ है ॥३८॥

आवरणप्रकारम् आह—

आवरणका प्रकार बतलाते हैं—

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥३९॥

अर्जुन ! ज्ञानस्वरूप आत्माका ज्ञान इस बड़ी कठिनतासे तृप्त होनेवाले अलं भावसे रहित कामरूप नित्य वैरीसे ढका हुआ है ॥३९॥

अस्य जन्तोः ज्ञानिनो **ज्ञानस्वभावस्य आत्मविषयं** ज्ञानम् एतेन **कामकारेण विषयव्यामोहजननेन** नित्यवैरिणा आवृतं दुष्पूरेण **पूर्त्यनर्हविषयेण** अनलेन च **पर्याप्तिरहितेन** ॥ ३९ ॥

ज्ञानीका—ज्ञान ही जिसका स्वभाव है ऐसे इस जीवका आत्मविषयक ज्ञान इस बड़ी कठिनतासे पूर्ण होनेवाले—कभी तृप्त न होनेवाले अलं भावसे रहित, कभी बस नहीं करनेवाले, विषयोंमें व्यामोह उत्पन्न करनेवाले कामरूप नित्य वैरीसे ढका हुआ है ॥३९॥

कैः उपकरणैः अयं काम आत्मानम् अधितिष्ठति इति अत्र आह—

यह काम किन-किन उपकरणोंसे आत्माको अपने वशमें करता है ? इस विषयमें कहते हैं—

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥४०॥

इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इस (काम) के अधिष्ठान कहलाते हैं । इन (तीनों) के द्वारा वह (काम) ज्ञानको ढककर जीवात्माको मोहित करता है ॥४०॥

अधितिष्ठति एभिः अयं कामः आत्मानम् इति इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः अस्य अधिष्ठानम् । एतैः **इन्द्रियमनोबुद्धिभिः कामाधिष्ठानभूतैः विषयप्रवणैः** देहिनं **प्रकृतिसंसृष्टं** ज्ञानम् आवृत्य विमोहयति—**विविधं मोहयति**

यह काम इन इन्द्रियादिके द्वारा आत्मापर अपना आधिपत्य जमा लेता है; अतः इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि, ये इस कामके अधिष्ठान कहलाते हैं । यह काम अपने इन अधिष्ठानरूप विषयपरायण इन्द्रिय, मन और बुद्धिके द्वारा आत्माके ज्ञानको ढककर इस प्रकृतिसंसर्गयुक्त जीवको विविध भाँतिसे मोहित करता है अर्थात्

आत्मज्ञानविमुखं विषयानुभवपरं करोति इत्यर्थः ॥ ४० ॥

आत्मज्ञानसे विमुख और विषयानुभव-परायण करता है ॥४०॥

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्पानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४१॥

इसलिये भरतश्रेष्ठ ! तू पहले इन्द्रियोंको रोककर ज्ञान-विज्ञानके नाश करनेवाले इस पापी (काम) को निश्चय ही मार ॥४१॥

यस्मात् सर्वेन्द्रियव्यापारोपरतिरूपे ज्ञानयोगे प्रवृत्तस्य अयं कामरूपः शत्रुः विषयाभिमुख्यकरणेन आत्मनि वैमुख्यं करोति; तस्मात् प्रकृतिसंसृष्टतया इन्द्रियव्यापारप्रवणः त्वम् आदौ मोक्षोपायारम्भसमये एव इन्द्रियव्यापाररूपे कर्मयोगे इन्द्रियाणि नियम्य एनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् आत्मस्वरूपविषयस्य ज्ञानस्य तद्विवेकविषयस्य च नाशनं पाप्मानं कामरूपं वैरिणं प्रजहि नाशय ॥ ४१ ॥

जिससे कि सब इन्द्रियोंके व्यापारकी उपरतिरूप ज्ञानयोगमें लगे हुए साधकको यह कामरूप शत्रु विषयाभिमुखी बनाकर आत्मासे विमुख कर देता है, इसलिये प्रकृति-संसर्गसे युक्त होनेके कारण, इन्द्रिय-व्यापारकी ओर झुका हुआ तू पहले—मोक्षसाधनका आरम्भ करते समय ही इन्द्रियोंको इन्द्रिय-व्यापाररूप कर्मयोगमें रोककर इस ज्ञान-विज्ञानके नाशक—आत्मस्वरूपविषयक ज्ञानका और तद्विषयक विवेकका नाश करनेवाले पापी कामरूप वैरीको मार—इसका नाश कर ॥४१॥

ज्ञानविरोधिषु प्रधानम् आह—

ज्ञानके विरोधियोंमें जो प्रधान हैं उसे बतलाते हैं—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥४२॥

इन्द्रियोंको प्रबल कहते हैं, इन्द्रियोंसे प्रबल मन है, मनसे प्रबल बुद्धि है और बुद्धिसे भी जो प्रबल है वह (काम) है ॥४२॥

ज्ञानविरोधे प्रधानानि इन्द्रियाणि आहुः; **यत इन्द्रियेषु विषयव्यापृतेषु आत्मनि ज्ञानं न प्रवर्तते,** इन्द्रियेभ्यः परं मनः, **इन्द्रियेषु उपरतेषु अपि मनसि विषयप्रवणे आत्मज्ञानं न संभवति।** मनसः तु परा बुद्धिः, **मनसि विषयान्तरविमुखे अपि विपरीताध्यवसायप्रवृत्तायां बुद्धौ न आत्मज्ञानं प्रवर्तते। सर्वेषु बुद्धिपर्यन्तेषु उपरतेषु अपि इच्छापर्यायः कामो रजःसमुद्भवो वर्तते चेत्, स एव एतानि इन्द्रियादीनि अपि स्वविषयेषु वर्तयित्वा आत्मज्ञानं निरुणद्धि, तदिदम् उच्यते**—यो बुद्धेः परतः तु सः, **इति, बुद्धेः अपि यः परः स काम इत्यर्थः** ॥ ४२ ॥

ज्ञानका विरोध करनेमें पहले इन्द्रियोंको प्रधान बतलाते हैं; क्योंकि इन्द्रियोंके विषयोंमें प्रवृत्त रहते आत्मविषयक ज्ञान नहीं होता। इन्द्रियोंसे बढ़कर मन है; क्योंकि इन्द्रियोंके कर्मोंसे उपरत हो जानेपर भी मन विषयोंकी ओर झुका है तो आत्मज्ञान नहीं हो सकता। मनसे भी बढ़कर बुद्धि है; क्योंकि मनके अन्य विषयोंसे विमुख हो जानेपर भी यदि बुद्धि विपरीत निश्चयमें लगी है तो आत्मज्ञान नहीं होता। बुद्धितक सब-के-सब विषयोंसे उपरत हो जायँ, इसके बाद भी यदि, जिसका नाम इच्छा है, वह रजोगुणसे उत्पन्न काम वर्तमान रहता है, तो वही इन इन्द्रिय, मन और बुद्धिको भी अपने-अपने विषयोंमें लगाकर आत्मज्ञानको रोक देता है, इसीलिये कहते हैं कि जो बुद्धिसे भी बढ़कर (विरोधी) है, वह काम है ॥४२॥

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥४३॥

इस प्रकार इस दुर्विजय कामरूप शत्रुको बुद्धिसे भी प्रबल जानकर, वीर अर्जुन! आत्मासे आत्माको रोककर तू इसे मार ॥४३॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

एवं बुद्धेः **अपि** परं **कामं ज्ञानविरोधिनं वैरिणं** बुद्ध्वा आत्मानं **मनः** आत्मना **बुद्ध्या कर्मयोगे अवस्थाप्य एनं** कामरूपं दुरासदं शत्रुं जहि **नाशय इति** ॥ ४३ ॥

इस प्रकार बुद्धिसे भी बढ़कर कामको ज्ञानका विरोधी शत्रु समझकर आत्माको आत्मासे—मनको बुद्धिसे कर्मयोगमें लगाकर इस कामरूप दुर्विजय शत्रुको मार—इसका विनाश कर ॥ ४३ ॥

इति श्रीमद्भगवद्रामानुजाचार्यविरचिते श्रीमद्भगवद्गीताभाष्ये तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इस प्रकार श्रीमान् भगवान् रामानुजाचार्यद्वारा रचित गीता-भाष्यके हिन्दी-भाषानुवादका तीसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ ३ ॥

ॐ
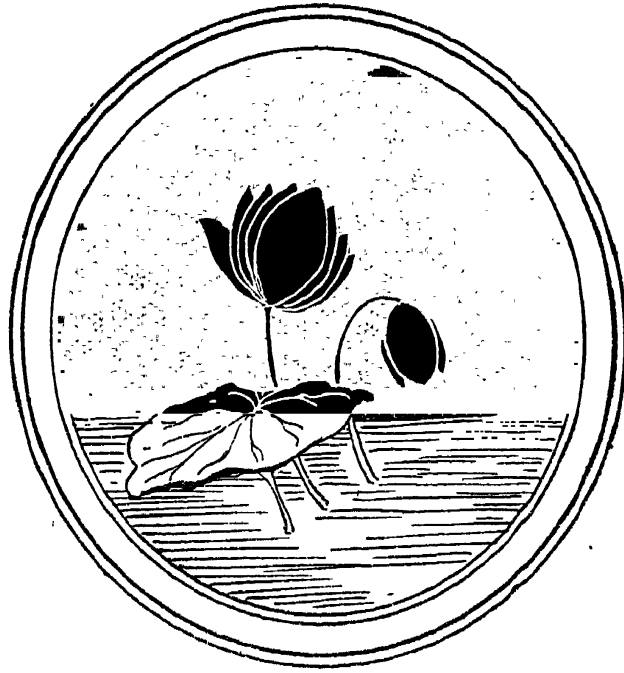
चौथा अध्याय

तृतीये अध्याये प्रकृतिसंसृष्टस्य मुमुक्षोः सहसा ज्ञानयोगे अनधिकारात् कर्मयोग एव कार्यः। ज्ञानयोगाधिकारिणः अपि अकर्तृत्वानुसन्धानपूर्वकं कर्मयोग एव श्रेयान् इति सहेतुकम् उक्तम्। विशिष्टतया व्यपदेश्यस्य तु विशेषतः कर्मयोग एव कार्य इति च उक्तम्।

चतुर्थे तु इदानीम् अस्य एव कर्मयोगस्य निखिलजगदुद्धरणाय मन्वन्तरादौ एव उपदिष्टतया कर्तव्यतां द्रढयित्वा अन्तर्गतज्ञानतया अस्य एव ज्ञानयोगाकारतां प्रदर्श्य, कर्मयोगस्वरूपं तद्भेदाः कर्मयोगे ज्ञानांशस्य एव प्राधान्यं च उच्यते। प्रसङ्गाच्च भगवदवतारयाथात्म्यम् उच्यते—

तीसरे अध्यायमें युक्तियोंके साथ यह बतलाया गया कि प्रकृतिके संसर्गसे युक्त मुमुक्षुका सहसा ज्ञानयोगमें अधिकार नहीं होता, इसलिये उसे कर्मयोग ही करना चाहिये तथा ज्ञानयोगके अधिकारीके लिये भी आत्माके अकर्तापनको समझते हुए कर्मयोगका साधन ही श्रेयस्कर है। साथ ही यह भी कहा गया कि विशिष्टरूपसे प्रसिद्धि पाये हुए पुरुषके लिये तो विशेषरूपसे कर्मयोगका आचरण करना ही कर्तव्य है।

अब इस चतुर्थ अध्यायमें, 'मन्वन्तरके आदिमें सम्पूर्ण जगत्के उद्धारके लिये कर्मयोगका उपदेश किया गया है' इस कथनसे इस कर्मयोगकी ही कर्तव्यताको दृढ़ करके, तथा ज्ञानयोग इसके अन्तर्गत होनेके कारण इसकी ज्ञानयोगाकारता भी दिखलाकर, कर्मयोगका स्वरूप, उसके भेद और कर्मयोगमें ज्ञानके अंशकी ही प्रधानता बतलायी जाती है। साथ ही, प्रसङ्गवश श्रीभगवान्के अवतारका वास्तविक रहस्य भी कहा जाता है—

श्रीभगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ १ ॥
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥ २ ॥

श्रीभगवान् बोले—इस अविनाशी योगको मैंने सूर्यसे कहा था, सूर्यने (अपने पुत्र) मनुसे कहा और मनुने (अपने पुत्र) इक्ष्वाकुसे कहा । इस प्रकार परम्परासे प्राप्त इस योगको राजर्षियोंने जाना । (परन्तु) अर्जुन ! वह योग बहुत कालसे इस लोकमें (प्रायः) नष्ट हो गया ॥ १-२ ॥

यः अयं तव उदितो योगः स केवलं युद्धप्रोत्साहनाय इदानीम् उदित इति न मन्तव्यम् । मन्वन्तरादौ एव निखिलजगदुद्धरणाय परमपुरुषार्थलक्षणमोक्षसाधनतया इमं योगम् अहम् **एव** विवस्वते प्रोक्तवान् । विवस्वान् **च** मनवे मनुः इक्ष्वाकवे **इति** एवं **सम्प्रदाय**परम्परया प्राप्तम् इमं **योगं पूर्वे** राजर्षयो विदुः । स महता कालेन **तत्तच्छ्रोतृबुद्धिमान्द्याद् विनष्टप्रायः अभूत्** ॥ १-२ ॥

यह जो कर्मयोग तुझे बतलाया गया है, सो केवल इसी समय युद्धमें प्रोत्साह देनेके लिये ही कहा गया हो, ऐसा नहीं मानना चाहिये । मन्वन्तरके आदिमें भी अखिल जगत्के उद्धारके लिये मैंने ही परमपुरुषार्थरूप मोक्षके साधनरूपमें इस योगको विवस्वान् (सूर्य) के प्रति कहा था । (फिर) सूर्यने मनुको और मनुने इक्ष्वाकुको इसका उपदेश किया । इस प्रकार सम्प्रदाय-परम्परासे प्राप्त इस योगको पूर्वकालके राजर्षियोंने जाना था । (इधर) बहुत समयसे उसे सुननेवालोंकी बुद्धिमन्दताके कारण यह नष्टप्राय हो गया था ॥ १-२ ॥

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ ३ ॥

तू मेरा भक्त और सखा है, इसलिये वही यह पुराना योग आज मेरे द्वारा तेरे प्रति कहा गया है; क्योंकि यह अति उत्तम रहस्य है ॥ ३ ॥

स एव अयम् **अस्खलितस्वरूपः** पुरातनः योगः **सख्येन अतिमात्रभक्त्या च माम् एव प्रपन्नाय** ते मया प्रोक्तः **सपरिकरः सविस्तरम् उक्त इत्यर्थः । मदन्येन केन अपि ज्ञातुं वक्तुं वा न शक्यम्, यत इदं वेदान्तोदितम्** उत्तमं रहस्यं **ज्ञानम्** ॥ ३ ॥

वही यह पुरातन योग, जिसका स्वरूप अविचल बना है, मैंने मित्रता और अत्यधिक भक्तिके कारण केवल मेरे ही शरणमें आये हुए तुझ भक्तके प्रति भलीभाँति कहा—अङ्ग-प्रत्यङ्गों-सहित विस्तारसे बतलाया । यह मेरे सिवा दूसरे किसीके भी द्वारा न तो जाना जा सकता है और न कहा ही जा सकता है; क्योंकि यह वेदान्तवर्णित उत्तम रहस्य—ज्ञान है ॥ ३ ॥

अस्मिन् प्रसङ्गे भगवदवतारयाथात्म्यं यथावद् ज्ञातुम् अर्जुन उवाच—

इस प्रसङ्गमें भगवान्‌के अवतारका यथार्थ स्वरूप ठीक-ठीक जाननेके लिये अर्जुन बोला—

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४ ॥

अर्जुनने कहा—(श्रीकृष्ण !) आपका जन्म तो पीछे (अब) हुआ है और सूर्यका जन्म बहुत पहलेका है, अत: मैं यह कैसे जानूँ कि इस योगको आपने आदिकालमें कहा था ? ॥ ४ ॥

कालसंख्यया अपरम् **अस्मज्जन्मसमकालं हि** भवतो जन्म; विवस्वतः

आपका जन्म कालसंख्याकी दृष्टिसे बहुत इधरका—मेरे जन्मका समकालीन

च कालसंख्यया परम् अष्टाविंशति-चतुर्युगसंख्यातम् त्वम् एव आदौ प्रोक्तवान् इति कथम् एतद् **असम्भावनीयं विशेषेण यथार्थं** जानीयाम् ।

ननु जन्मान्तरेण अपि वक्तुं शक्यम्; जन्मान्तरकृतस्य महतां स्मृतिः च युज्यते । इति अत्र न कश्चिद् विरोधः । न च असौ वक्तारम् एनं वसुदेवतनयं सर्वेश्वरं न जानाति; यत एवं वक्ष्यति—'*परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् । पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥ आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा । असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥*' (*१० । १२-१३*) **इति । युधिष्ठिरराजसूयादिषु भीष्मादिभ्यः च असकृत् श्रुतम्**—'*कृष्ण एव हि लोकानामुत्पत्तिप्रभवाप्ययः । कृष्णस्य हि कृते भूतमिदं विश्वं चराचरम् ॥*' (*महा० सभा० ३८ । २३*) **इत्येवमादिषु 'कृष्णस्य हि कृते' इति कृष्णस्य शेषभूतम् इदं कृत्स्नं जगद् इत्यर्थः ।**

है और सूर्यका जन्म कालसंख्याकी दृष्टिसे बहुत पहलेका —अट्ठाईस चतुर्युगी पूर्वका है; अतएव आपने ही इसको पहले कहा था, इस असम्भव बातको मैं विशेषरूपसे यथार्थ कैसे जानूँ ?

शङ्का—ऐसा भी तो हो सकता है कि श्रीभगवान्ने जन्मान्तरमें कहा हो, क्योंकि महापुरुषोंमें जन्मान्तरमें किये हुएकी स्मृतिका होना उचित ही है । इसलिये यहाँ कुछ भी विरोध नहीं है, क्योंकि (अर्जुन) यहाँ उपदेश करनेवाले वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णको सर्वेश्वर नहीं जानता हो, ऐसी बात नहीं है । वह तो स्वयं ही आगे चलकर (दशम अध्यायमें) कहेगा—**'आप परम ब्रह्म हैं, परम धाम हैं, परम पवित्र हैं । आपको देवर्षि नारद और असित, देवल तथा व्यास आदि सभी ऋषि सनातन दिव्य पुरुष, आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापी बतलाते हैं । आप स्वयं भी मुझसे ऐसा ही कहते हैं ।'** इसके सिवा, युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञमें तथा अन्य स्थलोंमें भीष्मादिके द्वारा भी अर्जुनने ऐसी बातें बहुत बार सुनी हैं—**'श्रीकृष्ण ही समस्त लोकोंकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय हैं, यह सारा चराचर जगत् श्रीकृष्णके ही लिये प्रकट हुआ है'** यहाँ 'कृष्णस्य हि कृते' से यह अभिप्राय है कि यह सारा जगत् श्रीकृष्णका ही शेषभूत (शरीररूप) है।

अत्र उच्यते-जानाति एव अयं भगवन्तं वसुदेवतनयं पार्थः। जानतः अपि अजानतः इव पृच्छतः अयम् आशयः—

निखिलहेयप्रत्यनीककल्याणैकतानस्य सर्वेश्वरस्य सर्वज्ञस्य सत्यसंकल्पस्य च अवाप्तसमस्तकामस्य कर्मपरवशदेवमनुष्यादिसजातीयं जन्म किम् इन्द्रजालादिवत् मिथ्या किं वा सत्यम्? सत्यत्वे च कथं जन्मप्रकारः? किमात्मकः अयं देहः? कश्च जन्महेतुः? कदा च जन्म? किमर्थं वा जन्म? इति परिहारप्रकारेण प्रश्नार्थो विज्ञायते ॥ ४ ॥

इसपर यहाँ कहते हैं—अर्जुन वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णको साक्षात् भगवान् जानता था, इसमें कोई सन्देह नहीं है। परन्तु जानते हुए भी अनजानकी भाँति जो पूछ रहा है, उसका यह आशय है—

जो समस्त हेय गुणोंके विरोधी एकतान अनन्तकल्याणगुणगण-सम्पन्न, सर्वज्ञ, सर्वेश्वर और सत्यसंकल्प हैं, जिनको समस्त (दिव्य) भोग सब प्रकारसे प्राप्त हैं, उन भगवान्का कर्मपरवश देव-मनुष्यादिके सदृश प्रतीत होनेवाला जन्म क्या इन्द्रजाल आदिकी तरहसे मिथ्या है? कि वा सत्य है? यदि सत्य है तो उस जन्मका प्रकार क्या है? उसका यह शरीर कैसा है? उसके जन्ममें हेतु क्या है? तथा वह जन्म कब और किस उद्देश्यसे होता है? इन सारी बातोंका सन्तोषजनक समाधान हो जाय, यही अर्जुनके प्रश्नका अभिप्राय जान पड़ता है ॥४॥

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥ ५ ॥

श्रीभगवान् बोले—अर्जुन! मेरे और तेरे बहुत-से जन्म बीत चुके हैं, उन सबको मैं जानता हूँ, परंतप! तू नहीं जानता ॥ ५ ॥

अनेन जन्मनः सत्यत्वम् उक्तम् 'बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि' इति वचनात्, तव च इति दृष्टान्ततया उपादानाच्च ॥ ५ ॥

इस श्लोकसे जन्मकी सत्यता बतलायी गयी है; क्योंकि 'मेरे बहुतसे जन्म हो चुके हैं' यह भगवान्का कथन है और तेरे भी (बहुतसे जन्म बीत चुके हैं) यह बात दृष्टान्तरूपसे उपस्थित की गयी है ॥५॥

आत्मनः अवतारप्रकारं देहयाथात्म्यं जन्महेतुं च आह—

अपने अवतारका प्रकार, अवतार-शरीरका यथार्थ स्वरूप और अवतारका हेतु बतलाते हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥ ६ ॥

मैं अजन्मा, अविनाशीस्वरूप और भूतप्राणियोंका ईश्वर रहते हुए ही अपने स्वभावको साथ लेकर अपनी मायासे (अपने सङ्कल्पसे) प्रकट होता हूँ ॥६॥

अजत्वाव्ययत्वसर्वेश्वरत्वादिसर्वं पारमेश्वरं प्रकारम् अजहद् एव स्वां प्रकृतिम् अधिष्ठाय आत्ममायया संभवामि **प्रकृतिः स्वभावः, स्वम् एव स्वभावम् अधिष्ठाय स्वेन एव रूपेण स्वेच्छया संभवामि इत्यर्थः ।**

स्वरूपं तु—*'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।' (यजुर्वे० ३१ । १८) 'क्षयन्तमस्य रजसः पराके ।' (साम० १७ । १ । ४ । २) 'य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषः' (छा० उ० १ । ६ । ६) 'तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयोऽमृतो हिरण्मयः ।' (तै० उ० १ । ६ । १) 'सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि ।' (यजुर्वे० ३२ । २) 'भारूपः सत्यसंकल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः ।' (छा० उ० ३ । १४ । २) 'माहारजनं वासः' (बृ० उ० २ । ३ । ६)* **इत्यादिश्रुतिसिद्धम् ।**

अजत्व, अव्ययत्व और सर्वेश्वरत्व आदि समस्त परमेश्वरीय स्वभावोंको न छोड़ते हुए ही अपनी प्रकृतिमें स्थित रहकर मैं अपनी मायासे प्रकट होता हूँ। प्रकृतिका अर्थ है स्वभाव, अतः कहना यह है कि अपने स्वभावमें स्थित होकर मैं अपने ही (दिव्य) स्वरूपसे और अपनी ही इच्छासे प्रकट होता हूँ ।

उनका स्वरूप **'आदित्यके समान वर्णवाले अन्धकारसे अत्यन्त दूर' 'इस रजोमय लोकसे दूर रहनेवाले' 'जो यह आदित्यमें हिरण्यमय पुरुष है' 'उसमें यह मनोमय (इच्छामय) अमृतमय हिरण्यमय पुरुष है' 'उस विद्युन्मय (प्रकाशपुञ्ज) पुरुषसे सब निमेष उत्पन्न हुए हैं' 'वह प्रकाशरूप, सत्यसंकल्प, आकाशात्मा, सर्वकर्मा, सर्वकाम, सर्वगन्ध और सर्वरसरूप है' '(उस परमात्माका रूप ऐसा है) जैसा हल्दीमें रँगा हुआ वस्त्र ।'** इत्यादि श्रुतियोंमें प्रसिद्ध है ।

आत्ममायया आत्मीयया मायया। *'माया वयुनं ज्ञानम्'* (*वे० नि० घ० व० २२*) **इति ज्ञानपर्यायः अत्र मायाशब्दः। तथा च अभियुक्तप्रयोगः**—*'मायया सततं वेत्ति प्राणिनां च शुभाशुभम्'* **इति। आत्मीयेन ज्ञानेन आत्मसंकल्पेन इत्यर्थः।**

अतः अपहतपाप्मत्वादिसमस्तकल्याणगुणात्मकत्वं सर्वम् ऐश्वरं स्वभावम् अजहद् एव स्वम् एव रूपं देवमनुष्यादिसजातीयसंस्थानं कुर्वन् आत्मसंकल्पेन देवादिरूपः संभवामि।

तद् इदम् आह—*'अजायमानो वहुधा विजायते'* (*यजुर्वेद ३१। १९*) **इति श्रुतिः। इतरपुरुषसाधारणं जन्म अकुर्वन् देवादिरूपेण स्वसंकल्पेन उक्तप्रक्रियया जायत इत्यर्थः।** *'बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन। तान्यहं वेद सर्वाणि'* (*गीता ४।५*) *'तदात्मानं सृजाम्यहम्॥'* (*गीता ४।७*) *'जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।'* (*गीता ४। ९*) **इति पूर्वापराविरोधाच्च॥ ६॥**

'माया वयुनं ज्ञानम्' इस वचनके अनुसार यहाँ 'माया' शब्द ज्ञानका पर्यायवाची है। आप्तपुरुषोंका प्रयोग भी ऐसा ही है—**'भगवान् अपनी मायासे ही निरन्तर प्राणियोंके शुभाशुभको जानते रहते हैं।'** अतः आत्ममायासे—अपनी मायासे प्रकट होता हूँ, इस कथनका अभिप्राय यह है कि मैं अपने ज्ञानसे—अपने संकल्पसे प्रकट होता हूँ।

अतएव मैं अपहतपाप्मत्व (सर्वदोषशून्यता) आदि समस्त कल्याणमय गुणोंसे युक्त होनारूप सम्पूर्ण ईश्वरीय स्वभावका त्याग न करते हुए अपने ही रूपको अपने सङ्कल्पसे देव-मनुष्यादिके सदृश आकारमें करके उन देवादिके रूपोंमें प्रकट होता हूँ।

'वह (परमेश्वर) न जन्मता हुआ भी बहुत प्रकारसे जन्मता है' यह श्रुति भी यही कहती है। तथा **'हे अर्जुन! मेरे और तेरे बहुत-से जन्म बीत चुके हैं, उन सबको मैं जानता हूँ' 'उस समय मैं अपनेको रच लेता हूँ' 'मेरा जन्म-कर्म दिव्य है, इस प्रकार जो तत्त्वसे जानता है'** इत्यादि वचनोंमें पूर्वापरविरोध न होनेके कारण भी यही अर्थ ठीक है कि श्रीभगवान् अन्य साधारण मनुष्योंकी भाँति जन्म नहीं लेते, वे पूर्वोक्त प्रकारसे अपने संकल्पके द्वारा ही देवादिरूपसे जन्म लेते हैं॥६॥

जन्मकालम् आह— | अपने जन्मका समय बतलाते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

जब-जब धर्मकी ग्लानि और अधर्मका अभ्युत्थान होता है, तब-तब ही भारत ! मैं अपनेको रच लेता हूँ ॥ ७ ॥

न कालनियमः अस्मत्संभवस्य; यदा यदा हि धर्मस्य **वेदेन उदितस्य चातुर्वर्ण्यचातुराश्रम्यव्यवस्थया अवस्थितस्य कर्तव्यस्य** ग्लानिः भवति, **यदा यदा च तद्विपर्ययस्य** अधर्मस्य अभ्युत्थानं तदा अहम् **एव स्वसंकल्पेन उक्तप्रकारेण** आत्मानं सृजामि ॥ ७ ॥

मेरे प्राकट्यके लिये कोई कालका नियम नहीं है; जब-जब ही वेदोक्त धर्मकी, चारों वर्णों और चारों आश्रमोंकी व्यवस्थापूर्वक स्थित मानवसमाजके कर्तव्यकी हानि होती है, और जब-जब उस धर्मके विपरीत अधर्मका अभ्युत्थान होता है, तब (तब) मैं स्वयं ही अपने संकल्पसे पूर्वोक्त प्रकारसे अपनेको रच लेता हूँ ॥ ७ ॥

जन्मनः प्रयोजनम् आह— | जन्मका प्रयोजन बतलाते हैं—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ ८ ॥

साधुओंका परित्राण करनेके लिये, दुष्टोंका विनाश करनेके लिये और (वैदिक) धर्मकी स्थापना करनेके लिये मैं युग-युगमें प्रकट होता हूँ ॥ ८ ॥

साधव उक्तलक्षणधर्मशीला वैष्णवाग्रेसरा मत्समाश्रयणे प्रवृत्ता मन्नामकर्मस्वरूपाणाम् अवाङ्मनसगोचरतया मद्दर्शनाद् ऋते स्वात्म-

पूर्वोक्त लक्षणोंवाले धर्मशील, वैष्णवाग्रणी तथा मेरे समाश्रयणमें प्रवृत्त साधुपुरुष मेरे नाम, कर्म और स्वरूपका वाणी तथा मनसे भी ग्रहण न हो सकनेके कारण मेरे दर्शन प्राप्त किये बिना

धारणपोषणादिसुखम् अलभमाना अणुमात्रकालम् अपि कल्पसहस्रं मन्वानाः प्रशिथिलसर्वगात्रा भवेयुः इति मत्स्वरूपचेष्टितावलोकनालापादिदानेन तेषां परित्राणाय तद्विपरीतानां विनाशाय च क्षीणस्य वैदिकधर्मस्य मदाराधनरूपस्य आराध्यस्वरूपप्रदर्शनेन तस्य स्थापनाय च देवमनुष्यादिरूपेण युगे युगे संभवामि । कृतत्रेतादियुगविशेषनियमः अपि नास्ति इत्यर्थः ॥८॥

अपने जीवनके धारण-पोषणमें जरा भी सुख न पाते हुए, तथा मेरे दर्शनके बिना क्षणमात्रके समयको भी हजारों कल्पोंके समान मानते हुए (मेरे विरहतापसे) सारे अङ्ग अत्यन्त शिथिल हो जानेके कारण नष्ट हो जायँगे; अतः उनको अपने स्वरूप और लीलाओंका दर्शन तथा अपने साथ बातचीत आदि करनेका सुअवसर देकर उनका (विरहतापसे) परित्राण करने, उनके विरोधी दुष्टोंका विनाश करने तथा क्षीण हुए मेरे आराधनरूप वैदिक धर्मकी मुझ आराध्यस्वरूपके साक्षात् दर्शनके द्वारा संस्थापना करनेके लिये मैं युग-युगमें देव-मनुष्यादिके रूपमें प्रकट होता हूँ। अभिप्राय यह कि (मेरे प्रकट होनेमें) सत्ययुग या त्रेता आदिका कोई भी विशेष नियम नहीं है ॥८॥

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ ९ ॥

मेरा वह जन्म और कर्म दिव्य है, इस प्रकार जो तत्त्वसे जानता है, अर्जुन ! वह शरीरको त्यागकर फिर जन्मको नहीं प्राप्त होता, मुझको ही पाता है ॥ ९ ॥

एवं कर्ममूलभूतहेयत्रिगुणप्रकृतिसंसर्गरूपजन्मरहितस्य सर्वेश्वरत्वसर्वज्ञत्वसत्यसंकल्पत्वादिसमस्तकल्याणगुणोपेतस्य साधुपरित्राणमत्स-

कर्ममूलक और हेयरूपा त्रिगुणात्मिका प्रकृतिके संसर्गरूप जन्मसे रहित, सर्वेश्वरत्व, सर्वज्ञत्व और सत्यसंकल्पत्व आदि समस्त कल्याणमय गुणोंसे समन्वित मुझ परमेश्वरके एकमात्र साधुओंका परित्राण करने—

माश्रयणैकप्रयोजनं दिव्यम् **अप्राकृतं मदसाधारणं मम** जन्म **चेष्टितं** च तत्त्वत: यो वेत्ति स **वर्तमानं** देहं **परित्यज्य** पुन: जन्म न एति माम् **एव** प्राप्नोति ।

उन्हें अपना समाश्रयण प्रदान करनेके उद्देश्यसे ही होनेवाले मेरे दिव्य—अप्राकृत, असाधारण जन्म और उसके द्वारा की हुई लीलाओंको जो तत्त्वसे जानता है, वह इस वर्तमान शरीरको त्यागकर पुन: जन्मको नहीं पाता, मुझको ही प्राप्त होता है।

मदीयदिव्यजन्मचेष्टितयाथात्म्यविज्ञानेन विध्वस्तसमस्तमत्समाश्रयणविरोधिपाप्मा अस्मिन् एव जन्मनि यथोदितप्रकारेण माम् आश्रित्य मदेकप्रियो मदेकचित्तो माम् एव प्राप्नोति ॥ ९ ॥

मेरे दिव्य जन्म-कर्मके यथार्थस्वरूपको भलीभाँति जान लेनेसे जिसके मेरे समाश्रयणके विरोधी समस्त पाप नष्ट हो चुके हैं, वह इसी जन्ममें पूर्वोक्त प्रकारसे मेरी शरण ग्रहण करके, एकमात्र मुझको ही प्रिय मानकर और मुझमें ही एकचित्तवाला होकर मुझको ही प्राप्त हो जाता है ॥ ९ ॥

तद् आह—

यह बात कहते हैं —

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ १० ॥

राग, भय और क्रोधसे रहित, केवल मुझसे ही ओत-प्रोत और मेरे ही आश्रित बहुत-से पुरुष (तत्त्व) ज्ञानरूप तपसे पवित्र होकर मेरे भावको प्राप्त हो चुके हैं ॥ १० ॥

मदीयजन्मकर्मतत्त्वज्ञानाख्येन तपसा पूता बहव **एवं संवृत्ताः । तथा च श्रुतिः**—*'तस्य धीराः परिजानन्ति योनिम्'* **इति । धीरा धीमतामग्रेसरा एव तस्य जन्मप्रकारं जानन्ति इत्यर्थः ॥ १० ॥**

मेरे जन्म-कर्मके तत्त्वज्ञानरूप तपसे पवित्र होकर बहुत-से लोग ऐसे बन चुके हैं । ऐसी ही श्रुति भी है— **'धीर पुरुष उसके जन्मको भलीभाँति जानते हैं'** अर्थात् बुद्धिमानोंमें अग्रणी पुरुष ही उसके जन्म-प्रकारको जानते हैं ॥ १० ॥

न केवलं देवमनुष्यादिरूपेण अवतीर्य मत्समाश्रयणापेक्षाणां परित्राणं करोमि । अपि तु—

मेरा आश्रय चाहनेवालोंका उद्धार मैं केवल देव-मनुष्यादिके रूपमें अवतीर्ण होकर ही करता हूँ ऐसी बात नहीं है; किन्तु—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥११॥

जो मुझको जैसे भजते हैं उनको मैं वैसे ही भजता हूँ । अर्जुन ! मनुष्य सब प्रकारसे मेरे ही मार्गपर चलते हैं ॥ ११ ॥

ये **मत्समाश्रयणापेक्षा** यथा **येन प्रकारेण स्वापेक्षानुरूपं** मां **संकल्प्य** प्रपद्यन्ते **समाश्रयन्ते** तान् **प्रति** तथैव **तन्मनीषितप्रकारेण** भजामि **मां दर्शयामि । किमत्र बहुना ? सर्वे** मनुष्या **मदनुवर्तनैकमनोरथा** मम वर्त्म **मत्स्वभावं सर्वं योगिनां वाङ्मनसागोचरम् अपि स्वकीयैः चक्षुरादिकरणैः** सर्वशः **स्वापेक्षितैः सर्वप्रकारैः अनुभूय** अनुवर्तन्ते ॥११॥

मेरी शरण लेनेकी अपेक्षा रखनेवाले जो पुरुष अपनी अपेक्षाके अनुसार जिस प्रकार मेरे रूपकी कल्पना करके मेरे प्रपन्न होते हैं—मेरा समाश्रयण करते हैं, उनको मैं वैसे ही—उनके मनोवाञ्छित प्रकारसे ही भजता हूँ—दर्शन देता हूँ । इस विषयमें अधिक क्या कहना है, मेरा अनुवर्तन करना ही जिनका एकमात्र मनोरथ है, ऐसे सभी मनुष्य मेरे मार्गका—मेरे सारे स्वभावका, जो योगियोंके भी मन-वाणीसे अगोचर है—अपनी चक्षु आदि इन्द्रियोंके द्वारा सर्वथा अपने अपेक्षित स्वरूपमें सब प्रकारसे अनुभव करते हुए बर्तते हैं ॥ ११ ॥

इदानीं प्रासङ्गिकं परिसमाप्य प्रकृतस्य कर्मयोगस्य ज्ञानाकारता-

यहाँतक प्रासङ्गिक विषयको समाप्त करके अब जिसका प्रकरण चल रहा था, वह कर्मयोग ज्ञानरूप कैसे हो

प्रकारं वक्तुं तथाविधकर्मयोगाधिकारिणो दुर्लभत्वम् आह—

जाता है, यह बतलानेके लिये, वैसे कर्मयोगके अधिकारीकी दुर्लभता बतलाते हैं—

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥१२॥

(लौकिक सकाम मनुष्य) कर्मोंकी सिद्धि चाहते हुए यहाँ (इन्द्रादि) देवताओंको पूजते हैं; क्योंकि मनुष्यलोकमें कर्मोंसे उत्पन्न हुई सिद्धि शीघ्र होती है ॥ १२ ॥

सर्व एव पुरुषाः कर्मणां **फलं काङ्क्षमाणा इन्द्रादि**देवता **यथाशास्त्रं** यजन्ते **आराधयन्ति । न तु कश्चिद् अनभिसंहितफल इन्द्रादिदेवतात्मभूतं सर्वयज्ञानां भोक्तारं मां यजते । कुत एतत् ? यतः** क्षिप्रम् **अस्मिन् एव** मानुषे लोके कर्मजा **पुत्रपश्वन्नाद्या** सिद्धिः भवति । **मनुष्यलोकशब्दः स्वर्गादिलोकप्रदर्शनार्थः ।**

सभी मनुष्य कर्मोंके फलकी इच्छा करते हुए इन्द्रादि देवताओंकी शास्त्रविधिसे पूजा—आराधना करते हैं । उन इन्द्रादि देवताओंके आत्मारूप समस्त यज्ञोंके भोक्ता मुझ परमेश्वरको फलाभिसन्धिसे रहित होकर कोई भी नहीं पूजता । ऐसा क्यों होता है ? इसलिये कि इस मनुष्यलोकमें ही (देवताओंके पूजनसे) पुत्र, पशु, अन्न आदिकी प्राप्तिरूप कर्मजनित सिद्धि तुरंत प्राप्त हो जाती है । यहाँ 'मनुष्यलोक' शब्द स्वर्गादि लोकोंका भी उपलक्षण है ।

सर्व एव हि लौकिकाः पुरुषा अक्षीणानादिकालप्रवृत्तानन्तपापसंचयतया अविवेकिनः क्षिप्रफलाभिकाङ्क्षिणः, पुत्रपश्वन्नाद्य-

कहनेका अभिप्राय यह है कि अनादिकालसे प्रवृत्त अनन्त पाप-राशिका नाश न होनेके कारण सभी लौकिक मनुष्य विवेकशून्य और तुरंत फल चाहनेवाले हो रहे हैं, इसलिये वे पुत्र, पशु, अन्नादि और

स्वर्गाद्यर्थतया सर्वाणि कर्माणि इन्द्रादिदेवताराधनमात्राणि कुर्वते; न तु कश्चित् संसारोद्विग्नहृदयो मुमुक्षुः उक्तलक्षणं कर्मयोगं मदाराधनभूतम् आरभते इत्यर्थः ॥ १२ ॥

स्वर्गादि भोगोंकी इच्छासे अपने सारे कर्म केवल इन्द्रादि देवताओंकी आराधनाके रूपमें ही करते हैं, हृदयमें संसारसे घबड़ाकर मोक्षकी इच्छासे उपर्युक्त लक्षणोंवाले मेरी आराधनारूप कर्मयोगका आरम्भ कोई भी नहीं करता, ऐसा इस प्रसंगका भावार्थ है ॥१२॥

यथोक्तकर्मयोगारम्भविरोधिपापक्षयहेतुम् आह—

उपर्युक्त कर्मयोगारम्भके विरोधी पापोंके नाशका हेतु बतलाते हैं--

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥१३॥

गुण-कर्मके विभागसे चारों वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) मेरे द्वारा रचे गये हैं। उनका कर्ता होनेपर भी मुझ अविनाशी सर्वेश्वरको तू अकर्ता ही जान ॥ १३ ॥

चातुर्वर्ण्यप्रमुखं ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं कृत्स्नं जगत् सत्त्वादिगुणविभागेन तदनुगुणशमादिकर्मविभागेन च प्रविभक्तं मया सृष्टम्। सृष्टिग्रहणं प्रदर्शनार्थम्, मया एव रक्ष्यते, मया एव च उपसंह्रियते। तस्य विचित्रसृष्ट्यादेः कर्तारम् अपि अकर्तारं मां विद्धि ॥१३॥

चतुर्वर्ण-प्रधान यह ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त समस्त जगत् सत्त्वादि गुणविभागसे और उनके ही अनुरूप शम आदि कर्मविभागसे भलीभाँति विभक्त किया हुआ—मेरे द्वारा ही रचा गया है। यहाँ 'सृष्टम्' (रचा गया है) यह कथन रक्षा आदिका भी उपलक्षण करानेके लिये है। इससे यह समझना चाहिये कि इसका संरक्षण और संहार भी मेरे ही द्वारा किया जाता है। इस विचित्र सृष्टि आदिके मुझ कर्ताको भी तू अकर्ता ही जान १३

कथम् इति अत्र आह—

कैसे ? सो बतलाते हैं—

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥१४॥

(क्योंकि) न तो मुझे कर्म लिपायमान करते हैं और न मुझे कर्मफलमें स्पृहा है; इस प्रकार मुझको जो भलीभाँति जानता है, वह कर्मोंसे नहीं बँधता ॥१४॥

यत इमानि विचित्रसृष्ट्यादीनि न मां कर्माणि लिम्पन्ति **न मां संबध्नन्ति । न मत्प्रयुक्तानि इमानि देवमनुष्यादिवैचित्र्याणि सृज्यानां पुण्यपापरूपकर्मविशेषप्रयुक्तानि** इत्यर्थः । **अतः प्राप्ताप्राप्तविवेकेन विचित्रसृष्ट्यादेः न अहं कर्ता । यतश्च सृष्टाः क्षेत्रज्ञाः सृष्टिलब्धकरणकलेवराः सृष्टिलब्धं भोग्यजातं फलसङ्गादिहेतुस्वकर्मानुगुणं भुञ्जते, सृष्ट्यादि**कर्मफले **च तेषाम् एव स्पृहा इति** न मे स्पृहा ।

ये विचित्र सृष्टि आदि कर्म मुझे लिप्त नहीं कर सकते—बाँधते नहीं । अभिप्राय यह कि यह देव-मनुष्यादिकी विचित्र सृष्टि मेरेद्वारा (मनमाने तौरपर) प्रयुक्त नहीं है, उन रचे जानेवाले जीवोंके पुण्य-पापरूप कर्मविशेषके द्वारा प्रयुक्त है । इसलिये अन्वयव्यतिरेकसे विवेक करनेपर यही सिद्ध होता है कि इस विचित्र सृष्टि आदिका मैं (स्वच्छन्द) कर्ता नहीं हूँ । क्योंकि ये रचे हुए जीव, जिनको कि सृष्टिके नियमानुसार इन्द्रियाँ और शरीर मिले हैं, फलासक्ति आदिसे बने हुए अपने कर्मोंके अनुरूप सृष्टिके नियमानुसार प्राप्त भोगोंको भोगते हैं, तथा रचना आदि कर्मोंके फलमें भी उन्हींकी स्पृहा होती है; मेरी स्पृहा नहीं होती ।

तथा सूत्रकारः—*'वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्' (ब्र० सू० २ । १ । ३४)* **इति । तथा आह भगवान् पराशरः**—

(वेदान्त-)सूत्रकार (भगवान् व्यासजी) ने भी यही कहा है कि **'ईश्वरमें विषमता और निर्दयताका दोष नहीं है; क्योंकि (सृष्टि-रचनाकर्म-) सापेक्ष है ।'** भगवान् पराशरजी भी ऐसा ही कहते हैं—

'निमित्तमात्रमेवायं सृज्यानां सर्गकर्मणि। प्रधानकारणीभूता यतो वै सृज्यशक्तयः॥ निमित्तमात्रं मुक्त्वेदं नान्यत्किञ्चिदपेक्ष्यते। नीयते तपतां श्रेष्ठ स्वशक्त्या वस्तु वस्तुताम्॥' (वि० पु० १।४।५१-५२) इति। **सृज्यानां देवादीनां क्षेत्रज्ञानां सृष्टेः कारणमात्रम् एव अयं परमपुरुषः, देवादिवैचित्र्ये तु प्रधानकारणं सृज्यभूतक्षेत्रज्ञानां प्राचीनकर्मशक्तय एव। अतो निमित्तमात्रं मुक्त्वा सृष्टेः कर्तारं परमपूरुषं मुक्त्वा इदं क्षेत्रज्ञवस्तु देवादिविचित्रभावे न अन्यद् अपेक्षते; स्वगतप्राचीनकर्मशक्त्या एव हि देवादिवस्तुभावं नीयते इत्यर्थः।**

एवम् उक्तेन प्रकारेण सृष्ट्यादेः कर्तारम् अपि अकर्तारं सृष्ट्यादिकर्मफलसङ्गरहितं च यो माम् अभिजानाति **स कर्मयोगारम्भविरोधिभिः फलसङ्गादिहेतुभिः प्राचीन**कर्मभिः न संबध्यते; **मुच्यते इत्यर्थः॥ १४॥**

'निमित्तमात्रमेवायं सृज्यानां सर्गकर्मणि। प्रधानकारणीभूता यतो वै सृज्यशक्तयः॥ निमित्तमात्रं मुक्त्वेदं नान्यत् किञ्चिदपेक्ष्यते। नीयते तपतां श्रेष्ठ स्वशक्त्या वस्तु वस्तुताम्॥' अभिप्राय यह है कि इन रचे जानेवाले देवादि क्षेत्रज्ञों (जीवों) की रचनामें यह परम पुरुष तो केवल निमित्तमात्र है, देवादिकी विचित्र रचनामें प्रधान कारण तो उन रचे जानेवाले जीवोंकी प्राचीन कर्मशक्तियाँ ही हैं। इसलिये ये देवादि क्षेत्रज्ञ-गण अपनी देवादिरूपा विचित्र सृष्टिमें जो निमित्तमात्र है उस सृष्टिकर्ता परमपुरुषको छोड़कर अन्य किसी विशेष कारणकी अपेक्षा नहीं रखते। प्रत्युत अपने प्राचीन कर्मोंकी शक्तिसे अपने-आप ही देवादिस्वरूपको प्राप्त कराये जाते हैं।

ऐसे—उपर्युक्त प्रकारसे जो मुझ सृष्टि आदिके कर्ताको भी अकर्ता और सृष्टि आदि कर्मोंकी फलासक्तिसे रहित जानता है, वह कर्मयोगारम्भके विरोधी फलासक्तिके कारणरूप प्राचीन कर्मोंसे नहीं बँधता अर्थात् उनसे मुक्त हो जाता है॥१४॥

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्॥१५॥

पहले (होनेवाले) मुमुक्षु पुरुषोंके द्वारा भी इस प्रकार जानकर कर्म किया गया है। अतएव तू भी पूर्वजोंद्वारा पूर्वकालमें किये हुए कर्मको ही कर॥१५॥

एवं **मां** ज्ञात्वा **अपि विमुक्तपापैः** पूर्वैः अपि मुमुक्षुभिः **उक्तलक्षणं** कर्म कृतम् । तस्मात् त्वम् **उक्तप्रकारमद्विषयज्ञानविधूतपापः** पूर्वैः **विवस्वन्मन्वादिभिः** कृतं पूर्वतरं **पुरातनं तदानीम् एव मया उक्तं वक्ष्यमाणाकारं** कर्म एव कुरु ॥१५॥

उपर्युक्त प्रकारसे मुझको जानकर पापोंसे छूटे हुए पूर्वमें होनेवाले मुमुक्षुओंके द्वारा भी उपर्युक्त लक्षणोंवाले **कर्म** किये गये हैं । इसलिये तू भी उपर्युक्त प्रकारसे मेरे स्वरूपज्ञानके द्वारा पापरहित होकर विवस्वान् मनु आदि पूर्वजोंके द्वारा आचरित अत्यन्त प्राचीन कर्मको—उस कालमें मेरे द्वारा (उनको) बतलाये हुए, आगे कहे जानेवाले कर्मको ही कर ॥१५॥

वक्ष्यमाणस्य कर्मणो दुर्ज्ञानताम् आह—

आगे बतलाये जानेवाले कर्मोंकी दुर्विज्ञेयता कहते हैं—

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१६॥

कर्म क्या है और अकर्म क्या है, इस विषयमें विद्वान् पुरुष भी मोहित हैं, इससे मैं तुझे वह कर्म बतलाऊँगा, जिसे जानकर तू अशुभ (संसारबन्धन) से छूट जायगा ॥१६॥

मुमुक्षुणा अनुष्ठेयं कर्म किंस्वरूपम् ? अकर्म **च** किम् ? **फलाभिसन्धिरहितं भगवदाराधनरूपं कर्म; अकर्म इति कर्तुः आत्मनो याथात्म्यज्ञानम् उच्यते । अनुष्ठेयं कर्म तदन्तर्गतं ज्ञानं च किंस्वरूपम् ?**

मुमुक्षु पुरुषके लिये आचरण करने योग्य कर्मका क्या स्वरूप है और अकर्मका क्या स्वरूप है ? इस प्रकरणमें 'कर्म' शब्दसे फलाभिसन्धिरहित भगवदाराधनारूप कर्म विवक्षित है और 'अकर्म' शब्दसे कर्ता आत्माका यथार्थ स्वरूपज्ञान बतलाया गया है । अभिप्राय यह है कि आचरण-योग्य कर्मका और उसके अन्तर्गत आत्मज्ञानका क्या स्वरूप है ?

इति उभयत्र कवयः विद्वांसः अपि मोहिताः, यथार्थतया न जानन्ति । एवम् अन्तर्गतज्ञानं यत् कर्म तत् ते प्रवक्ष्यामि; यद् ज्ञात्वा अनुष्ठाय अशुभात् संसारबन्धात् मोक्ष्यसे । कर्तव्यकर्मज्ञानं हि अनुष्ठानफलम् ॥ १६ ॥

इन दोनों बातोंके जाननेमें कवि—विद्वान् पुरुष भी मोहग्रस्त हैं—इन्हें यथार्थरूपसे नहीं जानते । इस प्रकार जिसके अन्तर्गत ज्ञान है, ऐसा जो कर्म है, वह मैं तुझसे कहूँगा; जिसको जान-कर—जिसका आचरण कर तू अशुभसे—संसारबन्धनसे मुक्त हो जायगा; क्योंकि कर्तव्यकर्मके ज्ञानका फल उसका अनुष्ठान करना ही है ॥१६॥

कुतः अस्य दुर्ज्ञानता ? इति अत्र आह—

इसका जानना कठिन कैसे है ? सो यहाँ बतलाते हैं—

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥१७॥

कर्मके विषयमें भी जाननेयोग्य है, अकर्म (ज्ञान) के विषयमें भी जानने-योग्य है और विकर्मके विषयमें भी जाननेयोग्य है । कर्मकी गति गहन है॥१७॥

यस्मात् मोक्षसाधनभूते कर्मणः स्वरूपे बोद्धव्यम् अस्ति; विकर्मणि च, नित्यनैमित्तिककाम्यकर्मरूपेण तत्साधनद्रव्यार्जनाद्याकारेण च, विविधताम् आपन्नं कर्म विकर्म । अकर्मणि ज्ञाने च बोद्धव्यम् अस्ति । गहना दुर्विज्ञाना मुमुक्षोः कर्मणो गतिः ।

चूँकि मोक्षके साधनभूत 'कर्म' के स्वरूपके विषयमें भी जानने योग्य है; नित्य, नैमित्तिक और काम्यरूपसे तथा उनके साधन द्रव्योपार्जनादि रूप-से विविध भावोंको प्राप्त कर्म विकर्म कहलाते हैं, उस 'विकर्म'के विषयमें भी जानने योग्य है और 'अकर्म'—ज्ञानके विषयमें भी जानने योग्य है; क्योंकि मुमुक्षु पुरुषोंके कर्मकी गति बड़ी गहन है—समझनेमें बड़ी कठिन है ।

विकर्मणि च बोद्धव्यम्— नित्यनैमित्तिककाम्यद्रव्यार्जनादौ कर्मणि फलभेदकृतं वैविध्यं परित्यज्य मोक्षैकफलतया एकशास्त्रार्थत्वानुसन्धानम्; तदेतद् *'व्यवसायात्मिका बुद्धिरेका'* (२।४१) इत्यत्र एव उक्तम् इति न इह प्रपञ्च्यते ॥१७॥

विकर्मके विषयमें जानने योग्य जो नित्य, नैमित्तिक, काम्य और द्रव्योपार्जनादि कर्मोंमें फलभेदजनित विविधताको छोड़कर एकमात्र मोक्षरूप फलको लक्ष्य करके शास्त्रकी एकार्थताको समझना है; वह **'व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह'** इस श्लोकमें कहा जा चुका है, इसलिये यहाँ उसका विस्तार नहीं किया जाता है ॥ १७ ॥

कर्माकर्मणोः बोद्धव्यम् आह—

कर्म और अकर्मके विषयमें जो जानने योग्य है, उसे कहते हैं—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥१८॥

जो पुरुष कर्ममें अकर्म (आत्मज्ञान), और अकर्म (ज्ञान) में कर्म देखे, वह मनुष्योंमें बुद्धिमान् है और वही युक्त है तथा सब कर्मोंको करनेवाला है ॥१८॥

अकर्मशब्देन अत्र कर्मेतरत् प्रस्तुतम् आत्मज्ञानम् उच्यते। कर्मणि **क्रियमाणे एव आत्मज्ञानं** यः पश्येत् अकर्मणि च **आत्मज्ञाने वर्तमान एव** यः कर्म **पश्येत्।**

'अकर्म' शब्दसे यहाँ कर्मसे अतिरिक्त, प्रकरणमें आया हुआ, आत्मज्ञान कहा गया है। क्रियमाण (किये जानेवाले) कर्ममें ही जो आत्मज्ञान देखता है और वर्तमान आत्मज्ञानमें ही जो कर्म देखता है।

किम् उक्तं भवति ?

प्रश्न—यहाँ इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

क्रियमाणम् एव कर्म आत्मयाथात्म्यानुसन्धानेन ज्ञानाकारं यः

उत्तर—यही कि क्रियमाण कर्मको ही, उसमें आत्माके यथार्थस्वरूपका अनुसन्धान रहनेके कारण जो ज्ञान-

पश्येत्, तत् च ज्ञानं कर्मणि अन्तर्गततया कर्माकारं यः पश्येद् इति उक्तं भवति; क्रियमाणे हि कर्मणि कर्तृभूतात्मयाथात्म्यानुसन्धानेन तद् उभयं सम्पन्नं भवति।

स्वरूप समझता है, और कर्मोंके अन्तर्गत आ जानेके कारण उस ज्ञानको जो कर्मस्वरूप समझता है (वह ठीक समझता है); क्योंकि क्रियमाण कर्ममें कर्तारूप आत्माके यथार्थस्वरूपका अनुभव करते रहनेसे ये दोनों बातें सिद्ध हो जाती हैं।

एवम् आत्मयाथात्म्यानुसन्धानगर्भं कर्म यः पश्येत् स बुद्धिमान् कृत्स्नशास्त्रार्थवित्, मनुष्येषु स युक्तः मोक्षार्हः स एव कृत्स्नकर्मकृत् कृत्स्नशास्त्रार्थकृत् ॥ १८॥

इस प्रकार आत्माके यथार्थस्वरूपका ज्ञान जिसके अन्तर्गत है, ऐसे कर्मको जो समझता है, वह बुद्धिमान् है— समस्त शास्त्रके अभिप्रायको जाननेवाला है, वह मनुष्योंमें युक्त—मोक्षका अधिकारी है और वही सब कर्मोंको करनेवाला है—समस्त शास्त्राभिप्रायके अनुसार चलनेवाला है ॥१८॥

प्रत्यक्षेण क्रियमाणस्य कर्मणो ज्ञानाकारता कथम् उपपद्यते ? इत्यत्र आह—

प्रत्यक्ष क्रियमाण कर्मकी ज्ञानस्वरूपता कैसे सिद्ध होती है ? सो कहते हैं—

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥ १९॥

जिसके समस्त कर्म कामना और संकल्पसे रहित हैं, उस ज्ञानाग्निके द्वारा दग्ध हुए कर्मोंवाले पुरुषको बुद्धिमान् लोग पण्डित कहते हैं ॥१९॥

यस्य **मुमुक्षोः** सर्वे **द्रव्यार्जनादिलौकिककर्मपूर्वकनित्यनैमित्तिककाम्यरूपकर्म**समारम्भाः **कामवर्जिताः फलसङ्गरहिताः** संकल्पवर्जिताः **च**।

जिस मुमुक्षु पुरुषके समस्त आरम्भ—द्रव्योपार्जनादि लौकिक कर्मोंसहित नित्य, नैमित्तिक और काम्यरूप सभी कर्म-समारम्भ कामनावर्जित—फलासक्तिसे रहित और संकल्पसे भी रहित होते हैं।

प्रकृत्या तद्गुणैः च आत्मानम् एकीकृत्य अनुसन्धानं संकल्पः । प्रकृतिवियुक्तात्मस्वरूपानुसन्धानयुक्ततया तद्रहिताः । तम् एवं कर्म कुर्वाणं पण्डितं **कर्मान्तर्गतात्मयाथात्म्यज्ञानाग्निना** दग्ध**प्राचीन**कर्माणम् आहुः **तत्त्वज्ञाः । अतः कर्मणो ज्ञानाकारत्वम् उपपद्यते ॥ १९ ॥**

प्रकृति और प्रकृतिके गुणोंके साथ आत्माकी एकता करके समझनेका नाम 'संकल्प' है । पर उसके कर्म प्रकृतिसे पृथक् आत्मस्वरूपके अनुसन्धानपूर्वक किये जानेके कारण उस (संकल्प) से रहित होते हैं । इस प्रकार कर्म करते हुए, कर्मान्तर्गत आत्माके यथार्थ स्वरूपज्ञानरूपी अग्निके द्वारा प्राचीन कर्मोंको भस्म कर देनेवाले उस (मुमुक्षु) को तत्त्वज्ञ पुरुष पण्डित कहते हैं । इसलिये कर्मोंकी ज्ञानरूपता सिद्ध होती है ॥१९॥

एतद् एव विवृणोति—

इसीका विस्तार करते हैं—

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥२०॥

जो कर्म-फलकी आसक्तिको त्यागकर नित्य (आत्मामें) तृप्त और निराश्रय (प्रकृतिके आश्रयसे रहित) है वह पुरुष कर्ममें भलीभाँति प्रवृत्त हुआ भी कुछ भी नहीं करता है ॥२०॥

कर्मफलासङ्गं त्यक्त्वा नित्यतृप्तो **नित्ये स्वात्मनि एव तृप्तः,** निराश्रयः **अस्थिरप्रकृतौ आश्रयबुद्धिरहितो यः कर्माणि करोति ।** स कर्मणि **आभिमुख्येन** प्रवृत्तः अपि न एव किंचित् **कर्म** करोति, **कर्मापदेशेन ज्ञानाभ्यासम् एव करोति इत्यर्थः ॥२०॥**

जो नित्यतृप्त—नित्यस्वरूप अपने आत्मामें ही तृप्त रहनेवाला और निराश्रय—अस्थिर प्रकृतिमें आश्रयबुद्धि न रखनेवाला पुरुष कर्मफलकी आसक्तिको छोड़कर कर्म करता है, वह कर्मपरायण होकर कर्ममें लगा हुआ भी कुछ भी कर्म नहीं करता । अभिप्राय यह कि वह तो कर्मके नामपर ज्ञानका ही अभ्यास करता है ॥२०॥

पुनः अपि कर्मणो ज्ञानाकारता एव विशोध्यते—

फिर भी कर्मोंकी ज्ञानस्वरूपता ही स्पष्ट की जाती है—

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥२१॥

आशा (फलासक्ति) रहित, जीते हुए चित्त और आत्मा (मन) वाला, सब परिग्रहका त्यागी पुरुष केवल शरीरसम्बन्धी कर्म करता हुआ भी पाप (संसार) को प्राप्त नहीं होता ॥ २१ ॥

निराशीः **निर्गतफलाभिसन्धिः,** यतचित्तात्मा **यतचित्तमनाः,** त्यक्तसर्वपरिग्रहः **आत्मैकप्रयोजनतया प्रकृतिप्राकृतवस्तुनि ममतारहितो यावज्जीवं** केवलं शारीरम् **एव** कर्म कुर्वन् किल्बिषं **संसारं** न आप्नोति । **ज्ञाननिष्ठाव्यवधानरहितकेवलकर्मयोगेन एवं रूपेण आत्मानं पश्यति इत्यर्थः** ॥ २१ ॥

जो आशारहित—फलाभिसन्धिसे शून्य है, जो यतचित्तात्मा है—चित्त और मनको जीत चुका है, और समस्त परिग्रहका त्यागी है—एकमात्र आत्मामें ही अपना प्रयोजन समझनेके कारण जो प्रकृति और प्राकृत वस्तुओंमें ममतारहित हो गया है—,ऐसा पुरुष जीवनभर केवल शरीरसम्बन्धी कर्म करता हुआ भी पापको—संसारको प्राप्त नहीं होता । अभिप्राय यह है कि ज्ञाननिष्ठाके व्यवधानसे रहित केवल इस प्रकारके कर्मयोगसे ही वह आत्माका दर्शन कर लेता है ॥२१॥

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥२२॥

यदृच्छा-लाभसे सन्तुष्ट, द्वन्द्वातीत, मत्सरतारहित और सिद्धि-असिद्धिमें सम (भाववाला) पुरुष कर्म करके भी बँधता नहीं ॥२२॥

यदृच्छोपनतशरीरधारणहेतुवस्तु- सन्तुष्टः द्वन्द्वातीतः **यावत्साधन-समाप्त्यवर्जनीयशीतोष्णादिसहः** विमत्सरः **अनिष्टोपनिपातहेतु-भूतस्वकर्मनिरूपणेन परेषु विगत-मत्सरः** समः सिद्धौ असिद्धौ च **युद्धादि-कर्मसु जयादिसिद्ध्यसिद्ध्योः सम-चित्तः कर्म एव** कृत्वा अपि **ज्ञाननिष्ठां विना अपि** न निबध्यते, **न संसारं प्रतिपद्यते** ॥ २२ ॥

जो बिना किसी चेष्टाके अपने-आप प्राप्त हुई केवल शरीरधारणोपयोगी वस्तुमें ही सन्तुष्ट है, द्वन्द्वोंसे अतीत है—साधनकी समाप्तिपर्यन्त अनिवार्य सरदी-गर्मी आदिको सहता है, और विमत्सर है—अनिष्ट-प्राप्तिमें अपने ही कर्मोंको हेतु मानकर दूसरोंके प्रति मत्सरता (डाह या क्रोध) नहीं करता तथा सिद्धि-असिद्धिमें जो सम है—युद्धादि कर्मोंमें जय-पराजयादिरूप सिद्धि-असिद्धिमें समचित्त रहता है ऐसा पुरुष केवल कर्म करके भी—ज्ञान-निष्ठाके बिना भी बँधता नहीं—संसारको प्राप्त नहीं होता ॥२२॥

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥२३॥

आसक्तिरहित, मुक्त (समस्त परिग्रहोंसे छूटे हुए) आत्मज्ञानमें स्थित चित्तवाले और यज्ञके लिये कर्माचरण करनेवाले पुरुष के कर्म पूर्णतया विलीन हो जाते हैं ॥२३॥

आत्मविषयज्ञानावस्थितमनस्त्वेन विगततदितरसङ्गस्य तत एव निखिल-परिग्रहविनिर्मुक्तस्य उक्तलक्षणयज्ञादि-कर्मनिर्वृत्तये वर्तमानस्य पुरुषस्य बन्ध-हेतभूतं प्राचीनं कर्म समग्रं प्रविलीयते **निःशेषं क्षीयते** ॥ २३ ॥

मनके आत्मविषयक ज्ञानमें स्थित हो जानेके कारण आत्मासे अतिरिक्त अन्य पदार्थमें जिसकी आसक्ति नहीं रह गयी है और इसी कारणसे जो समस्त परिग्रहोंसे सर्वथा छूटा हुआ है तथा पूर्वोक्त लक्षणोंवाले यज्ञादि कर्मोंके सम्पादनमें लगा है, ऐसे पुरुषके बन्धनके हेतुभूत प्राचीन कर्म समग्र लीन हो जाते हैं—(सब-के-सब) निःशेषरूपसे नष्ट हो जाते हैं ॥२३॥

प्रकृतिवियुक्तात्मस्वरूपानुसन्धानयुक्ततया कर्मणो ज्ञानाकारत्वम् उक्तम्। इदानीं सर्वस्य सपरिकरस्य कर्मणः परब्रह्मभूतपरमपुरुषात्मकत्वानुसन्धानयुक्ततया ज्ञानाकारत्वम् आह—

प्रकृतिके संसर्गसे सर्वथा रहित आत्मस्वरूपको समझते हुए कर्म करनेसे वे कर्म ज्ञानस्वरूप हो जाते हैं, यह कहा गया। अब, अङ्गोंसहित समस्त कर्मोंको परब्रह्मरूप परम पुरुषका स्वरूप समझते हुए करनेसे भी वे ज्ञानस्वरूप हो जाते हैं, यह कहते हैं—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥२४॥

अर्पण (स्रुवादि) ब्रह्म है, हवि ब्रह्म है और ब्रह्मरूप अग्निमें ब्रह्मरूप कर्ताके द्वारा हवन किया गया है। इस प्रकार (निश्चय करनेवाले) 'ब्रह्मकर्मसमाधि' पुरुषके द्वारा प्राप्त होने योग्य (वस्तु भी) ब्रह्म ही है॥२४॥

हविः विशेष्यते; अर्प्यते अनेन इति अर्पणं स्रुगादि, तद् ब्रह्मकार्यत्वाद् ब्रह्म, ब्रह्म यस्य हविषः अर्पणं तद् ब्रह्मार्पणम्। ब्रह्म हविः **स्वयं च ब्रह्मभूतं** ब्रह्माग्नौ **ब्रह्मभूते अग्नौ** ब्रह्मणा **कर्त्रा** हुतम्; **इति सर्वं कर्म ब्रह्मात्मकत्वाद् ब्रह्ममयम्—इति यः समाधत्ते, स ब्रह्मकर्मसमाधिः।** तेन ब्रह्मकर्मसमाधिना ब्रह्म एव गन्तव्यम्।

जिसके द्वारा हवि (हवन-सामग्री) (अग्निमें) अर्पित की जाय उस स्रुवा आदिको अर्पण कहते हैं, वह ब्रह्मका कार्य होनेसे ब्रह्म ही है, ऐसा ब्रह्म जिस हविका अर्पण है, उस हविका नाम ब्रह्मार्पण है; इस प्रकार 'ब्रह्मार्पण' शब्द हविका विशेषण है। वह हवि स्वयं भी ब्रह्म है—ब्रह्मरूप है और ब्रह्मरूप कर्ताद्वारा ब्रह्मरूप अग्निमें होम की गयी है; इस प्रकार सभी कर्म ब्रह्मात्मक होनेके कारण ब्रह्ममय ही हैं—इस प्रकार जो समाधान (निश्चय) करता है, वह 'ब्रह्मकर्मसमाधि' है। ऐसे ब्रह्मकर्मसमाधि पुरुषके द्वारा प्राप्त करने योग्य वस्तु भी ब्रह्म ही है। वह अपनेको

ब्रह्मात्मकतया ब्रह्मभूतम् आत्मस्वरूपं गन्तव्यम् । मुमुक्षूणां क्रियमाणं कर्म परब्रह्मात्मकम् एव इत्यनुसन्धानयुक्ततया ज्ञानाकारं साक्षादात्मावलोकनसाधनम्, न ज्ञाननिष्ठाव्यवधानेन इत्यर्थः ॥ २४ ॥

ब्रह्मात्मक समझता है, इसलिये उसका प्राप्तव्य ब्रह्मरूप पदार्थ भी आत्मस्वरूप ही है । अभिप्राय यह कि मुमुक्षु पुरुषके द्वारा किये हुए कर्म 'ये सब परब्रह्मके ही स्वरूप हैं' इस भावनासे युक्त होनेके कारण ज्ञानस्वरूप हैं—आत्मसाक्षात्कारके प्रत्यक्ष साधन हैं, ज्ञाननिष्ठाके व्यवधानसे नहीं ॥२४॥

एवं कर्मणो ज्ञानाकारतां प्रतिपाद्य कर्मयोगभेदान् आह—

इस प्रकार कर्मोंकी ज्ञानस्वरूपताका प्रतिपादन करके अब कर्मयोगके भेदोंका वर्णन करते हैं—

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥२५॥

अन्य कर्मयोगी देवपूजनरूप यज्ञका ही भलीभाँति अनुष्ठान करते हैं, दूसरे ब्रह्मरूप अग्निमें यज्ञसे ही यज्ञका हवन करते हैं ॥२५॥

दैवं देवार्चनरूपं यज्ञम् अपरे कर्मयोगिनः पर्युपासते सेवन्ते; तत्र एव निष्ठां कुर्वन्ति इत्यर्थः । अपरे ब्रह्माग्नौ यज्ञं यज्ञेन एव उपजुह्वति । यज्ञं यज्ञरूपं ब्रह्मात्मकम् आज्यादिद्रव्यं यज्ञेन यज्ञसाधनभूतेन स्रुगादिना जुह्वति । अत्र यज्ञशब्दो हविःस्रुगादियज्ञसाधने वर्तते । ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः

अन्य कर्मयोगी देवसम्बन्धी—देवार्चनरूप यज्ञ करते हैं; देवताकी भलीभाँति उपासना—सेवा करते हैं, उसीमें अपनी निष्ठा करते हैं । अन्य कर्मयोगी ब्रह्मरूप अग्निमें यज्ञसे ही यज्ञका हवन करते हैं—यज्ञस्वरूप ब्रह्मात्मक घृतादि पदार्थोंको यज्ञसाधनरूप स्रुवा आदिसे होमते हैं । यहाँ (इस श्लोकमें) यज्ञ शब्दका प्रयोग हवि और स्रुवा आदि यज्ञके साधनरूप पदार्थोंमें हुआ है । अभिप्राय यह कि कितने ही कर्मयोगी 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः'

इति न्यायेन यागहोमयोर्निष्ठां कुर्वन्ति ॥ २५ ॥

इस (पूर्वोक्त) न्यायसे यज्ञ-हवनादिमें निष्ठा करते हैं ॥२५॥

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥२६॥

अन्य कर्मयोगी श्रोत्रादि इन्द्रियोंको संयमरूप अग्नियोंमें होमते हैं; दूसरे शब्दादि विषयोंका इन्द्रियरूपी अग्नियोंमें हवन करते हैं ॥२६॥

अन्ये **श्रोत्रादीनाम् इन्द्रियाणां संयमने प्रयतन्ते** । शब्दादीन् विषयान् अन्ये **योगिनः इन्द्रियाणां शब्दादि-विषयप्रवणतानिवारणे प्रयतन्ते** २६

अन्य कर्मयोगी श्रोत्रादि इन्द्रियोंके संयमके लिये प्रयत्न किया करते हैं । अन्य योगी लोग शब्दादि विषयोंका (इन्द्रियरूपी अग्नियोंमें हवन करते हैं)—इन्द्रियोंकी शब्दादि विषय-परायणताको रोकनेका प्रयत्न करते हैं ॥२६॥

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥२७॥

अन्य कर्मयोगी ज्ञानसे प्रज्वलित आत्मसंयमरूपी योगाग्निमें समस्त इन्द्रियोंके कर्मोंका और प्राणोंके कर्मोंका हवन करते हैं ॥२७॥

अन्ये ज्ञानदीपिते **मनः**संयम-योगाग्नौ सर्वाणि इन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि च जुह्वति—**मनसा इन्द्रियप्राणानां कर्मप्रवणतानिवारणे प्रयतन्ते इत्यर्थः** ॥ २७ ॥

अन्य कर्मयोगी ज्ञानसे प्रदीप्त मनके संयमरूप योगाग्निमें समस्त इन्द्रियोंके कर्मोंका और प्राणोंके कर्मोंका हवन करते हैं—मनसे इन्द्रियों और प्राणोंकी कर्म-परायणताको रोकनेका प्रयत्न करते हैं ॥२७॥

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः शंसितव्रताः ॥२८॥

दूसरे यत्नशील और शंसितव्रत (दृढ़ संकल्पवाले) कर्मयोगी द्रव्य-यज्ञ करनेवाले, वैसे ही कई (व्रतादिरूप) तप-यज्ञ करनेवाले, कई योग (तीर्थ-सेवनरूप) यज्ञ करनेवाले हैं और दूसरे कई स्वाध्याययज्ञ (वेदाध्ययन) और ज्ञानयज्ञका अनुष्ठान करनेवाले हैं ॥२८॥

केचित् कर्मयोगिनो द्रव्ययज्ञाः, **न्यायतो द्रव्याणि आदाय देवार्चने प्रयतन्ते, केचित् च दानेषु, केचित् च यागेषु, केचित् च होमेषु, एते सर्वे द्रव्ययज्ञाः ।**

केचित् तपोयज्ञाः **कृच्छ्रचान्द्रायणोपवासादिषु निष्ठां कुर्वन्ति,** योगयज्ञाः च अपरे **पुण्यतीर्थे पुण्यस्थानप्राप्तिषु निष्ठां कुर्वन्ति । इह योगशब्दः कर्मनिष्ठाभेदप्रकरणात् तद्विषयः ।**

केचित् स्वाध्यायपराः स्वाध्यायाभ्यासपराः, केचित्तदर्थज्ञानाभ्यासपराः यतयः **यतनशीलाः,** शंसितव्रताः **दृढसंकल्पाः ॥२८॥**

कितने ही कर्मयोगी द्रव्ययज्ञ करनेवाले होते हैं—न्यायसे धनोपार्जन करके उसे देवार्चनमें लगानेका प्रयत्न करते हैं। कितने ही दानमें, कितने ही यज्ञोंमें और कितने ही होममें द्रव्य लगानेका प्रयत्न किया करते हैं। ये सभी द्रव्ययज्ञ करनेवाले हैं।

कितने ही तप-यज्ञ करनेवाले हैं—कृच्छ्र-चान्द्रायण-उपवासादिमें निष्ठा करते हैं। दूसरे कई योग-यज्ञ करनेवाले हैं—पवित्र तीर्थोंमें-पवित्र स्थान प्राप्त करनेमें निष्ठा करते हैं। यहाँ कर्म-निष्ठाके भेदका प्रकरण होनेसे योग शब्द तीर्थप्राप्तिके सम्बन्धमें ही प्रयुक्त है।

कितने ही स्वाध्यायके अभ्यासमें लगे रहते हैं, कितने ही उसके अर्थ-ज्ञानके अभ्यासमें नियुक्त रहते हैं। ये सभी यती यत्नशील और शंसित-व्रती—दृढ़संकल्पवाले होते हैं ॥२८॥

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥२९॥

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥३०॥

अन्य कई नियताहारी प्राणायाम-परायण पुरुष प्राणका अपानमें, दूसरे अपानका प्राणमें और अन्य कई प्राण-अपानकी गतिको रोककर प्राणोंका प्राणोंमें हवन करते हैं। ये सभी यज्ञको जाननेवाले हैं और यज्ञोंद्वारा पापोंका नाश कर डालनेवाले हैं ॥२९-३०॥

अपरे **कर्मयोगिनः प्राणायामेषु निष्ठां कुर्वन्ति । ते च त्रिविधाः पूरकरेचककुम्भकभेदेन ।** अपाने जुह्वति प्राणम् **इति पूरकः,** प्राणे अपानम् **इति रेचकः,** प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणान् प्राणेषु जुह्वति **इति कुम्भकः । प्राणायामपरेषु त्रिषु अपि अनुषज्यते** नियताहारा **इति । द्रव्ययज्ञप्रभृति-प्राणायामपर्यन्तेषु कर्मयोगभेदेषु स्वसमीहितेषु प्रवृत्ता एते सर्वे** *'सहयज्ञैः प्रजाः सृष्ट्वा' (३।१०)* **इति अभिहितमहायज्ञपूर्वकनित्यनैमित्तिककर्मरूपयज्ञविदः, तन्निष्ठाः, तत एव क्षपितकल्मषाः ॥२९-३०॥**

अन्य कर्मयोगी प्राणायाममें निष्ठा करनेवाले होते हैं, वे पूरक, रेचक और कुम्भकके भेदसे तीन प्रकारके होते हैं। 'अपानमें प्राणका हवन करते हैं' यह पूरक है, 'प्राणमें अपानका हवन करते हैं' यह रेचक है और 'प्राण-अपानकी गतिको रोककर प्राणोंका प्राणोंमें हवन करते हैं' यह कुम्भक है। 'नियताहाराः' यह पद तीनों प्रकारके 'प्राणायामपरायण' पुरुषोंसे सम्बन्ध रखता है। द्रव्ययज्ञसे लेकर प्राणायामपर्यन्त, जो अपने द्वारा किये जानेवाले कर्मयोगके भेद हैं; उनमें लगे हुए ये सभी लोग पहले **'सहयज्ञैः प्रजाः सृष्ट्वा'** इस प्रकार बतलाये हुए महायज्ञसहित नित्य, नैमित्तिक कर्मरूप यज्ञको जाननेवाले हैं—उसमें निष्ठा रखनेवाले हैं और इसी कारण पापोंका नाश कर डालनेवाले हैं ॥२९-३०॥

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥३१॥

यज्ञसे बचे हुए अमृतको खानेवाले (कर्मयोगी) सनातन ब्रह्मको प्राप्त होते हैं । कुरुश्रेष्ठ अर्जुन ! यज्ञरहित पुरुषका यही लोक नहीं है, तब दूसरे (मोक्ष) की तो बात ही कहाँ ? ॥३१॥

यज्ञशिष्टा**मृतेन शरीरधारणं कुर्वन्त एव कर्मयोगे व्यापृताः** सनातनं **च** ब्रह्म यान्ति । अयज्ञस्य **महायज्ञादिपूर्वकनित्यनैमित्तिककर्मरहितस्य** न अयं लोकः **न प्राकृतलोकः प्राकृतलोकसम्बन्धिधर्मार्थकामाख्यः पुरुषार्थः न सिध्यति;** कुतः **इतः** अन्यः **मोक्षाख्यः पुरुषार्थः । परमपुरुषार्थतया मोक्षस्य प्रस्तुतत्वात् तदितरपुरुषार्थः 'अयं लोकः' इति निर्दिश्यते स हि प्राकृतः ॥३१॥**

जो यज्ञसे बचे हुए अमृतको खाकर शरीर धारण करते हैं, वे कर्मयोगमें लगे हुए पुरुष ही सनातन ब्रह्मको प्राप्त होते हैं । यज्ञरहित मनुष्यको—महायज्ञादिसहित नित्य-नैमित्तिक कर्म न करनेवालेको यह लोक—प्राकृत (साधारण) लोक भी नहीं मिलता—उसके प्राकृत लोकसे सम्बन्ध रखनेवाले धर्म, अर्थ और कामरूप पुरुषार्थ भी सिद्ध नहीं होते, फिर, इनसे भिन्न मोक्षरूप पुरुषार्थकी तो बात ही क्या है ? शास्त्रोंमें मोक्षको परम पुरुषार्थ बताकर उसकी स्तुति की जानेके कारण उससे अन्य पुरुषार्थोंका यहाँ 'अयं लोकः'के नामसे निर्देश किया गया है; क्योंकि वे प्राकृत हैं ॥ ३१ ॥

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥३२॥

इस तरह बहुत प्रकारके यज्ञ (कर्मयोग) ब्रह्मके मुखमें विस्तृत हैं, उन सबको कर्मजन्य जान, ऐसे जानकर तू मुक्त हो जायगा ॥ ३२ ॥

एवं हि **बहुप्रकाराः कर्मयोगाः** ब्रह्मणो मुखे वितताः, **आत्मयाथात्म्यावाप्तिसाधनतया स्थिताः** तान् **उक्तलक्षणानुक्तभेदान् कर्मयोगान्** सर्वान् कर्मजान् विद्धि। **अहरहः अनुष्ठीयमाननित्यनैमित्तिककर्मानुष्ठानजान्** विद्धि। एवं ज्ञात्वा **यथोक्तप्रकारेण अनुष्ठाय** विमोक्ष्यसे ॥३२॥

इस तरह बहुत प्रकारके कर्मयोग ब्रह्मके मुखमें विस्तृत हैं—आत्माके यथार्थ स्वरूपकी प्राप्तिके साधनरूपमें स्थित हैं। इस प्रकार जिनके लक्षणों और भेदोंका वर्णन किया गया है, उन समस्त कर्मयोगोंको तू कर्मजनित समझ—प्रतिदिन किये जानेवाले नित्य, नैमित्तिक कर्मानुष्ठानसे उत्पन्न जान। इस प्रकार जानकर और बतलाये हुए प्रकारसे उनका अनुष्ठान करके तू मुक्त हो जायगा ॥ ३२ ॥

अन्तर्गतज्ञानतया कर्मणो ज्ञानाकारत्वम् उक्तम्; तत्र अन्तर्गतज्ञाने कर्मणि ज्ञानांशस्य एव प्राधान्यम् आह—

कर्मोंके अन्तर्गत ज्ञान होनेके कारण कर्मोंको ज्ञानस्वरूप बतलाया गया है। अब यह कहते हैं कि जिनके अन्तर्गत ज्ञान है, उन कर्मोंमें ज्ञानके अंशकी ही प्रधानता है—

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥३३॥

परन्तप अर्जुन! द्रव्यमय यज्ञकी अपेक्षा ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है। पार्थ! सब कर्म पूर्णतया ज्ञानमें समाप्त होते हैं ॥३३॥

उभयाकारे कर्मणि द्रव्यमयाद् **अंशाद्** ज्ञानमयः **अंशः** श्रेयान्। **सर्वस्य कर्मणः तदितरस्य च अखिलस्य उपादेयस्य** ज्ञाने **परिसमाप्तेः**।

ज्ञान और द्रव्य इन दोनों आकारवाले कर्मोंमें द्रव्यमय अंशकी अपेक्षा ज्ञानमय अंश ही श्रेष्ठ है; क्योंकि समस्त कर्म और उससे अन्य जो कुछ भी उपादेय है, वह सब-का-सब ज्ञानमें समाप्त हो जाता है।

तद् एवं सर्वैः साधनैः प्राप्यभूतं ज्ञानं कर्मान्तर्गतत्वेन अभ्यस्यते। तद् एव हि अभ्यस्यमानं क्रमेण प्राप्यदशां प्रतिपद्यते ॥३३॥

इस प्रकार समस्त साधनोंसे प्राप्त होनेवाले उस ज्ञानको कर्मोंके अन्तर्गत मानकर जब उसका अभ्यास किया जाता है तब वह ज्ञान अभ्यास करते-करते क्रमशः प्राप्त होने योग्य दशामें आ जाता है ॥ ३३ ॥

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥३४॥

' उस ज्ञानको तू (तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंसे) सीख। वे तत्त्वदर्शी ज्ञानी दण्डवत्-प्रणाम करनेसे, (जिज्ञासुभावसे) प्रश्न करनेसे और सेवा करनेसे. तुझे उसका उपदेश करेंगे ॥३४॥

तद् आत्मविषयं ज्ञानम् *'अविनाशि तु तद् विद्धि'* (२।१७) **इति आरभ्य** *'एषा तेऽभिहिता'* (२।३९) **इत्यन्तेन मया उपदिष्टम् मदुक्तकर्मणि वर्तमानः त्वं विपाकानुगुणं काले प्रणिपातपरिप्रश्नसेवाभिः विशदाकारं ज्ञानिभ्यो** विद्धि।

साक्षात्कृतात्मस्वरूपाः तु ज्ञानिनः **प्रणिपातादिभिः सेविताः ज्ञानबुभुत्सया परितः पृच्छतः तव आशयम् आलक्ष्य** ज्ञानम् उपदेक्ष्यन्ति ॥ ३४ ॥

'अविनाशि तु तद् विद्धि' यहाँसे लेकर **'एषा तेऽभिहिता'** यहाँतक जिस ज्ञानका मेरे द्वारा उपदेश किया गया है, उस आत्मविषयक ज्ञानको तुझे, मेरे बतलाये हुए कर्मोंको करते-करते उस ज्ञानके परिपक्व होनेका योग्य समय आनेपर प्रणाम, प्रश्न और सेवा करके ज्ञानी पुरुषोंसे विस्तारपूर्वक जानना चाहिये।

वे आत्मस्वरूपका साक्षात्कार किये हुए ज्ञानीजन प्रणामादिके द्वारा सेवा की जानेपर, ज्ञानकी जिज्ञासासे भलीभाँति प्रश्न करते ही, तेरा आशय समझकर (तेरी सच्ची जिज्ञासा जानकर) तुझे ज्ञानका उपदेश करेंगे ॥ ३४ ॥

आत्मयाथात्म्यविषयसाक्षात्कार-रूपस्य लक्षणम् आह—

आत्माके यथार्थस्वरूपविषयक साक्षात्काररूप ज्ञानके लक्षण बतलाते हैं—

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥३५॥

जिस (ज्ञान) को जानकर अर्जुन ! तू फिर इस प्रकारके मोहको प्राप्त नहीं होगा। जिससे समस्त भूतप्राणियोंको (पहले) अपने आत्मामें और फिर मुझमें देखेगा ॥३५॥

यद् **ज्ञानं** ज्ञात्वा पुनः एवं **देहाद्यात्माभिमानरूपं तत्कृतं ममताद्यास्पदं च** मोहं न यास्यसि, येन **देवमनुष्याद्याकारेण अननुसंहितानि सर्वाणि** भूतानि **स्वात्मनि एव** द्रक्ष्यसि, **यतः तव अन्येषां च भूतानां प्रकृतिवियुक्तानां ज्ञानैकाकारतया साम्यम्। प्रकृतिसंसर्गदोषविनिर्मुक्तम् आत्मस्वरूपं सर्वं समम् इति च वक्ष्यते**—*'निर्दोषं हि समं ब्रह्म'* *(गीता ५। १९)* **इति।**

जिस ज्ञानको जान लेनेपर, फिर ऐसे शरीरादिमें आत्माभिमानरूप और उससे होनेवाले ममतादि दोषोंके स्थानरूप मोहको प्राप्त नहीं होगा, तथा जिससे देव, मनुष्यादिरूपमें पृथक्-पृथक् स्थित हुए सभी प्राणियोंको अपने आत्मामें ही देखेगा; क्योंकि प्रकृतिके संसर्गसे छूटे हुए अन्य जीवात्माओंकी और तेरी ज्ञानविषयक एकरूपता होनेके कारण (उनके साथ) समता है। प्रकृतिके संसर्गदोषसे छूटे हुए सभी आत्माओंका स्वरूप सम है, यह बात **'निर्दोषं हि समं ब्रह्म'** इस प्रकार (आगे) कहेंगे भी।

अथो मयि **सर्वाणि भूतानि** अशेषेण **द्रक्ष्यसि, मत्स्वरूपसाम्यात् च परिशुद्धस्य सर्वस्य आत्मवस्तुनः।** *'इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः'* *(गीता १४। २)* **इति हि वक्ष्यते**

फिर, तू सभी भूतप्राणियोंको अशेषरूपसे मुझमें देखेगा; क्योंकि परिशुद्ध समस्त आत्मवस्तुकी मेरे स्वरूपसे भी समता है। यह बात **'इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः'** इस श्लोकमें कही जायगी ही। तथा **'उस**

'तथा विद्वान् पुण्यपापे विधूय, निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' (मु० उ० ३।१।३) **इत्येवमादिषु नामरूपविनिर्मुक्तस्य आत्मवस्तुनः परं स्वरूपसाम्यम् अवगम्यते; अतः प्रकृतिविनिर्मुक्तं सर्वम् आत्मवस्तु परस्परं समं सर्वेश्वरेण च समम् ॥३५॥**

समय ज्ञानवान् पुरुष पुण्य-पापोंको धोकर निर्मल हो जानेपर परम पुरुषकी समता पा जाता है।' इत्यादि श्रुतिवाक्योंमें भी नामरूपसे सर्वथा मुक्त आत्मवस्तुकी परम पुरुषके स्वरूपके साथ समता पायी जाती है। अतएव यह सिद्ध होता है कि प्रकृतिसे मुक्त समस्त आत्मवस्तु परस्पर सम है; और सर्वेश्वर परम पुरुषके साथ भी उसका साम्य है ॥ ३५ ॥

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥ ३६ ॥

यदि तू सब पापियोंसे भी बढ़कर पाप करनेवाला है, तो भी इस ज्ञानकी नौकाके द्वारा समस्त पापोंको तर जायगा ॥ ३६ ॥

यदि अपि सर्वेभ्यः पापकृत्तमः असि सर्वं **पूर्वार्जितं** वृजिन**रूपं समुद्रम्** **आत्मविषय**ज्ञान**रूप**प्लवेन एव संतरिष्यसि ॥ ३६ ॥

यदि तू सब पापियोंसे अधिक पाप करनेवाला है तो भी समस्त पूर्वार्जित पापरूप समुद्रसे आत्मविषयक ज्ञानरूपी नौकाके द्वारा सर्वथा पार हो जायगा ॥ ३६ ॥

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ ३७ ॥

अर्जुन ! जैसे प्रज्वलित अग्नि इन्धनको भस्ममय कर देती है, वैसे ही ज्ञानाग्नि सारे कर्मोंको भस्ममय कर देती है ॥ ३७ ॥

सम्यक् प्रवृद्ध अग्निः **इन्धनसमुच्चयम् इव आत्मयाथात्म्यज्ञान-**

पूर्णरूपसे बढ़ी हुई अग्नि जैसे इन्धनके ढेरको भस्म कर देती है वैसे ही आत्माके यथार्थ स्वरूपविषयक ज्ञानरूप

रूपः अग्निः जीवात्मगतम् अनादिकालप्रवृत्तानेककर्मसञ्चयं भस्मीकरोति ॥ ३७ ॥

अग्नि जीवात्मामें स्थित अनादिकालसे प्रवृत्त अनेकों कर्मसञ्चयोंको भस्म कर देती है ॥३७॥

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥३८॥

निस्सन्देह इस जगत्में ज्ञानके समान पवित्र अन्य कुछ भी नहीं है । योगके द्वारा संसिद्ध होकर पुरुष समयपर उसे स्वयं आत्मामें ही पा लेता है ॥३८॥

यस्माद् आत्मज्ञानेन सदृशं पवित्रं शुद्धिकरम् इह जगति वस्त्वन्तरं न विद्यते, तस्मादात्मज्ञानं सर्वं पापं नाशयति इत्यर्थः । तत् तथाविधं ज्ञानं यथोपदेशमहरहरनुष्ठीयमानं ज्ञानाकारकर्मयोगेन संसिद्धः कालेन स्वात्मनि स्वयमेव लभते ॥ ३८ ॥

क्योंकि आत्मज्ञानके सदृश पवित्र शुद्ध करनेवाली जगत्में अन्य कोई वस्तु है ही नहीं । (आत्मज्ञानमें ऐसी सामर्थ्य है) इसलिये आत्मज्ञान समस्त पापोंका नाश कर देता है, यह अभिप्राय है । इस प्रकारके उस ज्ञानको साधक उपदेशानुसार प्रतिदिन अनुष्ठान किये जानेवाले ज्ञानाकार कर्मयोगके द्वारा संसिद्ध होकर समयपर अपने-आप ही अपने आत्मामें पा लेता है ॥३८॥

तद् एव स्पष्टम् आह—

उसी बातको स्पष्ट कहते हैं—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥ ३९ ॥

श्रद्धावान्, तत्पर एवं जितेन्द्रिय पुरुष ज्ञानको पाता है; और ज्ञानको पाकर (फिर) तुरंत ही परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है ॥ ३९ ॥

एवम् उपदेशाद् ज्ञानं लब्ध्वा च उपदिष्टज्ञानवृद्धौ श्रद्धावान् तत्परः

जो श्रद्धावान् पुरुष इस प्रकार उपदेशके द्वारा ज्ञानको पाकर, फिर उस उपदिष्ट ज्ञानकी वृद्धिके लिये तत्पर

तत्र एव नियमितमनाः तदितरविषयात् संयतेन्द्रियः **अचिरेण कालेन उक्तलक्षणविपाकदशापन्नं** ज्ञानं लभते । **तथाविधं** ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिम् अचिरेण अधिगच्छति **परं निर्वाणं प्राप्नोति** ॥ ३९ ॥

होता है,—उसमें मनको नियुक्त करता है, और उससे भिन्न अन्य विषयोंकी ओर इन्द्रियोंको नहीं जाने देता, वह शीघ्र ही पूर्वोक्त लक्षणोंसे युक्त विपाकदशाको प्राप्त हुए ज्ञानको पा जाता है । और इस प्रकारके ज्ञानको पाकर शीघ्र ही परम शान्तिको जा पहुँचता है—परम निर्वाणको प्राप्त हो जाता है ॥३९॥

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥ ४० ॥

अज्ञानी और अश्रद्धालु संशयात्मा मनुष्य नष्ट हो जाता है, (उस) संशयात्माके लिये न यह लोक है, न सुख है और न परलोक ही है ॥४०॥

अज्ञः **एवम् उपदेशलब्धज्ञानरहितः उपदिष्टज्ञानवृद्ध्युपाये** च अश्रद्दधानः **अत्वरमाणः उपदिष्टे च ज्ञाने** संशयात्मा **संशयितमना** विनश्यति, **नष्टो भवति । अस्मिन् उपदिष्टे आत्मयाथात्म्यविषये ज्ञाने** संशयात्मनः अयम् **अपि प्राकृत**लोको न अस्ति, न **च** परः, **धर्मार्थकामादिपुरुषार्थाः च न सिद्ध्यन्ति, कुतो मोक्ष इत्यर्थः** ।

अज्ञ—इस प्रकार उपदेशद्वारा प्राप्त ज्ञानसे रहित, तथा उपदिष्ट ज्ञानकी वृद्धिके उपायोंमें श्रद्धा न रखनेवाला—उनके अनुष्ठानमें शीघ्रता न करनेवाला और उपदिष्ट ज्ञानके प्रति संशयात्मा—संशययुक्त मनवाला मनुष्य नष्ट हो जाता है । इस आत्माके यथार्थ स्वरूपविषयक उपदिष्ट ज्ञानमें सन्देह रखनेवालेको न तो यह प्राकृत (साधारण) लोक मिलता है और न परलोक ही, भाव यह कि उसके धर्म, अर्थ और कामरूप पुरुषार्थ ही सिद्ध नहीं हो पाते, फिर मोक्षकी तो बात ही क्या है ?

शास्त्रीयकर्मसिद्धिरूपत्वात् सर्वेषां पुरुषार्थानां शास्त्रीयकर्मजन्यसिद्धेः च देहातिरिक्तात्मनिश्चयपूर्वकत्वात्; अतः सुखलवभागित्वम् आत्मनि संशयात्मनो न **संभवति** ॥ ४० ॥

क्योंकि समस्त पुरुषार्थ शास्त्रविहित कर्मोंसे सिद्ध होनेवाले हैं और शास्त्रीय कर्मजनित सिद्धि शरीरसे अतिरिक्त आत्मस्वरूपके निश्चयपूर्वक होती है; अतः आत्माके सम्बन्धमें संशययुक्त मनुष्य तनिकसे भी सुखका भागी नहीं हो सकता ॥ ४० ॥

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥ ४१ ॥

योगके द्वारा त्यागे हुए (ज्ञानाकार बनाये हुए) कर्मोंवाले, ज्ञानके द्वारा कटे हुए संशयोंवाले और आत्मवान् पुरुषको हे धनञ्जय ! कर्म नहीं बाँधते ॥ ४१ ॥

यथोपदिष्टयोगेन संन्यस्तकर्माणं **ज्ञानाकारतापन्नकर्माणं यथोपदिष्टेन च आत्मज्ञानेन आत्मनि** संछिन्नसंशयम् आत्मवन्तं **मनस्विनम् उपदिष्टार्थे दृढावस्थितमनसं बन्धहेतुभूतप्राचीनानन्त**कर्माणि न निबध्नन्ति ॥ ४१ ॥

इस प्रकार बतलाये हुए कर्मयोगके द्वारा जिसने कर्मोंका संन्यास कर दिया है—कर्मोंको ज्ञानस्वरूप बना लिया है तथा उपदिष्ट आत्मज्ञानके द्वारा जिसने आत्माके विषयमें अपने संशयको भलीभाँति काट डाला है, ऐसे आत्मवान्, मनस्वी पुरुषको—उपदिष्ट सिद्धान्तमें मनको दृढ़ताके साथ स्थिर रखनेवाले पुरुषको बन्धनके हेतुभूत प्राचीन अनन्त कर्म नहीं बाँधते ॥ ४१ ॥

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ ४२ ॥

इसलिये अज्ञानसे उत्पन्न हृदयमें स्थित इस संशयको आत्मज्ञानरूप खड्गके द्वारा काटकर हे भारत ! (तू) कर्मयोगमें लग जा और उठ खड़ा हो ॥४२॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानकर्मसंन्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

तस्माद् अनाद्यज्ञानसंभूतं हृत्स्थम् **आत्मविषयं** संशयं **मया उपदिष्टेन** **आत्मज्ञानासिना** छित्त्वा **मया उपदिष्टं** **कर्मयोगम्** आतिष्ठ **तदर्थम्** उत्तिष्ठ भारत **इति** ॥ ४२ ॥

इसलिये अनादि अज्ञानसे उत्पन्न और हृदयमें स्थित आत्मविषयक संशयको मेरे द्वारा उपदेश किये हुए आत्मज्ञानरूप तलवारसे काटकर मेरे द्वारा उपदिष्ट कर्मयोगमें स्थित हो और भारत ! उसके लिये (उठकर) खड़ा हो जा ॥ ४२ ॥

इति श्रीमद्भगवद्रामानुजाचार्यविरचिते श्रीमद्भगवद्गीताभाष्ये चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

इस प्रकार श्रीमान् भगवान् रामानुजाचार्यद्वारा रचित गीता-भाष्यके हिन्दी-भाषानुवादका चौथा अध्याय पूरा हुआ ॥४॥

ॐ

पाँचवाँ अध्याय

चतुर्थे अध्याये कर्मयोगस्य ज्ञानाकारतापूर्वकस्वरूपभेदो ज्ञानांशस्य च प्राधान्यम् उक्तम् । ज्ञानयोगाधिकारिणः अपि कर्मयोगस्य अन्तर्गतात्मज्ञानत्वाद् अप्रमादत्वात् सुकरत्वात् निरपेक्षत्वाद् ज्यायस्त्वं तृतीये एव उक्तम् । इदानीं कर्मयोगस्य आत्मप्राप्तिसाधनत्वे ज्ञाननिष्ठायाः शैघ्रयात् कर्मयोगान्तर्गताकर्तृत्वानुसन्धानप्रकारं च प्रतिपाद्य तन्मूलं ज्ञानं च परिशोध्यते—

चतुर्थ अध्यायमें कर्मयोगकी ज्ञानाकारता बतलाकर उसके स्वरूपभेद और ज्ञानांशकी प्रधानताका वर्णन किया गया । आत्मज्ञान कर्मयोगके अन्तर्गत ही है, कर्मयोगमें प्रमाद नहीं है, वह सुखसाध्य है और दूसरे साधनकी अपेक्षा नहीं रखता; इन सब कारणोंसे ज्ञानयोगके अधिकारीके लिये भी कर्मयोग श्रेष्ठ है, यह बात तो तीसरे अध्यायमें ही कह दी गयी थी । अब इस पाँचवें अध्यायमें आत्माकी प्राप्ति करानेमें ज्ञाननिष्ठाकी अपेक्षा कर्मयोगकी शीघ्रताजनित श्रेष्ठताका और कर्मयोगके अन्तर्गत आत्माके अकर्तापनको समझनेकी रीतिका प्रतिपादन करते हुए उसके मूल कारण ज्ञानका भी स्पष्टीकरण करते हैं——

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ १ ॥

अर्जुन बोला—श्रीकृष्ण ! आप (कभी) कर्मोंके संन्यास (ज्ञानयोग) की और फिर कर्मयोगकी प्रशंसा करते हैं, इन दोनोंमें जो एक सुनिश्चित श्रेष्ठ हो, वह मुझसे कहिये ॥ १ ॥

कर्मणां संन्यासं **ज्ञानयोगं** पुनः कर्मयोगं च शंससि । **एतद् उक्तं**

आप पहले तो कर्मोंका संन्यास——ज्ञानयोग और फिर कर्मयोग भी बतलाते हैं । यहाँ अर्जुनका कहना यह है

भवति द्वितीये अध्याये 'मुमुक्षोः प्रथमं कर्मयोग एव कार्यः, कर्मयोगेन मृदितान्तःकरणकषायस्य ज्ञानयोगेन आत्मदर्शनं कार्यम्' इति प्रतिपाद्य, पुनः तृतीयचतुर्थयोः 'ज्ञानयोगाधिकारदशाम् आपन्नस्य अपि कर्मनिष्ठा एव ज्यायसी; सा एव ज्ञाननिष्ठानिरपेक्षा आत्मप्राप्त्येकसाधनम्' इति कर्मनिष्ठां प्रशंससि; इति। तत्र एतयोः ज्ञानयोगकर्मयोगयोः आत्मप्राप्तिसाधनभावे यद् एकं सौकर्यात् शैघ्र्यात् च श्रेयः श्रेष्ठम् इति सुनिश्चितम् तत् मे ब्रूहि ॥ १ ॥

कि 'पहले मुमुक्षुको कर्मयोग ही करना चाहिये। उसके बाद जब कर्मयोगके आचरणसे अन्तःकरणके दोष नष्ट हो जायँ, तब ज्ञानयोगके द्वारा आत्म-साक्षात्कार करना चाहिये।' इस बातका दूसरे अध्यायमें प्रतिपादन करके फिर तीसरे और चौथे अध्यायमें आप इस प्रकार कर्मनिष्ठाकी प्रशंसा करते हैं कि 'ज्ञानयोगकी अधिकारदशाको प्राप्त पुरुषके लिये भी कर्मनिष्ठा ही श्रेष्ठ है; क्योंकि वह ज्ञाननिष्ठाकी कोई अपेक्षा न रखकर अकेली ही आत्म-प्राप्तिकी साधिका है' अतः ज्ञानयोग और कर्मयोग—इन दोनोंमेंसे जो एक साधन आत्माकी प्राप्तिका साधक होनेमें सुखसाध्यता और शीघ्रताकी दृष्टिसे श्रेष्ठ हो—निश्चितरूपसे उत्तम हो, वह मुझे बतलाइये ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥ २ ॥

श्रीभगवान् बोले—संन्यास (ज्ञानयोग) और कर्मयोग दोनों कल्याण करनेवाले हैं; परन्तु उन दोनोंमें कर्मसंन्यासकी अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ है ॥ २ ॥

संन्यासः ज्ञानयोगः, कर्मयोगः च ज्ञानयोगशक्तस्य अपि उभौ निरपेक्षौ

ज्ञानयोगमें समर्थ पुरुषके लिये भी संन्यास—ज्ञानयोग और कर्मयोग दोनों ही एक दूसरेकी अपेक्षा न रखते हुए

निःश्रेयसकरौ । तयोः तु कर्मसंन्यासाद् **ज्ञानयोगात्** कर्मयोगः **एव** विशिष्यते ॥ २ ॥

कल्याण करनेवाले हैं । तथापि उनमें कर्मसंन्यास—ज्ञानयोगकी अपेक्षा कर्मयोग ही श्रेष्ठ है ॥ २ ॥

कुत इत्यत आह—

ऐसा क्यों है ? इसपर कहते हैं—

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

महाबाहु अर्जुन ! जो न द्वेष करता है और न आकांक्षा करता है, वह नित्य संन्यासी ही समझा जाना चाहिये; क्योंकि द्वन्द्वसे रहित पुरुष सुखपूर्वक बन्धनसे छूट जाता है ॥ ३ ॥

यः **कर्मयोगी तदन्तर्गतात्मानुभवतृप्तः तद्व्यतिरिक्तं किमपि** न काङ्क्षति, **तत एव किमपि** न द्वेष्टि, **तत एव द्वन्द्वसहः च;** स नित्यसंन्यासी **नित्यज्ञाननिष्ठ इति** ज्ञेयः **। स हि सुकरकर्मयोगनिष्ठतया** सुखं बन्धात् प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

जो कर्मयोगी उस कर्मयोगके अन्तर्गत रहनेवाले आत्मानुभवसे तृप्त है और उससे अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तुकी आकाङ्क्षा नहीं करता, इसी कारण किसीसे द्वेष नहीं करता, तथा इसी कारण द्वन्द्वों (शीत-उष्ण, सुख-दुःखादि) को सहन करनेमें समर्थ है, वह नित्य संन्यासी है—नित्य ज्ञाननिष्ठ है, ऐसा ही जानना चाहिये । क्योंकि सुखसाध्य कर्मयोगमें स्थित होनेके कारण वह बड़ी आसानीके साथ बन्धनसे छूट जाता है ॥ ३ ॥

ज्ञानयोगकर्मयोगयोः आत्मप्राप्तिसाधनभावे अन्योन्यनैरपेक्ष्यम् आह—

ज्ञानयोग और कमयोग आत्मप्राप्तिके सम्पादनमें एक-दूसरेकी अपेक्षा नहीं रखते, यह कहते हैं—

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ ४ ॥

जो सांख्य (ज्ञानयोग) और योग (कर्मयोग) को (फलका भेद बताकर) पृथक्-पृथक् बतलाते हैं, वे बालक हैं, पण्डित नहीं । (वस्तुतः) एकमें भी पूरी तरहसे स्थित पुरुष दोनोंके फलको पा लेता है ॥ ४ ॥

ज्ञानयोगकर्मयोगौ फलभेदात् पृथग्भूतौ ये प्रवदन्ति ते बालाः अनिष्पन्नज्ञानाः; न पण्डिताः, न तु कृत्स्नविदः । कर्मयोगो ज्ञानयोगम् एव साधयति, ज्ञानयोगस्तु एक आत्मावलोकनं साधयति इति तयोः फलभेदेन पृथक्त्वं वदन्तो न पण्डिता इत्यर्थः ।

उभयोः आत्मावलोकनैकफलयोः एकफलत्वेन एकम् अपि आस्थितः तद् एव फलं लभते ॥ ४ ॥

ज्ञानयोग और कर्मयोगको जो फलभेदसे पृथक्-पृथक् बतलाते हैं, वे बालक हैं—ज्ञान-शून्य हैं, पण्डित नहीं हैं—सब कुछ जाननेवाले नहीं हैं । अभिप्राय यह कि 'कर्मयोग तो केवल ज्ञानयोगको प्राप्त कराता है, आत्माका साक्षात्कार तो केवल ज्ञानयोग ही कराता है, इस प्रकार फलभेदसे जो दोनोंको पृथक्-पृथक् बतलाते हैं, वे पण्डित नहीं हैं ।

एकमात्र आत्मसाक्षात्कार ही जिनका फल है, ऐसे इन दोनों साधनोंमेंसे, दोनोंका एक फल समझते हुए किसी एकमें भी स्थित मनुष्य उसी फलको पा लेता है ॥ ४ ॥

एतद् एव विवृणोति—

इसीको स्पष्ट करते हैं—

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ ५ ॥

सांख्ययोगियोंके द्वारा जो स्थान प्राप्त किया जाता है, कर्मयोगियोंके द्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है । (इस प्रकार) सांख्य और योगको जो एक देखता है, वही (यथार्थ) देखता है ॥ ५ ॥

सांख्यैः **ज्ञाननिष्ठैः** यद् **आत्माव-लोकनरूपफलं** प्राप्यते, तद् **एव कर्म-योगनिष्ठैः** अपि **प्राप्यते । एवम् एक-फलत्वेन** एकं **वैकल्पिकं** सांख्यं योगं च यः पश्यति, स पश्यति, **स एव पण्डित इत्यर्थः** ॥ ५ ॥

सांख्ययोगियोंको—ज्ञाननिष्ठावालोंको जो आत्मसाक्षात्काररूप फल मिलता है, वही कर्मयोगनिष्ठावालोंको भी मिलता है । इस प्रकार दोनोंका एक फल होनेके कारण जो सांख्य और योग-को एक अर्थात् वैकल्पिक देखता है, वही (यथार्थ) देखता है—वही पण्डित है ॥५॥

इयान् विशेष इत्याह—

इनमें इतनी विशेषता है, यह बतलाते हैं—

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ॥ ६ ॥

परन्तु अर्जुन ! कर्मयोगके बिना संन्यासका पाना कठिन है और कर्मयोगयुक्त मुनि ब्रह्मको शीघ्र प्राप्त हो जाता है ॥ ६ ॥

संन्यासः **ज्ञानयोगः** तु अयोगतः **कर्मयोगाद् ऋते प्राप्तुम् अशक्यः ।** योगयुक्तः **कर्मयोगयुक्तः स्वयम् एव** मुनिः **आत्ममननशीलः सुखेन कर्म-योगं साधयित्वा** न चिरेण **एव अल्प-कालेन एव** ब्रह्म अधिगच्छति, **आत्मानं प्राप्नोति । ज्ञानयोगयुक्तः तु महता दुःखेन ज्ञानयोगं साधयति; दुःख-साध्यत्वाद् दुःखप्राप्यत्वाद् आत्मानं चिरेण प्राप्नोति इत्यर्थः** ॥ ६ ॥

संन्यास—ज्ञानयोग तो योग—कर्म-योगके बिना प्राप्त नहीं हो सकता, परन्तु योगयुक्त—कर्मयोगमें लगा हुआ मुनि—आत्ममननशील पुरुष स्वयं ही आसानीके साथ कर्मयोगका सम्पादन करके अविलम्ब—अल्प समयमें ही ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है—आत्माको प्राप्त कर लेता है । ज्ञानयोगमें लगा हुआ पुरुष बड़ी कठिनतासे ज्ञानयोगका सम्पादन कर पाता है । इस प्रकार ज्ञानयोग कष्टसाध्य होनेके कारण और कठिनतासे ही प्राप्त होनेवाला होनेके कारण (उसके द्वारा) साधक बहुत समयके बाद आत्माको प्राप्त होता है।६।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ७ ॥

कर्मयोगसे युक्त विशुद्धात्मा, मनपर विजय पाया हुआ, इन्द्रियविजयी, समस्त भूतप्राणियोंके आत्माको अपना आत्मा समझनेवाला पुरुष (परमपुरुषकी आराधनारूप विशुद्ध) कर्म करता हुआ भी लिप्त नहीं होता ॥ ७ ॥

कर्मयोगयुक्तः **तु शास्त्रीये परमपुरुषाराधनरूपे विशुद्धे कर्मणि वर्तमानः, तेन विशुद्धमनाः** विजितात्मा **स्वाभ्यस्ते कर्मणि व्याप्तमनस्त्वेन सुखेन विजितमनाः तत एव** जितेन्द्रियः; **कर्तुः आत्मनो याथात्म्यानुसन्धाननिष्ठतया** सर्वभूतात्मभूतात्मा ।

सर्वेषां देवादिभूतानाम् आत्मभूत आत्मा यस्य असौ सर्वभूतात्मभूतात्मा; आत्मयाथात्म्यम् अनुसन्दधानस्य हि देवादीनां स्वस्य च एकाकार आत्मा; देवादिभेदानां प्रकृतिपरिणामविशेषरूपतया आत्माकारत्वासंभवात् ।

प्रकृतिवियुक्तः सर्वत्र देवादिदेहेषु ज्ञानैकाकारतया समानाकार

कर्मयोगयुक्त साधक परम पुरुषकी आराधनारूप शास्त्रीय विशुद्ध कर्मोंमें लगा रहता है, इससे जिसका मन विशुद्ध हो गया है, जो मनपर विजय पा चुका है—अपने अभ्यस्त कर्मोंमें हृदयसे लगा रहनेके कारण जिसका मन आसानीके साथ जीता हुआ है, इसी कारण जो इन्द्रियविजयी है और कर्ता आत्माके यथार्थ स्वरूपज्ञानमें परिनिष्ठित होनेके कारण जो 'सर्वभूतात्मभूतात्मा' है,

जिसका आत्मा देवादि समस्त भूतप्राणियोंका आत्मरूप हो गया है, वही 'सर्वभूतात्मभूतात्मा' है; क्योंकि जो आत्माके यथार्थ स्वरूपका अनुभव करनेवाला है, उसीका अपना और देवादि भूतप्राणियोंका आत्मा एकाकार होता है; देवादिके भेद (शरीरादि) तो प्रकृतिके परिणामविशेष हैं अतः उनकी आत्माकारता सम्भव नहीं है ।

प्रकृतिके संसर्गसे रहित आत्मा देवादि समस्त शरीरोंमें ज्ञानकी एकाकारताके कारण समान है; यह बात '**निर्दोषं**

इति *'निर्दोषं हि समं ब्रह्म'* (*गीता* ५ । १९) इति अनन्तरमेव वक्ष्यते । स एवंभूतः कर्म कुर्वन् अपि अनात्मनि आत्माभिमानेन न लिप्यते न संबध्यते; अतः अचिरेण आत्मानम् आप्नोति इत्यर्थः ॥ ७ ॥

हि समं ब्रह्म' इस प्रकार इसी अध्यायमें कहेंगे । ऐसा वह कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी अनात्मवस्तुमें आत्माभिमान करके उनसे लिप्त नहीं होता—उनसे कभी बँधता नहीं; इसलिये वह शीघ्र ही आत्माको पा जाता है; यह अभिप्राय है ॥ ७ ॥

यतः सौकर्यात् शैघ्र्याच्च कर्मयोग एव श्रेयान्, अतः तदपेक्षितं शृणु—

क्योंकि सुखसाध्यता और शीघ्रताकी दृष्टिसे कर्मयोग ही श्रेष्ठ है । अतः उसके लिये किस बातकी अपेक्षा है सो सुन—

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥ ८ ॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥ ९ ॥

तत्त्वको जाननेवाला पुरुष देखता, सुनता, स्पर्श करता, सूँघता, खाता, चलता, सोता, श्वास लेता, बोलता, त्यागता, ग्रहण करता, (आँखें) खोलता और मींचता हुआ भी यह निश्चय करके कि 'इन्द्रियाँ ही इन्द्रियोंके विषयोंमें बर्त रही हैं' ऐसा समझे कि 'मैं कुछ भी नहीं करता हूँ' ॥ ८-९ ॥

एवम् आत्मतत्त्ववित् श्रोत्रादीनि ज्ञानेन्द्रियाणि वागादीनि कर्मेन्द्रियाणि प्राणाः च स्वस्य विषयेषु वर्तन्ते इति धारयन् अनुसन्दधानो न अहं किंचित् करोमि इति मन्येत । ज्ञानैकस्वभावस्य मम कर्ममूलेन्द्रियप्राणसम्बन्धकृतम् ईदृशं कर्तृत्वम्, न

इस प्रकार आत्मतत्त्वको जाननेवाला पुरुष श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियाँ, वागादि कर्मेन्द्रियाँ और प्राण—ये सभी अपने-अपने विषयोंमें बर्तते हैं, ऐसी धारणा—निश्चय करके यह माने कि मैं कुछ भी नहीं करता अर्थात् यह समझे कि मुझ ज्ञानस्वरूपका यह कर्तापन कर्मके हेतुभूत इन्द्रिय और प्राणोंके सम्बन्धसे किया

स्वरूपप्रयुक्तम्, इति मन्येत इत्यर्थः ॥ ८-९ ॥

हुआ है, स्वरूपतः प्रयुक्त (स्वाभाविक) नहीं है ॥ ८-९ ॥

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥१०॥

जो मनुष्य कर्मोंको ब्रह्म (प्रकृति) में छोड़कर और आसक्तिको त्याग कर (कर्म) करता है, वह पापसे वैसे ही लिप्त नहीं होता, जैसे जलसे कमलका पत्ता ॥ १० ॥

ब्रह्मशब्देन प्रकृतिः इह उच्यते, *'मम योनिर्महद्ब्रह्म' (गीता १४ । ३)* **इति हि वक्ष्यते । इन्द्रियाणां प्रकृतिपरिणामविशेषरूपत्वेन इन्द्रियाकारेण अवस्थितायां प्रकृतौ 'पश्यन् शृण्वन्' इत्यादिना उक्तप्रकारेण** कर्माणि आधाय **फलसङ्गं** त्यक्त्वा **'नैव किंचित् करोमि' इति** यः **कर्माणि** करोति, स **प्रकृतिसंसृष्टतया वर्तमानः अपि प्रकृत्यात्माभिमानरूपेण सम्बन्धहेतुना** पापेन न लिप्यते, पद्मपत्रमिवाम्भसा—**यथा पद्मपत्रम् अम्भसा संसृष्टम् अपि न लिप्यते, तथा न लिप्यते इत्यर्थः** ॥ १० ॥

इस श्लोकमें 'ब्रह्म' शब्दसे प्रकृतिका वर्णन है । क्योंकि आगे भी **'मम योनिर्महद्ब्रह्म'** इस प्रकार ब्रह्मके नामसे प्रकृतिको कहेंगे । इन्द्रियाँ प्रकृतिके ही परिणामविशेष हैं, इसलिये इन्द्रियाकारमें स्थित प्रकृतिमें 'पश्यन् शृण्वन्' इत्यादि श्लोकोंद्वारा बतलायी हुई रीतिसे कर्मोंको स्थापित कर (उन्हें प्रकृतिके द्वारा किया हुआ मानकर) और फलासक्तिका त्याग करके 'मैं कुछ भी नहीं करता' इस भावसे जो कर्म करता है, वह प्रकृतिसे संसर्गयुक्त होकर कर्म करता हुआ भी प्रकृतिमें आत्माभिमानरूप बन्धनके हेतुभूत पापसे वैसे ही लिप्त नहीं होता, जैसे जलसे कमलका पत्र । अभिप्राय यह कि जैसे कमलका पत्र जलके संसर्गसे युक्त रहनेपर भी उससे लिप्त नहीं होता, वैसे ही वह भी लिप्त नहीं होता ॥१०॥

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥ ११॥

योगीलोग आसक्तिको त्याग कर आत्मशुद्धिके लिये ही शरीर, मन, बुद्धि और केवल इन्द्रियोंसे भी कर्म करते हैं ॥ ११ ॥

कायमनोबुद्धीन्द्रियसाध्यं कर्म **स्वर्गादिफलसङ्गं** त्यक्त्वा योगिनः आत्मविशुद्धये कुर्वन्ति, **आत्मगतप्राचीनकर्मबन्धनविनाशाय कुर्वन्ति इत्यर्थः** ॥ ११ ॥

योगीलोग शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियोंसे किये जानेवाले कर्म स्वर्गादि फलासक्तिको त्यागकर (केवल) आत्मशुद्धिके लिये करते हैं; भाव यह कि आत्मामें स्थित प्राचीन कर्म-बन्धनका विनाश करनेके लिये करते हैं ॥११॥

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥ १२॥

युक्त पुरुष कर्मफलको त्याग कर नैष्ठिकी शान्तिको प्राप्त होता है और अयुक्त पुरुष कामनाके द्वारा फलमें आसक्त होकर बँध जाता है ॥१२॥

युक्तः **आत्मव्यतिरिक्तफलेषु अचपलः आत्मैकप्रवणः** कर्मफलं त्यक्त्वा **केवलात्मशुद्धये कर्मानुष्ठाय** नैष्ठिकीं शान्तिम् आप्नोति; **स्थिराम् आत्मानुभवरूपां निर्वृतिम् आप्नोति** । अयुक्तः **आत्मव्यतिरिक्तफलेषु चपलः आत्मावलोकनविमुखः** कामकारेण फले सक्तः **कर्माणि कुर्वन् नित्यं**

युक्त पुरुष—आत्मासे अतिरिक्त अन्य फलोंके लिये चञ्चल न होनेवाला, एक आत्मामें ही लगा हुआ पुरुष कर्मफलका त्याग करके केवल आत्मशुद्धिके लिये कर्मोंका अनुष्ठान करके नैष्ठिकी शान्तिको पाता है—आत्मानुभवरूप स्थिर तृप्तिको प्राप्त होता है । परन्तु अयुक्त मनुष्य—आत्मासे अतिरिक्त अन्य फलोंके लिये चञ्चल रहनेवाला आत्मसाक्षात्कारसे विमुख मनुष्य कामनावश फलमें आसक्त होकर कर्म करता

कर्मभिः बध्यते **नित्यसंसारी भवति। अतः फलसङ्गरहित इन्द्रियाकारेण परिणतायां प्रकृतौ कर्माणि संन्यस्य आत्मनो बन्धमोचनाय एव कर्माणि कुर्वीत इति उक्तं भवति ॥ १२ ॥**

हुआ सदा कर्मोंसे बँधता है—नित्य संसारी (जन्म-मरणशील) बना रहता है। इसलिये यहाँ यह कहा गया है कि साधकको फलासक्तिसे रहित होकर इन्द्रियाकारमें परिणत प्रकृतिमें ही कर्मोंका निक्षेप करके केवल आत्माका बन्धन काटनेके लिये ही कर्म करना चाहिये ॥१२॥

अथ देहाकारपरिणतायां प्रकृतौ कर्तृत्वसंन्यास उच्यते—

अब देहाकारमें परिणत प्रकृतिमें कर्तापनके निक्षेपका वर्णन करते हैं—

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥१३॥

अपनेको वशमें रखनेवाला देही मनके द्वारा सब कर्मोंको नव द्वारवाले शरीरमें छोड़कर स्वयं न (कुछ) करता हुआ, न कराता हुआ सुखपूर्वक रहता है ॥१३॥

'आत्मनः प्राचीनकर्ममूलदेहसम्बन्धप्रयुक्तम् इदं कर्मणां कर्तृत्वं न स्वरूपप्रयुक्तम्' इति विवेकविषयेण मनसा **सर्वाणि** कर्माणि नवद्वारे पुरे संन्यस्य वशी देही **स्वयं देहाधिष्ठानप्रयत्नम् अकुर्वन् देहेन** न एव कारयन् सुखम् आस्ते ॥१३॥

'आत्मामें यह कर्मोंका कर्तापन प्राचीन कर्ममूलक देहसम्बन्धसे ही प्रयुक्त है, स्वरूपतः नहीं है' इस प्रकार विवेकयुक्त मनसे सब कर्मोंको नौ द्वारवाले (शरीररूप) पुरमें निक्षेप करके वह वशी देही (सर्वप्रकारसे अपनेको वशमें रखनेवाला साधक) देहाधिष्ठानद्वारा किये जानेवाले प्रयत्नको न तो स्वयं करता है और न शरीरसे ही कराता है (अपनेको करने-करानेवाला न मानकर) सुखसे रहता है ॥१३॥

साक्षाद् आत्मनः स्वाभाविकरूपम् आह—

आत्माके साक्षात् स्वाभाविक रूपका वर्णन करते हैं—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥१४॥

न तो भूतप्राणियोंके कर्तापनको, न कर्मोंको और न कर्मफलके संयोगको ही प्रभु (आत्मा) रचता है; किन्तु (इन सबमें) स्वभाव ही प्रवृत्त होता है ॥१४॥

अस्य देवतिर्यङ्मनुष्यस्थावरात्मना प्रकृतिसंसर्गेण वर्तमानस्य लोकस्य **देवाद्यसाधारणं** कर्तृत्वं **तत्तदसाधारणानि** कर्माणि **तत्तत्कर्मजन्यदेवादि**फलसंयोगं **च अयं** प्रभुः **अकर्मवश्यः स्वाभाविकस्वरूपेण अवस्थित आत्मा** न सृजति, **नोत्पादयति ।**

कः तर्हि ? स्वभावः तु प्रवर्तते, **स्वभावः प्रकृतिवासना; अनादिकालप्रवृत्तपूर्वपूर्वकर्मजनितदेवाद्याकारप्रकृतिसंसर्गकृततत्तदात्माभिमानजनितवासनाकृतम् ईदृशं कर्तृत्वादिकं सर्वम्, न स्वरूपप्रयुक्तम् इत्यर्थः ॥ १४ ॥**

प्रकृतिके संसर्गसे देव, तिर्यक्, मनुष्य और स्थावरादिके रूपमें वर्तमान इस लोकका जो देवादि शरीरोंसे सम्बद्ध विशिष्ट कर्तृत्व है, उस-उससे सम्बन्ध रखनेवाले जो विशिष्ट कर्म हैं तथा उन-उन कर्मोंसे होनेवाले देवादि शरीरोंकी प्राप्तिरूप जो फलसंयोग हैं, उनको यह प्रभु—कर्मोंके वशमें न होनेवाला अपने स्वाभाविकरूपमें स्थित आत्मा नहीं रचता—नहीं उत्पन्न करता ।

तो फिर कौन रचता है ? स्वभाव ही प्रवृत्त होता है । यहाँ प्रकृति-सम्बन्धी वासनाका नाम स्वभाव है । अभिप्राय यह है कि अनादि कालसे प्रवृत्त पूर्व-पूर्वकर्मजनित देवादि शरीरोंके आकारमें परिणत प्रकृतिके संसर्गसे उन-उन शरीरोंमें होनेवाला जो आत्माभिमान है, उससे वासना उत्पन्न होती है और उसी वासनाके द्वारा किये हुए इस प्रकारके ये सब कर्तृत्वादि भाव हैं । ये आत्मामें स्वरूपतः प्रयुक्त (स्वाभाविक) नहीं हैं ॥१४॥

नादत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥१५॥

यह विभु न तो किसीके पापको ग्रहण करता है और न किसीके पुण्यको ही । अज्ञानसे ज्ञान ढका हुआ है, उसीसे जीव मोहित हो रहे हैं ॥१५॥

कस्यचित् **स्वसम्बन्धितया अभिमतस्य पुत्रादेः** पापं **दुःखं** न आदत्ते, **न अपनुदति, कस्यचित् प्रतिकूलतया अभिमतस्य** सुकृतं **सुखं** च न **आदत्ते न अपनुदति । यतः अयं** विभुः, **न क्वाचित्कः, न देवादिदेहाद्यसाधारणदेशः, अत एव न कस्यचित् सम्बन्धी, न कस्यचित् प्रतिकूलः च । सर्वम् इदं वासनाकृतम् ।**

एवंस्वभावस्य कथम् इयं विपरीतवासना उत्पद्यते ? अज्ञानेन आवृतं ज्ञानम्, **ज्ञानविरोधिना पूर्वपूर्वकर्मणा स्वफलानुभवयोग्यत्वाय अस्य ज्ञानम् आवृतं संकुचितम्,** तेन **ज्ञानावरणरूपेण कर्मणा देवादिदेहसंयोगः तत्तदात्माभिमानरूपमोहः च जायते । ततः च तथाविधात्मा-**

(यह आत्मा) किसी भी अपने सम्बन्धियोंके रूपमें माने हुए पुत्रादिके पापको--दुःखको ग्रहण नहीं करता—दूर नहीं करता है और न किसी भी प्रतिकूल रूपमें माने हुए (विरोधी पुरुष)के सुकृत---सुखको ही ग्रहण करता —दूर करता है । क्योंकि यह विभु है, किसी एक ही देशसे सम्बन्ध रखनेवाला नहीं है, देवादिके शरीररूप किसी एक विशेष स्थानमें रहनेवाला नहीं है; इसीलिये वह न किसीका सम्बन्धी है और न किसीका विरोधी । ये सब (अनुकूल-प्रतिकूल) भाव वासनाके ही रचे हुए हैं ।

इस प्रकारके स्वभाववाले आत्मामें यह विपरीत वासना कैसे उत्पन्न हो जाती है ? (इसपर कहते हैं—)अज्ञानसे ज्ञान ढका हुआ है—ज्ञानके विरोधी पूर्व-पूर्व कर्मोंके द्वारा अपने फलोंका अनुभव करानेकी योग्यता सम्पादन करनेके लिये इसके ज्ञानको आवृत—संकुचित कर दिया गया है । उस ज्ञानावरणरूप कर्मसे इसका देवादि शरीरोंसे संयोग और उन-उनमें आत्माभिमानरूप मोह भी हो जाता है । उससे फिर

भिमानवासना तदुचितकर्मवासना च। वासनातो विपरीतात्माभिमानः, कर्मारम्भश्च उपपद्यते ॥ १५ ॥

वैसे ही आत्माभिमानरूप वासना और उसीके अनुरूप कर्मोंकी वासना उत्पन्न होती है। उस वासनासे विपरीत आत्माभिमान और कर्मोंका आरम्भ होता रहता है ॥ १५ ॥

'सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि'(गीता ४ । ३६) 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा' (गीता ४ । ३७) 'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रम्' (गीता ४ । ३८) इति पूर्वोक्तं स्वकाले संगमयति—

'ज्ञानरूपी नौकाके द्वारा सब पापोंसे तर जायगा' 'वैसे ही ज्ञानाग्नि समस्त कर्मोंको भस्म कर देती है' 'ज्ञानके समान पवित्र (कुछ भी) नहीं है।' इत्यादि रूपसे पहले कहे हुए वचनोंकी इस समय अनुकूल प्रकरण आनेपर संगति उपस्थित करते हैं—

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥ १६ ॥

परन्तु जिनका वह अज्ञान आत्माके ज्ञानसे नष्ट कर दिया गया है, उनका वह स्वाभाविक परम ज्ञान सूर्यके समान (सब वस्तुओंको) प्रकाशित कर देता है। १६।

एवं वर्तमानेषु सर्वात्मसु येषाम् आत्मनाम् उक्तलक्षणेन आत्मयाथात्म्योपदेशजनितेन आत्मविषयेण अहरहः अभ्यासाधेयातिशयेन निरतिशयपवित्रेण ज्ञानेन तदज्ञानावरणम् अनादिकालप्रवृत्तानन्तकर्मसंशयरूपाज्ञानं नाशितं तेषां तत् स्वाभाविकं परं ज्ञानम् अपरिमितम् असंकुचितम् आदित्यवत् सर्वं यथा-

उपर्युक्त स्थितिवाले समस्त जीवात्माओंमेंसे जिन-जिन जीवोंका वह ज्ञानको ढकनेवाला अनादि कालसे प्रवृत्त अनन्त कर्मजनित संशयरूप अज्ञान पूर्वोक्त आत्माके यथार्थ स्वरूपके उपदेशसे उत्पन्न, प्रतिदिनके विशेष अभ्यासके कारण वृद्धिको प्राप्त, आत्मविषयक अत्यन्त पवित्र ज्ञानके द्वारा नष्ट कर दिया गया है, उनका वह अपरिमित—असंकुचित स्वाभाविक परम

वस्थितं प्रकाशयति। **तेषाम् इति विनष्टाज्ञानानां बहुत्वाभिधानाद् आत्मस्वरूपबहुत्वम्**—*'न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे'(गीता २। १२)* **इति उपक्रमावगतम् अत्र स्पष्टतरम् उक्तम्।**

न च इदं बहुत्वम् उपाधिकृतं विनष्टाज्ञानानाम् उपाधिगन्धाभावात्। 'तेषाम् आदित्यवज्ज्ञानम्' इति व्यतिरेकनिर्देशात् ज्ञानस्य स्वरूपानुबन्धित्वम् उक्तम् आदित्यदृष्टान्तेन च ज्ञातृज्ञानयोः प्रभाप्रभावतोः इव अवस्थानं च। तत एव संसारदशायां ज्ञानस्य कर्मणा संकोचः मोक्षदशायां विकासः च उपपन्नः॥ १६॥

ज्ञान सूर्यके सदृश समस्त वस्तुओंको यथावत्‌रूपमें प्रकाशित कर देता है। यहाँ जिनका अज्ञान नष्ट हो चुका है, ऐसे पुरुषोंके लिये 'तेषाम्' इस बहुवचनका प्रयोग होनेसे जीवात्माके स्वरूपकी अनेकता (सिद्ध होती है।) जो पहले **'न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे'** इस उपक्रमसे जनायी गयी थी, उसीको यहाँ और भी स्पष्ट रूपमें कहा गया है।

यह बहुसंख्यकता उपाधिकृत नहीं मानी जा सकती; क्योंकि जिनका अज्ञान नष्ट हो चुका है, उनमें उपाधिकी गन्ध भी नहीं रहती। 'तेषामादित्यवज्ज्ञानम्' इस कथनसे उनका औरोंसे पार्थक्य सूचित करके ज्ञानको आत्मस्वरूपसे सम्बन्ध रखनेवाला बतलाया गया। तथा सूर्यके दृष्टान्तसे ज्ञाता और ज्ञानकी स्थिति भी प्रभा और प्रभावान्‌के सदृश बतलायी गयी है। इसीसे संसारदशामें कर्मोंद्वारा ज्ञानका सङ्कोच और मोक्षदशामें ज्ञानका विकास होना भी सिद्ध हो जाता है॥१६॥

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥१७॥

उस (आत्मा) में बुद्धिवाले, उसीमें मनवाले, उसीमें निष्ठावाले और उसी-के परायण रहनेवाले ज्ञानके द्वारा धुले हुए पापोंवाले पुरुष अपुनरावृत्तिको (आत्माको) प्राप्त होते हैं ॥१७॥

तद्बुद्धयः **तथाविधात्मदर्शनाध्यवसायाः**, तदात्मानः **तद्विषयमनसः**, तन्निष्ठाः **तदभ्यासनिरताः**, तत्परायणाः **तद् एव परम् अयनं येषां ते;एवमभ्यस्यमानेन ज्ञानेन** निर्धूत**प्राचीन**कल्मषाः **तथाविधम् आत्मानम्** अपुनरावृत्तिं गच्छन्ति । **यदवस्थाद् आत्मनः पुनरावृत्तिः न विद्यते स आत्मा अपुनरावृत्तिः, स्वेन रूपेण अवस्थितः; तम् आत्मानं गच्छन्ति इत्यर्थः** ॥१७॥

जो तद्बुद्धि हैं—उपर्युक्त रूपवाले आत्माका साक्षात्कार करनेके लिये ही जिनका दृढ़ निश्चय है, जो तदात्मा हैं—उसीमें जिनका मन लगा है, जो तन्निष्ठ हैं—उसीके अभ्यासमें पूर्णतया लगे हैं, तथा जो तत्परायण हैं—वह (आत्मसाक्षात्कार) ही जिनका परम आश्रय है, इस प्रकार अभ्यास किये जानेवाले ज्ञानसे जिनके समस्त प्राचीन पाप धुल चुके हैं, वे पुरुष उपर्युक्त स्वरूपवाले पुनरावृत्तिरहित आत्माको प्राप्त हो जाते हैं । अभिप्राय यह कि जिस अवस्थाको प्राप्त हुए आत्माकी फिर वहाँसे पुनरावृत्ति नहीं होती, वैसी अवस्थामें स्थित आत्मा 'अपुनरावृत्ति' अपने स्वरूपमें स्थित रहनेवाला कहलाता है; उस आत्मस्वरूपको वे प्राप्त हो जाते हैं ॥१७॥

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥१८॥

(वे) पण्डितगण विद्याविनयसम्पन्न ब्राह्मण, गौ, हाथी और कुत्ते तथा चाण्डालमें भी समदर्शी होते हैं ॥१८॥

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे **गोहस्तिश्वपचादिषु अत्यन्तविषमाकारतया प्रतीयमानेषु च आत्मसु** पण्डिताः **आत्मयाथात्म्यविदो ज्ञानैकाकारतया सर्वत्र** समदर्शिनः। **विषमाकारः तु प्रकृतेः, न आत्मनः 'आत्मा तु सर्वत्र ज्ञानैकाकारतया समः' इति पश्यन्ति इत्यर्थः ॥ १८ ॥**

आत्माके यथार्थस्वरूपको जाननेवाले पण्डितगण विद्याविनययुक्त ब्राह्मण तथा गौ, हाथी और चाण्डालादि, जो अत्यन्त विषमाकार प्रतीत होते हैं, उन सब आत्माओंमें ज्ञानकी एकाकारतासे सर्वत्र समान देखनेवाले होते हैं। तात्पर्य यह कि (यह) विषमाकार तो प्रकृतिका है, आत्माका नहीं। 'आत्मा तो ज्ञानकी एकाकारताके कारण सब जगह सम है' ऐसा वे अनुभव करते हैं ॥१८॥

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥ १९॥

जिनका मन समतामें स्थित है, उनके द्वारा यहीं (साधनदशामें ही) संसार जीत लिया गया है; क्योंकि निर्दोष ब्रह्म सम है, इसलिये वे (समदर्शी) ब्रह्ममें स्थित हैं ॥ १९ ॥

इह एव **साधनानुष्ठानदशायाम् एव** तैः सर्गो जितः **संसारो जितः;** येषाम् **उक्तरीत्या सर्वेषु आत्मसु** साम्ये स्थितं मनः; निर्दोषं हि समं ब्रह्म **प्रकृतिसंसर्गदोषवियुक्ततया समम् आत्मवस्तु हि ब्रह्म; आत्मसाम्ये स्थिताः चेद्** ब्रह्मणि स्थिता **एव** ते। **ब्रह्मणि स्थितिः एव हि संसारजयः।**

जिनका मन उपर्युक्त रीतिके अनुसार सब आत्माओंकी समतामें स्थित है, उन्होंने यहीं—साधनका अनुष्ठान करते समय ही सर्ग—संसारको जीत लिया; क्योंकि निर्दोष एवं सम (आत्मा) ब्रह्म अर्थात् प्रकृतिके संसर्गरूप दोषसे रहित होनेके कारण जो आत्मतत्त्व सम है, वही ब्रह्म है; इसलिये यदि वे आत्म-समतामें स्थित हैं तो ब्रह्ममें ही स्थित हैं। ब्रह्ममें स्थित होना ही संसारपर विजय पा लेना है। अभिप्राय

आत्मसु ज्ञानैकाकारतया साम्यम् एव अनुसन्दधाना मुक्ता एव इत्यर्थः ॥ १९ ॥

यह कि ज्ञानकी एकाकारतासे समस्त आत्माओंमें समता देखनेवाले पुरुष मुक्त ही हैं ॥१९॥

येन प्रकारेण अवस्थितस्य कर्मयोगिनः समदर्शनरूपो ज्ञानविपाको भवति, तं प्रकारम् उपदिशति—

जिस प्रकारसे स्थित होनेपर कर्मयोगीकी समदर्शनरूप ज्ञानकी विपाकदशा सिद्ध होती है, उस प्रकारको बतलाते हैं—

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥२०॥

स्थिरबुद्धि, मोहसे रहित, ब्रह्मवेत्ता और ब्रह्ममें स्थित पुरुष प्रिय (वस्तु) को प्राप्त होकर हर्ष न करे और अप्रियको पाकर उद्वेग न करे ॥ २० ॥

यादृशदेहस्थस्य यदवस्थस्य प्राचीनकर्मवासनया यत् प्रियं **यच्च** अप्रियं **तद् उभयं** प्राप्य **हर्षोद्वेगौ न कुर्यात्** ।

कर्मयोगी जिस प्रकारके शरीरमें स्थित हो और जिस परिस्थितिमें हो उसके अनुसार प्राचीन कर्म-वासनासे उसको जो प्रिय और अप्रिय प्राप्त होते हैं, उन दोनोंको पाकर उसे हर्ष और उद्वेग नहीं करना चाहिये ।

कथम् ? स्थिरबुद्धिः—**स्थिरे आत्मनि बुद्धिः यस्य स स्थिरबुद्धिः ।** असंमूढः—**अस्थिरेण शरीरेण स्थिरम् आत्मानम् एकीकृत्य मोहः संमोहः, तद्रहितः ।**

कैसे नहीं करना चाहिये ? स्थिरबुद्धि तथा असम्मूढ़ होकर—जिसकी बुद्धि स्थिर आत्मामें स्थित है, वह स्थिरबुद्धि है । और अस्थिर शरीरके साथ स्थिर आत्माकी एकता करनेके कारण जो मोह होता है वह सम्मोह है, उससे जो रहित है वह असम्मूढ़ है । (ऐसा होकर हर्ष-शोक नहीं करना चाहिये)

तत् च कथम्? ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः; **उपदेशेन ब्रह्मवित् सन् तस्मिन् ब्रह्मणि अभ्यासयुक्तः।**

ऐसा किस प्रकार बने? ब्रह्मवेत्ता और ब्रह्ममें स्थित होकर—उपदेशके द्वारा ब्रह्मको जानकर और उस ब्रह्ममें अभ्यास करनेवाला होकर (वैसा बने)।

एतद् उक्तं भवति—तत्त्वविदाम् उपदेशेन आत्मयाथात्म्यविद् भूत्वा तत्र एव यतमानो देहाभिमानं परित्यज्य स्थिररूपात्मावलोकनप्रियानुभवे व्यवस्थितः अस्थिरे प्राकृतप्रियाप्रिये प्राप्य हर्षोद्वेगौ न कुर्याद् इति ॥ २० ॥

कहनेका तात्पर्य यह है कि तत्त्ववेत्ता पुरुषोंके उपदेशसे आत्माके यथार्थ स्वरूपको जाननेवाला होकर उसीके लिये प्रयत्न करता हुआ देहाभिमानका परित्याग करके स्थिरस्वरूप आत्माके साक्षात्काररूप प्रिय अनुभवमें भलीभाँति स्थित रहे, और प्रकृतिजनित क्षणभङ्गुर प्रिय तथा अप्रियको पाकर हर्ष और उद्वेग न करे॥२०॥

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥२१॥

बाह्य विषयोंमें आसक्तिरहित मनवाला पुरुष जब आत्मामें ही सुख प्राप्त करता है तब वह ब्रह्मयोगयुक्त मनवाला होकर अक्षय (ब्रह्मानुभवरूप) सुखको भोगता है॥ २१ ॥

एवम् उक्तेन प्रकारेण बाह्यस्पर्शेषु **आत्मव्यतिरिक्तविषयानुभवेषु असक्तमनाः अन्तरात्मनि एव यः** सुखं विन्दति **लभते** स **प्रकृत्यभ्यासं विहाय** ब्रह्मयोगयुक्तात्मा **ब्रह्माभ्यासयुक्तमना ब्रह्मानुभवरूपम्** अक्षयं सुखं **प्राप्नोति** ॥२१॥

ऐसे उपर्युक्त प्रकारसे जिसका मन बाह्य स्पर्शोंमें—आत्मासे अतिरिक्त अन्य विषयोंके अनुभवोंमें आसक्त नहीं है, जो अन्तरात्मामें ही सुख प्राप्त करता है, वह ब्रह्मयोगयुक्तात्मा—ब्रह्माभ्यासमें लगे हुए मनवाला पुरुष प्रकृतिविषयक अभ्यासको छोड़कर ब्रह्म-अनुभवरूप अक्षय सुखको प्राप्त होता है॥२१॥

प्राकृतस्य भोगस्य सुत्यजताम् आह—

प्रकृतिजनित भोगका त्याग करना सुगम है, यह बतलाते हैं—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥२२॥

विषय और इन्द्रियोंके सम्बन्धसे उत्पन्न होनेवाले जो भोग हैं वे दुःखकी योनियाँ हैं और आदि-अन्तवाले हैं, इससे अर्जुन ! बुद्धिमान् पुरुष उनमें नहीं रमता ॥ २२ ॥

विषयेन्द्रियस्पर्शजा ये भोगाः, दुःखयोनयः ते **दुःखोदर्काः** आद्यन्तवन्तः **अल्पकालवर्तिनो हि उपलभ्यन्ते;** न तेषु **तद्याथात्म्यविद्** रमते ॥ २२ ॥

विषय और इन्द्रियोंके संसर्गसे होनेवाले जो भोग हैं, वे दुःखकी योनियाँ हैं—भविष्यमें दुःखोंको उत्पन्न करनेवाले हैं और आदि-अन्तवाले हैं । क्योंकि वे अल्प समयतक ही ठहरते देखे जाते हैं; इसलिये उन भोगोंके यथार्थस्वरूपको जाननेवाला पुरुष उनमें नहीं रमता ॥२२॥

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥२३॥

जो शरीर छूटनेके पहले यहाँ ही काम-क्रोधसे उत्पन्न होनेवाले वेगको सहन करनेमें समर्थ होता है, वही मनुष्य युक्त है और वही सुखी है।२३।

शरीरविमोक्षणात् प्राग् इह एव **साधनानुष्ठानदशायाम् एव आत्मानुभवप्रीत्या** कामक्रोधोद्भवं वेगं सोढुं **निरोद्धुं** यः शक्नोति स युक्तः **आत्मानुभवाय अर्हः । शरीरमोक्षणोत्तर-**

शरीर छूटनेसे पहले यहीं—साधन करनेकी दशामें ही जो पुरुष आत्मानुभवकी प्रीतिके कारण काम-क्रोधके वेगको सहन करनेमें—रोकनेमें समर्थ होता है, वह युक्त है—आत्मानुभवका पात्र है । वह शरीर छूटनेके उत्तर-

कालम् आत्मानुभवसुखः संपत्स्यते ॥ २३ ॥ | कालमें एकमात्र आत्मानुभवरूप सुखका भागी बनेगा ॥२३॥

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥२४॥

जो अन्तरात्मामें सुखवाला, अन्तरात्मामें ही रमण करनेवाला और अन्तरात्मामें ज्योतिवाला है, वह ब्रह्मस्वरूप योगी आत्मानुभवरूप सुखको प्राप्त होता है ।२४।

यो बाह्यविषयानुभवं सर्वं विहाय अन्तःसुखः **आत्मानुभवैकसुखः** अन्तराराम: **आत्मैकाधीनः स्वगुणैः आत्मा एव सुखवर्धको यस्य स तथोक्तः**, तथा अन्तर्ज्योतिः **आत्मैकज्ञानो यो वर्तते**, स ब्रह्मभूतो योगी ब्रह्मनिर्वाणम् **आत्मानुभवसुखं प्राप्नोति** ॥२४॥

जो समस्त बाह्य विषयोंके अनुभवोंको छोड़कर अन्तःसुखवाला—एकमात्र आत्मानुभवरूप सुखवाला हो गया है, जो अन्तराराम है—एकमात्र आत्माके ही अधीन है, आत्मा ही अपने गुणोंसे जिसके सुखको बढ़ानेवाला है, तथा जो अन्तर्ज्योति है—केवल आत्माके ही ज्ञानसे युक्त है, ऐसा वह ब्रह्मभूत योगी ब्रह्मनिर्वाणको—आत्मानुभवरूप सुखको प्राप्त होता है ॥२४॥

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥२५॥

द्वन्द्वोंसे छूटे हुए आत्मामें ही मनको लगाये रखनेवाले, सब भूतप्राणियोंके हितमें लगे हुए और पापोंका क्षय कर चुके हुए ऋषिगण ब्रह्मनिर्वाणको प्राप्त होते हैं ॥ २५ ॥

छिन्नद्वैधाः—**शीतोष्णादिद्वन्द्वैः विमुक्ताः**, यतात्मानः—**आत्मनि एव**

जो छिन्नद्वैध हैं—शीतोष्णादि द्वन्द्वोंसे बिल्कुल छूटे हुए हैं, यतात्मा हैं—आत्मामें ही मनको नियन्त्रित

नियमितमनसः, सर्वभूतहिते रताः—आत्मवत् सर्वेषां भूतानां हितेषु निरताः, ऋषयः—द्रष्टारः, आत्मावलोकनपरा ये एवंभूताः ते क्षीणाशेषात्मप्राप्तिविरोधिकल्मषाः ब्रह्मनिर्वाणं लभन्ते ॥ २५ ॥

रखनेवाले हैं, तथा सब भूतोंके हितमें रत हैं—अपनी ही भाँति समस्त भूतप्राणियोंके हितोंमें लगे हैं और ऋषि हैं—आत्मसाक्षात्कारपरायण प्रत्यक्ष द्रष्टा हैं—ऐसे वे (पुरुष) आत्मप्राप्तिके विरोधी समस्त पापोंका पूर्णतया क्षय कर देनेवाले पुरुष ब्रह्मनिर्वाणको प्राप्त करते हैं ॥२५॥

उक्तगुणानां ब्रह्म अत्यन्तसुलभम् इत्याह—

इस प्रकारके गुणवालोंके लिये ब्रह्म अत्यन्त सुलभ है, यह कहते हैं—

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विजितात्मनाम् ॥ २६ ॥

काम-क्रोधसे रहित, यत्नशील, संयमित चित्तवाले एवं विजितात्मा पुरुषोंके लिये सब ओरसे ब्रह्मनिर्वाण ही (प्राप्त) रहता है ॥ २६ ॥

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतनशीलानां यतचेतसां नियमितमनसां विजितात्मनां विजितमनसां ब्रह्मनिर्वाणम् अभितो वर्तते । एवंभूतानां हस्तस्थं ब्रह्मनिर्वाणम् इत्यर्थः ॥२६॥

जो काम-क्रोधसे भलीभाँति छूट गये हैं, यति—यत्नशील हैं, यतचित्त हैं—संयमित मनवाले हैं और विजितात्मा हैं—जीते हुए मनवाले हैं, उनके सब ओर ब्रह्मनिर्वाण रहता है । अभिप्राय यह कि ब्रह्मनिर्वाण ऐसे पुरुषोंकी हथेलीमें रहता है ॥२६॥

उक्तं कर्मयोगं स्वलक्ष्यभूतयोगशिरस्कम् उपसंहरति—

अपने लक्ष्यभूत योग-शीर्षक उक्त कर्मयोगका उपसंहार करते हैं—

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥२७॥

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥२८॥

जो बाह्य विषयोंको बाहर करके, नेत्रको भ्रुवोंके बीचमें स्थित करके, नासिकाके भीतर विचरनेवाले प्राण और अपानको सम करके इन्द्रिय-मन-बुद्धिको वशमें कर लेनेवाला मोक्षपरायण मुनि इच्छा, भय और क्रोधसे रहित है, वह सदा ही मुक्त है ॥ २७-२८ ॥

बाह्यान् **विषयस्पर्शान्** बहिः कृत्वा **बाह्येन्द्रियव्यापारं सर्वम् उपसंहृत्य योगयोग्यासने ऋजुकाय उपविश्य** चक्षुः भ्रुवोः अन्तरे **नासाग्रे विन्यस्य** नासाभ्यन्तरचारिणौ प्राणापानौ समौ कृत्वा **उच्छ्वासनिःश्वासौ समगती कृत्वा आत्मावलोकनाद् अन्यत्र प्रवृत्त्यनर्हे**न्द्रियमनोबुद्धिः **तत एव** विगतेच्छाभयक्रोधो मोक्षपरायणो **मोक्षैकप्रयोजनो** मुनिः **आत्मावलोकनशीलो** यः सदा मुक्त एव; **साध्यदशायाम् इव साधनदशायाम् अपि मुक्त एव स इत्यर्थः** ॥२७-२८॥

बाह्यविषयभोगोंको बाहर करके—समस्त बाह्य इन्द्रिय-व्यापारको समेटकर, योगसाधनके उपयुक्त आसनपर सीधे शरीरसे बैठकर, आँखोंको भौंहोंके बीचमें नासिकाके अग्रभागपर लगाकर, नासिकाके भीतर विचरनेवाले प्राण और अपानको सम करके—उच्छ्वास और निःश्वासकी गतिको सम करके, जो आत्मसाक्षात्कारके सिवा अन्यत्र कहीं भी न लगने योग्य इन्द्रिय, मन-बुद्धिसे युक्त है और इसी कारण जो इच्छा, भय तथा क्रोधसे रहित होकर मोक्षपरायण हो गया है—एकमात्र मोक्ष ही जिसका प्रयोजन रह गया है, ऐसा जो मुनि यानी—आत्मदर्शनशील पुरुष है, वह सदा मुक्त ही है, अर्थात् वह साधनदशामें भी सिद्धावस्थाकी भाँति मुक्त ही है ॥२७-२८॥

उक्तस्य नित्यनैमित्तिककर्मेतिकर्तव्यताकस्य कर्मयोगस्य योगशिरस्कस्य सुशकताम् आह—

नित्य और नैमित्तिक कर्मोंकी इतिकर्तव्यताविषयक योग-शीर्षक पूर्वोक्त कर्मयोगकी सुखसाध्यता बतलाते हैं—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥२९॥

मुझको यज्ञ-तपोंका भोक्ता, सब लोकोंका महान् ईश्वर और सब प्राणियोंका सुहृद् जानकर शान्तिको प्राप्त होता है ॥२९॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसंन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

यज्ञतपसां भोक्तारं सर्वलोकमहेश्वरं सर्वभूतानां सुहृदं मां ज्ञात्वा शान्तिम् ऋच्छति **कर्मयोगकरण एव सुखम् ऋच्छति ।**

सर्वलोकमहेश्वरं सर्वेषां लोकेश्वराणाम् अपि ईश्वरम् '*तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्*' (श्वेता० उ० ६ । ७) **इति हि श्रूयते । मां सर्वलोकमहेश्वरं सर्वसुहृदं ज्ञात्वा मदाराधनरूपः कर्मयोग इति सुखेन तत्र प्रवर्तते इत्यर्थः; सुहृदाम् आराधनाय सर्वे प्रवर्तन्ते ॥ २९ ॥**

इति श्रीमद्भगवद्रामानुजाचार्यविरचिते श्रीमद्भगवद्गीताभाष्ये पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

मुझको यज्ञ-तपोंका भोक्ता, सर्वलोकमहेश्वर और सब भूतोंका सुहृद् जानकर मनुष्य शान्तिको पाता है-- कर्मयोगके सम्पादनमें ही सुख प्राप्त करता है ।

यहाँ 'सर्वलोकमहेश्वर' का अर्थ समस्त लोकोंके ईश्वरोंका भी ईश्वर है । **'उस ईश्वरोंके भी परम महेश्वरको'** ऐसी ही श्रुति है। अभिप्राय यह कि मुझे सर्वलोकमहेश्वर और सबका सुहृद् जानकर तथा कर्म योग को मुझ परमेश्वरकी आराधना मानकर मनुष्य सुखपूर्वक उसमें प्रवृत्त हो जाता है; क्योंकि सुहृदोंकी आराधना (सेवा) में सब लोग (सहज ही) प्रवृत्त हुआ करते हैं ॥२९॥

इस प्रकार श्रीमान् भगवान् रामानुजाचार्यद्वारा रचित गीता-भाष्यके हिन्दी-भाषानुवादका पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥५॥

ॐ

छठा अध्याय

उक्तः कर्मयोगः सपरिकरः, इदानीं ज्ञानकर्मयोगसाध्यात्मावलोकनरूपयोगाभ्यासविधिः उच्यते । तत्र कर्मयोगस्य निरपेक्षयोगसाधनत्वं द्रढयितुं ज्ञानाकारः कर्मयोगो योगशिरस्कः अनूद्यते—

अङ्गोंसहित कर्मयोगका वर्णन किया गया । अब (इस षष्ठ अध्यायमें) ज्ञानयोग और कर्मयोगसे सिद्ध होनेवाले आत्मसाक्षात्काररूप योगके अभ्यासकी विधि बतलायी जाती है । वहाँ पहले 'कर्मयोग आत्मसाक्षात्काररूप योगका निरपेक्ष (दूसरेकी अपेक्षा न रखनेवाला) साधन है ।' इस भावको दृढ़ करनेके लिये 'योग' शीर्षक ज्ञानस्वरूप कर्मयोगका अनुवाद किया जाता है—

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—कर्मफलका आश्रय न लेनेवाला जो पुरुष कर्तव्य कर्म करता है, वह संन्यासी और योगी है, न कि अग्निरहित और क्रियारहित पुरुष ॥ १ ॥

कर्मफलं **स्वर्गादिकम्** अनाश्रितः कार्यं **कर्मानुष्ठानमेव कार्यं सर्वात्मनास्मत्सुहृद्भूतपरमपुरुषाराधनरूपतया कर्मैव मम प्रयोजनं न तत्साध्यं किंचिद् इति** यः कर्म करोति, स संन्यासी च **ज्ञानयोगनिष्ठश्च** योगी च **कर्मयोगनिष्ठश्च । आत्मावलोकनरूपयोग-**

(जो पुरुष) स्वर्गादि कर्मफलोंका आश्रय न लेकर कर्तव्य समझकर—कर्मानुष्ठान ही करने योग्य है—'हमारे सर्वथा सुहृद्रूप परमपुरुषकी सेवा होनेके कारण कर्म करनेसे ही मेरा प्रयोजन है, उनके द्वारा साध्य फलसे तनिक भी नहीं' इस भावसे जो कर्म करता है, वह संन्यासी—ज्ञानयोगनिष्ठ भी है और योगी—कर्मयोगनिष्ठ भी । अभिप्राय यह कि आत्मसाक्षात्काररूप

साधनभूतोभयनिष्ठ इत्यर्थः । न निरग्निर्न चाक्रियः—न चोदितयज्ञादिकर्मसु अप्रवृत्तः, केवलज्ञाननिष्ठः; तस्य हि ज्ञाननिष्ठा एव कर्मयोगनिष्ठस्य तु उभयम् अस्ति इति अभिप्रायः ॥१॥

योगके साधनभूत (ज्ञानयोग और कर्मयोग) दोनोंमें ही स्थित है। निरग्नि और अक्रिय रहनेवाला पुरुष नहीं अर्थात् जो शास्त्रोक्त यज्ञादि कर्मोंमें प्रवृत्त नहीं है—केवल ज्ञाननिष्ठ है, वह उभयनिष्ठ नहीं है। तात्पर्य यह कि उसमें केवल ज्ञान-निष्ठा है; किन्तु कर्मयोगनिष्ठमें दोनों हैं ॥ १ ॥

उक्तलक्षणे कर्मयोगे ज्ञानम् अपि अस्ति, इत्याह—

पूर्वोक्त लक्षणवाले कर्मयोगमें ज्ञान भी रहता है, यह कहते हैं—

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥ २ ॥

पाण्डुनन्दन ! जिसको संन्यास (ज्ञानयोग) कहते हैं उसीको तू योग (कर्मयोग) जान; क्योंकि संकल्पोंका त्याग न करनेवाला कोई भी पुरुष योगी नहीं होता ॥ २ ॥

ज्ञानयोग इति आत्मयाथात्म्यज्ञानम् इति प्राहुः तं कर्मयोगम् एव विद्धि । तद् उपपादयति, न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन इति ।

जिसको ज्ञानयोग—आत्माके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान कहते हैं, उसे तू कर्मयोग ही जान । (यह कहकर) फिर उसीको सिद्ध करते हैं—क्योंकि 'संकल्पोंका त्याग न करनेवाला कोई भी योगी नहीं होता ।'

आत्मयाथात्म्यानुसन्धानेन अनात्मनि प्रकृतौ आत्मसंकल्पः संन्यस्तः परित्यक्तो येन स संन्यस्तसंकल्पः,

जिसने आत्माके यथार्थ स्वरूपज्ञानके द्वारा अनात्मपदार्थमें—प्रकृतिके कार्य (शरीर) में रहनेवाले आत्माभिमानरूप सङ्कल्पका संन्यास—सर्वथा त्याग कर दिया है, वह 'संन्यस्तसङ्कल्प' है ।

अनेवंभूतो यः सः असंन्यस्तसंकल्पः। न हि उक्तेषु कर्मयोगेषु अनेवंभूतः कश्चन कर्मयोगी भवति *'यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।' (गीता ४।१९)* **इति हि उक्तम्॥ २॥**

जो ऐसा नहीं है, वह 'असंन्यस्त-संकल्प' है। पूर्वोक्त कर्मयोगोंमें कोई भी कर्मयोगी असंन्यस्तसंकल्प नहीं होता; क्योंकि **'जिसके समस्त कर्मारम्भ काम-सङ्कल्पसे रहित होते हैं'** यह पहले कह चुके हैं॥२॥

कर्मयोग एव अप्रमादेन योगं साधयति इत्याह—

अब यह कहते हैं कि वह कर्मयोग ही बिना प्रमादके (आत्मसाक्षात्कार-रूप) योगको सिद्ध करता है—

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥ ३॥

योगारूढ होनेकी इच्छावाले मुनिके लिये कर्म कारण कहा जाता है और योगारूढ पुरुषके लिये शम (कर्मकी निवृत्ति) कारण कहा जाता है॥ ३॥

योगम् **आत्मावलोकनं प्राप्तुम् इच्छोः मुमुक्षोः** कर्म**योग एव** कारणम् उच्यते; तस्य एव योगारूढस्य **प्रतिष्ठित-योगस्य एव** शमः **कर्मनिवृत्तिः** कारणम् उच्यते। **यावदात्मावलोकन-रूपमोक्षप्राप्तिः, तावत्कर्म कार्यम् इत्यर्थः॥ ३॥**

आत्मसाक्षात्काररूप योगको प्राप्त करनेकी इच्छावाले मुमुक्षु पुरुषके लिये कर्मयोग ही कारण (कर्तव्य) बतलाया गया है, वही जब योगारूढ हो जाय—योगमें प्रतिष्ठित हो जाय तब उसके लिये शम—कर्मकी निवृत्ति कारण (कर्तव्य) बतलायी गयी है। अभिप्राय यह कि जबतक आत्मसाक्षात्काररूप मोक्षकी प्राप्ति न हो जाय तबतक कर्म करना ही कर्तव्य है॥३॥

कदा प्रतिष्ठितयोगो भवति? इत्यत्र आह—

वह प्रतिष्ठित योगवाला कब होता है? इसपर कहते हैं—

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ ४ ॥

जब योगी (पुरुष) निश्चयपूर्वक न तो इन्द्रियोंके अर्थोंमें आसक्त होता है और न कर्मोंमें ही, तब वह सर्वसंकल्पका त्यागी योगारूढ कहलाता है ॥४॥

यदा **अयं योगी आत्मैकानुभवस्वभावतया** इन्द्रियार्थेषु **आत्मव्यतिरिक्तप्राकृतविषयेषु तत्सम्बन्धिषु** कर्मसु च न अनुषज्जते **न सङ्गम् अर्हति,** तदा हि सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढः **इति** उच्यते ।

तस्माद् आरुरुक्षोः विषयानुभवार्हतया तदननुषङ्गाभ्यासरूपः कर्मयोग एव निष्पत्तिकारणम्, अतो विषयाननुषङ्गाभ्यासरूपं कर्मयोगम् एव आरुरुक्षुः कुर्यात् ॥ ४ ॥

जब वह योगी केवल एक आत्मानुभवके स्वभाववाला हो जानेके कारण इन्द्रियोंके भोगोंमें—आत्मासे अतिरिक्त प्राकृत विषयोंमें और उनसे सम्बन्ध रखनेवाले कर्मोंमें भी अनुषक्त नहीं होता—आसक्ति नहीं करता तभी वह सर्वसङ्कल्पोंका सर्वथा त्यागी 'योगारूढ' कहलाता है ।

इसलिये आरुरुक्षु (योगारूढ होनेकी इच्छावाले) पुरुषमें विषयोंका अनुभव करनेकी सम्भावना होनेके कारण, उसके लिये उन विषयोंमें अनासक्त रहनेका अभ्यासरूप जो कर्मयोग है, वही योगारूढताकी प्राप्तिका उपाय है । अतएव आरुरुक्षु पुरुषको विषयासक्तिके त्यागके अभ्यासरूप कर्मयोगका ही आचरण करना चाहिये ॥ ४ ॥

तद् एव आह—

यही बात कहते हैं—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ५ ॥

(मनुष्य) आत्मा (मन) से आत्माका उद्धार करे, आत्माको नीचे न गिरावे; क्योंकि आत्मा (मन) ही आत्माका बन्धु है और आत्मा (मन) ही आत्माका शत्रु है ॥ ५ ॥

आत्मना **मनसा विषयाननुषक्तेन मनसा** आत्मानम् उद्धरेत् । **तद्विपरीतेन मनसा** आत्मानं न अवसादयेत् । आत्मा एव **मन एव** हि आत्मनो बन्धुः, **तद् एव** आत्मनो रिपुः ॥५॥

आत्मासे—विषयोंमें आसक्त न होनेवाले मनसे आत्माका उद्धार करना चाहिये । इसके विपरीत (विषयासक्त) मनसे आत्माको नीचे नहीं गिराना चाहिये; क्योंकि आत्मा—मन ही तो अपना बन्धु है और यह मन ही अपना शत्रु है ॥ ५ ॥

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६ ॥

जिसने आत्माके द्वारा आत्मा (मन) को जीत लिया है, निस्सन्देह उसका आत्मा (मन) उसका बन्धु है; किन्तु जिसने अपने मनको नहीं जीता है, उसका आत्मा (मन) शत्रुकी भाँति शत्रुतामें ही बर्तता है ॥ ६ ॥

येन **पुरुषेण स्वेन एव स्वमनो विषयेभ्यो जितं तन्मनः** तस्य बन्धुः, अनात्मनः **अजितमनसः स्वकीयम् एव मनः स्वस्य** शत्रुवत् शत्रुत्वे वर्तेत, **स्वनिःश्रेयसविपरीते वर्तेत इत्यर्थः । यथोक्तं भगवता पराशरेण अपि**—*'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः । बन्धाय विषयासङ्गि मुक्त्यै निर्विषयं मनः ॥'* (वि० पु० ६ । ७ । २८) इति ॥ ६ ॥

जिस पुरुषने अपने द्वारा ही अपने मनको विषयोंकी ओरसे हटाकर जीत लिया है, वह मन तो उसका बन्धु है । अनात्माका—जिसने मनको नहीं जीता है, उसका वह अपना मन ही अपने शत्रुकी भाँति शत्रुताका बर्ताव करता है; अर्थात् अपने परमकल्याणके प्रतिकूल बर्तता है। जैसा कि भगवान् पराशरजीने भी कहा है—**'मन ही मनुष्यके बन्ध और मोक्षमें कारण है । विषयासक्त मन बन्धनका और विषयासक्तिरहित मन मुक्तिका कारण है'** ॥ ६ ॥

योगारम्भयोग्यावस्था उच्यते—

(आत्मसाक्षात्काररूप) योगारम्भके योग्य अवस्थाका वर्णन करते हैं—

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ ७ ॥

शीत-उष्ण, सुख-दुःख और मान-अपमानमें जिसका आत्मा (मन) जीता हुआ है, उस प्रशान्त पुरुषके मनमें परमात्मा समाहित रहता है ॥ ७ ॥

शीतोष्णसुखदुःखेषु मानापमानयोः **च** जितात्मनः **जितमनसः, विकाररहितमनसः;** प्रशान्तस्य **मनसि** परमात्मा समाहितः **सम्यगाहितः । स्वरूपेण अवस्थितः प्रत्यगात्मा अत्र परमात्मा इत्युच्यते, तस्य एव प्रकृतत्वात्, तस्य अपि पूर्वपूर्वावस्थापेक्षया परमात्मत्वात् । आत्मा परं समाहित इति वा सम्बन्धः ॥७॥**

शीत-उष्ण, सुख-दुःख और मान-अपमानमें जो जितात्मा है—जिसका मन जीता हुआ है—जिसका मन विकाररहित रहता है, ऐसे प्रशान्त पुरुषके मनमें परमात्मा समाहित रहता है—सम्यक्-रूपसे स्थित रहता है । अपने शुद्ध-स्वरूपसे स्थित प्रत्यगात्मा (जीवात्मा) को ही यहाँ 'परमात्मा' कहा गया है, क्योंकि उसीका प्रकरण है; और पूर्व-पूर्व अवस्थाकी अपेक्षासे उसका परमात्मत्व है भी । अथवा 'परमात्मा समाहितः' का अन्वय यों समझना चाहिये कि 'आत्मा परं समाहितः'—आत्मा भलीभाँति प्रतिष्ठित हो जाता है ॥ ७ ॥

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ ८ ॥

जिसका आत्मा (मन) ज्ञान-विज्ञानसे तृप्त है, जो कूटस्थ है, विजितेन्द्रिय है और मिट्टी, पत्थर तथा सुवर्णको समान समझनेवाला है, वह योगी युक्त कहा जाता है ॥८॥

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा **आत्मस्वरूपविषयेण ज्ञानेन तस्य च प्रकृतिविसजातीयाकारविषयेण विज्ञानेन च तृप्तमनाः,** कूटस्थः—**देवाद्यवस्थासु अनुवर्तमानः सर्वसाधारणज्ञानैकाकारात्मनि स्थितः, तत्र एव** विजितेन्द्रियः, समलोष्टाश्मकाञ्चनः—**प्रकृतिविविक्तस्वरूपनिष्ठतया प्राकृतवस्तुविशेषेषु भोग्यत्वाभावात् लोष्टाश्मकाञ्चनेषु समप्रयोजनो यः कर्म**योगी स युक्त इति उच्यते—**आत्मावलोकनरूपयोगाभ्यासार्ह उच्यते ॥ ८ ॥**

जो ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा है—आत्मस्वरूपविषयक ज्ञानसे और उसके प्रकृति-विलक्षण आकार-विषयक विज्ञानसे, जिसका मन तृप्त है, जो कूटस्थ है—जो देवादि अवस्थाओंमें रहता हुआ सर्वसाधारणके ज्ञानकी एकाकारतारूप आत्मामें स्थित रहता है, तथा इसीलिये जो विजितेन्द्रिय है एवं मिट्टीके ढेले, पत्थर और सुवर्णमें समबुद्धि है—प्रकृतिसंसर्गसे रहित शुद्ध आत्मस्वरूपमें स्थिति हो जानेके कारण विभिन्न प्राकृत वस्तुओंमें भोग्यबुद्धिका अभाव हो जानेसे जिसका मिट्टीके ढेले, पत्थर और सुवर्णमें एक-सा प्रयोजन रह गया है, जो ऐसा कर्मयोगी है, वह युक्त कहलाता है—आत्मसाक्षात्काररूप योगाभ्यासका अधिकारी कहा जाता है ॥ ८ ॥

तथा च—

वैसे ही—

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ९ ॥

जो पुरुष सुहृद्, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेषी और बन्धुओंमें तथा साधुओं और पापियोंमें भी समबुद्धि है, वह अति श्रेष्ठ है ॥९॥

वयोविशेषानङ्गीकारेण स्वहितैषिणः सुहृदः, सवयसो हितैषिणो

जो अवस्थाविशेषका (छोटे-बड़ेका) विचार न करके स्वाभाविक ही अपने हितैषी हैं वे 'सुहृद्' हैं; जो

मित्राणि, अरयो निमित्ततः अनर्थेच्छवः, उभयहेत्वभावाद् उभयरहिता उदासीनाः, जन्मत एव उभयरहिता मध्यस्थाः, जन्मत एव अनिष्टेच्छवो द्वेष्याः, जन्मत एव हितैषिणो बन्धवः, साधवो धर्मशीलाः, पापाः पापशीलाः, आत्मैकप्रयोजनतया सुहृन्मित्रादिभिः प्रयोजनाभावाद् विरोधाभावाच्च तेषु समबुद्धिः, योगाभ्यासार्हत्वे विशिष्यते ॥ ९॥

समान आयुवाले हितैषी हैं वे मित्र हैं; जो किसी निमित्तसे अनर्थ (अहित) चाहते हैं वे 'अरि' (शत्रु) हैं; हित तथा अहित दोनोंका हेतु न होनेसे जो दोनों भावोंसे रहित हैं वे 'उदासीन' हैं; जो जन्मसे ही दोनों भावोंसे रहित हैं वे 'मध्यस्थ' हैं; जो जन्मसे ही अनिष्ट चाहते हैं वे 'द्वेष्य' हैं; जो जन्मसे ही हित चाहते हैं वे 'बन्धु' हैं; धर्मशील 'साधु' हैं; और पापशील 'पापी' हैं। एकमात्र आत्मामें ही प्रयोजन रह जानेके कारण इन सब सुहृद्-मित्रादिसे जिसका न तो कोई प्रयोजन रह गया है और न विरोध ही, इसीसे जो उन सबमें समबुद्धि है; वह पुरुष योगाभ्यासका श्रेष्ठ अधिकारी समझा जाता है ॥९॥

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥ १० ॥

चित्त और मनको वशमें कर लेनेवाला योगी एकान्तमें अकेला स्थित होकर तथा आशा और परिग्रहसे रहित होकर अपने आपको निरन्तर (आत्मामें) युक्त करे ॥ १० ॥

योगी उक्तप्रकारकर्मयोगनिष्ठः सततम् अहरहः योगकाले आत्मानं युञ्जीत, आत्मानं युक्तं कुर्वीत; स्व-

पूर्वोक्त प्रकारसे कर्मयोगमें परिनिष्ठित कर्मयोगीको उचित है कि वह एकान्त स्थानमें मनुष्यरहित और शब्दरहित देशमें, वहाँ भी किसी दूसरेके साथ नहीं, अकेला ही

दर्शननिष्ठं कुर्वीत इत्यर्थः । रहसि **जनवर्जिते निःशब्दे देशे** स्थितः, एकाकी **तत्रापि न सद्वितीयः, तत्रापि** यतचित्तात्मा **यतचित्तमनस्कः**, निराशीः **-आत्मव्यतिरिक्ते कृत्स्ने वस्तुनि निरपेक्षः**, अपरिग्रहः **तद्व्यतिरिक्ते कस्मिंश्चिद् अपि ममतारहितः** ॥१०॥

रहकर, तथा यतचित्तात्मा होकर—मन और चित्तको वशमें करके, निराशीः— आत्माके अतिरिक्त समस्त वस्तुओंमें अपेक्षा रहित, और अपरिग्रही आत्मासे अतिरिक्त किसी भी वस्तुमें ममता न रखनेवाला होकर सतत— प्रतिदिन योगसाधनके समय आत्माको युक्त करे अर्थात् अपने आपको आत्म-दर्शनमें परिनिष्ठित करे ॥१०॥

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥११॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥

शुद्ध स्थानमें न अत्यन्त ऊँचा, न अत्यन्त नीचा अपना स्थिर आसन स्थापित करके उसपर वस्त्र, मृगछाला और कुशा एकके ऊपर एक (बिछाकर) उस आसनपर बैठकर, चित्त और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको रोककर मनको एकाग्र करके आत्मशुद्धिके लिये योगका साधन करे ॥११-१२॥

शुचौ देशे **अशुचिभिः पुरुषैः अनधिष्ठिते अपरिगृहीते च अशुचिभिः वस्तुभिः अस्पृष्टे च पवित्रीभूते देशे दार्वादिनिर्मितं** नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् आसनं प्रतिष्ठाप्य

शुद्ध स्थानमें—जहाँ न तो अशुद्ध पुरुष रहते हों, न उनके द्वारा (वह स्थान) लिया हुआ हो और न अशुद्ध वस्तुओंके द्वारा जो स्पर्श ही किया हुआ हो, ऐसे पवित्र स्थानमें जो न बहुत ऊँचा हो, न बहुत नीचा ही हो तथा जिसपर वस्त्र, मृगछाला और कुशा एकके ऊपर एक बिछे हुए हों—ऐसे काष्ठ आदिसे बने हुए आसनको स्थापित

तस्मिन् मनःप्रसादकरे सापाश्रये उपविश्य **योगैकाग्रम् अव्याकुलम्** मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः **सर्वात्मना उपसंहृतचित्तेन्द्रियक्रियः** आत्मविशुद्धये **बन्धविमुक्तये** योगं युञ्ज्यात्, **आत्मावलोकनं कुर्वीत** ॥ ११-१२ ॥	करके (फिर) उस मनको प्रसन्न करनेवाले अवलम्बनयुक्त आसनपर बैठकर मनको योगके लिये एकाग्र—चञ्चलतारहित करके यतचित्तेन्द्रियक्रिय होकर—चित्त और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको सब प्रकारसे रोके हुए आत्मशुद्धिके लिये—उसे बन्धनसे मुक्त करनेके लिये, योगमें युक्त होवे—आत्मसाक्षात्कार (आत्मचिन्तन) करे ॥ ११-१२ ॥

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरम् ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥१३॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥१४॥

काया, शिर और गलेको सम, अचल एवं स्थिरतापूर्वक धारण करके, अन्य दिशाओंको न देखता हुआ अपनी नासिकाके अग्रभागको देखकर प्रशान्तात्मा, भयरहित और ब्रह्मचर्यके व्रतमें स्थित होकर, मनको रोककर, मुझमें चित्त लगाकर सावधान एवं मेरे परायण होकर बैठे ॥ १३-१४ ॥

कायशिरोग्रीवं समम् अचलं **सापाश्रयतया** स्थिरं धारयन् दिशश्च अनवलोकयन् स्वं नासिकाग्रं संप्रेक्ष्य प्रशान्तात्मा **अत्यन्तनिर्वृतमनाः** विगतभीः **ब्रह्मचर्ययुक्तो** मनः संयम्य	काया, शिर और ग्रीवाको सम (सीधा), अचल तथा अवलम्बनयुक्त होनेके कारण स्थिररूपसे धारण करके दिशाओंकी ओर न देखते हुए अपनी नासिकाके अग्रभागको निरन्तर देखते हुए (वह) प्रशान्त मनवाला—अत्यन्त सन्तुष्ट मनवाला, भयरहित और ब्रह्मचर्ययुक्त होकर, मनका संयम करके, मुझमें चित्तवाला

मच्चित्तो युक्तः **अवहितो** मत्पर आसीत **माम् एव चिन्तयन् आसीत** ॥ १३-१४ ॥

और युक्त—सावधान होकर मेरे परायण हुआ स्थित रहे—मेरा ही चिन्तन करता हुआ बैठे ॥१३-१४॥

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥१५॥

इस प्रकार सदा आत्मा (मन) को (मुझमें) जोड़ता हुआ निश्चल मन-वाला योगी मुझमें स्थित निर्वाणकी पराकाष्ठारूप शान्तिको प्राप्त होता है ॥१५॥

एवं **मयि परस्मिन् ब्रह्मणि पुरुषोत्तमे मनसः शुभाश्रये** सदा आत्मानं **मनो** युञ्जन् नियतमानसः **निश्चलमानसः मत्स्पर्शपवित्रीकृतमानसतया निश्चलमानसः** मत्संस्थां निर्वाणपरमां शान्तिम् अधिगच्छति **निर्वाणकाष्ठारूपां मत्संस्थां मयि संस्थितां शान्तिम् अधिगच्छति** ॥ १५ ॥

नियतमानस अर्थात् जिसका मन मेरे संस्पर्शसे पवित्र होकर निश्चल हो गया है, ऐसा योगी इस प्रकार मनके शुभाश्रयरूप मुझ परब्रह्म पुरुषोत्तममें सदा आत्माको—मनको लगाता हुआ मत्संस्थ—मुझमें स्थित रहनेवाली निर्वाणपरमा—निर्वाणकी पराकाष्ठा-रूप शान्तिको—परम सुखको प्राप्त होता है ॥ १५ ॥

एवम् आत्मयोगम् आरभमाणस्य मनोनैर्मल्यहेतुभूतां मनसो भगवति शुभाश्रये स्थितिम् अभिधाय अन्यद् अपि योगोपकरणम् आह—

इस प्रकार आत्मसाक्षात्कारविषयक योगका आरम्भ करनेवालेके लिये मनके शुभाश्रयरूप भगवान्‌में स्थितिको, जो मनको निर्मल बनानेमें हेतु है, बताकर अब उस योगकी अन्य साधन-सामग्रियोंका भी वर्णन करते हैं—

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥१६॥

अर्जुन ! न अति भोजन करनेवालेका, न सर्वथा भोजन न करनेवालेका, न अति सोनेके स्वभाववालेका और न अधिक जागनेवालेका ही योग (सम्पन्न) होता है ॥ १६ ॥

अत्यशनानशने योगविरोधिनी, अतिविहाराविहारौ च तथातिमात्र-स्वप्नजागर्ये तथा च अत्यायासानायासौ ॥ १६ ॥

अधिक भोजन करना और सर्वथा न करना—ये दोनों ही योगके विरोधी हैं, वैसे ही अधिक विहार करना और सर्वथा न करना, अधिक सोना और अधिक जागना एवं अधिक परिश्रम करना और सर्वथा न करना—ये सभी योगके विरोधी हैं ॥ १६ ॥

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥१७॥

नियमित आहार-विहारवालेका, कर्मोंमें नियमित चेष्टा करनेवालेका और नियमित सोने तथा जागनेवालेका दुःखनाशक योग (सम्पन्न) होता है ॥१७॥

मिताहारविहारस्य मितायासस्य मितस्वप्नावबोधस्य सकलदुःखहा बन्धनाशनो योगः संपन्नो भवति ।१७।

परिमित आहार-विहार करनेवालेका, परिमित परिश्रम करनेवालेका और परिमित सोने-जागनेवालेका समस्त दुःखनाशक—बन्धनको काटनेवाला योग सम्पन्न होता है ॥ १७ ॥

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥१८॥

जब सब ओरसे रुका हुआ चित्त आत्मामें ही स्थित होता है, तब वह समस्त भोगोंसे निःस्पृह हुआ (योगी) युक्त है, ऐसा कहा जाता है ॥१८॥

यदा **प्रयोजनविषयं** चित्तम् आत्मनि एव विनियतं **विशेषेण नियतं निरतिशयप्रयोजनतया तत्रैव नियतं निश्चलम्** अवतिष्ठते तदा सर्वकामेभ्यो निःस्पृहः **सन्** युक्त इति उच्यते **योगार्ह इति उच्यते** ॥ १८ ॥

जब अपने प्रयोजनको विषय करनेवाला चित्त आत्मामें ही विनियत—विशेषरूपसे नियत होता है अर्थात् आत्माको ही अपना निरतिशय प्रयोजन समझकर उसीमें नियन्त्रित—निश्चल हो जाता है, तब वह समस्त भोगोंमें निःस्पृह हुआ साधक 'युक्त' कहलाता है—योगका अधिकारी कहा जाता है ॥ १८ ॥

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥१९॥

जैसे वायुरहित स्थानमें रक्खा हुआ दीपक हिलता-डोलता नहीं है, वही उपमा आत्मविषयक योगमें लगे हुए संयतचित्त योगीके आत्मस्वरूपकी बतलायी गयी है ॥१९॥

निवातस्थो दीपो यथा न इङ्गते **न चलति, अचलः सप्रभः तिष्ठति,** यतचित्तस्य **निवृत्तसकलेतरमनोवृत्तेः** योगिनः **आत्मनि** योगं युञ्जतः **आत्मस्वरूपस्य** सा उपमा ।

निवातस्थतया निश्चलसप्रभदीपवन्निवृत्तसकलेतरमनोवृत्तितया निश्चलो ज्ञानप्रभ आत्मा तिष्ठति इत्यर्थः ॥ १९ ॥

जैसे वायुरहित स्थानमें रक्खा हुआ दीपक कम्पित नहीं होता—हिलता-डोलता नहीं—प्रकाश करता हुआ निश्चलभावसे स्थित रहता है, वही उपमा जिसकी आत्माके अतिरिक्त अन्य समस्त मनोवृत्तियाँ निवृत्त हो चुकी हैं, ऐसे संयतचित्त योगीके—आत्मविषयक योगमें लगनेवाले साधकके आत्मस्वरूपकी दी गयी है ।

अभिप्राय यह कि जिस प्रकार वायुरहित स्थानमें रक्खे होनेके कारण दीपक निश्चल और प्रकाशयुक्त रहता है, वैसे ही अन्य समस्त मनोवृत्तियोंके निवृत्त हो जानेसे आत्मा निश्चल और ज्ञानके प्रकाशसे युक्त स्थित हो जाता है ॥ १९ ॥

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ २० ॥

योगके अभ्याससे सर्वथा निरुद्ध चित्त जिस योगमें उपरत हो जाता है और जिस योगमें वह आत्मा (मन) से आत्माको ही देखता हुआ आत्मामें ही सन्तुष्ट हो जाता है ॥ २० ॥

योगसेवया **हेतुना सर्वत्र** निरुद्धं चित्तं यत्र **योगे** उपरमते **अतिशयितसुखम् इदम् एव इति रमते**, यत्र च **योगे** आत्मना **मनसा** आत्मानं पश्यन् **अन्यनिरपेक्षम्** आत्मनि एव तुष्यति ॥ २० ॥

योग-सेवनरूपी हेतुसे सर्वत्र रोका हुआ चित्त जिस योगमें उपरत हो जाता है—यही अतिशय सुख है, ऐसा मानकर उसमें रम जाता है, तथा जिस योगमें योगी आत्मासे—मनसे आत्माका साक्षात्कार करता हुआ अन्यकी अपेक्षा (प्रतीक्षा) न करके आत्मामें ही सन्तुष्ट हो जाता है ॥ २० ॥

सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ २१ ॥

ऐसा जो इन्द्रियोंसे अतीत और बुद्धिग्राह्य आत्यन्तिक सुख है (उसको) जिस योगमें वह जानता है और जिस योगमें स्थित हुआ वह फिर तत्त्वसे विचलित नहीं होता ॥ २१ ॥

यत्तद् अतीन्द्रियम् **आत्मबुद्ध्येकग्राह्यम्** आत्यन्तिकं सुखं यत्र च **योगे** वेत्ति **अनुभवति यत्र च योगे** स्थितः **सुखातिरेकेण** तत्त्वतः **तद्भावात्** न चलति ॥ २१ ॥

जो ऐसा अतीन्द्रिय—केवल एक आत्मविषयक बुद्धिसे ही ग्रहण होनेवाला आत्यन्तिक सुख है, उसे मनुष्य जिस योगमें जानता है—अनुभव करता है और जिस योगमें स्थित योगी सुखकी अधिकताके कारण तत्त्वसे—आत्मस्वरूपसे विचलित नहीं होता ॥ २१ ॥

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥२२॥

और जिस योगको पाकर उससे अधिक और कोई लाभ नहीं समझता और जिसमें स्थित हुआ योगी बड़े भारी दुःखसे भी चलायमान नहीं किया जा सकता ॥ २२ ॥

यं **योगं** लब्ध्वा **योगाद् विरतः तम् एव काङ्क्षमाणो** न अपरं लाभं मन्यते, यस्मिन् च **योगे** स्थितः **अविरतः अपि गुणवत्पुत्रवियोगादिना** गुरुणा अपि दुःखेन न विचाल्यते ॥ २२ ॥

जिस योगको प्राप्त करके योगसे निवृत्त होनेपर योगी फिर उसीकी आकाङ्क्षा करता है और दूसरे (किसी) लाभको (उससे अधिक) नहीं मानता और जिस योगमें स्थित योगी अविरत स्थितिमें गुणवान् पुत्रके वियोग आदि गुरुतर दुःखसे भी विचलित नहीं किया जा सकता ॥२२॥

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥२३॥

उस दुःख-संयोगके वियोगको 'योग' नामवाला जाने । वह योग निश्चय-पूर्वक हर्षित चित्तसे किये जाने योग्य है ॥ २३ ॥

तं दुःखसंयोगवियोगं **दुःखसंयोग-प्रत्यनीकाकारं योगशब्दाभिधेयं ज्ञानं** विद्यात्, स **एवंभूतो** योगः **इत्यारम्भदशायां** निश्चयेन अनिर्विण्ण-चेतसा **हृष्टचेतसा** योगो योक्तव्यः ॥ २३ ॥

उस दुःखसंयोगके वियोगको—जो दुःख-संयोगके (नाशके) लिये विरोधी सेनाके समान है, ऐसे उस 'योग' शब्द-से कहे जानेवाले ज्ञानको जानना चाहिये । वह योग इस प्रकारका है, इसलिये प्रारम्भिक अवस्थामें निश्चयपूर्वक निर्वेदरहित चित्तसे करनेयोग्य है—साधकको हर्षपूर्ण चित्तसे उसका अभ्यास करना चाहिये ॥ २३ ॥

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥२४॥
शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥२५॥

संकल्पसे उत्पन्न होनेवाले सब भोगोंको त्यागकर, मनके द्वारा इन्द्रियसमूहको सब ओरसे अच्छी तरह रोककर, धैर्ययुक्त बुद्धिसे शनैः-शनैः उपरामताको प्राप्त हो और मनको आत्मामें स्थित करके और कुछ भी चिन्तन न करे ॥ २४-२५ ॥

स्पर्शजाः सङ्कल्पजाश्च इति द्विविधाः कामाः स्पर्शजाः शीतोष्णादयः, सङ्कल्पजाः पुत्रपौत्रक्षेत्रादयः, तत्र सङ्कल्पप्रभवाः **स्वरूपेण एव त्यक्तुं शक्याः, तान्** सर्वान् मनसा एव **तदनन्वयानुसन्धानेन** त्यक्त्वा **स्पर्शजेषु अवर्जनीयेषु तन्निमित्तहर्षोद्वेगौ त्यक्त्वा** समन्ततः **सर्वस्माद् विषयात् सर्वम्** इन्द्रियग्रामं विनियम्य शनैः शनैः धृतिगृहीतया **विवेकविषयया** बुद्ध्या **सर्वस्माद् आत्मव्यतिरिक्ताद् उपरम्य** आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिद् अपि चिन्तयेत् ॥ २४-२५ ॥

इन्द्रिय-स्पर्शजनित और संकल्पजनित—इस तरह दो प्रकारके काम (भोग) होते हैं । उनमें शीतोष्णादि तो स्पर्शजनित हैं तथा पुत्र-पौत्र-क्षेत्रादि संकल्पजनित हैं । उन दोनों प्रकारके भोगोंमें संकल्पजनित भोग स्वरूपसे ही छोड़े जा सकते हैं, अतएव उनके साथ अपना सम्बन्ध न मानते हुए उन सबको मनसे सर्वथा छोड़कर, तथा स्पर्शजनित अनिवार्य भोगोंमें उनसे होनेवाले हर्ष और उद्वेगको छोड़कर, तदनन्तर सब ओरसे—समस्त विषयोंसे सम्पूर्ण इन्द्रियसमूहको रोककर, धैर्ययुक्त बुद्धिसे—विवेकविषयक बुद्धिके द्वारा आत्माके अतिरिक्त समस्त अनात्मवस्तुओंसे शनैः-शनैः उपरत होकर, मनको आत्मामें स्थित करके, अन्य कुछ भी चिन्तन न करे ॥२४-२५॥

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥२६॥

वह चञ्चल और अस्थिर मन जिस-जिसमें जाय, उस-उससे हटाकर इसे आत्मामें ही वश (निरुद्ध) करे ॥२६॥

चलस्वभावतया आत्मनि अस्थिरं मनः यतो यतो **विषयप्रावण्यहेतोः बहिः** निश्चरति ततः ततो **यत्नेन मनो** नियम्य आत्मनि एव **अतिशयितसुखभावनया** वशं नयेत् ॥ २६ ॥

स्वभावसे ही चञ्चल होनेके कारण आत्मामें स्थिर न रहनेवाला यह मन विषयप्रवणतारूप हेतुसे जिस-जिस ओर बाह्यविषयोंमें विचरे, उस-उस ओरसे इस मनको यत्नपूर्वक हटाकर अतिशय सुखकी भावनासे आत्माके ही वशवर्ती करे ॥ २६ ॥

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥२७॥

इस प्रशान्त मन, रजोगुणरहित, निष्पाप और ब्रह्मरूप योगीको निस्सन्देह उत्तम सुख मिलता है ॥२७॥

प्रशान्तमनसम् **आत्मनि निश्चलमनसम् आत्मन्यस्तमनसं तत एव हेतोः दग्धाशेष**कल्मषं **तत एव** शान्तरजसं **विनष्टरजोगुणं तत एव** ब्रह्मभूतं **स्वस्वरूपेणावस्थितम्** एनं योगिनम् **आत्मानुभवरूपम्** उत्तमं सुखम् उपैति, हि **इति हेतौ, उत्तमसुखरूपम् उपैति इत्यर्थः** ॥ २७ ॥

जिसका मन प्रशान्त है—आत्मामें ही निश्चल है अर्थात् आत्मामें ही लीन हो गया है, इसीसे जिसके समस्त पाप भस्म हो चुके हैं, इसी कारण जिसका रज शान्त—रजोगुण नष्ट हो चुका है, और इससे जो ब्रह्मीभूत हो गया है—अपने स्वरूपमें स्थित हो चुका है, उस योगीको आत्मानुभवरूप उत्तम सुख मिलता है अर्थात् उत्तम सुखरूप आत्मस्वरूपकी प्राप्ति हो जाती है। यहाँ 'हि' शब्द हेतुके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है ॥ २७ ॥

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥२८॥

(वह) पापरहित योगी इस प्रकार मनको सदा (आत्मामें) लगाता हुआ ब्रह्मानुभवरूप अपरिमित सुखको भोगता है ॥ २८ ॥

एवम् **उक्तप्रकारेण** आत्मानं युञ्जन् **तेन एव** विगत**प्राचीनसमस्त**कल्मषः ब्रह्मसंस्पर्शं **ब्रह्मानुभवरूपं** सुखम् अत्यन्तम् **अपरिमितं** सुखेन **अनायासेन** सदा अश्नुते ॥२८॥

इस तरह पूर्वोक्त प्रकारसे जो योग-साधनमें संलग्न रहता है और उसीके द्वारा जिसके समस्त प्राचीन पाप नष्ट हो चुके हैं, वह ब्रह्म-संस्पर्शको—ब्रह्मानुभवरूप अत्यन्त—अपरिमित सुखको सुखसे—अनायास ही सदा भोगता है ॥ २८ ॥

अथ योगविपाकदशा चतुष्प्रकारा उच्यते—

अब चार प्रकारकी योगकी विपाक-दशा बतलायी जाती है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥२९॥

(वह) योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदृष्टिसम्पन्न पुरुष सब भूतोंमें आत्माको और सब भूतोंको आत्मामें स्थित देखता है ॥ २९ ॥

स्वात्मनः परेषां च भूतानां प्रकृतिवियुक्तस्वरूपाणां ज्ञानैकाकारतया साम्याद् वैषम्यस्य च प्रकृतिगतत्वाद् योगयुक्तात्मा **प्रकृतिवियुक्तेषु आत्मसु** सर्वत्र **ज्ञानैकाकारतया** समदर्शनः सर्वभूतस्थं स्वात्मानं सर्वभूतानि च स्वात्मनि ईक्षते । **सर्वभूतसमाना-**

आत्मज्ञानकी एकाकारताके कारण प्रकृतिके संसर्गसे रहित स्वरूपवाले अपने, और दूसरे सभी भूतप्राणियोंके आत्म-स्वरूपकी समानता है, विषमता तो प्रकृतिके अन्तर्गत है, अतएव प्रकृतिसंसर्गसे रहित आत्माओंमें सर्वत्र ज्ञानकी एकाकारतासे समान देखनेवाला योगयुक्तात्मा पुरुष अपने आत्माको सब भूतोंमें स्थित और सब भूतोंको अपने आत्मामें स्थित देखता है । अर्थात् अपने आत्माको सब भूतोंमें

कारं स्वात्मानं स्वात्मसमानाकाराणि च सर्वभूतानि पश्यति इत्यर्थः ।

एकस्मिन् आत्मनि दृष्टे सर्वस्य आत्मवस्तुनः तत्साम्यात् सर्वम् आत्मवस्तु दृष्टं भवति इत्यर्थः। सर्वत्र समदर्शनः इति वचनात् *'योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन' (गीता ६ । ३३)* **इत्यनुभाषणाच्च** *'निर्दोषं हि समं ब्रह्म' (गीता५।१९)* **इति वचनाच्च ॥२९॥**

स्थित आत्माके समान आकारवाला और सब भूतोंको अपने आत्माके समान आकारवाला देखता है ।

'सर्वत्र समदर्शनः' इस वाक्यसे, तथा **'जो यह योग आपने समतासे बतलाया है'** अर्जुनके इस प्रश्नसे, और **'ब्रह्म निर्दोष और सम है'** इस वचनसे भी यही अभिप्राय है कि एक आत्माको देख लेनेपर सब आत्मवस्तु उसीके समान होनेके कारण समस्त प्राणियोंका आत्मतत्त्व देखा हुआ हो जाता है ॥२९॥

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥३०॥

जो सर्वत्र मुझको और सबको मुझमें देखता है उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता ॥ ३० ॥

ततो विपाकदशाम् आपन्नो मम साधर्म्यम् उपागतः *'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' (मु० उ० ३ । १ । ३)* **इत्युच्यमानं सर्वस्य आत्मवस्तुनो विधूतपुण्यपापस्य स्वरूपेण अवस्थितस्य मत्साम्यं पश्यन्** यः सर्वत्र **आत्मवस्तुनि** मां पश्यति, सर्वम् **आत्मवस्तु** च मयि पश्यति, **अन्योन्यसा-**

इससे अधिक विपाक दशाको प्राप्त अर्थात्—**'विशुद्ध होकर परम पुरुषकी समताको प्राप्त होता है'** इस प्रकार बतलायी जानेवाली मेरी सधर्मताको प्राप्त जो योगी पुण्य-पापसे रहित और अपने स्वरूपमें स्थित समस्त आत्मवस्तुकी मुझसे समानता देखता हुआ सर्वत्र—संपूर्ण आत्मतत्त्वमें मुझे देखता है, और समस्त आत्मतत्त्वको मुझमें देखता है' अर्थात् परस्पर समानता होनेके कारण एकको

म्याद् **अन्यतरदर्शनेन** **अन्यतरद्** **अपि** **ईदृशम्** **इति** **पश्यति,** तस्य **स्वात्मस्वरूपं** **पश्यतः** अहं **तत्साम्यात्** न प्रणश्यामि, **न** **अदर्शनम्** **उपयामि,** **मम** **अपि** **मां** **पश्यतः,** **मत्साम्यात्** **स्वात्मानं** **मत्समम्** **अवलोकयन्** स **न** **अदर्शनम्** **उपयाति** ॥ ३० ॥

देख लेनेसे दूसरा भी ऐसा ही है इस प्रकार देखता है; उस अपने आत्मस्वरूपका दर्शन करनेवाले योगीसे मैं अदृश्य नहीं होता--उसकी दृष्टिसे ओझल नहीं होता; क्योंकि उसकी मेरे साथ समानता है। मुझे भी मेरा दर्शन करनेवालेका अदर्शन नहीं होता अर्थात् मेरे साथ समानता होनेके कारण जो अपने आत्माको मेरे समान देखता है, वह मेरी दृष्टिसे ओझल नहीं होता॥३०॥

ततो **विपाकदशाम्** **आह**—

इससे भी उत्कृष्ट विपाकदशाका वर्णन करते हैं—

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥३१॥

जो योगी एकत्वभावमें स्थित होकर सब भूतप्राणियोंमें स्थित मुझको भजता है, वह सब प्रकारसे बर्तता हुआ भी मुझमें ही बर्तता है॥३१॥

योगदशायां सर्वभूतस्थितं माम् **असंकुचितज्ञानैकाकारतया** एकत्वम् आस्थितः **प्राकृतभेदपरित्यागेन** **सुदृढं** यो भज**ते** स योगी **व्युत्थान-काले** अपि **यथा** **तथा** वर्तमानः **स्वात्मानं** **सर्वभूतानि** **च** **पश्यन्** मयि वर्तते **माम्** **एव** **पश्यति**। **स्वात्मनि**

जो योगी समाधिकालमें विस्तृत ज्ञानकी एकाकारतासे प्राकृत भेदका परित्याग करके एकत्वभावमें स्थित हुआ सब भूतोंमें स्थित मुझ परमेश्वरको दृढ़ताके साथ भजता है वह योगी व्युत्थान-कालमें भी जैसे-तैसे बर्तता हुआ मुझमें ही बर्तता है—अपने आत्माको और सब भूतप्राणियोंको देखता हुआ मुझको ही देखता है। अभिप्राय यह कि अपने

सर्वभूतेषु च सर्वदा मत्साम्यम् एव पश्यति इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

आत्मामें और सब भूतोंमें सदा मेरी समानता ही देखता रहता है ॥३१॥

ततोऽपि काष्ठाम् आह—

इससे भी उत्कृष्ट विपाकदशाकी पराकाष्ठा बताते हैं—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥३२॥

अर्जुन ! जो योगी आत्माकी उपमासे सर्वत्र सुख अथवा दुःखको (अपने ही सदृश) समान देखता है वह योगी परम (योगकी अन्तिम सीमाको प्राप्त) माना गया है ॥ ३२ ॥

आत्मनः च अन्येषां च आत्मनाम् असंकुचितज्ञानैकाकारतया औपम्येन **स्वात्मनि च अन्येषु** सर्वत्र **वर्तमानं पुत्रजन्मादिरूपं** सुखं **तन्मरणादिरूपं च** दुःखम् **असम्बन्धसाम्यात्** समं यः पश्यति **परपुत्रजन्ममरणादिसमं स्वपुत्रजन्ममरणादिकं यः पश्यति इत्यर्थः** । स योगी **परमयोगकाष्ठां गतो** मतः ॥ ३२ ॥

जो योगी अपने तथा दूसरोंके आत्माओंमें विस्तृत ज्ञानकी एकाकारताके कारण समानता रहनेसे अपने आत्मामें और दूसरोंमें सर्वत्र होनेवाले पुत्र-जन्मादि-रूप सुखोंको और उनके मरण आदि-रूप दुःखोंको समान रूपसे सर्वत्र सम्बन्ध-विशेषका अभाव अनुभव करते हुए सम देखता है—अर्थात् जो दूसरों-के पुत्र-जन्म-मरणादिके समान ही अपने पुत्र-जन्म-मरणादिको देखता है, वह योगी योगकी पराकाष्ठा (अन्तिम सीमा) पर पहुँचा हुआ माना जाता है ॥ ३२ ॥

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥३३॥

अर्जुन बोला—मधुसूदन ! यह जो योग समतारूपसे आपके द्वारा कहा गया है, मैं (अपने मनकी) चञ्चलताके कारण इस योगकी स्थिर स्थिति नहीं देख रहा हूँ ॥ ३३ ॥

यः अयं **देवमनुष्यादिभेदेन जीवेश्वरभेदेन च अत्यन्तभिन्नतया एतावन्तं कालम् अनुभूतेषु सर्वेषु आत्मसु ज्ञानैकाकारतया परस्पर-साम्येन अकर्मवश्यतया च ईश्वर-**साम्येन **सर्वत्र समदर्शनरूपो** योगः त्वया उक्तः, एतस्य **योगस्य** स्थिरां स्थितिं न पश्यामि **मनसः** चञ्चलत्वात् ॥ ३३ ॥

देव-मनुष्यादिके भेदसे, और जीव-ईश्वरके भेदसे स्थित, आजतक अत्यन्त भिन्नभावसे अनुभव किये हुए समस्त जीवात्माओंमें ज्ञानकी एकाकारताके कारण परस्परकी समानतासे तथा कर्म-वश्यताके अभावके कारण ईश्वरकी समानतासे सर्वत्र समदर्शनरूप जो यह योग आपने बतलाया, इस योगकी मैं मनकी चञ्चलताके कारण स्थिर स्थिति नहीं देख रहा हूँ ॥३३॥

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥ ३४ ॥

क्योंकि श्रीकृष्ण ! यह मन बड़ा चञ्चल, प्रमथनशील, दृढ़ और बलवान् है, उसका रोकना मैं वायुको रोकनेके समान अत्यन्त कठिन मानता हूँ ॥३४॥

तथा हि अनवरताभ्यस्तविषयेषु अपि स्वत एव चञ्चलं **पुरुषेण एकत्र स्थापयितुम् अशक्यं** मनः **पुरुषं बलात् प्रमथ्य** दृढम् **अन्यत्र चरति ।** तस्य **स्वाभ्यस्तविषयेषु अपि चञ्चल-स्वभावस्य मनसः तद्विपरीताकारा-**

क्योंकि लगातार अभ्यास किये हुए विषयोंके प्रति भी स्वभावसे ही चञ्चल—मनुष्यके द्वारा एक जगह स्थापित न किया जा सकनेवाला यह मन मनुष्यको बलपूर्वक मथकर अन्यत्र (विषयान्तरमें) निर्बाधरूपसे विचरने लगता है । अपने अभ्यस्त विषयोंमें भी सदा चञ्चल-स्वभाव (स्थिर न रहने) वाले मनको उसके विपरीताकार आत्मा-

त्मनि स्थापयितुं निग्रहं **प्रतिकूलगतेः महावातस्य व्यजनादिना** इव सुदु-ष्करम् अहं मन्ये । **मनोनिग्रहोपायो वक्तव्य इत्यभिप्रायः** ॥ ३४ ॥

में स्थापित करनेके लिये रोकना तो मैं वैसा ही अति कठिन मानता हूँ, जैसा प्रतिकूल गतिवाले महान् वायुको पंखे आदिसे रोक रखना । अभिप्राय यह कि मनके निग्रहका उपाय बतलाना चाहिये ॥ ३४ ॥

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ ३५॥

श्रीभगवान् बोले—अर्जुन ! निस्सन्देह मन चञ्चल और दुर्निग्रह है; परन्तु कौन्तेय ! अभ्यास और वैराग्यसे (यह) वशमें किया जाता है ॥३५॥

चलस्वभावतया मनो दुर्निग्रहम् **एव इत्यत्र न संशयः, तथापि आत्मनो गुणाकरत्वाभ्यासजनिता-भिमुख्येन आत्मव्यतिरिक्तेषु विषयेषु अपि दोषाकरत्वदर्शनजनितवैतृष्ण्ये-न च कथञ्चिद्** गृह्यते ॥ ३५ ॥

इसमें कोई सन्देह नहीं कि चञ्चल-स्वभाव होनेके कारण मनको वशमें करना बहुत ही कठिन है, तथापि आत्मा गुणोंका भण्डार है, इस अभ्यास-से होनेवाली आत्माभिमुखता और आत्मा-से अतिरिक्त विषय दोषोंकी खानें हैं, ऐसी अनुभूतिसे होनेवाले वैराग्यके द्वारा उसे किसी तरह वशमें किया जा सकता है ॥ ३५ ॥

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥ ३६॥

मनको वशमें न करनेवाले पुरुषके द्वारा (इस) योगका पाना बहुत कठिन है; परन्तु स्वाधीन मनवाले प्रयत्नशील पुरुषके द्वारा उपाय करनेपर इसका पाना सम्भव है, यह मेरा मत है ॥ ३६ ॥

असंयतात्मना **अजितमनसा महता अपि बलेन** योगो दुष्प्राप **एव** । उपायतः तु वश्यात्मना **पूर्वोक्तेन मदाराधनरूपेण अन्तर्गतज्ञानेन कर्मणा जितमनसा यतमानेन अयम् एव समदर्शनरूपो योगः** अवाप्तुं शक्यः ॥ ३६ ॥

असंयतात्माको—जिसने अपने मनको जीत नहीं लिया है ऐसे पुरुषको बहुत बड़ा बल लगानेपर भी (यह आत्मदर्शनरूप) योग प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है; परन्तु उपाय करके मनको वशमें कर लेनेवाले पुरुषको यानी जिसने मेरी आराधनारूप पूर्वोक्त अन्तर्गतज्ञान-सहित कर्मके द्वारा, अपने मनको जीत लिया है ऐसे साधकको यत्न करते रहनेपर यह समदर्शनरूप योग प्राप्त हो सकता है ॥३६॥

अथ *'नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति'* *(गीता २ । ४०)* **इत्यादौ एव श्रुतं योगमाहात्म्यं यथावत् श्रोतुम् अर्जुनः पृच्छति । अन्तर्गतात्मज्ञानतया योगशिरस्कतया च हि कर्मयोगस्य माहात्म्यं तत्रोदितं तच्च योगमाहात्म्यम् एव—**

अब **'नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति'** इत्यादि वचनमें सुने हुए योगके माहात्म्यको भलीभाँति सुननेकी इच्छासे अर्जुन पूछता है; क्योंकि कर्मयोगमें आत्मज्ञानका अन्तर्भाव होनेके कारण तथा कर्मयोगका नाम 'योग' होनेके कारण वहाँ जो उसका माहात्म्य कहा गया है, वह वस्तुतः (आत्मदर्शनरूप) योगका ही माहात्म्य है—

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥ ३७॥

अर्जुन बोला—श्रीकृष्ण ! श्रद्धापूर्वक योगसाधनमें लगा हुआ साधक प्रयत्नकी कमीके कारण योगकी सिद्धिको न पाकर योगसे विचलित मनवाला होकर किस गतिको प्राप्त होता है ? ॥ ३७ ॥

श्रद्धया **योगे प्रवृत्तो दृढतराभ्यासरूपयत्नवैकल्येन** योगसंसिद्धिम् अप्राप्य योगात् चलितमानसः कां गतिं गच्छति ॥ ३७ ॥

जो आत्मदर्शनरूप योगके (साधनमें) श्रद्धापूर्वक लगा हो, परन्तु अत्यन्त दृढ़ अभ्यासरूप यत्नकी कमीके कारण योगकी पूर्ण सिद्धिको प्राप्त करनेके पहले ही जिसका मन योग (साधन) से विचलित हो गया हो, ऐसा पुरुष किस गतिको प्राप्त होता है ? ॥३७॥

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥३८॥

महाबाहो ! वह ब्रह्मके मार्गमें भूला हुआ आश्रयरहित पुरुष क्या फटे हुए बादलकी भाँति दोनों ओरसे भ्रष्ट होकर नष्ट तो नहीं हो जाता ? ॥३८॥

उभयविभ्रष्टः **अयं** छिन्नाभ्रम् इव कच्चित् न नश्यति **यथा मेघशकलः पूर्वस्मात् महतो मेघात् छिन्नः परं महान्तं मेघम् अप्राप्य मध्ये विनष्टो भवति, तथा एव कच्चित् न नश्यति, कथम् उभयविभ्रष्टता,** अप्रतिष्ठो विमूढो ब्रह्मणः पथि **इति, यथावस्थितं स्वर्गादिसाधनभूतं कर्म फलाभिसन्धिरहितस्य अस्य पुरुषस्य स्वफलसाधनत्वेन प्रतिष्ठा न भवति इति**

क्या वह फटे हुए बादलकी भाँति दोनों ओरसे भ्रष्ट होकर नष्ट तो नहीं हो जाता ?—जैसे मेघका छोटा टुकड़ा पहलेवाले बड़े मेघसे टूटकर और दूसरे बड़े मेघसे न मिलकर बीचमें ही नष्ट हो जाता है वैसे ही क्या यह भी नष्ट तो नहीं हो जाता ? उसकी उभयभ्रष्टता कैसे है यह बात 'अप्रतिष्ठ' और 'ब्रह्ममार्गमें विमूढ' (इन दो विशेषणोंसे बतलायी गयी है) । कहनेका तात्पर्य यह है कि विधिपूर्वक किये हुए जो स्वर्गादिके साधनरूप कर्म हैं वे फलकामनासे रहित उपर्युक्त पुरुषके लिये अपने फलके साधकरूपसे प्रतिष्ठा (आश्रय) देनेवाले नहीं होते, इस-

अप्रतिष्ठः।प्रक्रान्ते ब्रह्मणः पथि विमूढः तस्मात् पथः प्रच्युतः, अत उभय-भ्रष्टतया किम् अयं नश्यति एव, उत न नश्यति ॥ ३८ ॥

लिये वह 'अप्रतिष्ठ' है। और ब्रह्मप्राप्तिके मार्गमें वह जहाँतक बढ़ चुका है, उसमें विमूढ़ हो जानेके कारण उस पथसे भ्रष्ट हो गया है, अतएव दोनों ओरसे भ्रष्ट होकर यह साधक क्या नष्ट ही हो जाता है ? या नहीं नष्ट होता ? ॥३८॥

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥ ३९॥

श्रीकृष्ण ! मेरे इस संशयको पूर्णरूपसे काटनेके योग्य आप ही हैं। आपके बिना इस संशयको काटनेवाला दूसरा मिल ही नहीं सकता ॥३९॥

तम् एनं संशयम् अशेषतः छेत्तुम् अर्हसि **स्वतः प्रत्यक्षेण युगपत् सर्वं सर्वदा स्वत एव पश्यतः त्वत्तः** अन्यः संशयस्य अस्य छेत्ता न हि उपपद्यते ॥ ३९ ॥

ऐसे इस संशयको पूर्णरूपसे काटने-में आप ही समर्थ हैं। क्योंकि आप प्रत्यक्षरूपसे एक ही साथ सबको सब समय अपने-आप ही देखनेवाले हैं अतएव आपके अतिरिक्त अन्य कोई भी इस (मेरे) संशयको काटनेवाला सम्भव नहीं है ॥३९॥

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥४०॥

श्रीभगवान् बोले—अर्जुन ! उस पुरुषका न तो इस लोकमें और न परलोकमें ही विनाश होता है; क्योंकि प्यारे ! कल्याण (योगसाधन) करनेवाला कभी दुर्गतिको नहीं प्राप्त होता ॥४०॥

श्रद्धया योगे प्रक्रान्तस्य तस्मात् प्रच्युतस्य इह **च** अमुत्र **च** विनाशः न विद्यते, **प्राकृतस्वर्गादिभोगानुभवे ब्रह्मानुभवे च अभिलषितानवाप्तिरूपः प्रत्यवायाख्यः अनिष्टावाप्तिरूपश्च विनाशो न विद्यते** इत्यर्थः । न हि **निरतिशय**कल्याणरूप**योगकृत्** कश्चित् **कालत्रये अपि** दुर्गतिं गच्छति ॥४०॥

श्रद्धापूर्वक योगमें आगे बढ़कर जो (किसी कारणवश) उससे गिर जाता है ऐसे पुरुषका यहाँ और वहाँ कहीं भी नाश नहीं होता—भाव यह कि प्राकृत स्वर्गादि भोगोंके अनुभवमें और ब्रह्मके अनुभवमें जो इष्टकी अप्राप्तिरूप प्रत्यवाय नामक विनाश है और अनिष्टकी प्राप्तिरूप विनाश है, ये दोनों ही उसके नहीं होते; क्योंकि निरतिशय कल्याणरूप योगका साधन करनेवाला कोई भी पुरुष तीनों कालमें कभी भी दुर्गतिको नहीं प्राप्त होता ॥४०॥

कथम् अयं भविष्यति ? इत्यत्राह—

यह कैसे होगा ? सो कहते हैं—

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥४१॥

वह योगभ्रष्ट पुरुष पुण्यकर्मा पुरुषोंको प्राप्त होने योग्य लोकोंको प्राप्त होकर, वहाँ बहुत वर्षोंतक रहकर फिर शुद्ध और श्रीमानोंके घरमें जन्म लेता है ।४१।

यज्जातीयभोगाभिकाङ्क्षया योगात् प्रच्युतः अयम् अतिपुण्यकृतां **प्राप्यान्** लोकान् प्राप्य **तज्जातीयान् अतिकल्याणभोगान् ज्ञानोपाययोगमाहात्म्याद् एव भुञ्जानो यावत् तद्भोगतृष्णावसानं** शाश्वतीः समाः **तत्र**

यह योगभ्रष्ट पुरुष अत्यन्त पुण्यकर्माओंको प्राप्त होनेयोग्य लोकोंको पाकर वहाँ, पहले जिस प्रकारके भोगोंकी आकाङ्क्षासे उसका मन योगसे च्युत हुआ था, ज्ञानके उपायरूप योगके माहात्म्यसे उसी प्रकारके अति कल्याणमय भोगोंको भोगता है । फिर बहुत कालतक—जबतक उन भोगोंकी तृष्णा समाप्त नहीं हो जाती, तबतक वहाँ

उषित्वा **तस्मिन् भोगे वितृष्णः** शुचीनां श्रीमतां **योगोपक्रमयोग्यानं कुले योगोपक्रमे भ्रष्टो योगमाहात्म्याद्** जायते ॥४१॥

रहकर, उन भोगोंकी तृष्णाके मिट जानेपर वह योगसाधनमें भ्रष्ट हुआ पुरुष योगके माहात्म्यसे ही योगसाधनके उपर्युक्त विशुद्ध और श्रीमानोंके कुलमें जन्म ग्रहण करता है ॥४१॥

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥४२॥

अथवा बुद्धिमान् योगियोंके कुलमें उत्पन्न होता है; परन्तु इस प्रकारका जन्म इस संसारमें निस्सन्देह बहुत ही दुर्लभ है ॥४२॥

परिपक्वयोगः चलितः चेद् योगिनां धीमतां **योगं कुर्वतां स्वयम्** एव, **योगोपदेष्टृणां** कुले भवति ।

तद् एतद् उभयविधं योगयोग्यानां योगिनां च कुले जन्म लोके **प्राकृतानां** दुर्लभतरम्, एतत् **तु योगमाहात्म्यकृतम्** ॥४२॥

कदाचित् कोई योगकी परिपक्व-अवस्थाको पहुँचा हुआ पुरुष योगसे विचलित हो जाय तो वह अवश्य ही बुद्धिमान् योगियोंके—स्वयं योगका साधन करने और (दूसरोंको) योगका उपदेश करनेवाले योगियोंके कुलमें उत्पन्न होता है ।

योगसाधनके उपयुक्त (विशुद्ध श्रीमानोंके) कुलमें जन्म होना और योगियोंके कुलमें जन्म होना—ऐसा यह दोनों ही प्रकारका जन्म संसारमें—प्राकृत मनुष्योंके लिये बड़ा दुर्लभ है; क्योंकि यह केवल योगके माहात्म्यसे ही मिला करता है ॥४२॥

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदैहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥४३॥

वहाँ वह उस पूर्वके देहमें अभ्यास किये हुए बुद्धिसंयोगको (सहज ही) पा जाता है और अर्जुन! उससे फिर योगकी पूर्णसिद्धिके लिये प्रयत्न करता है।४३।

तत्र **जन्मनि** तम् **एव** पौर्वदैहिकं **योगविषयं** बुद्धिसंयोगं लभते । ततः **सुप्तप्रबुद्धवद्** भूयः संसिद्धौ यतते । **यथा न अन्तरायहतो भवति, तथा यतते** ॥४३॥

उस जन्ममें (वह) उसी पहले शरीरमें अभ्यास किये हुए योगविषयक बुद्धिसंयोगको पा जाता है, इसलिये वह सोकर जगे हुएकी भाँति पुनः पूर्णसिद्धिके लिये प्रयत्न करता है—जिससे पुनः वह किसी विघ्नसे अभिभूत न हो जाय, वैसा प्रयत्न करता है ॥ ४३ ॥

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥४४॥

वह पुरुष अवश होनेपर भी उस पूर्वकृत अभ्यासके द्वारा निस्सन्देह (उसी योगकी ओर) खींचा जाता है। (वही नहीं) योगका जिज्ञासु भी शब्दब्रह्म (प्रकृति) को लाँघ जाता है ॥४४॥

तेन पूर्वाभ्यासेन **पूर्वेण योगविषयेण अभ्यासेन** सः **योगभ्रष्टो** हि अवशः अपि **योगे एव** ह्रियते, **प्रसिद्धं हि एतद् योगमाहात्म्यम् इत्यर्थः। अप्रवृत्तयोगो योग**जिज्ञासुः अपि **ततः चलितमानसः पुनरपि ताम् एव जिज्ञासां प्राप्य कर्मयोगादिकं योगम् अनुष्ठाय** शब्दब्रह्म अतिवर्तते ।

वह योगभ्रष्ट पुरुष परवश होनेपर भी उस पूर्वाभ्याससे—पूर्वकृत योगविषयक अभ्यासके प्रभावसे योगमें ही आकृष्ट हो जाता है । 'हि' का तात्पर्य यह है कि यह योगका माहात्म्य प्रसिद्ध ही है । जो योगमें प्रवृत्त नहीं हुआ है, केवल योगका जिज्ञासु ही है, ऐसा उस योगजिज्ञासासे विचलित मनवाला साधक भी पुनः उसी जिज्ञासाको पाकर कर्मयोगादि किसी योगका अनुष्ठान करके शब्दब्रह्मसे पार हो जाता है ।

शब्दब्रह्म देवमनुष्यपृथिव्यन्तरिक्षस्वर्गादिशब्दाभिलाप्ययोग्यं ब्रह्म प्रकृतिः, प्रकृतिसम्बन्धाद् विमुक्तो देवमनुष्यादिशब्दाभिलापानर्हं ज्ञानानन्दैकतानम् आत्मानं प्राप्नोति इत्यर्थः ॥ ४४ ॥

अभिप्राय यह है कि देव, मनुष्य, पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्गादि शब्दसे वर्णन किये जानेयोग्य ब्रह्मरूप प्रकृतिका नाम 'शब्दब्रह्म' है । (वह पुरुष) इस प्रकृतिके सम्बन्धसे मुक्त होकर देव-मनुष्यादि शब्दोंसे कहनेमें न आनेवाले एकरस-ज्ञानानन्दस्वरूप आत्माको प्राप्त हो जाता है ॥ ४४ ॥

यत एवं योगमाहात्म्यम्; ततः—

चूँकि योगका माहात्म्य ऐसा है; इसलिये—

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥४५॥

अनेक जन्मोंके अभ्याससे संसिद्ध और संपूर्ण पापोंसे विशुद्ध हुआ योगी (इस जन्ममें) प्रयत्नपूर्वक साधन करके पुनः परमगतिको प्राप्त हो जाता है ॥४५॥

अनेकजन्मार्जितपुण्यसञ्चयैः संशुद्धकिल्बिषः संसिद्धः **संजातः** प्रयत्नाद् यतमानः तु योगी **चलितः अपि पुनः** परां गतिं याति **एव** ॥ ४५ ॥

अनेक जन्मोंमें उपार्जित पुण्यके सञ्चयसे जिसके सारे पाप धुल चुके हैं, ऐसा संसिद्ध (शुद्ध) होकर जन्मा हुआ और प्रयत्नपूर्वक साधन करनेवाला योगी (पूर्वजन्ममें) योगसे विचलित होकर भी (इस जन्ममें) पुनः परमगतिको प्राप्त हो ही जाता है ॥ ४५ ॥

अतिशयितपुरुषार्थनिष्ठतया योगिनः सर्वस्माद् आधिक्यम् आह—

योगीकी पुरुषार्थनिष्ठा अत्यन्त बढ़ी हुई होनेके कारण, अन्य सबकी अपेक्षा उसकी श्रेष्ठता बतलाते हैं—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥४६॥

योगी तपस्वियोंसे श्रेष्ठ है, ज्ञानियोंसे भी श्रेष्ठ है और कर्मियोंसे भी श्रेष्ठ है, इसलिये अर्जुन ! तू योगी हो ॥४६॥

केवलतपोभिः यः पुरुषार्थः साध्यते आत्मज्ञानव्यतिरिक्तैः ज्ञानैः च यः, यः च केवलैः अश्वमेधादिभिः कर्मभिः, तेभ्यः सर्वेभ्यः अधिकपुरुषार्थसाधनत्वात् योगस्य तपस्विभ्यः ज्ञानिभ्यः कर्मिभ्यश्च अधिको योगी तस्माद् योगी भव अर्जुन ॥ ४६ ॥

जो पुरुषार्थ केवल तपोंसे, जो आत्मज्ञानके अतिरिक्त अन्य ज्ञानोंसे और जो केवल अश्वमेधादि कर्मोंसे सिद्ध किया जाता है, उन सबसे अधिक पुरुषार्थका साधन योग है, इसलिये तपस्वियोंसे, ज्ञानियोंसे और कर्मियोंसे योगी श्रेष्ठ है। अतएव अर्जुन ! तू योगी बन ॥४६॥

तद् एवं परविद्याङ्गभूतं प्रजापतिवाक्योदितं प्रत्यगात्मदर्शनम् उक्तम्।

अथ परविद्यां प्रस्तौति—

इस प्रकार यहाँ उपनिषदोंमें प्रजापतिके वाक्यद्वारा प्रतिपादित पराविद्याका अङ्गभूत प्रत्यगात्मदर्शन (जीवात्माके स्वरूपका ज्ञान) बतलाया गया। अब पराविद्याकी प्रस्तावना करते हैं—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥४७॥

सब योगियोंसे भी जो श्रद्धावान् भक्त मुझमें लगे हुए मनसे मुझको भजता है, वह मेरे मतमें श्रेष्ठतम है ॥४७॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे आत्मसंयम-
योगो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

योगिनाम् **इति पञ्चम्यर्थे षष्ठी।**

‘योगिनाम्’ इस पदमें पञ्चमी विभक्तिके अर्थमें ही षष्ठी विभक्ति है। ‘सर्वभूतस्थम्’ इत्यादि श्लोकोंमें (श्लोक २९ से ३२ तक) जिन चार प्रकारके

सर्वभूतस्थम् इत्यादिना चतुर्विधा

योगिनः प्रतिपादिताः, तेषु अनन्तर्गतत्वाद् वक्ष्यमाणस्य योगिनः, न निर्धारणे षष्ठी संभवति ।

योगियोंका प्रतिपादन किया गया है, यह इस श्लोकमें कहा जानेवाला योगी उनके अन्तर्गत नहीं है । अतएव यहाँ निर्धारणके निमित्तसे षष्ठी विभक्ति नहीं हो सकती ।

अपि सर्वेषाम् इति सर्वशब्दनिर्दिष्टाः तपस्विप्रभृतयः, तत्र अपि उक्तेन न्यायेन पञ्चम्यर्थो ग्रहीतव्यः, योगिभ्यः अपि सर्वेभ्यो वक्ष्यमाणो योगी युक्ततमः, तदपेक्षया अवरत्वे तपस्विप्रभृतीनां योगिनां च न कश्चिद् विशेष इत्यर्थः । मेर्वपेक्षया सर्षपाणाम् इव यद्यपि सर्षपेषु अन्योन्यन्यूनाधिकभावो विद्यते, तथापि मेर्वपेक्षया अवरत्वनिर्देशः समानः ।

'अपि सर्वेषाम्' इस प्रकार 'सर्व' शब्दसे तपस्वी आदिका निर्देश है । वहाँ भी उपर्युक्त न्यायसे पञ्चमीका अर्थ ही ग्रहण करना चाहिये । अभिप्राय यह है कि योगियोंकी और अन्य सब तपस्वी आदिकी अपेक्षा भी इस श्लोकमें कहा जानेवाला योगी युक्ततम (अत्यन्त श्रेष्ठ) है । उसकी अपेक्षा निम्नश्रेणीके होनेमें तपस्वी आदिकोंका और योगियोंका कोई प्रभेद उसी प्रकार नहीं है; जैसे मेरुकी तुलनामें सरसोंके दानोंका । यद्यपि सरसोंके दानोंमें परस्पर छोटे-बड़ेका भेद है तथापि मेरुकी अपेक्षा उनको छोटा बतलाना सबके लिये समान है ।

मत्प्रियत्वातिरेकेण अनन्यसाधारणस्वभावतया मद्गतेन अन्तरात्मना मनसा बाह्याभ्यन्तरसकलवृत्तिविशेषाश्रयभूतं मनो हि अन्तरात्मा, अत्यर्थमत्प्रियत्वेन

मेरे प्रेमकी अधिकताके कारण जिसका स्वभाव साधारण मनुष्योंसे सर्वथा विलक्षण हो गया है इसलिये जो मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे—यहाँ बाहर-भीतरकी समस्त वृत्तियोंका विशेषरूपसे आश्रयभूत मन ही अन्तरात्मा है, ऐसे मनसे जो मुझे भजता है अर्थात् मेरा अत्यन्त प्रेमी होनेके कारण जो

मया विना स्वधारणालाभात् मद्गतेन मनसा श्रद्धावान् अत्यर्थमत्प्रियत्वेन क्षणमात्रवियोगासहतया मत्प्राप्तिप्रवृत्तौ त्वरावान् यो मां भजते ;

मेरे बिना अपना जीवन धारण करनेमें भी असमर्थ है इसलिये मुझमें लगे हुए मनसे मुझे भजता है तथा जो श्रद्धावान् भक्त मेरा अत्यन्त प्रेमी होनेके कारण मेरा क्षणभरका भी वियोग नहीं सह सकता अतएव मेरी प्राप्तिकी साधनामें अत्यन्त उतावला होकर जो मुझे भजता है (वह मेरे मतमें श्रेष्ठतम है)

मां विचित्रानन्तभोग्यभोक्तृवर्गभोगोपकरणभोगस्थानपरिपूर्णनिखिलजगदुदयविभवलयलीलम् अस्पृष्टाशेषदोषानवधिकातिशयज्ञानबलैश्वर्यवीर्यशक्तितेजःप्रभृत्यसंख्येयकल्याणगुणगणनिधिं स्वाभिमतानुरूपैकरूपाचिन्त्यदिव्याद्भुतनित्यनिरवद्यनिरतिशयौज्ज्वल्यसौन्दर्यसौगन्ध्यसौकुमार्यलावण्ययौवनाद्यनन्तगुणनिधिदिव्यरूपं वाङ्मनसापरिच्छेद्यस्वरूपस्वभावम् अपारकारुण्यसौशील्यवात्सल्यौदार्यैश्वर्यमहोदधिम् अनालोचितविशेषाशेषलोकशरण्यं

कहनेका अभिप्राय यह कि विचित्र अनन्त भोग्य पदार्थ, भोक्तृवर्ग, भोगसाधन और भोगस्थानोंसे परिपूर्ण निखिल जगत्का उद्भव, पालन और संहार मेरी लीला है, सम्पूर्ण दोषोंके स्पर्शसे रहित असीम अतिशय ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, शक्ति और तेज प्रभृति असंख्य कल्याणमय गुणसमूहोंका मैं भण्डार हूँ; मेरा दिव्य श्रीविग्रह स्वेच्छानुरूप सदा एकरस अचिन्त्य दिव्य अद्भुत नित्य निर्मल निरतिशय औज्ज्वल्य, सौन्दर्य, सौगन्ध्य, सौकुमार्य, लावण्य और यौवनादि अनन्त गुणोंका आगार है; मेरा स्वरूप और स्वभाव मन-वाणीसे अगोचर है, ऐसा मैं अपार कारुण्य, सौशील्य, वात्सल्य, औदार्य और ऐश्वर्यका महान् समुद्र हूँ; भेदभावका विचार किये बिना ही समस्त लोकोंको शरण देनेवाला हूँ; शरणागतों-

प्रणतार्तिहरम् आश्रितवात्सल्यैकजलधिम् अखिलमनुजनयनविषयतां गतम् अजहत्स्वस्वभावं वसुदेवगृहे अवतीर्णम् अनवधिकातिशयतेजसा निखिलं जगद् भासयन्तम् आत्मकान्त्या विश्वम् आप्यायन्तं भजते, सेवते उपास्ते इत्यर्थः। स मे युक्ततमो मतः, **स सर्वेभ्यः श्रेष्ठतम इति सर्वं सर्वदा यथावस्थितं स्वत एव साक्षात्कुर्वन् अहं मन्ये ॥ ४७ ॥**

इति श्रीमद्भगवद्रामानुजाचार्यविरचिते श्रीमद्भगवद्गीताभाष्ये षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

के दुःखोंको हरण करनेवाला हूँ; आश्रितजनोंके लिये वात्सल्यका एकमात्र समुद्र हूँ; मैं अपने स्वभावको न छोड़ते हुए ही वसुदेवजीके घरमें अवतीर्ण होकर समस्त मनुष्योंके नेत्रोंका विषय बना हूँ और अपने अपरिमित अतिशय तेजसे अखिल जगत्को प्रकाशित कर रहा हूँ—अपनी कान्तिसे विश्वको आप्यायित कर रहा हूँ, ऐसे मुझ परमेश्वरको जो भजता है—मेरी सेवा अर्थात् उपासना करता है, वह मुझे युक्ततम मान्य है—वह योगी सबकी अपेक्षा अत्यन्त श्रेष्ठ है, यह बात मैं, जो सबको सब समय यथार्थ स्थितिमें अपने-आप ही साक्षात् करनेवाला हूँ, स्वयं मानता हूँ ॥४७॥

इस प्रकार श्रीमान् भगवान् रामानुजाचार्यद्वारा रचित श्रीमद्भगवद्गीता-भाष्यके हिन्दी-भाषानुवादका छठा अध्याय पूरा हुआ ॥६॥
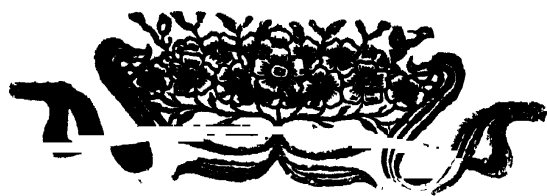
ॐ

मध्यम षट्क

सातवाँ अध्याय

प्रथमेन अध्यायषट्केन परमप्राप्यभूतस्य परस्य ब्रह्मणो निरवद्यस्य निखिलजगदेककारणस्य सर्वज्ञस्य सर्वभूतस्य सत्यसंकल्पस्य महाविभूतेः श्रीमतो नारायणस्य प्राप्त्युपायभूतं तदुपासनं वक्तुं तदङ्गभूतम् आत्मज्ञानपूर्वककर्मानुष्ठानसाध्यं प्राप्तुः प्रत्यगात्मनो याथात्म्यदर्शनम् उक्तम्।

इदानीं मध्यमेन षट्केन परब्रह्मभूतपरमपुरुषस्वरूपं तदुपासनं च भक्तिशब्दवाच्यम् उच्यते। तदेतद् उत्तरत्र '*यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन*

जो प्राप्त करने योग्य वस्तुओंमें सर्वश्रेष्ठ हैं, सर्वथा दोषरहित हैं, सम्पूर्ण जगत्‌के एकमात्र कारण हैं, और सबको सदा सब प्रकारसे जानते हैं, तथा सबके अन्तर्यामी होनेके कारण सभी प्राणी जिनके शरीर हैं, जिनका संकल्प सदा ही सत्य है, जिनकी विभूतियाँ महान् और अनन्त हैं, उन परब्रह्म श्रीमान् नारायणकी प्राप्तिके उपायरूप उनकी उपासनाका वर्णन करनेके लिये प्रथम छः अध्यायोंमें उपासनाके अङ्गरूप आत्मज्ञानपूर्वक कर्मानुष्ठानसे सिद्ध होनेवाले आत्मसाक्षात्कारका यानी प्राप्तिकर्ता जीवात्माके यथार्थ स्वरूपदर्शनका वर्णन किया गया!

अब बीचके छः अध्यायोंमें परब्रह्मरूप परमपुरुषका स्वरूप और 'भक्ति' शब्दसे बतलायी जानेवाली उनकी उपासना कही जाती है। इसी भक्तिको आगे चलकर अठारहवें अध्यायमें

सर्वमिदं ततम्। स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥' (१८।४६) **इत्यारभ्य** *'विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते। ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ॥ समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥' (१८। ५३, ५४)* **इति वक्ष्यते।**

उपासनं तु भक्तिरूपापन्नम् एव परमप्राप्त्युपायभूतम् इति वेदान्तवाक्यसिद्धम् *'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति' (श्वेता० ३।८) 'तमेवं विद्वानमृत इह भवति' (नृ० पू० ता० १।६)* **इत्यादिना अभिहितं वेदनम्** *'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृ० उ० २।४।५) 'आत्मानमेव लोकमुपासीत' (बृ० उ० १।४।१५) 'सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः, स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः' (छा० उ० ७।२६।२) 'भिद्यते हृदयग्रन्थिः' (मु० उ० २।२।८)* **इत्यादिभिः ऐकार्थ्यात् स्मृतिसंतानरूपं दर्शनसमानाकारं ध्यानोपासनशब्दवाच्यम् इति अवगम्यते।**

'यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्। स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥' से आरम्भ करके **'विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते। ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ॥ समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्।'** तक इस प्रकार कहेंगे।

उपासना ही जब भक्तिके रूपमें परिणत हो जाती है, तब वही परम पुरुषकी प्राप्तिकी उपाय बन जाती है। यह वेदान्तवाक्योंसे सिद्ध है। **'उसी (परमेश्वर) को जानकर मनुष्य मृत्युसे पार हो जाता है' 'उसको इस प्रकार जाननेवाला विद्वान् यहाँ अमृत (जन्म-मृत्युरहित) हो जाता है'** इत्यादि श्रुतिवाक्योंसे बतलाये हुए ज्ञानकी **'हे श्वेतकेतो! आत्मा ही देखनेयोग्य, सुनने योग्य मनन करने योग्य और निदिध्यासन करने योग्य है।' 'आत्मस्वरूप लोककी ही उपासना करनी चाहिये।' 'अन्तःकरणकी शुद्धिसे स्थायी स्मृति होती है, स्मृतिकी प्राप्तिसे सारी ग्रन्थियोंका भलीभाँति नाश हो जाता है' '(उस परमपुरुषके साक्षात्कारसे) हृदयकी ग्रन्थियोंका भेदन हो जाता है'** इत्यादि वचनोंके साथ एकार्थता होनेके कारण यह बात समझमें आती है कि चिन्तन-प्रवाहरूप उस ज्ञानको, जो दर्शनके समान आकारवाला हो जाता है, ध्यान और उपासना शब्दसे कहा गया है।

पुनश्च—

'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥'
(मु० उ० ३।२।३)

इति विशेषणात् परेण आत्मना वरणीयताहेतुभूतं स्मर्यमाणविषयस्य अत्यर्थप्रियत्वेन स्वयम् अपि अत्यर्थप्रियरूपं स्मृतिसंतानम् एव उपासनशब्दवाच्यम् इति हि निश्चीयते, तद् एव भक्तिः इत्युच्यते *'स्नेहपूर्वमनुध्यानं भक्तिरित्युच्यते बुधैः' (लैङ्ग० उ० खं०)* **इति वचनात्।** *'अतस्तमेवं विद्वानमृत इह भवति' (नृ० पू० उ० १।६) 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (श्वेता० ३।८) 'नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया। शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥ भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन। ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥' (११।५३-५४)* **इत्यनयोः एकार्थत्वं सिद्धं भवति।**

इसके सिवा **'यह आत्मा न तो प्रवचनसे ही प्राप्त हो सकता है, न बुद्धिसे और न बहुत सुननेसे ही। यह जिसको वरण कर लेता है, उसीको मिलता है—उसीके लिये यह परमात्मा अपना रूप प्रकट कर देता है।'** इस विशेषणसे भी यह निश्चय होता है कि परमपुरुषके द्वारा वरण किये जाने योग्य बननेका जो कारण है और स्मरण किया जानेवाला विषय अत्यन्त प्रिय होनेसे जो स्वयं भी अत्यन्त प्रियरूप है, ऐसे चिन्तनके प्रवाहको ही उपासना कहा गया है। उसीको 'भक्ति' कहते हैं। यही बात **'स्नेहपूर्वक बार-बार ध्यान करनेको ही ज्ञानी जन भक्ति कहते हैं'** इस वचनसे कही गयी है। **'उसीको इस प्रकार जाननेवाला—विद्वान् यहाँ अमृत हो जाता है'** **'परम पुरुषकी प्राप्तिके लिये दूसरा कोई मार्ग नहीं दीखता'** इस वाक्यकी और **'नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया। शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥ भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन। ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥'** इन वचनोंकी एकार्थता ऐसा माननेसे ही सिद्ध होती है।

तत्र सप्तमे तावद्

मध्यम षट्कके अन्तर्गत इस सातवें अध्यायमें उपास्यरूप परमपुरुषके

उपास्यभूतपरमपुरुषस्वरूपयाथात्म्यं प्रकृत्या तत्तिरोधानं तन्निवृत्तये भगवत्प्रपत्तिः उपासकविधाभेदो ज्ञानिनः श्रैष्ठ्यं चोच्यते—

स्वरूपका यथार्थ तत्त्व, (जीवोंके लिये) प्रकृतिके आवरणसे उसका ढका जाना, और उस आवरणकी निवृत्तिके लिये भगवान्‌की शरणागति, उपासकोंके प्रकार-भेद और उनमें ज्ञानीकी श्रेष्ठताका वर्णन किया जाता है—

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—पृथापुत्र (अर्जुन) ! मुझमें आसक्त मनवाला, मेरे ही आश्रित हुआ, मेरी प्राप्तिके साधनरूप योगमें लगा हुआ तू बिना सन्देहके जैसे सम्पूर्णतासे मुझे जानेगा, उसे सुन ॥ १ ॥

मयि **आभिमुख्येन** आसक्तमनाः **मत्प्रियत्वातिरेकेण मत्स्वरूपेण गुणैः च चेष्टितेन मद्विभूत्या विश्लेषे सति तत्क्षणाद् एव विशीर्यमाणस्वभावतया मयि सुगाढं बद्धमनाः** मदाश्रयः **तथा स्वयं च मया विना विशीर्यमाणतया मदाश्रयः मदेकाधारः** मद्योगं **युञ्जन् योक्तुं प्रवृत्तो योगविषयभूतं** माम् असंशयं **निःसंशयं** समग्रं **सकलं** यथा ज्ञास्यसि **येन ज्ञानेन उक्तेन ज्ञास्यसि** तद् **ज्ञानम् अवस्थितमनाः** शृणु ॥ १ ॥

मेरी सम्मुखतासे मुझमें मनको आसक्त करके—मुझमें अत्यन्त प्रेम होनेके कारण मेरे स्वरूपसे, गुणोंसे, लीलाओंसे और मेरी विभूतियोंसे वियोग होनेपर उसी क्षण अत्यन्त खिन्न हो जानेके स्वभावसे मुझमें मनकी विशेष गाढ़ स्थितिवाला होकर, और मेरे आश्रित—मेरे वियोगसे ही अत्यन्त खिन्न हो जानेके स्वभावसे केवल मुझको ही एकमात्र आधार बनानेवाला होकर, मुझे प्राप्त करनेके साधनरूप योगमें लगा हुआ तू योगके लक्ष्यरूप मुझ परमेश्वरको बिना सन्देहके समग्रतासे जैसे जानेगा—बतलाये हुए जिस ज्ञानसे जानेगा, उस ज्ञानको निश्चल मनवाला होकर सुन ॥ १ ॥

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते॥ २॥

मैं तुझको यह ज्ञान विज्ञानके सहित पूर्णरूपसे बतलाऊँगा, जिसको जानकर फिर यहाँ और जानने योग्य (कुछ भी) शेष नहीं बचेगा॥ २॥

अहं ते **मद्विषयम्** इदं ज्ञानं **विज्ञानेन सह** अशेषतो वक्ष्यामि। विज्ञानं **हि विविक्ताकारविषयं ज्ञानम्, यथा अहं मद्व्यतिरिक्तात् समस्तचिदचिद्वस्तुजातात् निखिलहेयप्रत्यनीकतया अनवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणगणानन्तमहाविभूतितया च विविक्तः तेन विविक्तविषयज्ञानेन सह मत्स्वरूपविषयज्ञानं वक्ष्यामि। किं बहुना** यद् **ज्ञानं** ज्ञात्वा **मयि पुनः** अन्यद् ज्ञातव्यं न अवशिष्यते॥ २॥

मैं तुझको यह मद्विषयक ज्ञान विज्ञानके सहित निःशेषरूपसे बतलाऊँगा। प्रकृतिसंसर्गरहित स्वरूपके साङ्गोपाङ्ग ज्ञानका नाम विज्ञान है। मैं जिस प्रकार सम्पूर्ण हेय गुणगणोंसे रहित और असीम अतिशय असंख्य कल्याणमय गुणगणरूप अनन्त महाविभूतियोंसे युक्त होनेके कारण मेरे अतिरिक्त समस्त चेतनाचेतन वस्तुमात्रके संसर्गसे रहित हूँ, उस असङ्गता-विषयक ज्ञानके सहित मेरे स्वरूप-विषयक ज्ञानको बतलाऊँगा। अधिक क्या, (मैं ऐसे ज्ञानको बतलाऊँगा) जिसको जान लेनेके पश्चात् और मुझमें जानने योग्य कुछ भी नहीं बच रहेगा॥ २॥

वक्ष्यमाणस्य ज्ञानस्य दुष्प्रापताम् आह—

आगे जिस ज्ञानका वर्णन किया जायगा, उसकी दुर्लभता बतलाते हैं—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥ ३॥

सहस्रों मनुष्योंमें कोई एक ही सिद्धिपर्यन्त यत्न करता है और सिद्धिपर्यन्त यत्न करनेवाले पुरुषोंमें भी कोई एक ही मुझे तत्त्वसे जानता है ॥ ३ ॥

मनुष्याः शास्त्राधिकारयोग्याः तेषां सहस्रेषु कश्चिद् **एव सिद्धिपर्यन्तं यतते। सिद्धिपर्यन्तं यतमानानां सहस्रेषु** कश्चिद् **एव** मां **विदित्वा मत्तः सिद्धये यतते। मद्विदां सहस्रेषु** तत्त्वतो **यथावस्थितं** मां वेत्ति **न कश्चिद् इति अभिप्रायः**। *'स महात्मा सुदुर्लभः'* (७। १९) *'मां तु वेद न कश्चन'* (७। २६) **इति हि वक्ष्यते** ॥ ३ ॥

जिसको शास्त्रमें अधिकार है, वही मनुष्य है ऐसे सहस्रों मनुष्योंमें—कोई ही सिद्धिकी प्राप्तितक यत्न करता है। सिद्धि प्राप्त होनेतक यत्न करनेवाले सहस्रों मनुष्योंमेंसे कोई ही मुझे जानकर मुझसे सिद्धि पानेके लिये यत्न करता है। मुझको जाननेवाले सहस्रोंमें कोई ही मुझ परमेश्वरको तत्त्वसे—यथार्थ स्वरूपसे जानता है। अभिप्राय यह कि कोई भी नहीं (जानता)। क्योंकि **'स महात्मा सुदुर्लभः' 'मां तु वेद न कश्चन'** यह आगे कहेंगे ॥ ३ ॥

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहङ्कार—यह आठ प्रकारकी प्रकृति मेरी है ॥ ४ ॥

अस्य विचित्रानन्दभोग्यभोगोपकरणभोगस्थानरूपेण अवस्थितस्य जगतः प्रकृतिः इयं **गन्धादिगुणकपृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशादिरूपेण मनःप्रभृतीन्द्रियरूपेण च महदहंकाररूपेण** च अष्टधा भिन्ना **मदीया इति विद्धि** ॥ ४ ॥

इस विचित्र अनन्त भोग्य (भोग्य पदार्थों), भोगोंके साधनों और भोग स्थानोंके रूपमें स्थित जगत्की कारणरूपा यह प्रकृति, गन्ध आदि गुणोंवाले पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाशके रूपमें तथा मन आदि इन्द्रियोंके रूपमें और महत्तत्त्व एवं अहङ्कारके रूपमें—इस प्रकार आठ भेदोंमें विभक्त है—इसको तू मेरी समझ ॥ ४ ॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ ५ ॥

यह अपरा है । अब इससे दूसरी हे महाबाहो अर्जुन ! तू मेरी जीवरूपा परा प्रकृतिको जान, जिससे यह जगत् धारण किया जाता है ॥ ५ ॥

इयं **मम** अपरा **प्रकृतिः**, इतः तु अन्याम् **इतः अचेतनायाः चेतनभोग्यभूतायाः प्रकृतेः विसजातीयाकारां** जीवभूतां परां **तस्याः भोक्तृत्वेन प्रधानभूतां चेतनरूपां मदीयां** प्रकृतिं विद्धि यया इदम् **अचेतनं कृत्स्नं** जगद् धार्यते ॥ ५ ॥

यह मेरी अपरा प्रकृति है । इससे दूसरी यानी जिसका स्वरूप चेतनकी भोग्यरूपा इस जड प्रकृतिसे विलक्षण है और जो इस जड प्रकृतिकी भोक्त्री होनेके कारण प्रधानरूप है उसको तू मेरी जीवनामक चेतनरूप परा प्रकृति समझ, जिसने कि इस समूचे जड जगत्को धारण कर रक्खा है ॥ ५ ॥

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ६ ॥

ऐसा जान कि सम्पूर्ण भूतप्राणी इन्हीं दोनों योनियोंवाले हैं (मेरी ये दो प्रकृति ही सबकी कारण हैं) अतः मैं इस समूचे जगत्की उत्पत्ति और प्रलयका स्थान हूँ ॥ ६ ॥

एत**च्चेतनाचेतनसमष्टिरूपमदीयप्रकृतिद्वय**योनीनि **ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानि उच्चावचभावेन अवस्थितानि चिदचिन्मिश्राणि** सर्वाणि भूतानि **मदीयानि** इति उपधारय, **मदीयप्रकृतिद्वययोनीनि हि तानि मदीयानि एव । तथा प्रकृतिद्वययोनित्वेन**

ऊँचे-नीचे भावमें स्थित ब्रह्मासे लेकर स्तम्ब पर्यन्त जड-चेतन-मिश्रित समस्त प्राणियोंकी यह मेरी जड और चेतन समष्टिरूप दोनों प्रकृतियाँ ही कारण हैं । अतः ये सब (प्राणी) मेरे हैं, तू ऐसा समझ; क्योंकि ये मेरी दोनों प्रकृतियोंसे उत्पन्न होनेवाले हैं, अतः मेरे ही हैं । तथा दोनों

कृत्स्नस्य जगतः, तयोः द्वयोः अपि मद्योनित्वेन मदीयत्वेन च कृत्स्नस्य जगतः अहम् **एव** प्रभवः **अहम् एव** प्रलयः **अहम् एव च शेषी इति उपधारय ।**

तयोः चिदचित्समष्टिभूतयोः प्रकृतिपुरुषयोः अपि परमपुरुषयोनित्वं श्रुतिस्मृतिसिद्धम् । *'महानव्यक्ते लीयते अव्यक्तमक्षरे लीयते अक्षरं तमसि लीयते तमः परे देवे एकीभवति'* *(सु० उ० २)* *'विष्णोः स्वरूपात्परतोदिते द्वे रूपे प्रधानं पुरुषश्च'* *(वि० पु० १ । २ । २४)* *'प्रकृतिर्या मया ख्याता व्यक्ताव्यक्तस्वरूपिणी । पुरुषश्चाप्युभावेतौ लीयेते परमात्मनि ॥ परमात्मा च सर्वेषामाधारः परमेश्वरः । विष्णुनामा स वेदेषु वेदान्तेषु च गीयते॥'* *(वि० पु० ६ । ४ । ३८, ३९)* **इत्यादिका हि श्रुतिस्मृतयः ॥ ६ ॥**

प्रकृतियाँ समूचे जगत्का कारण हैं, तथा उन दोनों प्रकृतियोंका भी मैं कारण हूँ और वे मेरी हैं, इसलिये समूचे जगत्का मैं ही प्रभव हूँ, मैं ही प्रलय हूँ, तथा मैं ही शेषी (स्वामी) हूँ, ऐसा समझ।

उन समष्टिरूप जडचेतन प्रकृति और पुरुषका भी कारण परमपुरुष है। यह बात श्रुति-स्मृतिसे सिद्ध है। उदाहरणतः **'महत्तत्त्व अव्यक्तमें लीन होता है, अव्यक्त अक्षरमें लीन होता है, अक्षर तममें लीन होता है, तम परमपुरुषमें एक हो जाता है।' 'ब्रह्मन्! विष्णुके स्वरूपसे फिर दो रूप प्रकट हुए—एक प्रधान (जड प्रकृति) और दूसरा पुरुष (चेतन प्रकृति)' 'जो मेरे द्वारा बतलायी हुई व्यक्त और अव्यक्तरूपा प्रकृति है, वह और पुरुष—ये दोनों ही परमात्मामें लीन हो जाते हैं। परमात्मा परम ईश्वर सबका आधार है। वह वेद और वेदान्तोंमें विष्णु नामसे गाया जाता है'** इत्यादि श्रुति-स्मृतियाँ हैं॥६॥

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७ ॥

अर्जुन! मुझसे श्रेष्ठतर दूसरा कुछ भी नहीं है। सूत्रमें मणियोंके समान यह सब मुझमें पिरोया हुआ है॥७॥

यथा सर्वकारणस्य अपि प्रकृतिद्वयस्य कारणत्वेन सर्वाचेतनवस्तु-

जैसे सबकी कारणरूपा दोनों प्रकृतियोंका भी कारण होनेसे, समस्त

शेषिणः चेतनस्य अपि शेषित्वेन कारणतया शेषितया च अहं परतरः, तथा ज्ञानशक्तिबलादिगुणयोगेन च अहम् एव परतरः मत्तः अन्यत् **मद्व्यतिरिक्तं** किञ्चिद् **ज्ञानबलादिगुणान्तरयोगि** परतरं न अस्ति ।

सर्वम् इदं **चिदचिद्वस्तुजातं कार्यावस्थं कारणावस्थं च मच्छरीरभूतं** सूत्रे **मणिगणवदात्मतया अवस्थिते** मयि प्रोतम् **आश्रितम् ।**

'यस्य पृथिवी शरीरम्' (बृ० उ० ३ । ७ । ३) 'यस्यात्मा शरीरम्' (श० ब्रा० १४ । ५ । ६ । ५ । ३०) 'एष सर्वभूतान्तरात्मापहतपाप्मा, 'दिव्यो देव एको नारायणः' (सु० उ० ७) **इति आत्मशरीरभावेन अवस्थानम् च जगद्ब्रह्मणोः अन्तर्यामिब्राह्मणादिषु सिद्धम् ॥ ७ ॥**

जड वस्तुओंके स्वामी, चेतनका भी मैं स्वामी हूँ इसलिये मैं कारणरूपसे और स्वामीरूपसे सबसे अत्यन्त पर हूँ, वैसे ही ज्ञानशक्ति-बल आदि गुणोंकी प्रतियोगितामें भी मैं ही श्रेष्ठतर हूँ । ज्ञान-बल आदि गुणोंकी प्रतियोगितामें मुझसे अतिरिक्त कुछ भी श्रेष्ठतर नहीं है ।

ये कार्यावस्था और कारणावस्थामें स्थित मेरे शरीररूप समस्त जडचेतन वस्तुमात्र, उनमें आत्मरूपसे स्थित मुझ परमेश्वरमें सूत्रमें पिरोये हुए मणियोंकी भाँति पिरोये हुए हैं—मेरे आश्रित हैं ।

'जिसका पृथ्वी शरीर है,' 'जिसका आत्मा शरीर है,' 'यह सब प्राणियोंका अन्तरात्मा पापोंसे रहित, दिव्य देव एक नारायण है' इस प्रकार जगत्का शरीररूपमें और ब्रह्मका आत्मरूपमें स्थित होना अन्तर्यामिब्राह्मणादि प्रसंगोंमें प्रसिद्ध है ॥ ७ ॥

अतः सर्वस्य परमपुरुषशरीरत्वेन आत्मभूतपरमपुरुषप्रकारत्वात् सर्वप्रकारः परमपुरुष एव अवस्थित इति सर्वैः शब्दैः तस्य एव अभिधानम् इति तत्तत्सामानाधिकरण्येन आह रसः अहम् **इति चतुर्भिः—**

परमपुरुषका शरीर होनेके नाते, सब कुछ, उनके आत्मरूप परमपुरुषका ही स्वरूप है; अतएव सब रूपोंमें परमपुरुष ही स्थित है । इसलिये समस्त शब्दोंसे उसीका वर्णन है । इसीसे उस-उसकी समानाधिकरणतासे इस बातको 'रसोऽहं'से लेकर चार श्लोकोंमें बतलाते हैं—

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभाऽस्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥ ८ ॥
पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ ९ ॥
बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥१०॥
बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥११॥

अर्जुन ! जलोंमें मैं रस, चन्द्रमा और सूर्यमें प्रभा, सब वेदोंमें ओंकार, आकाशमें शब्द और पुरुषोंमें पुरुषत्व हूँ । पृथ्वीमें पवित्र गन्ध, अग्निमें तेज, सब प्राणियोंमें जीवनी शक्ति और तपस्वियोंमें तप मैं हूँ । अर्जुन ! समस्त प्राणियोंका सनातन बीज तू मुझको जान ! बुद्धिमानोंकी बुद्धि और तेजस्वियोंका तेज मैं हूँ । भरतश्रेष्ठ ! बलवानोंका कामरागसे सर्वथा रहित बल और प्राणियोंमें धर्मसे अविरुद्ध (धर्मसम्मत) काम मैं हूँ ॥ ८–११ ॥

एते सर्वे विलक्षणा भावा मत्त एव उत्पन्नाः मच्छेषभूता मच्छरीरतया मयि एव अवस्थिताः, अतः तत्प्रकारः अहम् एव अवस्थितः ॥ ८–११ ॥

ये सभी विलक्षण भाव मुझसे ही उत्पन्न हैं, मेरे ही शेषभूत (अधीन) हैं और मेरे शरीर होनेसे मुझमें ही स्थित हैं; अतएव उन-उन रूपोंमें मैं ही स्थित हो रहा हूँ ॥ ८–११ ॥

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान् विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥१२॥

और जो भी ये सात्त्विक, राजस तथा तामस भाव हैं, वे मुझसे ही उत्पन्न हैं, तू उनको ऐसा समझ । परन्तु मैं उनमें नहीं हूँ, वे मुझमें हैं ॥ १२ ॥

किं विशिष्य अभिधीयते, सात्त्विकाः राजसाः तामसाः च **जगति भोग्यत्वेन देहत्वेन इन्द्रियत्वेन तत्तद्धेतुत्वेन च अवस्थिता** ये भावाः तान् **सर्वान्** मत्त एव **उत्पन्नान्** विद्धि ते **मच्छरीरतया** मयि **एव अवस्थिता** इति **च** । न तु अहं तेषु **न अहं कदाचिद् अपि तदायत्तस्थितिः, अन्यत्र आत्मायत्तस्थितित्वे अपि शरीरस्य शरीरेण आत्मनः स्थितौ अपि उपकारो विद्यते, मम तु तैः न कश्चित् तथाविध उपकारः केवलं लीला एव प्रयोजनम् इत्यर्थः** ॥ १२ ॥

विशेष क्या कहा जाय, जगत्में भोग्यरूपसे, शरीररूपसे, इन्द्रियरूपसे और उनके कारणरूपसे स्थित जो भी सात्त्विक, राजस और तामस भाव हैं, उन सबको तू मुझसे ही उत्पन्न हुए समझ। और साथ ही यह भी समझ कि वे मेरे शरीररूप होनेके कारण मुझमें ही स्थित हैं, किन्तु मैं उनमें स्थित नहीं हूँ अर्थात् किसी कालमें भी मैं उनके सहारेपर स्थित नहीं हूँ। अभिप्राय यह है कि अन्यत्र (अन्य जीवोंमें) शरीरकी स्थिति आत्माके अधीन होनेपर भी शरीरसे आत्माकी स्थितिमें भी कुछ उपकार होता है; परन्तु मेरा उन (जीवोंसे या शरीर-इन्द्रियादि) से वैसा कोई भी उपकार नहीं होता। मेरा प्रयोजन तो केवल लीला ही है ॥ १२ ॥

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥ १३ ॥

इन गुणमय तीन प्रकारके पदार्थोंसे मोहित हुआ यह सब जगत् इनसे श्रेष्ठतर मुझ अविनाशीको नहीं जानता है ॥ १३ ॥

तदेवं चेतनाचेतनात्मकं कृत्स्नं जगत् मदीयं काले काले मत्त एव उत्पद्यते मयि च प्रलीयते मयि एव अवस्थितं मच्छरीरभूतं मदात्मकं

इस प्रकार यह जडचेतनात्मक समूचा जगत् मेरा है, समय-समयपर मुझसे ही उत्पन्न होता है, मुझमें लय होता है और मुझमें ही स्थित है तथा मेरा ही शरीरभूत और मदात्मक

च, इति अहम् एव कार्यावस्थायां कारणावस्थायां च सर्वशरीरतया सर्वप्रकारः अवस्थितः। अतः कारणत्वेन शेषित्वेन च ज्ञानाद्यसंख्येयकल्याणगुणगणैः च अहम् एव सर्वैः प्रकारैः परतरः। मत्तः अन्यत् केन अपि कल्याणगुणगणेन परतरं न विद्यते। एवंभूतं मां त्रिभ्यः सात्त्विकराजसतामसगुणमयेभ्यः भावेभ्यः परं मदसाधारणैः कल्याणगुणगणैः तत्तद्भोग्यताप्रकारैः च परम् उत्कृष्टतमम् अव्ययं सदा एकरूपम् अपि तैः एव त्रिभिः गुणमयैः निहीनतरैः क्षणविध्वंसिभिः पूर्वकर्मानुगुणदेहेन्द्रियभोग्यत्वेन अवस्थितैः पदार्थैः मोहितं देवतिर्यङ्मनुष्यस्थावरात्मना अवस्थितम् इदं जगत् न अभिजानाति ॥ १३ ॥

है अर्थात् मैं ही इसका आत्मा हूँ। अतः कार्य-अवस्था और कारण-अवस्थामें मैं ही सब शरीरोंके रूपमें सब प्रकारसे स्थित हूँ। अतः कारणरूपसे, शेषी (स्वामी) रूपसे और ज्ञान आदि असंख्य कल्याणमय गुणगणोंकी प्रतियोगितामें भी सब प्रकारसे मैं ही सबसे श्रेष्ठतर हूँ। मेरे अतिरिक्त दूसरा कोई भी किसी भी कल्याणमय गुणगणके नाते मुझसे श्रेष्ठतर नहीं है। ऐसे मुझ परमेश्वरको, जो कि इन सात्त्विक, राजस और तामस तीनों प्रकारके गुणमय भावोंसे पर हूँ तथा मेरे असाधारण कल्याणमय गुणगणोंके कारण और उन-उनके भोग्यताके प्रकारोंके कारण भी अत्यन्त श्रेष्ठतर हूँ, इस प्रकार सदा एकरूप रहनेवाले अविनाशीको भी यह तीनों गुणोंसे मोहित हुआ जगत् नहीं जानता यानी उन्हीं अत्यन्त हीनतर क्षणभंगुर पूर्वकर्मानुसार मिलनेवाले शरीर-इन्द्रियोंके आकारमें स्थित तीनों प्रकारके गुणमय पदार्थोंसे मोहित हुआ, यह देव, तिर्यक्, मनुष्य और स्थावरोंके रूपमें स्थित जगत् मुझको नहीं जानता ॥ १३ ॥

कथं स्वत एव अनवधिकातिशयानन्दे नित्ये सदा एकरूपे लौकिक-

आप (परमेश्वर) जो स्वभावसे ही असीम, अतिशय आनन्दरूप, नित्य और सदा एकरूपमें रहनेवाले

वस्तुभोग्यताप्रकारैः च उत्कृष्टतमे त्वयि स्थिते अपि अत्यन्तनिहीनेषु गुणमयेषु अस्थिरेषु भावेषु सर्वस्य भोक्तृवर्गस्य भोग्यत्वबुद्धिः उपजायते इत्यत्र आह—

एवं समस्त लौकिक वस्तुओंके भोग्यता-प्रकारोंकी अपेक्षा श्रेष्ठतम हैं, ऐसे आपके रहनेपर भी इन अत्यन्त हीन, क्षणिक, गुणमय भावोंमें सभी जीव-वर्गकी भोग्य-बुद्धि कैसे हो जाती है, इस विषयमें कहते हैं—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥१४॥

यह मेरी गुणमयी दैवी माया निःसन्देह दुस्तर है (पर) जो एकमात्र मेरी शरण ग्रहण कर लेते हैं, वे इस मायासे तर जाते हैं ॥ १४ ॥

मम एषा गुणमयी **सत्त्वरजस्तमोमयी** माया **यस्माद्** दैवी **देवेन क्रीडाप्रवृत्तेन मया एव निर्मिता तस्मात्सर्वैः** दुरत्यया **दुरतिक्रमा** ।

जिससे कि यह मेरी गुणमयी—सत्त्व, रज और तमोमयी माया दैवी है—लीलाके लिये प्रवृत्त मुझ परमदेवके द्वारा निर्मित है, इसलिये यह सभीसे दुस्तर है अर्थात् इसको पार करना नितान्त ही कठिन है ।

अस्याः मायाशब्दवाच्यत्वम् आसुरराक्षसास्त्रादीनाम् इव विचित्रकार्यकरत्वेन, यथा च *'ततो भगवता तस्य रक्षार्थं चक्रमुत्तमम् । आजगाम समाज्ञप्तं ज्वालामालि सुदर्शनम् ॥ तेन मायासहस्रं तच्छम्बरस्याशुगामिना । बालस्य रक्षता देहमेकैकांशेन सूदितम् ॥'* (*वि० पु० १।१९।१९-२०*) **इत्यादौ,**

असुर, राक्षस और अस्त्रादिकी भाँति विचित्र कार्य करनेवाली होनेके कारण इसका नाम माया है । जैसे कि **'उसके बाद उस बालककी रक्षाके लिये भगवान्‌की आज्ञा पाकर प्रज्वलित अग्निकी लपटोंके द्वारा देदीप्यमान सर्वोत्तम सुदर्शनचक्र वहाँ आ पहुँचा । उस शीघ्रगामी चक्रने बालकके शरीरकी रक्षामें संलग्न हो शम्बरासुरकी उस सहस्रों प्रकारकी मायाको टुकड़े-टुकड़े काटकर नष्ट कर दिया ।'** इत्यादि ।

अतो मायाशब्दो न मिथ्यार्थवाची। ऐन्द्रजालिकादिषु अपि केनचिद् मन्त्रौषधादिना मिथ्यार्थविषयायाः पारमार्थिक्या एव बुद्धेः उत्पादकत्वेन मायावी इति प्रयोगः। तथा मन्त्रौषधादिः एव च तत्र माया, सर्वप्रयोगेषु अनुगतस्य एकस्य एव शब्दार्थत्वात्। तत्र मिथ्यार्थेषु मायाशब्दप्रयोगो मायाकार्यबुद्धिविषयत्वेन औपचारिकः, *'मञ्चाः क्रोशन्ति'* इतिवत्।

एषा गुणमयी पारमार्थिकी भगवन्माया एव *'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' (श्वेता० ४। १०)* इत्यादिषु अभिधीयते।

अस्याः कार्यं भगवत्स्वरूपतिरोधानं स्वस्वरूपभोग्यत्वबुद्धिः च, अतो भगवन्मायया मोहितं सर्वं जगद् भगवन्तम् अनवधिकातिशयानन्दस्वरूपं न अभिजानाति।

मायाविमोचनोपायम् आह—

माम् एव सत्यसंकल्पं परमकारुणिकम् अनालोचितविशेषाशेषलोकशरण्यं ये

अतएव 'माया' शब्द मिथ्या वस्तुका वाचक नहीं है। बाजीगर आदिको भी किसी मन्त्र या औषधके द्वारा मिथ्या वस्तुके विषयमें सत्यता-बुद्धि उत्पन्न कर देनेवाला होनेके कारण ही 'मायावी' कहते हैं। वस्तुतः वहाँ मन्त्र और औषध आदि ही माया है। सब प्रयोगोंमें अनुगत एक ही वस्तुको (माया) शब्दका अर्थ माना जा सकता है। अतः मिथ्या वस्तुओंमें जो माया शब्दका प्रयोग है, वह मायाजनित बुद्धिका विषय होनेके कारण औपचारिक है। जैसे कि **'मचानें चिल्ला रही हैं'**, यह प्रयोग है।

यह गुणमयी सत्य वस्तु भगवान्‌की माया ही **'प्रकृतिको तो माया और महेश्वरको मायावी समझ।'** इत्यादि श्रुतियोंमें कही गयी है।

भगवान्‌के स्वरूपको छिपा देना और अपने स्वरूपमें भोग्यबुद्धि करा देना, इस मायाका कार्य है। इसलिये भगवान्‌की मायासे मोहित हुआ सब जगत् असीम अतिशय आनन्दस्वरूप भगवान्‌को नहीं जानता।

मायासे छूटनेका उपाय बतलाते हैं—जो मनुष्य केवलमात्र सत्य-सङ्कल्प, परमदयालु और बिना किसी छोटे-बड़ेकी भेददृष्टिके सबको शरण देनेवाले मुझ परमेश्वरकी ही शरण

शरणं प्रपद्यन्ते ते एतां **मदीयां गुणमयीं** मायां तरन्ति । **मायाम् उत्सृज्य माम् एव उपासत इत्यर्थः** ॥ १४ ॥

ग्रहण कर लेते हैं, वे मेरी इस गुणमयी मायासे तर जाते हैं। अभिप्राय यह है कि वे मायाका त्याग करके मेरी ही उपासना करते हैं ॥ १४ ॥

किमिति भगवदुपासनापादिनीं भगवत्प्रपत्तिं सर्वे न कुर्वन्ति ? इत्यत्र आह—

तब फिर सब मनुष्य भगवान्‌की उपासनाका सम्पादन करनेवाली भगवत्प्रपत्ति (शरणागति) को क्यों ग्रहण नहीं करते ? इसपर कहते हैं—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययाऽपहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥ १५ ॥

मूढ, नराधम, मायासे हरे गये ज्ञानवाले और आसुरी प्रकृतिका आश्रय लिये हुए पापाचारी मनुष्य मेरी शरण ग्रहण नहीं करते ॥ १५ ॥

मां दुष्कृतिनः **पापकर्माणो दुष्कृततारतम्यात् चतुर्विधा** न प्रपद्यन्ते मूढा नराधमाः, मायया अपहृतज्ञाना आसुरं भावम् आश्रिताः **इति । मूढाः विपरीतज्ञाना पूर्वोक्तप्रकारेण मत्स्वरूपापरिज्ञानात् प्राकृतेषु एव विषयेषु सक्ताः पूर्वोक्तप्रकारेण भगवच्छेषतैकरसम् आत्मानं भोग्यजातं च स्वशेषतया मन्यमानाः ।**

दुष्ट कर्म करनेवाले पापाचारी लोग मेरी शरण ग्रहण नहीं करते। वे पापकर्मोंकी न्यूनाधिकताके कारण मूढ, नराधम, मायासे हरे गये ज्ञानवाले और आसुरी प्रकृतिके आश्रित ऐसे चार प्रकारके होते हैं। इनमें जो पूर्वोक्त प्रकारसे मेरे स्वरूपको न समझनेके कारण प्राकृत विषयोंमें ही आसक्त हो रहे हैं एवं पूर्वोक्त प्रकारसे भगवान्‌के अधीन रहनेवाले एकरस आत्माको और भोग्यवस्तुमात्रको अपने शेषभूत (अपने अधीन) समझनेवाले हैं, ऐसे विपरीतज्ञानी मनुष्य तो 'मूढ' हैं।

नराधमाः सामान्येन ज्ञाते अपि

जो सामान्यतया मेरे स्वरूपको

मत्स्वरूपे मदौन्मुख्यानर्हाः ।

मायया अपहृतज्ञानाः तु मद्विषयं मदैश्वर्यविषयं च ज्ञानं प्रस्तुतम् येषां तदसंभावनापादिनीभिः कूटयुक्तिभिः अपहृतं ते तथोक्ताः ।

आसुरं भावम् आश्रिताः तु मद्विषयं मदैश्वर्यविषयं च ज्ञानं सुदृढम् उपपन्नं येषां द्वेषाय एव भवति ते आसुरं भावम् आश्रिताः । उत्तरोत्तराः पापिष्ठतमाः ॥ १५ ॥

जानेपर भी मेरे सम्मुख होनेके योग्य नहीं हैं, वे 'नराधम' हैं ।

जिनको मेरे स्वरूप एवं मेरे ऐश्वर्यका ज्ञान उपस्थित होनेपर जो ज्ञान असम्भव समझानेवाली कूट युक्तियोंके द्वारा हर लिया गया है, ऐसे मनुष्य 'मायासे हरे गये ज्ञानवाले' हैं ।

मेरे स्वरूप और मेरे ऐश्वर्यका सर्वथा सुदृढ ज्ञान प्राप्त होकर भी, जिनके लिये वह ज्ञान केवल मुझमें द्वेष उत्पन्न करनेवाला होता है, वे 'असुरोंके भाव—(आसुरी प्रकृति) का आश्रयण करनेवाले' हैं । ये चारों क्रमशः एक-से-एक बढ़कर अधिक पापी हैं ॥१५॥

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥१६॥

भरतश्रेष्ठ (अर्जुन) ! आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी— ये चार प्रकारके पुण्यकर्मा मनुष्य मुझको भजते हैं ॥ १६ ॥

सुकृतिनः पुण्यकर्माणो मां शरणम् उपगम्य माम् एव भजन्ते । ते च सुकृततारतम्येन चतुर्विधाः, सुकृतगरीयस्त्वेन प्रतिपत्तिवैशेष्याद् उत्तरोत्तराधिकतमाः भवन्ति ।

आर्त्तः प्रतिष्ठाहीनो भ्रष्टैश्वर्यः

श्रेष्ठ कर्म करनेवाले पुण्यकर्मा मनुष्य मेरी शरण ग्रहण करके केवल मुझको ही भजते हैं । वे भी पुण्यकर्मोंकी न्यूनाधिकताके कारण चार प्रकारके होते हैं—पुण्यकर्मकी अधिकतासे शरणागतिमें भेद होनेके कारण क्रमशः एक-से-एक बढ़कर होते हैं ।

जो प्रतिष्ठासे हीन हो गया है और

पुनस्तत्प्राप्तिकामः । अर्थार्थी अप्राप्तै-श्वर्यतया ऐश्वर्यकामः, तयोः मुख-भेदमात्रम्, ऐश्वर्यविषयतया ऐक्याद् एक एव अधिकारः ।

जिज्ञासुः प्रकृतिवियुक्तात्मस्व-रूपावाप्तीच्छुः ज्ञानम् एव अस्य स्वरूपम् इति जिज्ञासुः इति उक्तम् ।

ज्ञानी च '*इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्*' (७।५) इत्यादिना अभि-हितभगवच्छेषतैकरसात्मस्वरूपवित् प्रकृतिवियुक्तकेवलात्मनि अपर्य-वस्यन् भगवन्तं प्रेप्सुः भगवन्तम् परमप्राप्यं मन्वानः ॥ १६ ॥

जिसका ऐश्वर्य भ्रष्ट हो गया है इसलिये जो फिरसे उसको प्राप्त करना चाहता है, वह 'आर्त' है। जिसको पहलेसे ऐश्वर्य प्राप्त नहीं है, अतः जो ऐश्वर्य चाहता है, वह 'अर्थार्थी है।' आर्त और अर्थार्थीमें नाममात्रका भेद है, ऐश्वर्यकी इच्छाके नाते दोनोंकी एकता होनेसे दोनोंका एक ही अधिकार है।

प्रकृति-संसर्गसे रहित आत्मस्वरूप-को प्राप्त करनेकी इच्छावाला जिज्ञासु है। ज्ञान ही इसका स्वरूप है, ऐसे जाननेकी इच्छावालेको 'जिज्ञासु' कहा गया है।

इन तीनोंसे भिन्न जो '**इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्**' इत्यादि श्लोकोंके द्वारा बतलाये हुए भगवान्‌के अधीन रहनेवाले एकरस आत्माके स्वरूपको जाननेवाला है तथा केवल प्रकृतिसंसर्गसे रहित आत्माको ही परम प्राप्य न मानकर भगवान्-को प्राप्त करनेकी इच्छावाला और भगवान्‌को ही परम प्राप्य समझनेवाला है, वह 'ज्ञानी' है ॥ १६ ॥

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ १७ ॥

उनमें नित्ययुक्त और एक (मुझमें) भक्तिवाला ज्ञानी श्रेष्ठ है; क्योंकि मैं उसका अत्यन्त प्रिय हूँ और वह मेरा प्रिय है ॥ १७ ॥

तेषां ज्ञानी विशिष्यते, **कुतः** नित्ययुक्त एकभक्तिः **इति च। तस्य हि मदेकप्राप्यस्य मया योगो नित्यः। इतरयोस्तु यावत्स्वाभिलषितप्राप्ति मया योगः। तथा ज्ञानिनो मयि एकस्मिन् एव भक्तिः, इतरयोः तु स्वाभिलषिते तत्साधनत्वेन मयि च। अतः स एव विशिष्यते।**

किं च प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थम् अहम्—**अत्र अत्यर्थशब्दो अभिधेयवचनः; ज्ञानिनः अहं यथा प्रियः तथा मया सर्वज्ञेन सर्वशक्तिना अपि अभिधातुं न शक्यते इत्यर्थः; प्रियत्वस्य इयत्तारहितत्वात्। यथा ज्ञानिनाम् अग्रेसरस्य प्रह्लादस्य—** *'स त्वासक्तमतिः कृष्णे दश्यमानो महोरगैः। न विवेदात्मनो गात्रं तत्स्मृत्याह्लादसंस्थितः'* (*वि० पु० १। १७। ३९*) **इति सः अपि तथा एव** मम प्रियः॥ १७॥

उन चारोंमें ज्ञानी श्रेष्ठ है, क्योंकि वह नित्ययुक्त है और एक मुझमें ही भक्तिवाला है। केवल मुझ एकको प्राप्य समझनेवाले उस ज्ञानीका ही मेरे साथ नित्य संयोग रहता है। अन्य दोका तो जबतक अपना इच्छित विषय नहीं मिल जाता तभीतक मुझमें संयोग रहता है। तथा ज्ञानीकी तो एकमात्र मुझमें ही भक्ति होती है और दूसरे दोनोंकी अपने इच्छित विषयोंमें और उनके साधनरूप समझकर मुझमें भी (भक्ति होती है); इसलिये वही (ज्ञानी ही) श्रेष्ठ है।

इसके सिवा, मैं ज्ञानीको अत्यन्त प्रिय होता हूँ। इस श्लोकमें 'अत्यर्थ' शब्द 'अभिधेय' का वाचक है। अभिप्राय यह कि मैं ज्ञानीको कैसा प्रिय हूँ, इसको मैं सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् होनेपर भी नहीं बतला सकता। क्योंकि प्रियत्वकी कोई इयत्ता (निश्चित मात्रा) नहीं होती। जैसे कि ज्ञानियोंमें अग्रगण्य प्रह्लादके प्रेमके विषयमें कहा है—**'वह श्रीकृष्णमें आसक्तबुद्धि और उनकी स्मृतिके आह्लादमें तन्मय होनेके कारण महान् सर्पोंके द्वारा काटे जानेपर भी अपने शरीरकी वेदनाको नहीं जान सका।'** ऐसा ज्ञानी भक्त भी मुझे वैसा ही प्रिय होता है॥ १७॥

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥१८॥

ये सारे ही उदार हैं; परन्तु मेरा मत है कि ज्ञानी तो मेरा आत्मा ही है; क्योंकि वह युक्तात्मा मुझ सर्वोत्तम प्राप्य वस्तुमें ही स्थित है ॥ १८ ॥

सर्वे एव एते **माम् एव उपासते** इति उदाराः **वदान्याः ये मत्तो यत् किञ्चिद् अपि गृह्णन्ति, ते हि मम सर्वस्वदायिनः** । ज्ञानी तु आत्मा एव मे मतं **तदायत्तात्मधारणः अहम्** इति मन्ये ।

कस्माद् एवं यस्माद् अयं मया विना आत्मधारणासंभावनया माम् एव **अनुत्तमं प्राप्यम्** आस्थितः, **अतः तेन विना मम अपि आत्मधारणं न संभवति, ततो मम अपि आत्मा** हि सः ॥ १८ ॥

ये सभी मेरी ही उपासना करते हैं, इसलिये उदार हैं । जो मुझसे कुछ लेते हैं और मुझे सर्वस्व अर्पण कर देते हैं वे सभी दानी हैं । ज्ञानीको तो मैं अपना आत्मा ही समझता हूँ । मैं अपनी स्थिति उसीके आधारपर मानता हूँ ।

यह कैसे ? सो कहते हैं—जिससे कि यह मेरे बिना जीवन धारण करनेमें असमर्थ होनेके कारण केवलमात्र मुझ सर्वोत्तम प्राप्य वस्तुमें स्थित रहता है; इसलिये मैं भी उसके बिना जीवन धारण करनेमें असमर्थ हूँ, इसलिये मेरा भी वह आत्मा ही है ॥ १८ ॥

न अल्पसंख्यासंख्यातानां पुण्यजन्मनां फलम् इदं यन्मच्छेषतैकरसात्मयाथात्म्यज्ञानपूर्वकं मत्प्रपदनम् अपि तु—

यह जो कि मुझे अपना स्वामी समझकर मेरे अधीनस्थ एकरस आत्माके स्वरूपको यथार्थ रूपसे जानते हुए मेरी शरण हो जाना है—सो अल्पसंख्यक पुण्यमय जन्मोंका फल नहीं है; किन्तु—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥१९॥

बहुतसे जन्मोंके अन्तमें ज्ञानवान् 'यह सब वासुदेव ही है', इस भावसे मेरी शरण ग्रहण करता है। वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है ॥ १९ ॥

बहूनां जन्मनां **पुण्यजन्मनाम् अन्ते अवसाने वासुदेवशेषतैकरसः अहं तदायत्तस्वरूपस्थितिप्रवृत्तिः च, स च असंख्येयैः कल्याणगुणैः परतरः** इति ज्ञानवान् **भूत्वा** वासुदेव **एव मम परमप्राप्यं प्रापकं च अन्यदपि यन्मनोरथवर्त्ति स एव मम तत्** सर्वम् इति मां यो प्रपद्यते **माम् उपास्ते** स महात्मा **महामनाः** सुदुर्लभः **दुर्लभतरः लोके ।**

'वासुदेवः सर्वम्' इत्यस्य अयम् एव अर्थः । *'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहम्'* (७ । १८) *'आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्'* (७ । १८) **इति प्रक्रमात् ।**

ज्ञानवान् च अयम् उक्तलक्षण एव, अस्य एव पूर्वोक्तज्ञानित्वात् ।

'भूमिरापः' **इति आरम्भ** *'अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ।*

बहुतसे पुण्यमय जन्मोंके अन्तमें—अन्तिम जन्ममें मनुष्य 'भगवान् वासुदेवके अधीन रहनेवाला एकरस आत्मा मैं हूँ और उस वासुदेवके आधारपर ही मेरी स्वरूपस्थिति तथा प्रवृत्ति है, वह वासुदेव असंख्य कल्याणमय गुणोंके कारण परम श्रेष्ठ है', ऐसे ज्ञानसे सम्पन्न होकर इस प्रकार मेरी शरण ग्रहण कर लेता है कि वासुदेव ही मेरा परम प्राप्य और प्रापक है, तथा और भी जो कुछ मेरा मनोरथ है, वह सब वासुदेव ही है। जो इस प्रकार मेरी प्रपत्ति—उपासना करता है, ऐसा महात्मा यानी महामना भक्त संसारमें सुदुर्लभ—परम दुर्लभ है ।

'वासुदेवः सर्वम्' इस पदका यही अभिप्राय है; क्योंकि **'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहम्' 'आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्'** इस प्रकार प्रकरणका आरम्भ हुआ है ।

इस श्लोकमें आया हुआ 'ज्ञानवान्' भी उपर्युक्त लक्षणोंवाला ही है, क्योंकि पूर्वोक्त ज्ञानीपन ऐसे पुरुषका ही हो सकता है ।

'भूमिरापः' यहाँसे लेकर **'अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ।**

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्॥ जीवभूताम्' (७ । ४ , ५) **इति हि चेतनाचेतनस्य प्रकृतिद्वयस्य परमपुरुषशेषतैकरसता उक्ता** *'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा । मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनंजय'* (७ । ६ , ७) **इति आरभ्य** *'ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये। मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥* (७ । १२) **इति प्रकृतिद्वयस्य कार्यकारणोभयावस्थस्य परमपुरुषायत्तस्वरूपस्थितिप्रवृत्तित्वं परमपुरुषस्य च सर्वैः प्रकारैः सर्वस्मात् परतरत्वम् उक्तम्; अतः स एव अत्र ज्ञानी इति उच्यते ॥१९॥**

'अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् । जीवभूताम् ।' यहाँतक इस प्रकार जडचेतन दोनों प्रकृतियोंको परमपुरुषके अधीन और एकरस बतलाया । फिर **'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा । मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनंजय'** यहाँसे लेकर **'ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये । मत्त एवेति तान् विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि'** यहाँतक इस प्रकार कार्य और कारण दोनों अवस्थाओंमें दोनों प्रकृतियोंकी स्वरूपस्थिति और प्रवृत्ति परमपुरुषके आश्रित बतलायी और परमपुरुषकी सब प्रकारसे सबकी अपेक्षा श्रेष्ठताका प्रतिपादन किया । अतः (जो इस प्रकार जाननेवाला है) वही यहाँ 'ज्ञानी' कहा गया है ॥ १९ ॥

तस्य ज्ञानिनो दुर्लभत्वम् एव उपपादयति—

ऐसे ज्ञानीकी दुर्लभता ही सिद्ध करते हैं—

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥२०॥

उन-उन भोगकामनाओंसे हरे गये ज्ञानवाले अपनी प्रकृतिके वश होकर अन्य देवताओंकी उन-उन नियमोंमें स्थित होकर शरण ग्रहण करते हैं ॥२०॥

सर्वे एव हि लौकिकाः पुरुषाः स्वया प्रकृत्या **पापवासनया गुणमय-**

अपनी प्रकृतिसे—त्रिगुणमय भावोंको विषय करनेवाली पापवासनाओंसे नित्य-

भावविषयया नियता **नित्यान्विताः** तैः तैः **स्ववासनानुरूपैः गुणमयैः एव** कामैः **इच्छाविषयभूतैः हृतमत्स्वरूपविषयज्ञानाः** तत्तत्कामसिद्ध्यर्थम् अन्यदेवताः **मद्व्यतिरिक्ताः केवलेन्द्रादिदेवताः** तं तं नियमम् आस्थाय **तत्तद्देवताविशेषमात्रप्रीणनाय असाधारणं नियमम् आस्थाय** प्रपद्यन्ते **ता एव आश्रित्य अर्चयन्ते ॥ २० ॥**

युक्त हुए सभी लौकिक मनुष्य, जिनका मत्स्वरूपविषयक ज्ञान अपनी वासनाओंके अनुरूप इच्छाके विषयभूत त्रिगुणमय विभिन्न भोगोंके द्वारा हर लिया गया है, वे उन-उन भोगोंकी सिद्धिके लिये मुझसे अतिरिक्त केवल इन्द्रादि अन्य देवताओंकी उन-उन नियमोंमें स्थित होकर—उन देवताविशेषकी प्रीतिके लिये ही, जो असाधारण नियम है, उनमें स्थित होकर उनकी शरण लेते हैं अर्थात् उनके आश्रित होकर उनकी पूजा करते हैं। (वे मेरे स्वरूपको नहीं जानते) ॥ २० ॥

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥२१॥

जो-जो भक्त जिस-जिस तनु (देवतारूप मेरे शरीर) को श्रद्धाके साथ पूजना चाहता है, उस-उसकी उस श्रद्धाको मैं ही अचल—स्थिर कर देता हूँ ॥ २१ ॥

ता अपि देवताः मदीयाः तनवः *'य आदित्ये तिष्ठन्यमादित्यो न वेद, यस्यादित्यः शरीरम्'* (बृ० उ० ३ । ७ । ९) **इत्यादिश्रुतिभिः प्रतिपादिताः मदीयाः तनवः । इति अजानन् अपि** यो यो यां यां **मदीयाम् इन्द्रादिकां** तनुं भक्तः श्रद्धया अर्चितुम् इच्छति, तस्य

वे देवता भी मेरे ही शरीर हैं **'जो सूर्यमें स्थित रहकर उसका शासन करता है, पर जिसको सूर्य नहीं जानता। जिसका सूर्य शरीर है'** इत्यादि श्रुतियोंसे प्रतिपादित सब देवता मेरे ही शरीर हैं। इस बातको न समझकर भी जो-जो भक्त मेरे जिस-जिस इन्द्रादि शरीरकी श्रद्धापूर्वक पूजा

तस्य **अजानतः अपि मत्तनुविषया एषा श्रद्धा इति अहम् एव अनुसन्धाय** ताम् एव अचलां **निर्विघ्नां** विदधामि अहम् ॥ २१ ॥

करना चाहता है उन-उन न जाननेवाले भक्तोंकी उस देवताविषयक श्रद्धाको भी मैं 'यह श्रद्धा भी मेरे ही शरीरमें है' यह समझकर अचल — निर्विघ्न स्थापन कर देता हूँ ॥ २१ ॥

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान् ॥ २२ ॥

वह (भक्त) उस श्रद्धासे युक्त होकर उस (देवतारूप भगवान्‌के शरीर) की आराधना करता है और उससे उन भोगोंको प्राप्त करता है, जो मेरे ही द्वारा नियत किये हुए हैं ॥ २२ ॥

स तया **निर्विघ्नया** श्रद्धया युक्तः तस्य **इन्द्रादेः** आराधनं **प्रति** ईहते **चेष्टते** ततः **मत्तनुभूतेन्द्रादिदेवताराधनात् तान् एव** हि **स्वाभिलषितान्** कामान् मया एव विहितान् लभते ।

वह उस निर्विघ्न श्रद्धासे युक्त होकर उन इन्द्रादि देवताओंकी आराधनाके लिये प्रयत्न करता है, उस मेरे शरीररूप इन्द्रादि देवताओंकी आराधनासे उन्हीं अपने इच्छित भोगोंको, जो मुझसे ही नियत किये हुए हैं, प्राप्त कर लेता है ।

यद्यपि आराधनकाले इन्द्रादयो मदीयाः तनवः; तत एव तदर्चनं च मदाराधनम् इति न जानाति, तथापि तस्य वस्तुतो मदाराधनत्वाद् आराधकाभिलषितम् अहम् एव विदधामि ॥ २२ ॥

यद्यपि वह आराधनाके समय इस बातको नहीं जानता कि 'इन्द्रादि देवता मेरे (भगवान्‌के) ही शरीर हैं, इस कारण उनकी पूजा मेरी ही पूजा है', तो भी वह आराधना वस्तुतः मेरी ही है, इसलिये आराधना करनेवालेको उसका अभिलषित भोग मैं ही प्रदान करता हूँ ॥ २२ ॥

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥२३॥

परन्तु उन अल्प बुद्धिवालोंका वह फल अन्तवाला होता है। देवताओंकी पूजा करनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त मुझको ही पाते हैं ॥२३॥

तेषाम् अल्पमेधसाम् **अल्पबुद्धीनाम् इन्द्रादिमात्रयाजिनां तदाराधनफलं स्वल्पम्** अन्तवत् **च** भवति। **कुतः?** देवान् देवयजो यान्ति **यत इन्द्रादीन्** देवान् **तद्याजिनो** यान्ति। **इन्द्रादयो हि परिच्छिन्नभोगाः परिमितकालवर्तिनश्च। ततः तत्सायुज्यं प्राप्ताः तैः सह प्रच्यवन्ते।**

मद्भक्ता अपि **तेषाम् एव कर्मणां मदाराधनरूपतां ज्ञात्वा परिच्छिन्नफलसङ्गं त्यक्त्वा मत्प्रीणनैकप्रयोजनाः** माम् **एव प्राप्नुवन्ति, न च पुनर्निवर्तन्ते** *'मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते'* (८ । १६) **इति वक्ष्यते ॥ २३ ॥**

परन्तु केवल इन्द्रादि देवताओंका पूजन करनेवाले अल्पमेधस्---मन्दबुद्धिवाले उन मनुष्योंको उस आराधनाका फल स्वल्प और अन्तवाला मिलता है। किसलिये? इसलिये कि वे देवताओंकी पूजा करनेवाले देवताओंको ही पाते हैं। अर्थात् इन्द्रादि देवताओंकी पूजा करनेवाले उन्हींको पाते हैं और वे इन्द्रादि देवता परिच्छिन्न भोगोंवाले एवं परिमित कालतक जीनेवाले हैं; अतः उनकी सायुज्यताको प्राप्त हुए पुरुष उन्हींके साथ गिर जाते हैं।

परन्तु मेरे भक्त उन्हीं कर्मोंको मेरी आराधनाके रूपमें समझकर परिच्छिन्न फलकी आसक्तिका त्याग करके केवल एक मेरी प्रसन्नताको ही मुख्य साध्य मानकर करनेवाले होते हैं, अतः मुझको ही पाते हैं। फिर कभी संसारमें नहीं लौटते। क्योंकि **'माम् उपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते'** इस प्रकार आगे कहेंगे ॥ २३ ॥

इतरे तु सर्वसमाश्रयणीयत्वाय

मेरे भक्तोंके अतिरिक्त दूसरे लोग, समस्त विश्वको समाश्रयण (शरण)

मम मनुष्यादिषु अवतारम् अपि अकिंचित्करं कुर्वन्ति इत्याह—

देनेके लिये जो मनुष्यादिरूपमें मेरा अवतार हुआ है, उसको भी ऐसा समझते हैं कि 'यह कुछ भी नहीं कर सकता।' अब इसी बातको कहते हैं—

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥२४॥

बुद्धिहीन लोग मेरे सर्वोत्तम, अविनाशी परमभावको न जानकर ऐसा मानते हैं कि (यह पहले) अप्रकट था, अब प्रकट हुआ है ॥ २४ ॥

सर्वैः कर्मभिः आराध्यः अहं सर्वेश्वरः वाङ्मनसापरिच्छेद्यस्वरूपस्वभावः परमकारुण्याद् आश्रितवात्सल्यात् च सर्वसमाश्रयणीयत्वाय अजहत्स्वभाव एव वसुदेवसूनुः अवतीर्ण इति मम एवं परं भावम् अव्ययम् अनुत्तमम् अजानन्तः प्राकृतराजसूनुसमानम् इतः पूर्वम् अनभिव्यक्तम् इदानीं कर्मवशाद् जन्मविशेषं प्राप्य व्यक्तिम् आपन्नं प्राप्तं माम् अबुद्धयो मन्यन्ते अतो मां न श्रयन्ते, न कर्मभिः आराधयन्ति च ॥ २४ ॥

जो सभी कर्मोंके द्वारा आराधनीय है, जिसका स्वरूप और स्वभाव वाणी तथा मनसे कहने और समझनेमें नहीं आता, ऐसा मैं सर्वेश्वर परम दयालुता और शरणागतवत्सलतासे सबको सब प्रकारसे भलीभाँति आश्रय प्रदान करनेके लिये अपने स्वभावशक्तिको लिये हुए ही वसुदेवका पुत्र बनकर अवतीर्ण हुआ हूँ। इस मेरे सर्वोत्तम अविनाशी परम प्रभावको न जाननेवाले बुद्धिहीन मनुष्य, साधारण राजपुत्रके समान, 'इसके पहले यह प्रकट नहीं था, अब कर्मवश जन्मविशेषको पाकर प्रकट हुआ है', ऐसा मानते हैं। अतएव वे न तो मेरा आश्रय लेते हैं और न कर्मोंके द्वारा मेरी आराधना ही करते हैं ॥ २४ ॥

कुत एवं न प्रकाश्यते इति, अत्र आह—

किस कारणसे आप इस प्रकार सबके लिये प्रकाशमें नहीं आते—इस विषयमें कहते हैं—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥२५॥

योगमायासे ढका हुआ मैं सबके लिये प्रत्यक्ष नहीं हूँ । (इसीसे) यह मूढ जगत् मुझ अजन्मा और अविनाशीको नहीं जानता है ॥ २५ ॥

क्षेत्रज्ञासाधारणमनुष्यत्वादिसंस्थानयोगाख्यमायया समावृतः अहं न सर्वस्य प्रकाशः । **मयि मनुष्यत्वादिसंस्थानदर्शनमात्रेण** मूढः अयं लोको माम् **अतिवाय्विन्द्रकर्माणम् अतिसूर्याग्नितेजसम् उपलभ्यमानम् अपि** अजम् अव्ययं **निखिलजगदेककारणं सर्वेश्वरं मां सर्वसमाश्रयणीयत्वाय मनुष्यत्वसंस्थानम् आस्थितं** न अभिजानाति ॥ २५ ॥

अन्य जीवोंसे विलक्षण मनुष्यादि शरीरोंकी हेतुरूप जो 'योग' नामक माया है, उस योगमायासे भलीभाँति ढका हुआ मैं सबके लिये प्रत्यक्ष नहीं हूँ । मुझमें मानवतादिकी आकृति-सी देखकर ही यह मूढ जगत्, मैं जो मनुष्यसमुदायमें इन्द्र और वायुसे बढ़कर कर्म करनेवाला, तथा अग्नि और सूर्यसे बढ़कर तेजवाला सबके सामने प्रकट हूँ, ऐसे अजन्मा, अविनाशी, समस्त जगत्के एकमात्र कारण और सबको समाश्रय प्रदान करनेके लिये मनुष्यरूपमें स्थित मुझ सर्वेश्वरको नहीं जानते ॥ २५ ॥

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥२६॥

अर्जुन ! मैं बीत गये हुए, वर्तमान और भविष्यमें होनेवाले सब भूतोंको जानता हूँ; पर मुझको कोई नहीं जानता ॥ २६ ॥

अतीतानि वर्तमानानि **अनागतानि** च **सर्वाणि** भूतानि अहं वेद **जानामि**

जो प्राणी अतीत हो गये हैं, जो वर्तमान हैं और जो होनेवाले हैं, उन सबको मैं जानता हूँ, परन्तु मुझको

मां तु वेद न कश्चन। **मया अनुसन्धीयमानेषु कालत्रयवर्तिषु भूतेषु माम् एवंविधं वासुदेवं सर्वसमाश्रयणीयतया अवतीर्णं विदित्वा माम् एव समाश्रयन् न कश्चिद् उपलभ्यत इत्यर्थः । अतो ज्ञानी सुदुर्लभ एव ॥ २६ ॥**

कोई नहीं जानता। अभिप्राय यह है कि मैं सदा जिनकी खोज-खबर रखता हूँ, उन त्रिकालवर्ती प्राणियोंमेंसे कोई भी ऐसे प्रभाववाले मुझ वासुदेवको सबको समाश्रय प्रदान करनेके लिये अवतीर्ण हुआ समझकर, मेरी शरण ग्रहण करनेवाला नहीं उपलब्ध होता। इसीलिये ज्ञानी बहुत दुर्लभ है ॥ २६ ॥

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परन्तप ॥ २७॥

अर्जुन ! परन्तप ! जन्मकालमें सभी भूतप्राणी इच्छा और द्वेषसे उत्पन्न द्वन्द्वरूप मोहसे सम्मोहित हो जाते हैं ॥ २७ ॥

तथाहि इच्छाद्वेषाभ्यां समुत्थेन **शीतोष्णादिद्वन्द्वाख्येन** मोहेन सर्वभूतानि सर्गे **जन्मकाल एव** संमोहं यान्ति। **एतद् उक्तं भवति गुणमयेषु सुखदुःखादिद्वन्द्वेषु पूर्वपूर्वजन्मनि यद्विषयौ इच्छाद्वेषौ रागद्वेषौ अभ्यस्तौ तद्वासनया पुनरपि जन्मकाल एव तदेव द्वन्द्वाख्यम् इच्छाद्वेषविषयत्वेन समुपस्थितं भूतानां मोहनं भवति तेन मोहेन सर्वभूतानि संमोहं यान्ति, तद्विषयेच्छाद्वेषस्वभावानि भवन्ति, न मत्संश्लेषवियोगसुखदुःखस्वभावानि। ज्ञानी तु मत्सं-**

क्योंकि सभी भूत जन्मकालसे ही इच्छा और द्वेषसे उत्पन्न शीतोष्णादि द्वन्द्वरूप मोहके द्वारा मोहित हो जाते हैं। कहनेका अभिप्राय यह होता है कि पूर्व-पूर्व जन्मोंमें त्रिगुणमय सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें जैसे-जैसे इच्छा-द्वेषोंका—राग और द्वेषोंका अभ्यास किया था, उन्हींकी वासनासे फिर वह भूतोंका द्वन्द्वनामक मोह राग और द्वेष कार्यरूपमें जन्मकालमें ही प्रकट हो जाता है और उस मोहसे सभी भूत मोहित हो जाते हैं यानी तद्विषयक इच्छा और द्वेष करनेवाले हो जाते हैं, मेरे संयोग और वियोगसे सुखी और दुखी होनेवाले नहीं होते। परन्तु ज्ञानी केवल मेरे

श्लेषवियोगैकसुखदुःखस्वभावः, न तत्स्वभावं किमपि भूतं जायते इति ॥ २७ ॥

संयोग-वियोगमें ही सुख-दुःख माननेवाला होता है। उसके-जैसे स्वभावका दूसरा कोई भी प्राणी नहीं जन्मता ॥२७॥

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥२८॥

परन्तु जिन पुण्यकर्मा भक्तोंका पाप नष्ट हो गया है, वे द्वन्द्वमोहसे छूटे हुए दृढ़व्रती होकर मुझको भजते हैं ॥ २८ ॥

येषां तु अनेकजन्मार्जितेन उत्कृष्टपुण्यसंचयेन गुणमयं द्वन्द्वेच्छाद्वेषहेतुभूतं मदौन्मुख्यविरोधि च अनादिकालप्रवृत्तं पापम् अन्तगतं क्षीणम् ते पूर्वोक्तेन सुकृततारतम्येन मां शरणम् अनुप्रपद्य गुणमयान्मोहाद् विनिर्मुक्ताः जरामरणमोक्षाय प्रकृतिवियुक्तात्मस्वरूपदर्शनाय महते च ऐश्वर्याय मत्प्राप्तये च दृढव्रताः दृढसंकल्पा माम् एव भजन्ते ॥ २८ ॥

परन्तु जिन पुरुषोंका अनादि कालसे प्रवृत्त गुणमय पापसमूह, जो द्वन्द्वनामक इच्छा और द्वेषका कारण है और जो मेरी सम्मुखताका विरोधी है, अनेक जन्मोंमें अर्जित श्रेष्ठतर पुण्यराशिके द्वारा नष्ट हो चुका है वे मेरी शरण ग्रहण करके गुणमय मोहसे भलीभाँति छूटे हुए भक्तजन पूर्वोक्त पुण्यसमूहकी न्यूनाधिकताके अनुसार कुछ तो जरा-मरणसे छूटनेके लिये—अर्थात् प्रकृतिसंसर्गसे रहित आत्मस्वरूपका दर्शन पानेके लिये, कुछ महान् ऐश्वर्यके लिये और कुछ मेरी प्राप्तिके लिये दृढसंकल्प होकर मुझको ही भजते हैं ॥ २८ ॥

तत्र तेषां त्रयाणां भगवन्तं भजमानानां ज्ञातव्यविशेषान् उपादेयांश्च प्रस्तौति—

अब भगवान्‌को भजनेवाले उन तीन प्रकारके भक्तोंके लिये जो जानने योग्य और धारण करने योग्य (पृथक्-पृथक्) तत्त्व हैं, उनकी प्रस्तावना करते हैं—

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥२९॥

जो जरा-मरणसे छूटनेके लिये मेरा आश्रय लेकर यत्न करते हैं, वे उस ब्रह्मको, सम्पूर्ण अध्यात्मको और समस्त कर्मोंको जान लेते हैं ॥ २९ ॥

जरामरणमोक्षाय **प्रकृतिवियुक्तात्मस्वरूपदर्शनाय** माम् आश्रित्य ये **यतन्ते** ते तद् ब्रह्म विदुः, अध्यात्मं **च** कृत्स्नं विदुः, कर्म च अखिलं **विदुः**॥२९॥

जो भक्त जरा-मरणसे छूटनेके लिये—प्रकृतिसंसर्गसे रहित आत्मस्वरूपका दर्शन पानेके लिये मेरे आश्रित होकर यत्न करते हैं वे उस ब्रह्मको जान लेते हैं, सम्पूर्ण अध्यात्मको जान लेते हैं और समस्त कर्मोंको भी जान लेते हैं ॥ २९ ॥

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥३०॥

जो मुझको अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञके सहित जानते हैं, वे युक्तचेता पुरुष मरणकालमें भी मुझको जानते हैं ॥ ३० ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अत्र य इति पुनर्निर्देशात् पूर्वनिर्दिष्टेभ्यः अन्ये अधिकारिणो ज्ञायन्ते ।

साधिभूतं साधिदैवं माम् ऐश्वर्यार्थिनो ये विदुः इत्येतद् अनुवाद-

इस श्लोकमें 'ये' इस पदका पुनः निर्देश होनेके कारण, यह वर्णन पहले बतलाये हुए अधिकारियोंसे भिन्न दूसरे अधिकारियोंका प्रतीत होता है ।

जो ऐश्वर्यको चाहनेवाले भक्त अधिभूत और अधिदैवके सहित मुझको जानते हैं, यह अनुवादस्वरूप वाक्य

स्वरूपम् अपि अप्राप्तार्थत्वात् तद्विधायकम् एव ।

तथा साधियज्ञम् इत्यपि त्रयाणाम् अधिकारिणाम् अविशेषेण विधीयते, अर्थस्वाभाव्यात् त्रयाणां हि नित्यनैमित्तिकरूपमहायज्ञाद्यनुष्ठानम् अवर्जनीयम् ।

ते च प्रयाणकालेऽपि स्वप्राप्यानुगुणं मां विदुः ।

'ते च' इति चकारात् पूर्वे जरामरणमोक्षाय यतमानाश्च प्रयाणकालेऽपि विदुः, इति समुच्चीयन्ते । अनेन ज्ञानिनः अपि अर्थस्वाभाव्यात् साधियज्ञं मां विदुः प्रयाणकाले अपि स्वप्राप्यानुगुणं मां विदुः इति उक्तं भवति ॥ ३० ॥

इति श्रीमद्भगवद्रामानुजाचार्यविरचिते श्रीमद्भगवद्गीताभाष्ये सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

भी अप्राप्त अर्थका बोधक होनेके कारण वास्तवमें उसीका विधायक वचन है ।

इसके सिवा, 'साधियज्ञ' शब्द तीनों अधिकारियोंके लिये समान भावसे कहा गया है । क्योंकि स्वभावतः तीनोंको ही यज्ञसे प्रयोजन है—तीनोंके लिये ही नित्य-नैमित्तिकरूप महायज्ञादिका अनुष्ठान करना अनिवार्य है ।

वे प्रयाणकालमें भी मुझे अपने प्राप्यके अनुरूप गुणोंसे युक्त समझते हैं ।

यहाँ 'ते च' इस प्रकार चकारके प्रयोगसे पहले बतलाये हुए जरा-मरणसे छूटनेके लिये प्रयत्न करनेवाले भक्तोंका भी 'प्रयाणकालमें भी जानते हैं' इस वाक्यमें समुच्चय कर लिया गया है । तथा इसी कथनसे ज्ञानियोंके विषयमें भी यह कहना हो जाता है कि स्वभावतः यज्ञसे प्रयोजन होनेके कारण वे भी मुझे अधियज्ञके सहित जानते हैं, और मरणकालमें भी वे मुझको अपने प्राप्यके अनुरूप गुणोंवाला जानते हैं ॥ ३० ॥

इस प्रकार श्रीमान् भगवान् रामानुजाचार्य-द्वारा रचित गीताभाष्यके हिन्दी-भाषानुवादका सातवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ७ ॥

ॐ

आठवाँ अध्याय

सप्तमे परस्य ब्रह्मणो वासुदेवस्य उपास्यस्य निखिलचेतनाचेतनवस्तुशेषित्वं कारणत्वम् आधारत्वं सर्वशरीरतया सर्वप्रकारत्वेन सर्वशब्दवाच्यत्वं सर्वनियन्तृत्वं सर्वैश्च कल्याणगुणगणैः एकाश्रयत्वं तस्य एव परतरत्वं च। सत्त्वरजस्तमोमयैः देहेन्द्रियत्वेन भोग्यत्वेन च अवस्थितैः भावैः अनादिकालप्रवृत्तदुष्कृतप्रवाहहेतुकैः तस्य तिरोधानम्। अत्युत्कृष्टहेतुकभगवत्प्रपत्त्या च तन्निवर्तनम्, सुकृततारतम्येन च प्रपत्तिवैशेष्याद् ऐश्वर्याक्षरयाथात्म्यभगवत्प्राप्त्यपेक्षया उपासकभेदम्, भगवन्तं प्रेप्सुः नित्ययुक्ततया एकभक्तितया च

सातवें अध्यायमें यह प्रतिपादन किया गया कि परब्रह्म श्रीवासुदेव ही उपास्य देव हैं, वे सम्पूर्ण जड-चेतन वस्तुओंके शेषी—स्वामी हैं, सबके कारण और आधार हैं, सब उन्हींके शरीर हैं इसलिये सभी प्रकारसे वे ही 'सर्व' शब्दसे वाच्य हैं और सबके नियन्ता हैं, वे ही समस्त कल्याणमय गुणगणोंसे युक्त होनेके कारण एकमात्र आश्रय हैं; वे ही सबके परम श्रेष्ठतम हैं। अनादिकालसे बहते हुए पापप्रवाहजनित सात्त्विक, राजस और तामस—त्रिगुणमय शरीर, इन्द्रियाँ और भोग्यवस्तुके रूपमें स्थित भावोंसे वे छिप रहे हैं। श्रेष्ठतम पुण्यके प्रभावसे होनेवाली भगवच्छरणागतिसे उस आवरणका नाश होता है। पुण्योंकी न्यूनाधिकतासे शरणागतिमें भेद होनेके कारण—'ऐश्वर्यकी प्राप्ति' 'आत्माके यथार्थ स्वरूपकी प्राप्ति' और 'भगवत्प्राप्ति'—इस प्रकार प्राप्तिविषयक अभिलाषामें भेद होते हैं और इसी कारण उपासकोंके भी तीन भेद होते हैं। भगवान्‌को प्राप्त करनेकी इच्छावाला भक्त नित्ययुक्त, एक भक्तियुक्त और परमपुरुष भगवान्‌का अत्यन्त प्रिय

अत्यर्थपरमगुरुप्रियत्वेन च श्रैष्ठ्यं दुर्लभत्वं च प्रतिपाद्य एषां त्रयाणां ज्ञातव्योपादेयभेदांश्च प्रास्तौषीत् ।

इदानीम् अष्टमे प्रस्तुतान् ज्ञातव्योपादेयभेदान् विविनक्ति—

होनेके कारण सबमें श्रेष्ठ है, अतएव दुर्लभ है । इस प्रकार प्रतिपादन करके फिर इन तीनों प्रकारके भक्तोंके लिये जानने और प्राप्त करने योग्य वस्तुओंके भेदोंका भी प्रस्तावनाके रूपमें वर्णन किया।

उन प्रस्तावरूपसे कहे हुए जानने और प्राप्त करने योग्य वस्तुभेदोंका अब आठवें अध्यायमें विवेचन करते हैं—

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥ १ ॥
अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन् मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥ २ ॥

अर्जुन बोला—पुरुषोत्तम ! वह ब्रह्म क्या है, अध्यात्म क्या है और कर्म क्या है ? अधिभूत क्या कहा गया है, अधिदैव किसको कहा जाता है ? मधुसूदन ! इस शरीरमें यहाँ अधियज्ञ कैसे और कौन है और मरनेके समय संयत आत्मा-वाले पुरुषोंके द्वारा आप कैसे जाने जाते हैं ? ॥ १-२ ॥

जरामरणमोक्षाय भगवन्तम् आश्रित्य यतमानानां ज्ञातव्यतया उक्तं तद् ब्रह्म अध्यात्मं च कर्म च किम् इति वक्तव्यम् ऐश्वर्यार्थिनां ज्ञातव्यम् अधिभूतम् अधिदैवं च किं त्रयाणां

जरा-मरणसे छूटनेके लिये आप भगवान्‌का आश्रय लेकर यत्न करने-वाले भक्तोंके जानने योग्य बतलाये हुए वे 'ब्रह्म', 'अध्यात्म' और 'कर्म' क्या है ? तथा ऐश्वर्यकी इच्छा करनेवाले भक्तोंके जानने योग्य 'अधि-भूत' और 'अधिदैव' क्या है ! और इन तीनोंके जानने योग्य जो 'अधियज्ञ'

ज्ञातव्यः अधियज्ञ**शब्दनिर्दिष्टश्च** कः **तस्य च अधियज्ञभावः** कथं प्रयाण-काले **च एभिः त्रिभिः** नियतात्मभिः कथं ज्ञेयः असि ॥ १-२ ॥

नामसे कहा गया है वह कौन है? उसका अधियज्ञ भाव कैसे है? एवं इन तीनों नियतात्मा (संयमी) पुरुषोंके द्वारा मरणके समयमें आप किस प्रकार जाने जाते हैं। यह सब बतलाना चाहिये ॥ १-२ ॥

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ ३ ॥

श्रीभगवान् बोले—ब्रह्म (आत्मा) परम अक्षर है, स्वभाव (प्रकृति) अध्यात्म कहलाता है, भूतोंके भावको उत्पन्न करनेवाले विसर्गका नाम कर्म है ॥ ३ ॥

तद् ब्रह्म **इति निर्दिष्टं** परमम् अक्षरं **न क्षरति इति अक्षरं क्षेत्रज्ञं समष्टिरूपम्; तथा च श्रुतिः** '*अव्यक्त-मक्षरे लीयते अक्षरं तमसि लीयते*' (*सुबालो० २*) **इत्यादिका। परमम् अक्षरं प्रकृतिविनिर्मुक्तात्मस्वरूपम्।** स्वभावः अध्यात्मम् उच्यते **स्वभावः प्रकृतिः अनात्मभूतम् आत्मनि संबद्ध्यमानं भूतसूक्ष्म-तद्वासनादिकं पञ्चाग्निविद्यायां**

तत् ब्रह्म शब्दसे जिसका निर्देश किया गया है वह 'ब्रह्म' परम अक्षर है—जिसका क्षर (नाश) न हो उसका नाम अक्षर है।। अतः समष्टिरूप क्षेत्रज्ञ (जीव) को ही ब्रह्म कहते हैं। ऐसी ही श्रुति भी है—**'अव्यक्त अक्षरमें लय होता है, अक्षर अन्धकार (प्रकृति) में लय होता है।'** इत्यादि। जिसका स्वरूप प्रकृतिसे सर्वथा निर्मुक्त (संसर्गरहित) है, उस आत्माका नाम परम अक्षर है। 'अध्यात्म' को स्वभाव कहा जाता है। अभिप्राय यह है कि प्रकृतिका नाम स्वभाव है वह आत्मासे सम्बद्ध अनात्मवस्तु—सूक्ष्म भूत और उनकी वासनारूपा प्रकृति पञ्चाग्नि-विद्यामें

ज्ञातव्यतया उदितम्; तदुभयं प्राप्यतया त्याज्यतया च मुमुक्षुभिः ज्ञातव्यम्।

भूतभावो **मनुष्यादिभावः,** तदुद्भवकरो **यो** विसर्गः *'पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति'* (छा० उ० ५।३।३) **इति श्रुतिसिद्धो योषित्संबन्धजः, स** कर्मसंज्ञितः **तत् च अखिलं सानुबन्धम् उद्वेजनीयतया परिहरणीयतया च मुमुक्षुभिः ज्ञातव्यम्। परिहरणीयता च अनन्तरम् एव वक्ष्यते,** *'यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति'* (८।११) **इति ॥३॥**

जानने योग्य बतलायी गयी है। वे दोनों प्राप्य (प्राप्त करने योग्य) और त्याज्य (त्याग करने योग्य) भेदसे मुमुक्षु पुरुषोंद्वारा पृथक्-पृथक् जान लेने योग्य हैं।

मनुष्यादि भूतोंकी सत्ताका नाम भूतभाव है, उसको उत्पन्न करनेवाला जो विसर्ग है यानी **'पाँचवीं आहुतिमें जल 'पुरुष' वाची हो जाता है'** इस श्रुतिसे सिद्ध जो स्त्री-सम्बन्धजनित विसर्ग (शुक्रत्याग) है, उसका नाम 'कर्म' है; उससे विरक्त होनेके उद्देश्यसे और उसको त्याज्य समझनेके उद्देश्यसे उसे मुमुक्षु पुरुषोंको सारे अङ्गोपाङ्गों-सहित पूर्णरूपसे जानना चाहिये। यह त्याज्य है—यह बात इसी अध्यायमें **'यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति'** इस वाक्यसे कहेंगे ॥ ३ ॥

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥ ४ ॥

देहधारियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! नाशवान् भाव अधिभूत है, और पुरुष अधिदैवत है तथा इस शरीरमें अधियज्ञ मैं ही हूँ ॥ ४ ॥

ऐश्वर्यार्थिनां ज्ञातव्यतया निर्दिष्टम् अधिभूतं क्षरो भावः **वियदादिभूतेषु वर्तमानः तत्परिणाम-**

ऐश्वर्यकी इच्छा करनेवाले भक्तोंके लिये जानने योग्य बतलाया हुआ—'अधिभूत' क्षर भाव है। अर्थात् आकाशादि भूतोंमें वर्तमान उनके कार्य-विशेष, जो कि अपने आश्रयोंसहित

विशेषः क्षरणस्वभावो विलक्षणः शब्दस्पर्शादिः साश्रयः, विलक्षणाः साश्रयाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः ऐश्वर्यार्थिभिः प्राप्याः, तैः अनुसन्धेयाः ।

पुरुषश्च अधिदैवतम् **अधिदैवतशब्दनिर्दिष्टः पुरुषः, अधिदैवतं दैवतोपरि वर्तमानम् इन्द्रप्रजापतिप्रभृतिकृत्स्नदैवतोपरि वर्तमानः, इन्द्रप्रजापतिप्रभृतीनां भोग्यजाताद् विलक्षणशब्दादेः भोक्ता पुरुषः, सा च भोक्तृत्वावस्था ऐश्वर्यार्थिभिः प्राप्यतया अनुसन्धेया ।**

अधियज्ञः अहम् एव **अधियज्ञशब्दनिर्दिष्टो अहम् एव, अधियज्ञः यज्ञैः आराध्यतया वर्तमानः, अत्रेन्द्रादौ मम देहभूते आत्मतया अवस्थितः अहम् एव यज्ञैः आराध्य इति महायज्ञादिनित्यनैमित्तिकानुष्ठानवेलायां**

विलक्षण शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध रूप क्षरणशील (विनाशी स्वभाववाले) भाव हैं, उनका नाम 'अधिभूत' है । ये अपने आश्रयोंसहित विलक्षण शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ऐश्वर्यकी इच्छावाले पुरुषोंको प्राप्त होनेवाले हैं । अतः उनको इन्हें जानना चाहिये ।

जिसका अधिदैव नामसे निर्देश किया गया है, वह पुरुष है । अभिप्राय यह है कि जो देवताओंके भी ऊपर है वह 'अधिदैव' है । सो इन्द्र, प्रजापति आदि समस्त देवताओंसे ऊपर वर्तमान और इन्द्र, प्रजापति आदि देवताओंके समस्त भोगोंसे विलक्षण शब्द-स्पर्शादि भोगोंके भोक्ता पुरुषका नाम अधिदैव है । ऐसी भोक्तापनकी अवस्था, ऐश्वर्यकी इच्छा करनेवाले भक्तोंके लिये प्राप्यरूपसे जानने योग्य है ।

अधियज्ञ मैं ही हूँ, 'अधियज्ञ' नामसे कहा जानेवाला मैं स्वयं ही हूँ । अभिप्राय यह है कि यज्ञोंके द्वारा आराधन करने योग्य देवका नाम अधियज्ञ है, सो यह बात तीनों ही प्रकारके अधिकारियोंको महायज्ञादि नित्य-नैमित्तिक कर्म करते समय समझनी चाहिये कि इन्द्रादि देवता मुझ परमेश्वरके शरीर हैं और मैं

त्रयाणाम् अधिकारिणाम् अनुसन्धेयम् एतत् ॥ ४ ॥

उनमें आत्मरूपसे स्थित हूँ । अतः मैं ही उन यज्ञोंके द्वारा आराध्य हूँ ॥ ४ ॥

इदमपि त्रयाणां साधारणम्—

यह भी तीनोंके लिये समान है—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥ ५ ॥

और अन्तकालमें मुझको ही स्मरण करता हुआ जो शरीर छोड़कर जाता है वह मेरे भावको प्राप्त होता है, इसमें संशय नहीं है ॥ ५ ॥

अन्तकाले च माम् एव स्मरन् कलेवरं **त्यक्त्वा** यः प्रयाति स मद्भावं याति । **मम यो भावः स्वभावः तं याति, तदानीं यथा माम् अनुसंधत्ते तथाविधाकारो भवति इत्यर्थः । यथा आदिभरतादयः तदानीं स्मर्यमाणमृगसजातीयाकाराः संभूताः ॥५॥**

जो भक्त अन्तकालमें भी मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीर त्याग कर जाता है, वह मेरे भावको प्राप्त होता है । अभिप्राय यह है कि मेरे स्वभावका नाम 'मम भाव' है, उसको पाता है—उस समय जैसा मेरा ध्यान करता है, वह वैसे ही (मेरे) आकारवाला बन जाता है, जैसे कि आदिभरत प्रभृति अन्त समयमें मृग आदिका स्मरण करनेसे मृग आदिके समान आकारवाले हो गये ॥५॥

स्मर्तुः स्वविषयसजातीयाकारतापादनम् अन्त्यप्रत्ययस्य स्वभाव इति सुस्पष्टम् आह—

स्मरण करनेवाले पुरुषको, वह जिस विषयका स्मरण करता है, वैसे ही आकारका प्राप्त होना अन्तकालकी प्रतीतिका स्वभाव है, यह बात भलीभाँति स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ ६ ॥

कुन्तीपुत्र अर्जुन ! जिस-जिस भी भावको अन्तकालमें स्मरण करता हुआ (मनुष्य) शरीर छोड़ता है, वह सदा (पहलेसे ही) उस भावसे भावित हुआ उस-उस भावको ही प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

अन्ते **अन्तकाले** यं यं वा अपि भावं स्मरन् कलेवरं त्यजति तं तं **भावम्** एव **मरणान्तरम्** एति । **अन्त्यप्रत्ययश्च पूर्वभावितविषय एव जायते** ॥ ६ ॥

अन्तकालमें मनुष्य जिस-जिस भी भावको स्मरण करता हुआ शरीरका त्याग करता है, वह मरणके अनन्तर उसी-उसी भावको प्राप्त होता है। और अन्तकालकी प्रतीति भी पहलेके अभ्यस्त विषयमें ही होती है ॥ ६ ॥

यस्मात् पूर्वकालाभ्यस्तविषये एव अन्त्यप्रत्ययो जायते—

जिससे कि पहले अभ्यास किये हुए विषयकी ही अन्तकालमें प्रतीति होती है—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥ ७ ॥

इसलिये सब समयोंमें तू मुझको स्मरण कर और युद्ध कर। (इस प्रकार) मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला होकर तू निःसन्देह मुझको ही प्राप्त होगा ॥ ७ ॥

तस्मात् सर्वेषु कालेषु **आप्रयाणाद् अहरहः** माम् अनुस्मर **अहरहः अनुस्मृतिकरं युद्धादिकं वर्णाश्रमानुबन्धिश्रुतिस्मृतिचोदितनित्यनैमित्तिकं** च **कर्म कुरु । एतदुपायेन** मय्यर्पितमनोबुद्धिः **अन्तकाले च** माम् एव **स्मरन्**

अतएव तू सब समय मृत्युकाल-पर्यन्त प्रतिदिन मेरा स्मरण कर और प्रतिदिन मेरी स्मृतिको उत्पन्न करनेवाले वर्णाश्रमके अनुकूल श्रुति-स्मृतिविहित युद्धादि नित्य-नैमित्तिक कर्म भी कर। इस उपायसे मन-बुद्धिको मेरे अर्पण करके और अन्तकालमें भी मेरा ही स्मरण करता हुआ तू अपने इष्टरूप

यथाभिलषितप्रकारं मां प्राप्स्यसि न अत्र संशयः ॥ ७ ॥

मुझ परमेश्वरको ही पावेगा, इसमें सन्देह नहीं है ॥ ७ ॥

एवं सामान्येन सर्वत्र स्वप्राप्त्यावाप्तिः अन्त्यप्रत्ययाधीना इति उक्त्वा तदर्थं त्रयाणाम् उपासनप्रकारभेदं वक्तुम् उपक्रमते। तत्र ऐश्वर्यार्थिनाम् उपासनप्रकारं यथोपासनम् अन्त्यप्रत्ययकारकं च आह—

इस प्रकार अपने इष्टकी प्राप्ति सबके लिये अन्तकालकी प्रतीतिके अधीन है, यह बात साधारणरूपसे बतलाकर उस अन्तिम प्रतीतिके लिये तीनों प्रकारके भक्तोंकी उपासनाके प्रकारभेद बतलाना आरम्भ करते हैं। उनमें पहले ऐश्वर्यकी इच्छा करनेवाले भक्तोंकी उपासनाका प्रकार और उपासनाके अनुरूप अन्तमें प्रतीति होनेका प्रकार बतलाते हैं—

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥ ८ ॥

अर्जुन! अभ्यास एवं योगसे युक्त अन्य ओर न जानेवाले चित्तसे चिन्तन करता हुआ मनुष्य दिव्य परमपुरुषको प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

अहरहः अभ्यासयोगाभ्यां युक्ततया नान्यगामिना चेतसा **अन्तकाले** परमं पुरुषं दिव्यं **मां वक्ष्यमाणप्रकारं** चिन्तयन् **माम् एव** याति **आदिभरतमृगत्वप्राप्तिवत् ऐश्वर्यविशिष्टतया मत्समानाकारो भवति।**

प्रतिदिनके सतत अभ्यास और योगसे युक्त होनेके कारण जो अन्यत्र न जानेवाला चित्त है, ऐसे चित्तसे अन्तकालमें आगे बतलाये हुए स्वरूपवाले मुझ दिव्य परम पुरुषका चिन्तन करनेवाला मनुष्य मुझको ही प्राप्त होता है—जैसे आदिभरतको (उसके चिन्तनके अनुरूप) मृगरूपकी प्राप्ति हो गयी थी, वैसे ही वह ऐश्वर्यकी विशेषतामें मेरे समान रूपवाला हो जाता है।

अभ्यासो नित्यनैमित्तिकाविरुद्धेषु सर्वेषु कालेषु मनसा उपास्यसंशीलनम्, योगः तु अहरहः योगकाले अनुष्ठीयमानं यथोक्तलक्षणम् उपासनम् ॥ ८ ॥

नित्य-नैमित्तिक कर्मोंके अविरुद्ध सब समयमें मनके द्वारा उपास्यदेवका भलीभाँति चिन्तन करनेका नाम 'अभ्यास' है और पहले जिसके लक्षण बतलाये गये हैं एवं प्रतिदिनकी योगसाधनाके समय जिसका अनुष्ठान किया जाता है उस उपासनाका नाम 'योग' है ॥ ८ ॥

कविं पुराणमनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥ ९ ॥
प्रयाणकाले मनसाचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥१०॥

कवि, पुरातन, अनुशासन करनेवाले, सूक्ष्मसे सूक्ष्मतर, सबके धाता, अचिन्त्यस्वरूप और अन्धकारसे परे सूर्यके समान वर्णवाले परमेश्वरका जो मनुष्य मरनेके समय भक्तिसे युक्त योगबलद्वारा अचल किये हुए मनसे दोनों भ्रुकुटियोंके बीचमें प्राणको अच्छी तरह स्थित करके (वहाँ) स्मरण करता है, वह उस दिव्य परम पुरुषको प्राप्त होता है ॥ ९-१० ॥

कविं **सर्वज्ञं** पुराणं **पुरातनम्** अनुशासितारं **विश्वस्य प्रशासितारम्** अणोः अणीयांसं **जीवाद् अपि सूक्ष्मतरं**

जो कवि—सर्वज्ञ, पुराण—पुरातन, अनुशासिता—विश्वका सर्वविध शासन करनेवाला, अणुसे भी अणु—जीवसे भी अत्यन्त सूक्ष्म, सबका धाता—सबका

सर्वस्य धातारं **सर्वस्य स्रष्टारम्** अचिन्त्य-रूपं **सकलेतरविसजातीयस्वरूपम्** आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् **अप्राकृतस्वासाधारणदिव्यरूपम् तम् एवंभूतम् अहरहः अभ्यस्यमानभक्तियुक्त**योगबलेन **आरूढसंस्कारतया** अचलेन मनसा प्रयाणकाले भ्रुवोःमध्ये प्राणम् आवेश्य **संस्थाप्य तत्र भ्रुवोर्मध्ये दिव्यं** पुरुषं यः अनुस्मरेत् स तम् एव उपैति **तद्भावं याति, तत्समानैश्वर्यो भवति इत्यर्थः** ॥ ९-१० ॥

रचयिता, अचिन्त्यरूप,—सबसे भिन्न, विलक्षण स्वरूपवाला, और अन्धकारसे अतीत सूर्यके समान वर्णवाला अर्थात् अपने असाधारण अप्राकृत दिव्य रूपसे युक्त है। ऐसे उस दिव्य परम पुरुषका जो भक्त प्रतिदिनके अभ्यास किये हुए भक्तियुक्त योगबलके द्वारा दृढ़ संस्कार-युक्त होनेके कारण अचल बने हुए मनसे अन्तसमय भ्रुकुटिके बीचमें प्राणोंको प्रविष्ट करके—स्थापित करके वहाँ भ्रुकुटिके बीचमें स्मरण करता है, वह उसीको पाता है—उसके भावको पाता है। अभिप्राय यह है कि उसके समान ऐश्वर्यवाला हो जाता है ॥९-१०॥

अथ कैवल्यार्थिनां स्मरणप्रकारम् आह—

अब कैवल्य-प्राप्तिकी इच्छावाले भक्तोंके स्मरणका प्रकार बतलाते हैं—

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥११॥

वेदवेत्ता जिसे अक्षर कहते हैं, वीतराग यति जिसमें प्रवेश करते हैं, जिसकी इच्छा करते हुए (मनुष्य) ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं उस पदको मैं संक्षेपसे तुझे कहूँगा ॥ ११ ॥

यद् अक्षरम् **अस्थूलत्वादिगुणकं** वेदविदो वदन्ति वीतरागाः **च** यतयो

अस्थूलता आदि गुणोंसे युक्त जिस तत्त्वको वेदज्ञ पुरुष अक्षर कहा करते हैं, वीतराग यतिजन जिस अक्षरमें

यद् **अक्षरं** विशन्ति यद् **अक्षरं प्राप्तुम्** इच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत् ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ।

पद्यते गम्यते अनेन इति पदं तद् निखिलवेदान्तवेद्यं मत्स्वरूपम् अक्षरं यथा उपास्यं तथा संक्षेपेण प्रवक्ष्यामि इत्यर्थः ॥ ११ ॥

प्रवेश किया करते हैं, जिस अक्षरको प्राप्त करनेकी इच्छावाले पुरुष ब्रह्मचर्यका पालन किया करते हैं, वह पद मैं तुझे संक्षेपसे कहूँगा ।

अभिप्राय यह है कि जिसके द्वारा प्राप्त किया जाय, उसका नाम पद है, सो वह सम्पूर्ण वेदान्तोंसे जानने योग्य मत्स्वरूप अक्षर-तत्त्व जिस प्रकारसे उपासना करने योग्य है, वह मैं संक्षेपसे बतलाऊँगा ॥११॥

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥१२॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम् ॥१३॥

समस्त द्वारों (इन्द्रियों) को रोककर, मनका हृदयमें निरोध करके, योगधारणामें स्थित होकर अपने प्राणोंको मस्तकमें ठहराकर ॐ इस एक अक्षर-ब्रह्मका उच्चारण करता हुआ और मुझे स्मरण करता हुआ जो शरीर छोड़कर जाता है, वह परमगतिको प्राप्त होता है ॥ १२-१३ ॥

सर्वाणि श्रोत्रादीनि इन्द्रियाणि ज्ञानद्वारभूतानि संयम्य **स्वव्यापारेभ्यो विनिवर्त्य हृदयकमलनिविष्टे मयि अक्षरे** मनो निरुध्य योगाख्यां धारणां आस्थितः **मयि एव निश्चलां स्थितिम् आस्थितः** ।

जिनके द्वारा विषयोंका ज्ञान होता है ऐसी समस्त श्रोत्रादि इन्द्रियोंको रोककर—उनको अपने-अपने व्यापारसे निवृत्त करके हृदयकमलमें विराजित मुझ अक्षरमें मनका निरोध करके तथा योग नामक धारणामें स्थित होकर—मुझमें ही निश्चल स्थिति रखते हुए—

ओम् इति एकाक्षरं ब्रह्म **मद्वाचकं** व्याहरन् **वाच्यं** माम् अनुस्मरन् आत्मनः प्राणं मूर्ध्न्याधाय देहं त्यजन् यः प्रयाति स याति परमां गतिं **प्रकृतिवियुक्तं मत्समानाकारम् अपुनरावृत्तिम् आत्मानं प्राप्नोति इत्यर्थः** '*यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥ अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।*' (८ । २०, २१) **इति अनन्तरम् एव वक्ष्यते** ॥१२-१३॥

'ॐ' इस एक अक्षररूप ब्रह्मका—मेरे नामका उच्चारण करते और मुझ नामीका स्मरण करते हुए जो अपने प्राणोंको मस्तकमें चढ़ाकर शरीर त्याग कर जाता है वह परमगतिको प्राप्त होता है अर्थात् मेरे समान आकारवाले प्रकृति संसर्गसे रहित पुनर्जन्महीन आत्मस्वरूपको प्राप्त हो जाता है। (आत्मतत्त्वको ही अक्षर और परमगति कहते हैं) यह बात इसी अध्यायमें **'यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥ अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।'** इस प्रकार कहेंगे ॥ १२-१३ ॥

एवम् ऐश्वर्यार्थिनः कैवल्यार्थिनश्च स्वप्राप्यानुगुणः भगवदुपासनप्रकार उक्तः । अथ ज्ञानिनो भगवदुपासनप्रकारं प्राप्तिप्रकारं च आह—

इस तरह ऐश्वर्य चाहनेवाले और कैवल्य (आत्मसाक्षात्कार) चाहनेवाले भक्तोंका उनके प्राप्य वस्तुके अनुरूप भगवदुपासनाका प्रकार बतलाया गया। अब ज्ञानीकी भगवदुपासना और भगवत्प्राप्तिका प्रकार बतलाते हैं—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥ १४ ॥

पृथापुत्र अर्जुन ! जो अनन्य चित्तवाला भक्त लगातार नित्य मेरा स्मरण करता है, उस नित्ययुक्त योगीके लिये मैं सुलभ हूँ ॥ १४ ॥

नित्यशो माम् **उद्योगप्रभृति** सततं **सर्वकालम्** अनन्यचेताः यः स्मरति

जो अनन्य चित्तवाला भक्त नित्यप्रति निरन्तर उद्योग कालसे लेकर सतत—सब समय मेरा स्मरण करता

अत्यर्थं मत्प्रियत्वेन मत्स्मृत्या विना आत्मधारणम् अलभमानो निरतिशयप्रियां स्मृतिं यः करोति तस्य नित्ययुक्तस्य नित्ययोगं काङ्क्षमाणस्य योगिनः अहं सुलभः अहम् एव प्राप्यः, न मद्भाव ऐश्वर्यादिकः ।

सुप्रापश्च तद्वियोगम् असहमानः अहम् एव तं वृणे;मत्प्राप्त्यनुगुणोपासनविपाकं तद्विरोधिनिरसनम् अत्यर्थं मत्प्रियत्वादिकं च अहम् एव ददामि इत्यर्थः । *'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः'* (मु० ३ । २ । ३) इति हि श्रूयते वक्ष्यते च । *'तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् । ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः। नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥'* (१०।१०-११) इति ॥ १४ ॥

है—मुझमें अत्यन्त प्रेम होनेके कारण मेरे स्मरणके बिना जीवन-धारणमें भी असमर्थ होकर जो मुझ परमेश्वरका अतिशय प्रिय लगनेवाला स्मरण करता रहता है, उस नित्ययुक्त—नित्य मेरा संयोग चाहनेवाले योगीके लिये मैं सुलभ हूँ । अर्थात् उसका प्राप्य मैं ही हूँ । मेरा ऐश्वर्यादि भाव नहीं ।

और मैं उसे सहज ही (सुखपूर्वक) प्राप्त हो जाता हूँ। अभिप्राय यह है कि उसका वियोग न सह सकनेके कारण मैं ही, उसको वरण कर लेता हूँ। अतः उसे मेरी प्राप्तिके अनुकूल परिपक्व उपासना और उसके विरोधी भावोंका नाशक मेरा परम प्रेम आदि—ये सब (मैं ही) प्रदान कर देता हूँ। श्रुतिमें कहा है कि— **'जिसको वह वरण करता है, उसीसे वह प्राप्त किया जा सकता है।'** तथा **'तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥' तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः। नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥'** यह बात गीतामें भी कहेंगे ॥ १४ ॥

अतः परम् अध्यायशेषेण ज्ञानिनः कैवल्यार्थिनश्च अपुनरावृत्तिम्

इसके बाद अध्यायकी समाप्तितक ज्ञानीके और कैवल्य (आत्मसाक्षात्कार) चाहनेवालेके पुनरागमनका न होना

ऐश्वर्यार्थिनः पुनरावृत्तिं च आह—

और ऐश्वर्य चाहनेवालोंका पुनर्जन्म होना प्रतिपादन करते हैं—

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥१५॥

मुझे प्राप्त होकर परम संसिद्धिको पाये हुए महात्मा लोग दुःखोंके घररूप अनित्य पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होते ॥ १५ ॥

मां प्राप्य पुनः निखिलदुःखालयम् अस्थिरं जन्म न प्राप्नुवन्ति यत एते महात्मानः महामनसो यथावस्थितमत्स्वरूपज्ञानाः अत्यर्थमत्प्रियत्वेन मया विना आत्मधारणम् अलभमाना मयि आसक्तमनसो मदाश्रयाः माम् उपास्य परमसंसिद्धिरूपं मां प्राप्ताः ॥ १५ ॥

मुझको प्राप्त करके फिर समस्त दुःखोंके स्थानरूप इस अनित्य जन्मको नहीं पाते। क्योंकि ये सब मेरे स्वरूपको यथार्थरूपसे जाननेवाले महात्मा हैं—महामना हैं, वे मुझमें अत्यन्त प्रेम होनेके कारण मेरे बिना जीवन धारण करनेमें असमर्थ हैं। उनका मन मुझमें आसक्त है तथा मेरा आश्रय लेकर मेरी उपासना करके परमसिद्धिरूप मुझ परमेश्वरको प्राप्त हो चुके हैं ॥ १५ ॥

ऐश्वर्यगतिं प्राप्तानां भगवन्तं प्राप्तानां च पुनरावृत्तौ अपुनरावृत्तौ च हेतुम् अनन्तरम् आह—

ऐश्वर्य-गतिको प्राप्त करनेवालोंका पुनरागमन होनेमें और भगवान्‌को प्राप्त करनेवालोंका पुनरागमन न होनेमें दूसरा कारण भी बतलाते हैं—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥१६॥

अर्जुन ! ब्रह्मभुवनसे लेकर सभी लोक पुनरावृत्तिशील हैं। कुन्तीपुत्र ! मुझे पा लेनेके बाद पुनः जन्म नहीं होता ॥१६॥

ब्रह्मलोकपर्यन्ताः ब्रह्माण्डोदरवर्तिनः सर्वे लोकाः **भोगैश्वर्यालयाः** पुनरावर्तिनः **विनाशिनः । अत ऐश्वर्यगतिं प्राप्तानां प्राप्यस्थानविनाशाद् विनाशित्वम् अवर्जनीयम् ।** मां **सर्वज्ञं सत्यसंकल्पं निखिलजगदुत्पत्तिस्थितिलयलीलं परमकारुणिकं सदा एकरूपं प्राप्तानां विनाशप्रसङ्गाभावात् तेषां** पुनर्जन्म न विद्यते ॥ १६ ॥

ब्रह्माण्डके अंदर रहनेवाले ब्रह्मलोकपर्यन्त सभी लोक—भोग और ऐश्वर्यके स्थान पुनरावृत्तिशील—नाशवान् हैं । इसलिये ऐश्वर्यगतिको प्राप्त पुरुषोंके प्राप्य स्थानका विनाश होनेसे उनका भी विनाश अनिवार्य है । परन्तु मैं जो कि सर्वज्ञ और सत्यसङ्कल्प हूँ, अखिल जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लय जिसकी लीला है, ऐसे परम दयालु सदा एक रूपवाले मुझ परमेश्वरको प्राप्त भक्तोंके विनाशका प्रसंग न होनेके कारण उनका पुनर्जन्म नहीं होता ॥ १६ ॥

ब्रह्मलोकपर्यन्तानां लोकानां तदन्तर्वर्तिनां च परमपुरुषसंकल्पकृताम् उत्पत्तिविनाशकालव्यवस्थाम् आह—

ब्रह्मलोकतक सभी लोकोंकी और उनके अंदर रहनेवाले जीवोंकी परम पुरुषके संकल्पसे की जानेवाली उत्पत्ति और विनाशकी कालव्यवस्था बतलाते हैं—

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ १७ ॥

ब्रह्माका जो दिन है उसे सहस्रयुगतक रहनेवाला और रात्रिको भी सहस्रयुगतक रहनेवाली (जो) जानते हैं वे लोग दिन-रात्रिको जाननेवाले हैं ॥ १७ ॥

ये मनुष्यादिचतुर्मुखान्तानां मत्संकल्पकृताहोरात्रव्यवस्थाविदो जनाः, ते ब्रह्मणः **चतुर्मुखस्य** यत् अहः **चतुर्युगसहस्रावसानं** विदुः, रात्रिं **च तथारूपाम्** ॥ १७ ॥

जो पुरुष मेरे संकल्पसे होनेवाली मनुष्योंसे लेकर ब्रह्मातक सबके दिन-रातकी व्यवस्थाको जाननेवाले हैं, वे चतुर्मुख ब्रह्माका जो दिन है, उसे सहस्रयुगकी अवधिवाला समझते हैं और रात्रिको भी वैसी ही समझते हैं ॥ १७ ॥

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ १८ ॥

दिनके आरम्भ समयमें अव्यक्तसे सब व्यक्तियाँ उत्पन्न होती हैं और रात्रिके आरम्भ समयमें उस अव्यक्त नामवाले (तत्त्व) में (ही) लय हो जाती हैं ॥१८॥

तत्र **ब्रह्मणः** अहरागम**समये त्रैलोक्यान्तर्वर्तिन्यो देहेन्द्रियभोग्यभोगस्थानरूपा** व्यक्तयः **चतुर्मुखदेहावस्थाद्** अव्यक्तात् प्रभवन्ति । तत्र एव **अव्यक्तावस्थाविशेषे चतुर्मुखदेहे** रात्र्यागम**समये प्रलीयन्ते** ॥ १८ ॥

तीनों लोकोंमें रहनेवाले शरीर, इन्द्रियभोग और भोगोंके स्थानरूप समस्त व्यक्तियाँ ब्रह्माके उस दिनके आरम्भ समयमें चतुर्मुख ब्रह्माके देहरूप अव्यक्तसे उत्पन्न होती हैं । फिर रात्रिके आरम्भ समयमें उसी अव्यक्तावस्था-विशेष चतुर्मुख ब्रह्माके देहमें लय हो जाती हैं ॥ १८ ॥

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥ १९ ॥

अर्जुन ! वह ही यह अस्वतन्त्र (कर्माधीन) भूतसमुदाय उत्पन्न हो होकर रात्रिके आरम्भ समयमें लय हो जाता है और दिनके आरम्भ समयमें उत्पन्न हो जाता है ॥१९॥

स एव अयं **कर्मवश्यो** भूतग्रामः अहरागमे भूत्वा भूत्वा रात्र्यागमे प्रलीयते **पुनः अपि** अहरागमे प्रभवति । **तथा वर्षशतावसानरूपयुगसहस्रान्ते ब्रह्मलोकपर्य्यन्ता लोकाः ब्रह्मा च, पृथिवी अप्सु प्रलीयते आपः तेजसि**

वही यह कर्मवशवर्ती भूतसमूह दिनके आरम्भ समयमें उत्पन्न हो-होकर रात्रिके आरम्भ समयमें लय हो जाता है; फिर दिनके आरम्भ समयमें उत्पन्न हो जाता है । इसी तरह सौ वर्षकी अवधिरूप युगसहस्रका अन्त होनेपर ब्रह्मलोकपर्यन्त सभी लोक और ब्रह्मा, सब-के-सब लीन हो जाते हैं—'पृथ्वी जलमें लीन हो जाती है, जल तेजमें

लीयन्ते इत्यादिक्रमेण अव्यक्ताक्षर-तमःपर्यन्तं मयि एव प्रलीयन्ते ।

एवं मद्व्यतिरिक्तस्य कृत्स्नस्य कालव्यवस्थया मत्त उत्पत्तेः मयि प्रलयात् च उत्पत्तिविनाशयोगित्वम् अवर्जनीयम् इति ऐश्वर्यगतिं प्राप्तानां पुनरावृत्तिः अपरिहार्या । माम् उपेतानां तु न पुनरावृत्ति-प्रसङ्गः ॥ १९ ॥

लय हो जाता है ।' इसी क्रमसे अव्यक्त अक्षर और तमपर्यन्त सब-के-सब मुझमें ही लय हो जाते हैं ।

इस प्रकार मेरे अतिरिक्त सम्पूर्ण जगत् कालव्यवस्थाके अनुसार मुझसे उत्पन्न होता है और मुझमें ही लय होता है । इस कारण उनका उत्पत्ति-विनाशशील होना अनिवार्य है । अतः ऐश्वर्यगतिको प्राप्त पुरुषोंका पुनरागमन भी अनिवार्य है; किन्तु मुझको प्राप्त भक्तोंके पुनर्जन्मका कोई प्रसङ्ग नहीं है ॥ १९ ॥

अथ कैवल्यप्राप्तानाम् अपि पुनरावृत्तिः न विद्यते इति आह—

अब यह कहते हैं कि कैवल्य-अवस्थाको प्राप्त पुरुषोंका भी पुनरागमन नहीं होता—

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥ २० ॥

परन्तु उस (जड प्रकृतिरूप) अव्यक्तसे श्रेष्ठ जो दूसरा सनातन (आत्मरूप) अव्यक्त भाव है, वह सब भूतोंके नष्ट होनेपर (भी) नष्ट नहीं होता ॥२०॥

तस्माद् अव्यक्ताद् **अचेतनप्रकृति-रूपात् पुरुषार्थतया** पर **उत्कृष्टो** भावः अन्यो **ज्ञानैकाकारतया तस्माद् विस-जातीयः** अव्यक्तः **केनचित् प्रमाणेन**

पुरुषके प्राप्तव्य विषयोंकी तुलनामें उस जड प्रकृतिरूप अव्यक्तकी अपेक्षा, जो ज्ञानकी एकाकारताके कारण परमश्रेष्ठ है और उस जड प्रकृतिसे विलक्षण है— ऐसा सनातन अव्यक्त भाव दूसरा है । जो किसी भी प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके द्वारा

न व्यज्यत इति अव्यक्तः, स्वसंवेद्य-साधारणाकार इत्यर्थः । सनातनः **उत्पत्तिविनाशानर्हतया नित्यः ।** यः सर्वेषु **वियदादिषु** भूतेषु **सकारणेषु सकार्येषु** विनश्यत्सु **तत्र तत्र स्थितो अपि** न विनश्यति ॥ २० ॥

जाना न जा सके, उसे अव्यक्त कहते हैं । अतः यह अभिप्राय है कि यह अव्यक्त (आत्मतत्त्व) स्वसंवेद्य और असाधारण-स्वरूप है तथा उत्पत्ति-विनाशसे रहित होनेके कारण सनातन—नित्य है । कार्यकारणसहित आकाशादि सम्पूर्ण भूतोंका नाश होनेपर भी, यद्यपि यह उनमें स्थित रहता है, तो भी इसका नाश नहीं होता ॥ २० ॥

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ २१ ॥

(वह) अव्यक्त अक्षर है, ऐसा कहा गया है, उसीको परमगति कहते हैं । जिसको प्राप्त होकर फिर नहीं लौटते, वह मेरा परमधाम है ॥२१॥

सः अव्यक्तः अक्षर इति उक्तः *'ये त्वक्षर-मनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।' (१२ । ३) 'कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥' (१५ । १६)* **इत्यादिषु** तं **वेदविदः** परमां गतिम् आहुः **अयम् एव** *'यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम् ॥'* **इत्यत्र परमगतिशब्दनिर्दिष्टः अक्षरः प्रकृतिसंसर्गवियुक्तस्वरूपेण अवस्थित आत्मा इत्यर्थः ।**

यम् **एवंभूतं स्वरूपेणावस्थितम्** प्राप्य न निवर्तन्ते तद् मम परमं धाम **परमं नियमन-**

वह अव्यक्त **'ये त्वक्षरमनिर्देश्य-मव्यक्तं पर्युपासते ।' 'कूटस्थोऽक्षर उच्यते'** इत्यादि वाक्योंसे अक्षर नामसे कहा गया है । उसीको वेदज्ञ पुरुष 'परमगति' कहा करते हैं । **'यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम् ॥'** इस श्लोकमें परमगतिके नामसे निर्दिष्ट भी यही 'अक्षर' है अर्थात् प्रकृति-संसर्गसे रहित स्व-रूपमें स्थित आत्मा है ।

इस प्रकार स्व-रूपमें स्थित जिस अव्यक्तको प्राप्त करके पुरुष वापस नहीं लौटता, वह मेरा परम धाम है—परम

स्थानम् । अचेतनप्रकृतिः एकं नियमनस्थानम्, तत्संसृष्टरूपा जीवप्रकृतिः द्वितीयं नियमनस्थानम् अचित्संसर्गवियुक्तं स्वरूपेणावस्थितं मुक्तस्वरूपं परमं नियमनस्थानम् इत्यर्थः । तत् च अपुनरावृत्तिरूपम् ।

अथवा प्रकाशवाची धामशब्दः, प्रकाशः च इह ज्ञानम् अभिप्रेतं प्रकृतिसंसृष्टात् परिच्छिन्नज्ञानरूपाद् आत्मनः अपरिच्छिन्नज्ञानरूपतया मुक्तस्वरूपं परं धाम ॥ २१ ॥

नियमनका स्थान है । अभिप्राय यह है कि एक नियमन-स्थान जड प्रकृति है, उससे युक्त हुए स्वरूपवाली जीवरूपा प्रकृति दूसरा नियमन-स्थान है, और जडके संसर्गसे रहित स्व-रूपमें स्थित मुक्तस्वरूप परम नियमन-स्थान है । वह अपुनरावृत्तिरूप है—आवागमनसे रहित है ।

अथवा यहाँ धाम शब्द प्रकाशका नाम है, और प्रकाशका तात्पर्य ज्ञानसे है, सो प्रकृतिसे युक्त परिच्छिन्न ज्ञानवाले आत्मासे अपरिच्छिन्न ज्ञानस्वरूप होनेके कारण मुक्तस्वरूप (मुक्तात्मा) परमधाम है ॥ २१ ॥

ज्ञानिनः प्राप्यं तु तस्माद् अत्यन्तविभक्तम् इत्याह—

ज्ञानियोंके द्वारा प्राप्य (परमपुरुष भगवान्) तो उससे अत्यन्त भिन्न है—यह बात कहते हैं—

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥ २२ ॥

पृथापुत्र अर्जुन ! वह परमपुरुष, जिसके अन्तर्गत सब भूत स्थित हैं और जिससे यह सारा (जगत्) व्याप्त है, सचमुच अनन्य भक्तिसे प्राप्य करने योग्य है ॥ २२ ॥

'मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय । मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥' (७ । ७) *'मामेभ्यः परमव्ययम्'* (७ । १३) इत्यादिना

'मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय । मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ।' 'मामेभ्यः परमव्ययम्' इत्यादि वाक्योंसे कहे हुए जिस परम

निर्दिष्टस्य यस्यान्तःस्थानि **सर्वाणि** भूतानि, येन **च परेण पुरुषेण** सर्वम् इदं ततं स परपुरुषो *'अनन्यचेताः सततम्'* (८ । १४) **इति** अनन्यया भक्त्या लभ्यः ॥२२॥

पुरुषके अन्तर्गत समस्त भूतप्राणी स्थित हैं और जिस परम पुरुषसे यह समस्त जगत् व्याप्त है, वह परम पुरुष **'अनन्यचेताः सततम्'** इस श्लोकमें बतलायी हुई अनन्य भक्तिसे प्राप्त होने योग्य है ॥ २२ ॥

अथ आत्मयाथात्म्यविदः परमपुरुषनिष्ठस्य च साधारणीम् अर्चिरादिकां गतिम् आह द्वयोः अपि अर्चिरादिका गतिः श्रुतौ श्रुता, सा च अपुनरावृत्तिलक्षणा ।

अब आत्माके यथार्थ स्वरूपको जाननेवालेकी और परमपुरुष परमेश्वरमें निष्ठावालेकी साधारण अर्चि आदि गति बतलाते हैं । दोनोंकी ही अर्चि आदि गति होती है । यह बात श्रुतिमें कही गयी है । और वह गति अपुनरावृत्तिरूप है । (उसको प्राप्त पुरुष लौटकर नहीं आते ।)

यथा पञ्चाग्निविद्यायां *'तद्य इत्थं विदुः ये चेमेऽरण्ये श्रद्धां तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहः'* (छा० उ० ५।१०।१)**इत्यादौ अर्चिरादिकया गत्या गतस्य परब्रह्मप्राप्तिः अपुनरावृत्तिः च उक्ता** *'स एनान्ब्रह्म गमयति'* *'एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते'* (छा० उ० ४।१५।५) **इति ।**

जैसे कि पञ्चाग्नि-विद्यामें कहा है— **'उसे जो इस प्रकार जानते हैं और जो वनमें रहकर श्रद्धाके साथ तप करते हुए उपासना करते हैं, वे अर्चिको प्राप्त होते हैं, अर्चिसे दिनको प्राप्त होते हैं'** इत्यादि श्रुति-वाक्योंमें अर्चि आदि मार्गसे गये हुए पुरुषको ब्रह्मकी प्राप्ति और उसकी अपुनरावृत्ति इस प्रकार बतलायी है कि **'वह इनको ब्रह्मसे मिला देता है' 'इसके द्वारा ले जाये हुए इस मनुष्य-लोकमें लौटकर नहीं आते ।'**

न च प्रजापतिवाक्यादौ श्रुतपरविद्याङ्गभूतात्मप्राप्तिविषया इयम् *'तद्य इत्थं विदुः'* **इति गतिश्रुतिः**

'उसे जो इस प्रकार जानते हैं' यह गतिविषयक श्रुति प्रजापतिके वचन आदिमें वर्णित पराविद्याकी अङ्गभूत

'ये चेमेऽरण्ये श्रद्धां तप इत्युपासते' (छा० उ० ५ । १० । १) इति परविद्यायाः पृथक्श्रुतिवैयर्थ्यात् ।

पञ्चाग्निविद्यायां च *'इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति'* (छा० उ० ५ । ९ । १) इति *'रमणीयचरणाः कपूयचरणाः'* (छा० उ० ५ । १० । ७) इति पुण्यपापहेतुको मनुष्यादिभावो अपाम् एव भूतान्तरसंसृष्टानाम् आत्मनस्तु तत्परिष्वङ्गमात्रम् इति चिदचितोर्विवेकम् अभिधाय *'तद्य इत्थं विदुः तेऽर्चिषमभिसंभवन्ति'* (छा० उ० ५।१०।१) *'इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते'* (छा० उ० ४।१५।५) इति विविक्ते चिदचिद्वस्तुनि त्याज्यतया प्राप्यतया च 'तद्य इत्थं विदुस्तेऽर्चिरादिना गच्छन्ति न च पुनरावर्तन्ते' इति उक्तम् इति गम्यते ।

आत्मयाथात्म्यविदः परमपुरुषनिष्ठस्य च *'स एनान्ब्रह्म*

आत्मप्राप्तिके विषयमें नहीं है, ऐसा मान लेनेपर **'जो वनमें रहकर श्रद्धाके साथ तप करते हुए उपासना करते हैं'** इसप्रकार पराविद्याको आत्मज्ञानसे पृथक् करके कहना व्यर्थ हो जायगा। इसलिये (इसे दोनोंके विषयमें मानना ही ठीक है)

पञ्चाग्नि-विद्यामें भी—**'पाँचवीं आहुतिमें जल पुरुष नामवाले हो जाते हैं'** तथा **'सुन्दर आचरणोंवाले सुन्दर शरीर पाते हैं और बुरे आचरणोंवाले बुरे शरीर पाते हैं'** इत्यादि वचनोंसे पहले यह विवेचन किया गया है कि पुण्य-पापहेतुक मनुष्यादि भाव पञ्चभूतोंसे मिले हुए जलका ही है । आत्माका तो केवल उससे संगमात्र होता है । इस प्रकार जड-चेतनका विवेक बताकर **'उसे जो इस प्रकार जानते हैं, वे अर्चिको प्राप्त होते हैं इस मनुष्य-लोकमें लौटकर नहीं आते'** इसके द्वारा विविक्त (पृथक्-पृथक्) हुए जड-चेतन वस्तुमें एकको त्याज्यरूपसे और दूसरेको प्राप्यरूपसे प्रतिपादित करके यों कहा गया है कि 'उसे जो इस प्रकार जान लेते हैं, वे अर्चि आदि मार्गसे जाते हैं और फिर लौटकर नहीं आते ।'

आत्माको यथार्थरूपसे जाननेवालेके लिये और परमपुरुषमें निष्ठावालेके लिये **'वह इनको ब्रह्मसे मिला देता है'**

गमयति' (छा० उ० ४ । १५ । ५) इति ब्रह्मप्राप्तिवचनात् अचिद्वियुक्तम् आत्मवस्तु ब्रह्मात्मकतया ब्रह्मशेषतैकरसम् इत्यनुसंधेयम् ।

तत्क्रतुन्यायाच्च परशेषतैकरसत्वं च *'य आत्मनि तिष्ठन्यस्यात्मा शरीरम्'* (*श०ब्रा० १४ । ६ । ५ । ५ । ३०*) इत्यादिश्रुतिसिद्धम् ।

इस श्रुतिमें ब्रह्म-प्राप्ति बतलायी गयी है; इस कारण यहाँ यह समझना चाहिये कि जडप्रकृतिसे पृथक् हुए आत्माकी ब्रह्मरूपता होनेके कारण वह परब्रह्मका शेष-वशवर्ती और एकरस है ।

तत्क्रतु-न्यायसे भी यह सिद्ध होता है कि शुद्ध आत्मा ब्रह्मका शेष (अधीन) है और एकरस है । तथा **'जो आत्मामें रहनेवाला है, जिसका आत्मा शरीर है'** इत्यादि श्रुतियोंसे भी यह सिद्ध है ।

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥२३॥

भरतश्रेष्ठ अर्जुन ! जिस काल (मार्ग) में गये हुए योगी लोग अनावृत्तिको और (जिसमें गये हुए) आवृत्तिको प्राप्त होते हैं, उस कालको अब मैं तुझे कहता हूँ ॥ २३ ॥

अत्र कालशब्दो मार्गस्य अहःप्रभृतिसंवत्सरान्तकालाभिमानिदेवताभूयस्तया मार्गोपलक्षणार्थः, यस्मिन् मार्गे प्रयाता योगिनो अनावृत्तिं **पुण्यकर्माणः च** आवृत्तिं यान्ति, तं **मार्गं** वक्ष्यामि **इत्यर्थः ॥ २३ ॥**

यहाँ अहःसे लेकर संवत्सरपर्यन्त कालाभिमानी देवताओंका अधिक वर्णन होनेके कारण काल शब्दका प्रयोग उपलक्षणके रूपमें मार्गके बदले किया गया है । अभिप्राय यह है कि जिस मार्गसे गये हुए योगी पुरुष अपुनरावृत्तिको—वापस न लौटनेवाली गतिको प्राप्त होते हैं और जिस मार्गसे पुण्यकर्मा पुरुष वापस लौटनेवाली गतिको प्राप्त होते हैं, वह मार्ग बतलाऊँगा ॥ २३ ॥

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥२४॥

अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्ल पक्ष और उत्तरायणके छः महीने उनमें गये हुए ब्रह्मवेत्ताजन ब्रह्मको प्राप्त होते हैं ॥ २४ ॥

अग्निः ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्, **इति संवत्सरादीनां प्रदर्शनम्** ॥ २४ ॥

अग्निरूप ज्योति, दिन, शुक्लपक्ष और उत्तरायणके छः महीने यह कहना श्रुतिकथित संवत्सर आदिका भी प्रदर्शक है ॥ २४ ॥

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥२५॥

धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष तथा दक्षिणायनके छः मास उसमें (गया हुआ) योगी चन्द्रमासम्बन्धी ज्योतिको प्राप्त होकर फिर लौट आता है ॥ २५ ॥

एतत् च धूमादिमार्गस्थपितृलोकादेः प्रदर्शनम् । अत्र योगिशब्दः पुण्यकर्मसम्बन्धिविषयः ॥ २५ ॥

यह (इस श्लोकमें आये हुए धूम, रात्रि आदि शब्द) भी धूमादि मार्गमें स्थित पितृ-लोकादिका प्रदर्शक है । और इस श्लोकमें आया हुआ 'योगी' शब्द पुण्यकर्मा पुरुषका वाचक है ॥ २५ ॥

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽऽवर्तते पुनः ॥२६॥

ये शुक्ल-कृष्ण गति निश्चय ही जगत्में सनातन मानी गयी हैं । एक (गति) से मनुष्य अनावृत्तिको प्राप्त होता है और दूसरीसे पुनः वापस लौट आता है ॥ २६ ॥

शुक्ला गतिः अर्चिरादिका कृष्णा च धूमादिका । शुक्लया अनावृत्तिं **यान्ति कृष्णया तु** पुनः **आवर्तन्ते** । एते शुक्ल-

अर्चि आदि गति शुक्ल है और धूमादि गति कृष्ण है । शुक्ल गतिसे गये हुए वापस न लौटनेवाले स्थानको प्राप्त करते हैं और कृष्ण गतिसे गये हुए वापस लौटते हैं । ज्ञानियोंकी और नाना प्रकारके

कृष्णे गती **ज्ञानिनां विविधानां पुण्यकर्मणां च श्रुतौ** शाश्वते मते । *'तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसंभवन्ति ।'* (*छा० उ० ५ । १० । १*) *'अथ य इमे ग्रामे इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसम्भवन्ति'* (*छा० उ० ५ । १० । ३*) इति ॥ २६ ॥

पुण्यकर्मा पुरुषोंकी ये शुक्ल और कृष्ण दोनों प्रकारकी गतियाँ श्रुतिमें सदासे मानी गयी हैं । जैसे कि—**'उसे जो इस प्रकार जानते हैं और जो वनमें श्रद्धाके साथ तप करते हुए उपासना करते हैं, वे अर्चिको प्राप्त होते हैं'** इनसे दूसरे **'जो यहाँ ग्रामोंमें रहकर इष्टपूर्त और दानादि सकाम पुण्यकर्म करते हैं वे धूममार्गसे जाते हैं'** ॥२६॥

नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात् सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥२७॥

पृथापुत्र अर्जुन ! इन दोनों मार्गोंको जाननेवाला कोई भी योगी मोहको प्राप्त नहीं होता । इसलिये अर्जुन ! तू सब कालोंमें योगयुक्त हो ॥ २७ ॥

एतौ मार्गौ जानन् योगी **प्रयाणकाले** कश्चन न मुह्यति **अपि तु स्वेन एव देवयानेन पथा याति** । तस्माद् **अहरहः अर्चिरादिगतिचिन्तनाख्ययोगयुक्तो** भव ॥ २७ ॥

इन दोनों मार्गोंको जाननेवाला कोई भी योगी मरणकालमें मोहित नहीं होता, किन्तु अपने लिये निश्चित किये हुए देवयान-मार्गके द्वारा चला जाता है । इसलिये तू प्रतिदिन अर्चि आदि गतिके चिन्तनरूप योगसे युक्त हो ॥ २७ ॥

अथ अध्यायद्वयोदितशास्त्रार्थवेदनफलम् आह—

अब दो अध्यायोंमें किये गये शास्त्रोपदेशका अभिप्राय समझनेका फल बतलाते हैं—

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत् पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।

अत्येति तत् सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥२८॥

वेदों, यज्ञों और तपोंमें तथा दानोंमें जो पुण्यफल दिखलाया गया है, योगी इसको (भगवान्‌के माहात्म्यको) जानकर उस सबको लाँघ जाता है और परम आदि स्थानको प्राप्त होता है ॥ २८ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अक्षरब्रह्मयोगो नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

ऋग्यजुःसामाथर्वरूपवेदाभ्यास-यज्ञतपोदानप्रभृतिषु सर्वेषु पुण्येषु यत् फलं **निर्दिष्टम्** इदम् **अध्यायद्वयोदितं भगवन्माहात्म्यं** विदित्वा तत् सर्वम् अत्येति **एतद्वेदनसुखातिरेकेण तत् सर्वं तृणवत् मन्यते।** योगी **ज्ञानी** च **भूत्वा ज्ञानिनः प्राप्यं** परम् आद्यं स्थानम् उपैति ॥ २८ ॥

इति श्रीमद्भगवद्रामानुजाचार्य-विरचिते श्रीमद्भगवद्गीताभाष्ये अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

ऋक्, यजु, साम और अथर्व—इन चारों वेदोंके अभ्यासका तथा यज्ञ, तप और दान आदि समस्त पुण्यकर्मोंका जो फल बतलाया गया है, उन सबको, मनुष्य इन दो अध्यायोंमें कहे हुए भगवान्‌के इस माहात्म्यको समझकर लाँघ जाता है—भगवान्‌के इस माहात्म्यको जाननेके सुखकी अधिकतासे वह उन सबको तृणवत् समझने लगता है। तथा योगी और ज्ञानी होकर ज्ञानियोंको प्राप्त होने योग्य परम आदि स्थानको प्राप्त कर लेता है ॥ २८ ॥

इस प्रकार श्रीमान् भगवान् रामानुजाचार्यद्वारा रचित गीता-भाष्यके हिन्दी-भाषानुवादका आठवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ८ ॥

ॐ

नवाँ अध्याय

उपासकभेदनिबन्धना विशेषाः प्रतिपादिताः, इदानीम् उपास्यस्य परमपुरुषस्य माहात्म्यं ज्ञानिनां च विशेषं विशोध्य भक्तिरूपस्य उपासनस्य स्वरूपम् उच्यते—

उपासकोंकी भिन्नतासे सम्बन्ध रखनेवाले भेदोंका प्रतिपादन हो चुका। अब उपास्यदेव परमपुरुषके माहात्म्य और ज्ञानियोंके भेदको स्पष्ट करके भक्तिरूपा उपासनाका स्वरूप बतलाते हैं—

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—(अर्जुन !) अब मैं तुझ असूयारहित (मुझमें दोषदृष्टिरहित भक्त) को वह अत्यन्त गुह्य ज्ञान विज्ञानके सहित कहूँगा, जिसे जानकर तू अशुभसे छूट जायगा ॥ १ ॥

इदं तु ते गुह्यतमं **भक्तिरूपम् उपासनाख्यं** ज्ञानं विज्ञानसहितम् **उपासनगतिविशेषज्ञानसहितम्** अनसूयवे ते प्रवक्ष्यामि। **मद्विषयं सकलेतरविसजातीयम् अपरिमितप्रकारं माहात्म्यं श्रुत्वा एवम् एव संभवति इति मन्वानाय ते प्रवक्ष्यामि इत्यर्थः।** यद् **ज्ञानम् अनुष्ठानपर्यन्तं** ज्ञात्वा **मत्प्राप्तिविरोधिनः सर्वस्माद्** अशुभात् मोक्ष्यसे ॥ १ ॥

यह गुह्यतम भक्तिरूप उपासना नामक ज्ञान मैं तुझ असूयारहित भक्तको विज्ञानके सहित—उपासना-सम्बन्धी गतिभेदोंके ज्ञानसहित कहूँगा। अभिप्राय यह है कि अन्य सबकी अपेक्षा सर्वथा विलक्षण, अपरिमित प्रकारवाले मेरे माहात्म्यको सुनकर, 'यह ठीक ऐसा ही है' इस प्रकार माननेवाले तुझ भक्तको मैं (अत्यन्त गुप्त रहस्यमय ज्ञान) बतलाऊँगा। जिस ज्ञानको उसके अनुष्ठानपर्यन्त समझकर तू मेरी प्राप्तिके विरोधी समस्त अशुभोंसे छूट जायगा ॥ १ ॥

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥ २ ॥

यह (ज्ञान) राजविद्या, राजगुह्य, परमपवित्र, उत्तम, प्रत्यक्ष विषयवाला, धर्ममय, सुखपूर्वक अनुष्ठान करने योग्य (और) अविनाशी है ॥ २ ॥

राजविद्या **विद्यानां राजा** राजगुह्यं **गुह्यानां राजा; राज्ञां विद्येति वा राजविद्या, राजानो हि विस्तीर्णागाधमनसः, महामनसाम् इयं विद्या इत्यर्थः।**

महामनस एव गोपनीयगोपनकुशला इति तेषाम् एव गुह्यम् इदम् । उत्तमम् पवित्रं **मत्प्राप्तिविरोध्यशेषकल्मषापहं** प्रत्यक्षावगमम्, **अवगम्यते इति अवगमो विषयः, प्रत्यक्षभूतः अवगमो विषयो यस्य ज्ञानस्य तत् प्रत्यक्षावगमम्, भक्तिरूपेण उपासनेन उपास्यमानः अहं तदानीम् एव उपासितुः प्रत्यक्षताम् उपागतो भवामि इत्यर्थः।**

अथापि धर्म्यं **धर्माद् अनपेतं धर्मत्वं हि निःश्रेयससाधनत्वम्;**

(यह ज्ञान) राजविद्या—विद्याओंका राजा और राजगुह्य—गुप्त रक्खे जानेवाले समस्त भावोंका भी राजा है। अथवा राजाओंकी विद्या होनेसे इसका नाम राजविद्या है; क्योंकि राजा विशाल—अगाध मनवाले होते हैं और यह विद्या महामना पुरुषोंकी ही है।

महामना पुरुष ही गुप्त रखने योग्य भावोंको गुप्त रखनेमें कुशल होते हैं, इसलिये भी यह गुह्यविद्या उन्हींकी है। यह ज्ञान परमपवित्र—मेरी प्राप्तिके विरोधी समस्त पापोंका नाशक और ज्ञेयवस्तुको प्रत्यक्ष करा देनेवाला है। जो जाननेमें आ जाय, उसे 'अवगम' कहते हैं, अतः 'अवगम' नाम विषयका है। जिस ज्ञानका विषय प्रत्यक्ष हो, वह 'प्रत्यक्षावगम' कहलाता है। अभिप्राय यह कि भक्तिरूपा उपासनाके द्वारा उपासित होनेपर मैं उसी समय उपासकके प्रत्यक्ष हो जाता हूँ।

इसके अतिरिक्त, यह ज्ञान धर्ममय है—धर्मसे युक्त है। अभिप्राय यह कि परम कल्याणके साधनको ही धर्म

स्वरूपेण एव अत्यर्थप्रियत्वेन तदानीम् एव मद्दर्शनापादनतया च स्वयं निःश्रेयसरूपम् अपि निरतिशयनिःश्रेयसरूपात्यन्तिकमत्प्राप्तिसाधनम् इत्यर्थः। अत एव सुसुखं कर्तुं **सुसुखोपादानम्, अत्यर्थप्रियत्वेन उपादेयम्;** अव्ययम् **अक्षयं मत्प्राप्तिं साधयित्वा अपि स्वयं न क्षीयते। एवंरूपम् उपासनं कुर्वतो मत्प्रदाने कृते अपि न किंचित् कृतं मया अस्य इति मे प्रतिभाति इत्यर्थः ॥ २ ॥**

कहते हैं। सो यह स्वरूपसे ही मेरा अत्यन्त प्रिय होनेके कारण तत्काल मेरा दर्शन प्राप्त करा देता है। अतः स्वयं भी परम कल्याणरूप है, और निरतिशय परम कल्याणरूप मेरी आत्यन्तिकी प्राप्तिका साधन भी है। इसीलिये यह करनेमें सुसुख है—इसको सुगमतासे प्राप्त किया जा सकता है। अतः इसे अत्यन्त प्रियरूपसे ग्रहण करना चाहिये। यह ज्ञान अव्यय—क्षयरहित है—मेरी प्राप्तिको सिद्ध करके भी स्वयं नष्ट नहीं होता। अभिप्राय यह है कि ऐसी उपासना करनेवालेको अपना स्वरूप प्रदान कर देनेपर भी, मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि मैंने इसके लिये कुछ भी नहीं किया ॥ २ ॥

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥

परंतप अर्जुन! इस धर्ममें श्रद्धासे रहित पुरुष मुझको न पाकर मृत्युरूप संसारचक्रमें घूमते रहते हैं ॥ ३ ॥

अस्य **उपासनाख्यस्य** धर्मस्य **निरतिशयप्रियमद्विषयतया स्वयं निरतिशयप्रियरूपस्य परमनिःश्रेयसस्वरूपमत्प्राप्तिसाधनस्य अव्ययस्य उपादानयोग्यदशां प्राप्य**

यह उपासना नामक धर्म, जो कि मुझ निरतिशय प्रेमीसे सम्बन्ध रखनेवाला होनेसे स्वयं भी निरतिशय प्रिय है और परम कल्याणरूप मेरी प्राप्तिका अविनाशी उपाय है; इसे प्राप्त करने योग्य दशाको पाकर भी जो

अश्रद्दधानाः **विश्वासपूर्वकत्वरारहिताः** पुरुषाः माम् अप्राप्य मृत्यु**रूपे** संसार-वर्त्मनि **नितरां** वर्तन्ते । **अहो ! महद् इदम् आश्चर्यम् इत्यर्थः** ॥ ३ ॥

मनुष्य इसमें बिना श्रद्धावाले हैं—विश्वासके साथ शीघ्रतासे इसका अनुष्ठान नहीं करनेवाले हैं, वे मुझको न पाकर निरन्तर मृत्युरूप संसारचक्रमें घूमते रहते हैं । अभिप्राय यह कि अहो ! यह महान् आश्चर्य है ॥ ३ ॥

शृणु तावत् प्राप्यभूतस्य मम अचिन्त्यमहिमानम्—

अब तू प्राप्त करने योग्य मुझ परमेश्वरकी अचिन्त्य महिमा सुन—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥ ४ ॥

मुझ अव्यक्तमूर्तिसे यह समूचा जगत् व्याप्त है । सारे भूत मुझमें स्थित हैं और मैं उनमें स्थित नहीं हूँ ॥ ४ ॥

इदं **चेतनाचेतनात्मकं कृत्स्नं** जगद् अव्यक्तमूर्तिना **अप्रकाशितस्वरूपेण** मया **अन्तर्यामिणा** ततम् । **अस्य जगतो धारणार्थं नियमनार्थम् च शेषित्वेन व्याप्तम् इत्यर्थः।यथा अन्तर्यामिब्राह्मणे** *'यः पृथिव्यां तिष्ठन्''' यं पृथिवी न वेद'* *(बृ० उ० ३ । ७ । ३) 'यं आत्मनि तिष्ठन्''' यमात्मा न वेद' (श०प०ब्रा० १४ । ६ । ५ । ५ । ३०)* **इति चेतनाचेतनवस्तुजातैः अदृष्टेन अन्तर्यामिणा तत्र तत्र व्याप्तिः उक्ता ।**

यह जडचेतनरूप समस्त जगत् मुझ अव्यक्तमूर्ति—अप्रकटस्वरूप अन्तर्यामीसे व्याप्त है । अभिप्राय यह कि मैं इस जगत्को धारण करने और नियममें रखनेके लिये इसका शेषी (स्वामी) हूँ, इसलिये यह मुझसे व्याप्त है । जैसे कि 'अन्तर्यामी ब्राह्मण' में **'जो पृथ्वीमें स्थित है, पर जिसको पृथ्वी नहीं जानती', 'जो आत्मामें स्थित है, पर जिसको आत्मा नहीं जानता'** इस प्रकार जड और चेतन वस्तुमात्रसे जो जाननेमें नहीं आ सकता ऐसे अन्तर्यामीसे जगह-जगह सबका व्याप्त होना कहा है ।

ततो मत्स्थानि सर्वभूतानि **सर्वाणि भूतानि मयि अन्तर्यामिणि स्थितानि,**

इसलिये समस्त भूत मुझ अन्तर्यामी-में स्थित हैं; क्योंकि उसी 'अन्तर्यामी

तत्र एव ब्राह्मणे *'यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति'* (*बृ० उ० ३ । ७ । ३*) *'यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति'* (*श० प० ब्रा० १४ । ६ । ६ । ५ । ३०*) इति शरीरत्वेन नियाम्यत्वप्रतिपादनात् । तदायत्ते स्थितिनियमने प्रतिपादिते शेषित्वं च, न च अहं तेषु अवस्थितः अहं तु न तदायत्तस्थितिः, मत्स्थितौ तैः न कश्चिद् उपकार इत्यर्थः ॥ ४ ॥

ब्राह्मण' में **'पृथ्वी जिसका शरीर है जो पृथ्वीका उसमें व्याप्त रहकर नियमन करता है।' 'आत्मा जिसका शरीर है, जो आत्माका उसमें व्याप्त रहकर नियमन करता है।'** इस प्रकार समस्त जड-चेतन परमपुरुषके शरीररूपसे नियाम्य बतलाये गये हैं; अतः उस परम पुरुषके अधीन उनकी स्थिति और नियमन सिद्ध हो जानेसे मैं ही उनका शेषी (स्वामी) भी सिद्ध होता हूँ। परन्तु मैं उनमें स्थित नहीं हूँ—मेरी स्थिति उनके आश्रित नहीं है। अभिप्राय यह कि मेरी स्थितिमें उनके द्वारा कोई उपकार नहीं है ॥ ४ ॥

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥ ५ ॥

तथा वे भूत (भी) मुझमें स्थित नहीं हैं। मेरे ऐश्वर्य-योगको तू देख। मैं भूतोंका धारण करनेवाला हूँ, पर भूतोंमें स्थित नहीं हूँ। मेरा मन भूतभावन है ॥ ५ ॥

न च मत्स्थानि भूतानि **न घटादीनां जलादेः इव मम धारकत्वम्, कथम्? मत्संकल्पेन ।**

तथा वे भूत भी मुझमें स्थित नहीं हैं—मेरा उनको धारण करना घटादि पात्रोंके जल आदि पदार्थोंको धारण करनेके समान नहीं है। फिर कैसे है? केवल मेरे संकल्पसे ही (उनका धारण हो रहा) है।

पश्य **मम** ऐश्वरं योगम् **अन्यत्र कुत्रचिद् असंभवनीयं मद्-**

मेरे ऐश्वर्य-योगको देख—अन्यत्र कहीं भी संभव नहीं, ऐसे मेरे

साधारणम् आश्चर्यं योगं पश्य । कः असौ योगः ? भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः । **सर्वेषां भूतानां भर्ता अहं न च तैः कश्चिद् अपि मम उपकारः । मम आत्मा एव भूतभावनः, मम मनोमयः संकल्प एव भूतानां भावयिता धारयिता नियन्ता च ॥५॥**

असाधारण आश्चर्यमय योगको देख ! वह योग कौन-सा है ? (सो बतलाते हैं) मैं भूतोंको धारण करनेवाला हूँ, पर भूतोंमें स्थित नहीं हूँ और मेरा मन भूतभावन है । अभिप्राय यह है कि मैं सब भूतोंका धारण-पोषण करनेवाला हूँ, उनसे मेरा कुछ भी उपकार नहीं है । मेरा आत्मा—मनोमय संकल्प ही भूतोंका उत्पन्न करनेवाला, धारण करनेवाला और नियमन करनेवाला है ॥ ५ ॥

सर्वस्य अस्य स्वसंकल्पायत्तस्थिति-प्रवृत्तित्वे निदर्शनम् आह—

इस सम्पूर्ण जगत्की स्थिति-प्रवृत्ति अपने सङ्कल्पके अधीन किस प्रकार है, इसमें दृष्टान्त कहते हैं—

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥ ६ ॥

जैसे सर्वत्र गतिवाला महान् वायु आकाशमें नित्य स्थित है, वैसे ही समस्त भूत मुझमें स्थित हैं, तू ऐसा निश्चय कर ॥ ६ ॥

यथा आकाशे **अनालम्बने** महान् वायुः स्थितः सर्वत्र **गच्छति । स तु वायुः निरालम्बनो मदायत्त-स्थितिः इति अवश्याभ्युपगमनीयो मया एव धृत इति विज्ञायते** तथा **एव** सर्वाणि भूतानि **तैः अदृष्टे मयि स्थितानि मया एव धृतानि** इति उपधारय ।

जिस प्रकार महान् वायु आलम्बन-रहित आकाशमें स्थित है और सर्वत्र विचरता है । जैसे वह वायु अवलम्बनरहित होनेपर भी मेरे आश्रित स्थित है, यह निश्चय करना सर्वथा उचित है अर्थात् मैंने ही उसे धारण कर रक्खा है, यह समझमें आता है । वैसे ही सभी भूत उनसे अदृश्य मुझ परमेश्वरमें स्थित हैं—मैंने ही उन सबको धारण कर रक्खा है । ऐसा समझ ।

यथा आहुः वेदविदः—*'मेघोदयः सागरसन्निवृत्तिरिन्दोर्विभागः स्फुरितानि वायोः। विद्युद्विभङ्गो गतिरुष्णरश्मे-र्विष्णोर्विचित्राः प्रभवन्ति मायाः॥* **इति विष्णोः अनन्यसाधारणानि महाश्चर्याणि इत्यर्थः। श्रुतिः अपि**—*'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः' (बृ० उ० ३।८।९) 'भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः। भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः' (तै० उ० २।८।१)* **इत्यादिका॥६॥**

जैसे कि वेदज्ञ लोग कहते हैं—**'मेघोंका उदय, समुद्रकी सीमाबद्ध स्थिति, चन्द्रमाका विभाग (क्षय-वृद्धि), वायुकी चञ्चलता, बिजलीकी चमक, सूर्यकी गति, इस प्रकार यह विष्णुभगवान्‌की विचित्र माया नाना रूपोंमें प्रकट होती है।'** अभिप्राय यह है कि इस प्रकार बहुत-से दूसरोंसे विलक्षण महान् आश्चर्य विष्णुमें होते हैं। श्रुति भी यही कहती है—**'हे गार्गि! इसी अक्षरब्रह्मके शासनमें सूर्य और चन्द्रमा धारण किये हुए स्थित हैं' 'इसीके भयसे वायु चलता है, इसीके भयसे सूर्य उदय होता है, इसीके भयसे अग्नि, इन्द्र और पाँचवाँ मृत्यु अपना-अपना कार्य करते हैं'** इत्यादि॥६॥

सकलेतरनिरपेक्षस्य भगवतः संकल्पात् सर्वेषां स्थितिः प्रवृत्तिः च उक्ता; तथा तत्संकल्पाद् एव सर्वेषाम् उत्पत्तिप्रलयौ अपि, इति आह—

अन्य किसीकी सहायताके बिना केवल भगवान्‌के सङ्कल्पमात्रसे सबकी स्थिति और प्रवृत्ति हो रही है, यह बात कही गयी। अब यह कहते हैं कि सबकी उत्पत्ति और प्रलय भी उसीके संकल्पसे होते हैं—

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥७॥

अर्जुन! कल्पके अन्तमें सारे भूत मेरी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं और कल्पके आदिमें मैं पुनः उनको उत्पन्न करता हूँ॥७॥

स्थावरजङ्गमात्मकानि सर्वाणि भूतानि मामिकां **मच्छरीरभूतां** प्रकृतिं

चराचर सभी भूतप्राणी कल्पके अन्तमें—चतुर्मुख ब्रह्माके शान्त होनेके

तमःशब्दवाच्यां नामरूपविभागा-नर्हां कल्पक्षये **चतुर्मुखावसानसमये मत्संकल्पाद्** यान्ति। तानि **एव भूतानि** कल्पादौ पुनः विसृजामि अहम्। **यथा आह मनुः**—*'आसीदिदं तमोभूतम्'* (मनु० १।५) *'सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात्'* (मनु० १।८) **इति श्रुति अपि**—*'यस्याव्यक्तं शरीरम्'* (सु० उ० ७) **इत्यादिका** *'अव्यक्तमक्षरे लीयते अक्षरं तमसि लीयते, तमः परे देवे एकीभवति'* (सु०उ० २) *'तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतम्'* (ऋ० सं० ८।७।१७।३) **इति च ॥ ७ ॥**

समय मेरे संकल्पसे मेरी शरीररूपा, नामरूपके विभागसे रहित 'तम' शब्दसे कही जानेवाली (जड) प्रकृतिमें लीन हो जाते हैं। उन्हीं भूतप्राणियोंको कल्पके आदिमें मैं फिर सृजन करता हूँ। जैसे कि मनुने कहा है—**'पहले यह सब तमरूप था' 'उस परमेश्वर-ने ध्यान करके अपने शरीरसे सबकी रचना की'** इत्यादि। श्रुति भी कहती है—**'जिसका शरीर अव्यक्त (प्रकृति) है', 'अव्यक्त अक्षर-में लय होता है, अक्षर तममें लय होता है (और) तम परम देवमें एक हो जाता है।' 'पहले तम ही था, पहले सब तमसे ही ढका हुआ था'**। इत्यादि ॥ ७ ॥

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ८ ॥

प्रकृतिके वशसे विवश हुए इस समस्त भूत-समुदायको मैं अपनी प्रकृतिका अवलम्बन करके पुनः-पुनः नाना प्रकारसे सृजन करता हूँ ॥ ८ ॥

स्वकीयां विचित्रपरिणामिनीं प्रकृतिम् अवष्टभ्य **अष्टधा परिणमय्य** इमं **चतुर्विधं देवतिर्यङ्मनुष्यस्थाव-रात्मकं** भूतग्रामं **मदीयाया मोहिन्याः**

विविध परिणामवाली अपनी प्रकृति-को अवलम्बन करके—उसके आठ भेद करके इन चार प्रकारके भूत-समुदायको रचता हूँ अर्थात् देव, तिर्यक्, मनुष्य और स्थावर—ऐसे चार प्रकारका भूत-समुदाय, जो कि

गुणमय्याः प्रकृतेः वशात् अवशं पुनः पुनः **काले काले** विसृजामि ॥८॥

सबको मोहित करनेवाली मेरी गुणमयी प्रकृतिके बलसे विवश हो रहा है, उसको पुनः-पुनः—समय-समयपर नाना प्रकारसे रचता हूँ ॥ ८ ॥

एवं तर्हि विषमसृष्ट्यादीनि कर्माणि नैर्घृण्याद्यापादनेन भगवन्तं बध्नन्ति इति, अत्र आह—

यदि यही बात है तब तो विषम-सृष्टि आदि कर्म निर्दयतादि दोषोंकी उत्पत्तिद्वारा भगवान्‌को बाँधते होंगे। इस शङ्कापर कहते हैं—

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥

अर्जुन ! उन कर्मोंमें उदासीनकी भाँति स्थित मुझ आसक्तिरहितको वे (विषम रचनादि) कर्म नहीं बाँधते ॥ ९ ॥

न च तानि **विषमसृष्ट्यादीनि** कर्माणि मां निबध्नन्ति **मयि नैर्घृण्यादिकं न आपादयन्ति, यतः क्षेत्रज्ञानां पूर्वकृत्यानि एव कर्माणि देवादिविषमभावहेतवः; अहं तु तत्र वैषम्ये** असक्तः **तत्र** उदासीनवद् आसीनः । **यथा आह सूत्रकारः**—*'वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्'* (ब्र० सू० २ । १ । ३४) *'न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात्'* (ब्र० सू० २ । १ । ३५) **इति** ॥९॥

वे विषम-रचनादि कर्म मुझको नहीं बाँधते—मुझमें निर्दयतादि दोषोंको उत्पन्न नहीं करते; क्योंकि जीवोंके पूर्वकृत कर्म ही देवादि विषम रूपोंकी रचनामें कारण हैं। मैं तो उस विषम रचनामें आसक्तिरहित उदासीनकी भाँति स्थित हूँ। जैसा कि ब्रह्म-सूत्रकारने कहा है—**'भगवान्‌में विषमता और निर्दयता आदि दोष नहीं है, क्योंकि वे सारी रचना पूर्वार्जित कर्मोंके अनुसार करते हैं' यदि कहो कि 'यह बात सिद्ध नहीं होती, क्योंकि (महाप्रलयमें) कर्मोंका विभाग नहीं है तो ऐसा भी नहीं है; क्योंकि कर्म अनादि हैं'** ॥ ९ ॥

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥१०॥

अर्जुन! मुझ अध्यक्षके द्वारा प्रेरित प्रकृति समस्त चराचर जगत्को उत्पन्न करती है, इस हेतुसे यह जगत् चलता रहता है ॥ १० ॥

तस्मात् क्षेत्रज्ञकर्मानुगुणं मदीया प्रकृतिः **सत्यसंकल्पेन** मया अध्यक्षेण **ईक्षिता** सचराचरं **जगत्** सूयते, अनेन **क्षेत्रज्ञकर्मानुगुणमदीक्षणेन** हेतुना जगद् विपरिवर्तते; **इति मत्स्वाम्यं सत्यसंकल्पत्वं नैर्घृण्यादिदोषरहितत्वम् इत्येवमादिकं मम वसुदेवसूनोः ऐश्वरं योगं पश्य। यथा श्रुतिः—** *'अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः॥' 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्'* (श्वेता० ४। ९-१०) **इति ॥१०॥**

इसलिये मुझ सत्यसंकल्प स्वामीके द्वारा प्रेरित मेरी प्रकृति जीवोंके कर्मानुरूप चराचर जगत्को रचती है। इस हेतुसे—जीवोंके कर्मानुसार मेरी प्रेरणासे यह जगत् चल रहा है। इस प्रकार मेरा सबका स्वामी होना, सत्यसंकल्पवाला होना और निर्दयता आदि दोषोंसे रहित होना इत्यादि मुझ वसुदेवनन्दन कृष्णके ऐश्वरयोगको तू देख। जैसे श्रुति कहती है— **'इसलिये मायावी (परमपुरुष) इस विश्वकी रचना करता है। उसमें दूसरा (जीव) मायासे बँधा रहता है।' 'प्रकृतिको तो माया समझना चाहिये और महेश्वरको मायाका स्वामी समझना चाहिये।'** इति ॥ १० ॥

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥११॥

मूर्ख लोग मेरे परम भावको न जानते हुए भूतोंके महान् ईश्वर मुझ मानवशरीरधारीकी अवज्ञा करते हैं ॥ ११ ॥

एवं मां भूतमहेश्वरं **सर्वज्ञं सत्यसंकल्पं निखिलजगदेककारणं परम-**

इस प्रकार मैं, जो कि भूतोंका महान् ईश्वर, सर्वज्ञ, सत्यसंकल्पवाला समस्त जगत्का एकमात्र कारण तथा परम दयालु स्वभावसे सबको

कारुणिकतया सर्वसमाश्रयणीयत्वाय मानुषीं तनुम् आश्रितं **स्वकृतैः पापकर्मभिः** मूढा अवजानन्ति—**प्राकृतमनुष्यसमं मन्यन्ते ।**

भूतमहेश्वरस्य मम **अपारकारुण्यौदार्यसौशील्यवात्सल्यादिनिबन्धनं मनुष्यत्वसमाश्रयणलक्षणम् इमं** परं भावम् अजानन्तो **मनुष्यत्वसमाश्रयणमात्रेण माम् इतरसजातीयं मत्वा तिरस्कुर्वन्ति इत्यर्थः** ॥ ११ ॥

परम आश्रय प्रदान करने योग्य मनुष्य-शरीरको धारण किये हुए हूँ, उसकी अपने किये हुए पापकर्मोंसे मोहित अज्ञानीजन अवज्ञा करते हैं—मुझे साधारण मनुष्यके समान मानते हैं।

अभिप्राय यह है कि जो मुझ भूतमहेश्वरका अपार कारुण्य, औदार्य, सौशील्य और वात्सल्यादि गुणोंके कारण मनुष्यत्व-धारणरूप परम भाव है, उसे न जाननेवाले मनुष्य केवल मनुष्यत्व धारण करनेमात्रसे मुझे दूसरोंके समान समझकर मेरा तिरस्कार करते हैं ॥ ११ ॥

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥ १२ ॥

राक्षसी, आसुरी और मोहिनी प्रकृतिका आश्रय लेनेवाले मनुष्य निःसन्देह व्यर्थ आशावाले, व्यर्थ कर्मोंवाले, व्यर्थ ज्ञानवाले और विक्षिप्तचित्त होते हैं ॥ १२ ॥

मम मनुष्यत्वे परमकारुण्यादिपरत्वतिरोधानकरीं राक्षसीम् आसुरीं च मोहिनीं प्रकृतिम् आश्रिताः, मोघाशाः **मोघवाञ्छिता निष्फलवाञ्छिताः,** मोघकर्माणः **मोघारम्भाः,** मोघज्ञानाः **सर्वेषु मदीयेषु चराचरेषु अर्थेषु मयि च** विपरीतज्ञानतया **निष्फलज्ञानाः;**

मेरा मनुष्यत्वको धारण करना परम दयालुता आदि गुणके कारण है। इस बातको छिपा देनेवाली राक्षसी, आसुरी और मोहिनी प्रकृतिका आश्रय लेनेवाले पुरुष व्यर्थ आशावाले—निष्फल इच्छावाले, व्यर्थ कर्मी—व्यर्थ कर्म करनेवाले और व्यर्थ ज्ञानी—मेरे सम्पूर्ण चराचर पदार्थोंके विषयमें तथा मेरे सम्बन्धमें भी विपरीत ज्ञान रखनेवाले होनेके कारण व्यर्थ ज्ञानवाले हैं और

विचेतसः तथा सर्वत्र विगतयाथात्म्यज्ञानाः, मां सर्वेश्वरम् इतरसमं मत्वा मयि यत् कर्तुम् इच्छन्ति, यद् उद्दिश्य आरम्भान् कुर्वते, तत् सर्वं मोघं भवति इत्यर्थः ॥ १२ ॥

विक्षिप्त चित्तवाले भी हैं। अभिप्राय यह कि वे सभी विषयोंमें यथार्थ ज्ञानसे रहित हैं, अतः वे मुझ सर्वेश्वरको दूसरोंके समान समझकर मेरे विषयमें जो कुछ करना चाहते हैं और जिस उद्देश्यसे कर्म करते हैं, (उनका) वह सब व्यर्थ होता है ॥ १२ ॥

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥ १३ ॥

परन्तु हे पृथापुत्र अर्जुन ! दैवी प्रकृतिके आश्रित अनन्य मनवाले महात्मा-लोग, मुझे भूतोंका आदि और अविनाशी जानकर भजते हैं ॥ १३ ॥

ये तु स्वकृतैः पुण्यसञ्चयैः मां शरणम् उपगम्य विध्वस्तसमस्तपापबन्धाः दैवीं प्रकृतिम् आश्रिताः महात्मानः **ते,** भूतादिम् अव्ययं **वाङ्मनसागोचरनामकर्मस्वरूपं परमकारुणिकतया साधुपरित्राणाय मनुष्यत्वेन अवतीर्णं मां** ज्ञात्वा अनन्यमनसः मां भजन्ते; **मत्प्रियत्वातिरेकेण मद्भजनेन विना मनसः च आत्मनः च बाह्यकरणानां च धारणम्**

परन्तु जो अपने किये हुए पुण्य-सञ्चयके प्रभावसे मेरी शरणमें आकर समस्त पाप-बन्धनोंको काट डालनेवाले मनुष्य दैवी प्रकृतिका आश्रय ले चुके हैं, वे अनन्य मनवाले महात्माजन मुझे ऐसा समझकर भजते हैं कि भगवान् भूतोंके आदि और अविनाशी हैं; उनके नाम, कर्म और रूप मन-वाणीसे अतीत हैं। वे परम दयालुतासे साधुओंका परित्राण करनेके लिये मनुष्यरूपमें अवतीर्ण हुए हैं। अभिप्राय यह है कि मुझमें अत्यन्त प्रेम होनेके कारण वे मेरे भजनके बिना मन, आत्मा और बाह्य इन्द्रियोंको धारण करनेमें असमर्थ हो जाते हैं; अतः

अलभमानाः, मद्भजनैकप्रयोजनाः भजन्ते ॥ १३ ॥	मेरे भजनको ही अपना एकमात्र प्रयोजन समझकर मेरा भजन करते हैं ॥ १३ ॥

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥ १४ ॥

वे सदा मेरा कीर्तन करते हुए (मेरे लिये) दृढ़व्रती होकर प्रयत्न करते हुए और भक्तिसे मुझे नमस्कार करते हुए नित्य मुझमें लगे रहकर मुझे भजते हैं ॥ १४ ॥

अत्यर्थं मत्प्रियत्वेन मत्कीर्तनयतननमस्कारैः विना क्षणाणुमात्रे अपि आत्मधारणम् अलभमानाः मद्गुणविशेषवाचीनि मन्नामानि स्मृत्वा पुलकितसर्वाङ्गाः, हर्षगद्गदकण्ठाः श्रीरामनारायणकृष्णवासुदेवेत्येवमादीनि सततं कीर्तयन्तः **तथा एव** यतन्तः **मत्कर्मसु अर्चनादिकेषु वन्दनस्तवनकरणादिकेषु तदुपकारकेषु भवननन्दनवनकरणादिकेषु च दृढसंकल्पाः यतमानाः, भक्तिभारावनमितमनोबुद्ध्यभिमानपदद्वयकरद्वयशिरोभिः अष्टाङ्गैः अचिन्तितपांसु-**

मुझमें अत्यन्त प्रेम होनेके कारण जो मेरा कीर्तन, मेरे लिये प्रयत्न और मुझे नमस्कार किये बिना क्षणके अणुमात्र समयतक भी जीवन धारण नहीं कर सकते। मेरे विशेष गुणोंके वाचक नामोंका स्मरण करके जिनके समस्त अंग पुलकित हो जाते हैं और कण्ठ हर्षसे गद्गद हो उठते हैं, ऐसे भक्त श्रीराम, नारायण, कृष्ण, वासुदेव इत्यादि नामोंका सतत कीर्तन करते हुए तथा यत्न करते हुए—मेरी पूजा-वन्दना एवं स्तुति करना या उन सबके लिये मन्दिर, बगीचा आदि बनाना इत्यादि मेरे कर्मोंमें दृढ़संकल्प होकर यत्न करते हुए तथा भक्तिके भारसे विनम्र हुए मन-बुद्धि, अहङ्कार, दोनों पैर, दोनों हाथ और सिर—इन आठों अंगोंसे धूलि, कीचड़ और बालू आदिका विचार किये

कर्दमशर्करादिके धरातले दण्डवत् प्रणिपतन्तः, सततं मां नित्ययुक्ताः **नित्ययोगम् आकाङ्क्षमाणा आत्मवन्तो मद्दास्यव्यवसायिनः** उपासते ॥१४॥

बिना धरातलमें दण्डकी भाँति गिरकर मुझे सदा नमस्कार करते हुए और नित्ययुक्त हुए—सदा मुझसे संयोग चाहते हुए और मेरे दास्यभावको चाहते हुए स्वाधीन मन-वाले होकर मेरी उपासना करते हैं ॥१४॥

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥ १५ ॥

और दूसरे (महात्मा) ज्ञानयज्ञसे मेरी पूजा करते हुए भी बहुत प्रकारसे पृथक्-पृथक् रूपसे (जगत्के आकारमें) स्थित मुझ विश्वतोमुख परमेश्वरकी एकत्वभावसे उपासना करते हैं ॥ १५ ॥

अन्ये अपि **महात्मानः पूर्वोक्तैः कीर्तनादिभिः** ज्ञानाख्येन यज्ञेन च यजन्तः माम् उपासते, **कथम्** ? बहुधा पृथक्त्वेन **जगदाकारेण** विश्वतोमुखं **विश्वप्रकारम् अवस्थितं** माम् एकत्वेन उपासते ।

दूसरे प्रकारके महात्मा लोग भी पूर्वोक्त कीर्तनादि साधनोंसे और ज्ञान नामक यज्ञसे पूजा करते हुए मेरी उपासना करते हैं । (प्रश्न—) कैसे करते हैं ? (उत्तर) बहुत प्रकारसे पृथक्-पृथक् रूपसे जगत्के आकारमें स्थित मुझ विश्वतोमुख—विश्वाकारमें अवस्थित परमेश्वरकी एकभावसे उपासना करते हैं ।

एतद् उक्तं भवति भगवान् वासुदेव एव नामरूपविभागानर्हातिसूक्ष्मचिदचिद्वस्तुशरीरः सन् सत्यसंकल्पः विविधविभक्तनामरूपस्थूलचिदचिद्वस्तुशरीरः स्याम् इति संकल्प्य स एकदेव

कहनेका अभिप्राय यह होता है कि नामरूपके विभागसे रहित अत्यन्त सूक्ष्म जडचेतन-वस्तुमात्र जिसका शरीर है, ऐसे सत्यसङ्कल्प श्रीवासुदेव भगवान् ही 'मैं विविध नामरूपोंमें विभक्त स्थूल, जडचेतन शरीरवाला होऊँ' इस प्रकारका सङ्कल्प करके वही एक देव

एव तिर्यङ्मनुष्यस्थावराख्यविचित्रजगच्छरीरः अवतिष्ठते इति अनुसंदधानाश्च माम् उपासते इति ॥१५॥

मनुष्य, तिर्यक्, स्थावर आदि नामक विचित्र जगत्‌को अपना शरीर बनाये हुए स्थित है, इस प्रकार समझनेवाले भी मेरी उपासना करते हैं ॥ १५ ॥

तथा हि विश्वशरीरः अहम् एव अवस्थितः, इति आह—

मैं ही ऐसे विश्वरूप शरीरवाला स्थित हूँ; यह बात कहते हैं—

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥ १६ ॥

मैं क्रतु हूँ, मैं यज्ञ हूँ, मैं स्वधा हूँ, मैं औषध हूँ, मैं मन्त्र हूँ, मैं ही घृत हूँ, मैं अग्नि हूँ और मैं ही हवन हूँ ॥ १६ ॥

अहं क्रतुः अहं ज्योतिष्टोमादिकक्रतुः अहम् एव यज्ञः महायज्ञः अहम् एव स्वधा पितृगणपुष्टिदायिनी औषधं हविः च अहम् एव । अहम् एव च मन्त्रः अहम् एव आज्यम् । प्रदर्शनार्थम् इदम्, सोमादिकं च हविः अहम् एव इत्यर्थः । अहम् आहवनीयादिकः अग्निः होमश्च अहम् एव ॥ १६ ॥

ज्योतिष्टोम आदि क्रतु मैं हूँ और यज्ञ—महायज्ञ भी मैं ही हूँ। पितरोंको पुष्टि प्रदान करनेवाली स्वधा मैं ही हूँ और औषध—हवि भी मैं ही हूँ । मैं ही मन्त्र और मैं ही घृत भी हूँ । 'घृत' शब्द उपलक्षणके लिये है, तात्पर्य यह कि सोम आदि हविष्य भी मैं ही हूँ । मैं ही आहवनीय आदि अग्नि और होम भी मैं ही हूँ ॥ १६ ॥

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक्साम यजुरेव च ॥ १७ ॥

इस जगत्‌का पिता, माता, पितामह और धाता मैं हूँ । (वेदोंके द्वारा) जानने योग्य पवित्र ओंकार और ऐसे ऋक्, साम, यजु भी मैं हूँ ॥ १७ ॥

अस्य स्थावरजङ्गमात्मकस्य जगतः तत्र तत्र पितृत्वेन मातृत्वेन धातृत्वेन

इस चराचररूप जगत्‌के लिये जहाँ-तहाँ पिता, माता, पितामह और धाताके

पितामहत्वेन च वर्तमानः अहम् एव । अत्र धातृशब्दो मातृपितृव्यतिरिक्ते उत्पत्तिप्रयोजके चेतनविशेषे वर्तते । यत् किंचिद् वेद वेद्यं पवित्रं **पावनं तद् अहम् एव । वेदकश्च; वेदबीजभूतः प्रणवः अहम् एव ।** ऋक्सामयजुरा-**त्मको वेदश्च अहम्** एव ॥ १७ ॥

रूपमें मैं ही वर्तमान हूँ । यहाँ 'धाता' शब्द माता-पितासे अतिरिक्त उत्पत्ति-प्रयोजक चेतनविशेष (ब्रह्मा) का वाचक है । जो कुछ भी वेदके द्वारा जाननेयोग्य पवित्र—पावन वस्तु है, वह मैं ही हूँ । तथा जाननेवाला भी मैं ही हूँ । वेदोंका बीजरूप ॐकार और ऋक्सामयजुःरूप वेद भी मैं ही हूँ ॥ १७ ॥

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवप्रलयस्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥ १८ ॥

(सबकी) गति, भर्ता, प्रभु, साक्षी, निवास, शरण, सुहृद्, उत्पत्ति और प्रलयका स्थान, निधान और अविनाशी बीज मैं ही हूँ ॥ १८ ॥

गम्यत इति गतिः, **तत्र तत्र प्राप्यस्थानम् इत्यर्थः ।** भर्ता **धारयिता,** प्रभुः **शासिता,** साक्षी **साक्षाद् द्रष्टा,** निवासः **वासस्थानं च वेश्मादि,** शरणम् **इष्टस्य प्रापकतया अनिष्टस्य निवारणतया समाश्रयणीयः चेतनः शरणम्, स च अहम् एव** सुहृत् **हितैषी,** प्रभवप्रलयस्थानं **यस्य कस्य यत्र कुत्रचित् प्रभवप्रलययोः यत् स्थानं तद् अहम्**

जहाँ जाया जाय उस लक्ष्यका नाम गति है, इस व्युत्पत्तिके अनुसार उन-उन लोकोंमें जो प्राप्त होनेयोग्य स्थान है, वह गति है, (वह गति मैं हूँ ।) भर्ता—धारण करनेवाला, प्रभु—शासक, साक्षी—प्रत्यक्षद्रष्टा और निवास—गृह आदि वास-स्थान भी (मैं ही हूँ) शरण – इष्टकी प्राप्ति और अनिष्टकी निवृत्तिके लिये आश्रय लेने योग्य चेतनका नाम शरण है, वह भी मैं ही हूँ । सुहृद्—हितैषी, उत्पत्ति और प्रलयका स्थान—जिस किसीका भी जहाँ-कहीं जो उत्पत्ति-प्रलयका स्थान है, वह मैं ही हूँ । (उत्पत्ति और

एव । निधानं निधीयत इति निधानम् उत्पाद्यम् उपसंहार्यं च अहम् एव इत्यर्थः । अव्ययं बीजं तत्र तत्र व्ययरहितं यत् कारणं तद् अहम् एव ॥ १८ ॥

प्रलयके स्थानमें) जो निहित--स्थापित किया जाय वह निधान है, इस व्युत्पत्तिके अनुसार उत्पन्न और उपसंहार किये जाने योग्य वस्तुका नाम निधान है, वह भी मैं ही हूँ । तथा अविनाशी बीज--जहाँ-तहाँ जो नाशरहित कारण है, वह मैं ही हूँ ॥ १८ ॥

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥१९॥

अर्जुन ! मैं तपता हूँ, मैं वर्षाको रोके रखता और बरसाता हूँ और अमृत तथा मृत्यु एवं सत् तथा असत् भी मैं ही हूँ ॥ १९ ॥

अग्न्यादित्यादिरूपेण अहम् **एव** तपामि, **ग्रीष्मादौ** अहम् **एव** वर्षं निगृह्णामि **तथा वर्षासु अपि** च **अहम् एव** उत्सृजामि । अमृतं च एव मृत्युः च **येन जीवति लोको येन च म्रियते, तद् उभयम् अपि अहम् एव । किम् अत्र बहुना उक्तेन ?** सद् असत् च **अपि** अहम् **एव । सद् यद् वर्तते, असद् यद् अतीतम् अनागतं च, सर्वावस्थावस्थितचिदचिद्वस्तुशरीरतया तत्तत्प्रकारः अहम् एव अवस्थित इत्यर्थः ।**

अग्नि और सूर्य आदिके रूपमें मैं ही तपता हूँ । ग्रीष्म आदि ऋतुओंमें मैं ही वर्षाको रोके रखता हूँ और वर्षा ऋतुमें बरसाता भी मैं ही हूँ । एवं अमृत और मृत्यु--जिससे प्राणी जीते हैं और जिससे मरते हैं, वे दोनों भी मैं ही हूँ । यहाँ अधिक कहनेसे क्या है, सत् और असत् भी मैं ही हूँ । अभिप्राय यह है कि वर्तमान वस्तुका नाम सत् है और भूत-भविष्य वस्तुका नाम असत् है, सो सभी अवस्थाओंमें स्थित जड-चेतन वस्तु मेरा ही शरीर होनेके कारण उन-उन वस्तुओंके रूपमें मैं ही स्थित हूँ ।

एवं बहुधा पृथक्त्वेन विभक्तनामरूपावस्थितकृत्स्नजगच्छ-

इस तरह मैं बहुत-से प्रकारोंमें पृथक्-पृथक् विभक्त नामरूपोंमें अवस्थित

रीरतया तत्प्रकारः अहम् एव अवस्थित इति एकत्वज्ञानेन अनुसंदधानाः च माम् उपासते ते एव महात्मानः ॥ १९ ॥

सम्पूर्ण जगत्‌रूप शरीरवाला हूँ, इसलिये उनके रूपमें मैं ही स्थित हूँ, ऐसे एकत्व-ज्ञानसे मेरा चिन्तन करते हुए जो भक्त मेरी उपासना करते हैं वे ही महात्मा हैं ॥ १९ ॥

एवं महात्मनां ज्ञानिनां भगवदनुभवैकभोगानां वृत्तम् उक्त्वा तेषाम् एव विशेषं दर्शयितुम् अज्ञानां कामकामानां वृत्तम् आह—

इस प्रकार एकमात्र भगवान्‌का अनुभव करते रहना ही जिनका 'भोग' है, ऐसे ज्ञानी महात्मा पुरुषोंके स्वभाव एवं आचरणोंका वर्णन करके, अब उन्हींकी विशेषता दिखलानेके लिये भोगोंकी कामनावाले अज्ञानियोंके आचरणोंका वर्णन करते हैं—

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥ २० ॥

तीनों वेदोंमें निष्ठा रखनेवाले, सोमरस पीनेवाले, विशुद्ध पापोंवाले पुरुष यज्ञोंसे मुझे पूजकर (मुझे न जाननेके कारण) स्वर्ग-प्राप्तिकी याचना करते हैं। वे पुण्यफलरूप इन्द्रलोकको पाकर स्वर्गमें देवताओंके दिव्य भोगोंको भोगते हैं ॥ २० ॥

ऋग्यजुःसामरूपाः तिस्रो विद्याः त्रिविद्यम्, केवलं त्रिविद्यनिष्ठाः त्रैविद्याः । न तु त्रय्यन्तं निष्ठाः, त्रय्यन्तनिष्ठा हि महात्मानः पूर्वोक्त-

ऋक्, यजुः और साम—इन तीनों विद्याओंका नाम त्रिविद्य है और केवल इस त्रिविद्यमें ही जिनकी निष्ठा है, उनका नाम त्रैविद्य है। यहाँ त्रैविद्य शब्दसे वेदान्तनिष्ठ पुरुषोंका ग्रहण नहीं है, क्योंकि जिनका केवल एक मैं

प्रकारेण अखिलवेदवेद्यं माम् एव ज्ञात्वा अतिमात्रमद्भक्तिकारितकीर्तनादिभिः ज्ञानयज्ञेन च मदेकप्राप्या माम् एव उपासते ।

त्रैविद्याः तु वेदप्रतिपाद्यकेवलेन्द्रादियागशिष्टसोमान् पिबन्तः पूतपापाः **स्वर्गादिप्राप्तिविरोधिपापात् पूताः तैः केवलेन्द्रादिदैवत्यतया अनुसंहितैः** यज्ञैः **वस्तुतः तद्रूपं** माम् इष्ट्वा **तथा अवस्थितं माम् अजानन्तः** स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते । ते पुण्यं **दुःखासंभिन्नं** सुरेन्द्रलोकं **प्राप्य तत्र** दिव्यान् देवभोगान् अश्नन्ति ॥ २० ॥

ही प्राप्य हूँ, ऐसे वेदान्तनिष्ठ महात्मा भक्त पूर्वोक्त प्रकारसे समस्त वेदोंके द्वारा जानने-योग्य केवल मुझ परमेश्वरको जानकर मेरी अतिमात्र भक्तिपूर्वक किये जानेवाले कीर्तनादिके द्वारा और ज्ञानयज्ञके द्वारा भी मेरी ही उपासना करते हैं ।

परन्तु त्रैविद्य पुरुष जो वेद-प्रतिपाद्य केवल इन्द्रादिके पूजनरूप यज्ञोंसे बचे हुए सोमरसको पीनेवाले हैं, वे स्वर्गादिकी प्राप्तिके विरोधी पापोंसे शुद्ध (रहित) होकर केवल उन इन्द्रादिको देवता मानकर किये हुए यज्ञोंके द्वारा वास्तवमें उनके रूपमें स्थित मुझ परमेश्वरकी पूजा करके भी, इस प्रकारसे स्थित मुझ परमेश्वरको न जाननेके कारण स्वर्गप्राप्तिकी याचना करते हैं । अतः वे पुण्यमय—दुःखसे अमिश्रित इन्द्रलोकको पाकर वहाँ देवताओंके दिव्य भोगोंको भोगते हैं ॥ २० ॥

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते ॥ २१ ॥

वे उस विशाल स्वर्गलोकको भोगकर पुण्यके क्षीण होनेपर पुनः मर्त्यलोकमें प्रवेश करते हैं । इस प्रकार केवल वेदत्रयी-प्रतिपादित धर्मके आश्रित और भोगोंकी कामनावाले मनुष्य आवागमनको प्राप्त होते हैं ॥ २१ ॥

ते तं विशालं स्वर्गलोकं भुक्त्वा **तदनुभवहेतुभूते** पुण्ये क्षीणे **पुनरपि** मर्त्यलोकं विशन्ति ।

एवं **त्र्यन्तसिद्धज्ञानविधुराः काम्यस्वर्गादिकामाः केवलं** त्रयीधर्मम् अनुप्रपन्नाः गतागतं लभन्ते । **अल्पास्थिरस्वर्गादीन् अनुभूय पुनः पुनः निवर्तन्ते इत्यर्थः** ॥ २१ ॥

तथा वे उस विशाल स्वर्गलोकको भोगकर उन भोगोंके कारणरूप पुण्य-कर्मोंका क्षय होनेपर पुनः वापस मृत्युलोकमें लौट आते हैं ।

इस प्रकार वेदान्तप्रतिपादित ज्ञानसे रहित और कमनीय स्वर्गादि भोगोंकी कामनावाले पुरुष केवल त्रिवेदविहित धर्मका आश्रय लेकर आवागमनको प्राप्त होते हैं । अभिप्राय यह है कि अल्प, अनित्य स्वर्गादिको भोगकर बार-बार वापस लौटते हैं ॥ २१ ॥

महात्मानः तु निरतिशयप्रियरूपं मच्चिन्तनं कृत्वा माम् अनवधिकातिशयानन्दं प्राप्य न पुनरावर्तन्ते इति तेषां विशेषं दर्शयति—

महात्मा भक्तजन निरतिशय प्रियरूप मेरा चिन्तन करके अपार अत्यन्त आनन्द-स्वरूप मुझ परमेश्वरको पाकर वापस नहीं लौटते, यह कहकर उनकी विशेषता दिखलाते हैं—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ २२ ॥

जो अनन्य भक्तजन मुझे चिन्तन करते हुए भलीभाँति मेरी उपासना करते हैं, उन नित्ययुक्त पुरुषोंका योगक्षेम मैं वहन करता हूँ ॥ २२ ॥

अनन्याः **अनन्यप्रयोजना मच्चिन्तनेन विना आत्मधारणालाभात् मच्चिन्तनैकप्रयोजनाः** मां चिन्तयन्तो ये **महात्मानः** जनाः पर्युपासते **सर्व-**

मेरे चिन्तनके बिना शरीर धारण करनेमें असमर्थ होनेके कारण केवल एक मेरा चिन्तन ही जिनका प्रयोजन है, ऐसे अन्य प्रयोजनसे रहित जो महात्मा भक्तजन मेरा चिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते हैं—समस्त

कल्याणगुणान्वितं **सर्वविभूतियुक्तं मां परित उपासते अन्यूनम् उपासते** तेषां नित्याभियुक्तानां **मयि नित्याभियोगं काङ्क्षमाणानाम्** अहं **मत्प्राप्तिलक्षणं** योगम् अपुनरावृत्तिरूपं क्षेमं **च** वहामि ॥ २२ ॥

कल्याणमय गुणोंसे समन्वित और सम्पूर्ण विभूतियोंसे युक्त मुझ परमेश्वरकी भलीभाँति सर्वाङ्गपूर्ण उपासना करते हैं, उन निरन्तर मुझसे सम्बन्ध चाहनेवाले भक्तोंका मेरी प्राप्तिरूप योग और अपुनरावृत्तिरूप क्षेम मैं वहन करता हूँ ॥ २२ ॥

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।

तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ २३ ॥

जो भी अन्य देवताओंके भक्त श्रद्धासे युक्त होकर (उनको) पूजते हैं भी, हे अर्जुन ! मुझको ही अविधिपूर्वक पूजते हैं ॥ २३ ॥

ये अपि अन्यदेवताभक्ताः **ये तु इन्द्रादिदेवताभक्ताः केवलत्रयीनिष्ठाः** श्रद्धया अन्विताः **इन्द्रादीन्** यजन्ते, तेऽपि **पूर्वोक्तेन न्यायेन सर्वस्य मच्छरीरतया मदात्मत्वेन इन्द्रादिशब्दानां च मद्वाचित्वाद् वस्तुतो** माम् एव यजन्ते **अपि तु** अविधिपूर्वकं **यजन्ते । इन्द्रादीनां देवतानां कर्मसु आराध्यतया अन्वयं यथा वेदान्तवाक्यानि** *'चतुर्होतारो यत्र संपदं गच्छन्ति देवैः'* (*तै० आ० ४*) **इत्यादीनि विदधति, न तत्पूर्वकं यजन्ते ।**

जो कोई अन्य देवताओंके भक्त—इन्द्रादि देवताओंके भक्त, केवल त्रयीविद्यानिष्ठ श्रद्धायुक्त पुरुष इन्द्रादि देवताओंकी पूजा करते हैं, वे भी, पूर्वोक्त रीतिसे सब कुछ मेरे शरीररूपसे मेरा ही स्वरूप होनेके कारण इन्द्रादि शब्द भी मेरे ही वाचक हैं, इसलिये, वास्तवमें मेरी ही पूजा करते हैं; परन्तु अविधिपूर्वक करते हैं। अभिप्राय यह है कि **'चतुर्होतारो यत्र संपदं गच्छन्ति देवैः'** इत्यादि वेदान्तवाक्य इन्द्रादि देवताओंका यज्ञादि कर्मोंमें आराध्यरूपसे जिस प्रकार अन्वय-विधान करते हैं, उसके अनुसार वे मेरी पूजा नहीं करते ।

वेदान्तवाक्यजातं हि परमपुरुषशरीरतया अवस्थितानाम् इन्द्रादीनाम् आराध्यत्वं विदधद् आत्मभूतस्य परमपुरुषस्य एव साक्षाद् आराध्यत्वं विदधाति ।

चतुर्होतारः अग्निहोत्रदर्शपौर्णमासादीनि कर्माणि कुर्वाणा यत्र परमात्मनि आत्मतया अवस्थिते सति एव तच्छरीरभूतैः इन्द्रादिदेवैः संपदं गच्छन्ति, इन्द्रादिदेवानाम् आराधनानि एतानि कर्माणि मद्विषयाणि इति मां संपदं गच्छन्ति इत्यर्थः ॥ २३ ॥

सभी वेदान्त-वचन परम पुरुषके शरीररूपमें स्थित इन्द्रादि देवताओंकी आराधनाका विधान करते हुए उनके आत्मरूप परम पुरुषकी ही साक्षात् आराधनाका विधान करते हैं ।

उपर्युक्त श्रुतिवाक्यका अर्थ यह है कि 'अग्निहोत्र दर्शपौर्णमासादि कर्म करनेवाले चार होतागण जिस परमेश्वरके आत्मरूपसे स्थित रहनेपर ही उसके शरीररूप, इन्द्रादि देवताओंके साथ सम्पत्ति (समान पदवी) को प्राप्त होते हैं ।' अभिप्राय यह है कि इन्द्रादि देवताओंके आराधनरूप ये कर्म वस्तुतः मेरी ही आराधना हैं, इस कारण वे सम्पत्तिरूप मुझको प्राप्त होते हैं ॥ २३ ॥

अतः त्रैविद्या इन्द्रादिशरीरस्य परमपुरुषस्य आराधनानि एतानि कर्माणि, आराध्यः च स एव, इति न जानन्ति, ते च परिमितफलभागिनः च्यवनस्वभावाः च भवन्ति, तद् आह—

अतएव त्रयीविद्यानिष्ठ (सकामी) पुरुष इस बातको नहीं जानते कि ये समस्त कर्म, इन्द्रादि देवता जिसके शरीर हैं, उस परम पुरुषकी ही आराधना हैं, और वही आराध्य देव है; इसीलिये वे परिमित फलके भागी एवं पतनस्वभाववाले हैं । यह बात अगले श्लोकमें कहते हैं—

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥ २४ ॥

क्योंकि मैं ही सब यज्ञोंका भोक्ता और प्रभु भी हूँ; परन्तु वे मुझको तत्त्वसे नहीं जानते हैं, इसलिये गिर जाते हैं ॥ २४ ॥

प्रभुः एव च **तत्र तत्र फलप्रदाता च अहम् एव इत्यर्थः** ॥ २४ ॥

प्रभु भी मैं ही हूँ, इस कथनका अभिप्राय यह है कि उन-उनके रूपमें फल प्रदान करनेवाला भी मैं ही हूँ ॥२४॥

अहो महद् इदं वैचित्र्यं यद् एकस्मिन् एव कर्मणि वर्तमानाः संकल्पमात्रभेदेन केचिद् अत्यल्पफलभागिनः च्यवनस्वभावाः च भवन्ति, केचन अनवधिकातिशयानन्दपरमपुरुषप्राप्तिरूपफलभागिनः अपुनरावर्त्तिनः च भवन्ति, इति आह—

अहो ! यह महान् आश्चर्य है कि एक ही कर्म करनेवाले केवल सङ्कल्पके भेदसे कोई तो अति तुच्छ फलके भागी और पतन-स्वभाववाले होते हैं, एवं कोई अपार अतिशय आनन्दस्वरूप परमपुरुषकी प्राप्तिरूप (महान्) फलके भागी और वापस न लौटनेवाले होते हैं, यह बात कहते हैं—

यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥ २५ ॥

देवव्रती देवताओंको प्राप्त होते हैं, पितृव्रती पितरोंको प्राप्त होते हैं, भूतोंके पूजक भूतोंको प्राप्त होते हैं और मेरे पूजक मुझको ही प्राप्त होते हैं ॥२५॥

व्रतशब्दः संकल्पवाची, देवव्रताः **दर्शपौर्णमासादिभिः कर्मभिः इन्द्रादीन् यजामः, इति इन्द्रादियजनसंकल्पाः, ये ते इन्द्रादि**देवान् यान्ति ।

ये च पितृयज्ञादिभिः पितॄन् यजामः, इति पितृयजनसंकल्पाः, ते पितॄन् यान्ति ।

यहाँ 'व्रत' शब्द सङ्कल्पका वाचक है । जो देवव्रती हैं—'दर्शपौर्णमास आदि कर्मोंके द्वारा हम इन्द्रादि देवताओंका पूजन करेंगे' इस प्रकार इन्द्रादि देवताओंके पूजन-विषयक सङ्कल्पवाले हैं, वे इन्द्रादि देवताओंको पाते हैं ।

जो 'पितृयज्ञादिके द्वारा हम पितरोंका पूजन करेंगे' इस प्रकार पितृपूजन-विषयक सङ्कल्पवाले हैं वे पितरोंको पाते हैं ।

ये च यक्षरक्षःपिशाचादीनि भूतानि यजामः, इति भूतयजनसंकल्पाः, ते भूतानि यान्ति ।

ये तु तैः एव यज्ञैः देवपितृभूतशरीरकं परमात्मानं भगवन्तं वासुदेवं यजामः इति मां यजन्ते ते मद्याजिनः माम् एव यान्ति ।

देवादिव्रता देवादीन् प्राप्य तैः सह परिमितं भोगं भुक्त्वा तेषां विनाशकाले तैः सह विनष्टा भवन्ति; मद्याजिनः तु माम् अनादिनिधनं सर्वज्ञं सत्यसंकल्पं अनवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणगणमहोदधिम् अनवधिकातिशयानन्दं प्राप्य न पुनः निवर्तन्ते इत्यर्थः ॥ २५ ॥

जो 'यक्ष, राक्षस, पिशाचादि प्राणियोंकी हम पूजा करेंगे' इस प्रकार भूतपूजनविषयक संकल्पवाले हैं, वे भूतोंको पाते हैं ।

परन्तु जो उन्हीं यज्ञादिके द्वारा 'देव, पितर और भूत जिसके शरीर हैं उस परमात्मा वासुदेव भगवान्‌की हम पूजा करेंगे' इस भावसे मेरा पूजन करते हैं वे मेरा पूजन करनेवाले मुझको ही पाते हैं ।

अभिप्राय यह है कि देवतादिके पूजा-विषयक सङ्कल्पवाले उन देवादिको पाकर उनके सहित परिमित भोगोंको भोगकर उनके विनाशकालमें उनके साथ ही नष्ट हो जाते हैं; परन्तु मेरा पूजन करनेवाले आदि-अन्तरहित, सर्वज्ञ, सत्यसंकल्प अपार निरतिशय असंख्य कल्याणगुणगणोंके महान् समुद्र अपार अतिशय आनन्दरूप मुझ परमेश्वरको पाकर वापस नहीं लौटते ॥ २५ ॥

मद्याजिनाम् अयम् अपि विशेषः अस्ति इति आह—

मेरा पूजन करनेवालोंकी यह और भी विशेषता है, यह कहते हैं—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ २६ ॥

जो मुझे पत्र, पुष्प, फल और जल भक्तिपूर्वक अर्पण करता है, उस पवित्र मनवाले भक्तका भक्तिसे अर्पण किया हुआ पत्र-पुष्पादि मैं खाता हूँ ॥ २६ ॥

सर्वसुलभं पत्रं **वा** पुष्पं **वा** फलं **वा** तोयं **वा** यो भक्त्या मे प्रयच्छति **अत्यर्थमत्प्रियतया तत्प्रदानेन विना आत्मधारणम् अलभमानतया तदेकप्रयोजनो यो मे पत्रादिकं ददाति तस्य** प्रयतात्मनः **तत्प्रदानैकप्रयोजनत्वरूपशुद्धियुक्तमनसः** तत् **तथाविध**भक्त्युपहृतम् अहं **सर्वेश्वरो निखिलजगदुदयविभवलयलीलः अवाप्तसमस्तकामः सत्यसंकल्पः अनवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणगणः स्वाभाविकानवधिकातिशयानन्दस्वानुभवे वर्तमानः अपि, मनोरथपथदूरवर्ति प्रियं प्राप्य इव** अश्नामि । **यथा उक्तं मोक्षधर्मे**—*'याः क्रियाः संप्रयुक्ताः स्युः एकान्तगतबुद्धिभिः । ताः सर्वाः शिरसा देवः प्रतिगृह्णाति वै स्वयम् ॥'* (महा० शा० ३४०।६४) **इति** ॥२६॥

जो भक्त सबके लिये सुलभ पत्र, पुष्प, फल या जल मुझे भक्तिपूर्वक अर्पण करता है—मुझमें अत्यन्त प्रेम होनेके कारण जो मुझे वह पत्रादि अर्पण किये बिना शरीर धारण करनेमें असमर्थ होता है, अतः इस (समर्पणरूप कर्म) को ही एकमात्र प्रयोजन समझकर मुझे पत्र-पुष्पादि प्रदान करता है, उस एकमात्र पत्रादि प्रदानविषयक प्रयोजनतारूप शुद्धियुक्त मनवाले भक्तका वह उस प्रकारकी भक्तिसे प्रदान किया हुआ पत्र-पुष्पादि मैं स्वयं खाता हूँ। अर्थात् यद्यपि मैं सबका ईश्वर हूँ, समस्त जगत्का सृजन, पालन और संहार मेरी लीला है, समस्त भोग मुझे प्राप्त हैं, मैं सत्यसङ्कल्प हूँ, सीमारहित निरतिशय असंख्य कल्याणगुणगणोंसे समन्वित हूँ और स्वाभाविक सीमारहित निरतिशय स्वानन्दके अनुभवमें स्थित हूँ, तथापि मैं उस वस्तुको पाकर मानो मुझे मनकी कल्पनामें भी न आ सकनेवाली कोई परमप्रिय वस्तु मिल गयी, ऐसा मानता हुआ खा लेता हूँ, जैसे कि मोक्ष-धर्ममें कहा है—**'अनन्यभावगत बुद्धिवाले भक्तोंके द्वारा जो-जो क्रिया भगवान्को अर्पण की जाती है, उन सबको परमपुरुष स्वयं निःसंदेह सिरपर धारण करते हैं'** ॥ २६ ॥

यस्माद् ज्ञानिनां महात्मनां वाङ्मनसागोचरः अयं विशेषः तस्मात् त्वं च ज्ञानी भूत्वा उक्तलक्षणभक्तिभारावनतात्मा आत्मीयः कीर्तनयतनार्चनप्रणामादिकं सततं कुर्वाणो लौकिकं वैदिकं च नित्यनैमित्तिकं कर्म च इत्थं कुरु इति आह—

जब कि ज्ञानी महात्माओंकी यह मन-वाणीसे अतीत विशेषता है, इसलिये तू भी उपर्युक्त प्रकारसे भक्तिभारसे अत्यन्त नम्र मनवाला मेरा निजी ज्ञानी भक्त होकर निरन्तर कीर्तन, यतन, अर्चन और प्रणामादि करता हुआ लौकिक और वैदिक नित्य-नैमित्तिक कर्मोंको भी इस प्रकार कर, यह बात कहते हैं—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ २७॥

तू जो कुछ करता है, जो कुछ खाता है, जो कुछ हवन करता है, जो कुछ देता है, जो कुछ तप करता है, हे अर्जुन! वह सब मेरे अर्पण कर॥२७॥

यत् देहयात्रादिशेषभूतं लौकिकं कर्म करोषि, यत् च देहधारणाय अश्नासि, यत् च वैदिकं होमदानतपःप्रभृति नित्यनैमित्तिकं कर्म करोषि, तत् सर्वं मदर्पणं कुरुष्व। अर्प्यत इति अर्पणम्, सर्वस्य लौकिकस्य वैदिकस्य च कर्मणः कर्तृत्वं भोक्तृत्वं आराध्यत्वं च यथा मयि सर्वं समर्पितं भवति तथा कुरु।

तू जो शरीर-यात्रा-निर्वाहके लिये आवश्यक लौकिक कर्म करता है, तथा जो शरीर-धारणके लिये भोजन करता है, एवं जो होम, दान, तप आदि वैदिक नित्य-नैमित्तिक कर्म करता है, उन सबको मेरे अर्पण कर। जो अर्पित किया जाय, उसका नाम 'अर्पण' है। अतः लौकिक एवं वैदिक कर्मका जो कर्तापन, भोक्तापन और आराध्यत्व है, वह सब-का-सब जिस प्रकार मेरे अर्पित हो जाय, वैसे ही तू कर।

एतद् उक्तं भवति—यागदानादिषु आराध्यतया प्रतीयमानानां देवा-

कहनेका अभिप्राय यह है कि यज्ञ-दान आदिमें आराध्य देवके रूपमें प्रतीत होनेवाले सब देवता आदि, और

दीनां कर्मकर्तुः भोक्तुः तव च मदीयतया मत्संकल्पायत्तस्वरूपस्थितिप्रवृत्तितया च मयि एव परमशेषिणि परमकर्तरि त्वां च कर्तारं भोक्तारम् आराधकम् आराध्यं च देवताजातम् आराधनं च क्रियाजातं सर्वं समर्पय। तव मन्नियाम्यतापूर्वकमच्छेषतैकरसताम् आराध्यादेः च एतत्स्वभावकगर्भताम् अत्यर्थप्रीतियुक्तः अनुसंधत्स्व इति ॥२७॥

कर्मका कर्ता तथा भोक्ता तू भी, ये सब मेरे हैं; तथा सबके स्वरूपकी स्थिति एवं प्रवृत्ति भी मेरे सङ्कल्पके आधारपर है, इसलिये तू तुझ कर्ता और भोक्तारूप आराधकको, आराध्यरूप समस्त देवताओंको और आराधनारूप समस्त क्रियाओंको, इन सबको परमशेषी, परमकर्ता मुझ परमेश्वरमें समर्पण कर। मुझमें अत्यन्त प्रीतियुक्त होकर यह अनुभव करता रह कि भगवान् जिसका नियामक और शेषी (स्वामी) है, ऐसा मैं उसके अधीन और एकरस हूँ, और वे आराध्य देव आदि भी ऐसे ही स्वभावसे ओत-प्रोत हैं ॥ २७ ॥

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥ २८ ॥

इस प्रकार संन्यासयोगसे युक्त मनवाला होकर तू शुभ-अशुभ फलवाले कर्मबन्धनोंसे छूट जायगा और (उनसे) छूटा हुआ तू मुझको प्राप्त होगा ॥ २८ ॥

एवं संन्यासाख्ययोगयुक्तमना आत्मानं मच्छेषतामन्नियाम्यतैकरसं कर्म च सर्वं मदाराधनम् अनुसंदधानो लौकिकं वैदिकं च कर्म कुर्वन् शुभाशुभफलैः अनन्तैः प्राचीनकर्माख्यैः

इस प्रकार संन्यासनामक योगसे युक्त मनवाला होकर—अपने आत्माको मेरा दास, मेरा आज्ञाकारी तथा एकरस समझकर और समस्त कर्मोंको मेरी आराधना समझकर लौकिक और वैदिक कर्मोंको करता हुआ तू शुभ-अशुभ फल प्रदान करनेवाले, मेरी

बन्धनैः **मत्प्राप्तिविरोधिभिः सर्वैः** मोक्ष्यसे, **तैः** विमुक्तो माम् **एव** उपैष्यसि ॥ २८ ॥

प्राप्तिके विरोधी अनन्त प्राचीन कर्मरूप सम्पूर्ण बन्धनोंसे छूट जायगा। उनसे छूटकर मुझको ही प्राप्त होगा ॥ २८ ॥

मम इमं परमम् अतिलोकं स्वभावं शृणु—

मेरे इस लोकातीत श्रेष्ठ स्वभावको सुन—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥ २९ ॥

सब प्राणियोंमें मैं सम हूँ, (मेरा सम भाव है) न मेरा (कोई) द्वेषपात्र है और न प्रिय है। परन्तु जो मुझको भक्तिसे भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें हूँ ॥ २९ ॥

देवतिर्यङ्मनुष्यस्थावरात्मना स्थितेषु जातितः च आकारतः स्वभावतो ज्ञानतः च अत्यन्तोत्कृष्टापकृष्टरूपेण वर्तमानेषु सर्वेषु भूतेषु **समाश्रयणीयत्वेन** समः अहम्; **अयं जात्याकारस्वभावज्ञानादिभिः निकृष्ट इति समाश्रयणे** न मे द्वेष्यः अस्ति **उद्वेजनीयतया न त्याज्यः अस्ति; तथा समाश्रितत्वातिरेकेण जात्यादिभिः अत्यन्तोत्कृष्टः अयम् इति तद्युक्ततया समाश्रयणे न कश्चित्** प्रियः **अस्ति न संग्राह्यः अस्ति।**

जो देव, मनुष्य, तिर्यक् और स्थावरोंके रूपमें स्थित हो रहे हैं, तथा जाति, आकार, स्वभाव और ज्ञानके तारतम्यसे अत्यन्त श्रेष्ठ और निकृष्ट रूपमें विद्यमान हैं, ऐसे सभी प्राणियोंके प्रति उन्हें समाश्रय देनेके लिये मेरा सम भाव है। 'यह प्राणी जाति, आकार, स्वभाव और ज्ञानादिके कारण निकृष्ट है' इस भावसे कोई भी अपनी शरण प्रदान करनेके लिये मेरा द्वेषपात्र नहीं है अर्थात् उद्वेगप्रद समझकर त्यागने योग्य नहीं है। तथा शरणागतिकी अधिकताके सिवा, अमुक प्राणी जाति आदिसे अत्यन्त श्रेष्ठ है, इस भावको लेकर अपना समाश्रय देनेके लिये मेरा कोई प्रिय नहीं है—इस भावसे मेरा कोई ग्रहण करनेयोग्य नहीं है।

अपि तु अत्यर्थमत्प्रियत्वेन मद्भजनेन विना आत्मधारणालाभात् मद्भजनैकप्रयोजना ये मां **भजन्ते** ते **जात्यादिभिः उत्कृष्टाः अपकृष्टा वा मत्समानगुणवद्यथासुखं** मयि **एव वर्तन्ते;** अहम् अपि तेषु **मदुत्कृष्टेषु इव वर्ते** ॥ २९ ॥

बल्कि मुझमें अत्यन्त प्रेम होनेके कारण मेरे भजनके बिना जीवन धारण न कर सकनेसे जो केवल मेरे भजनको ही अपना एकमात्र प्रयोजन समझनेवाले भक्त मुझे भजते हैं, वे जाति आदिसे चाहे श्रेष्ठ हों या निकृष्ट, वे मेरे समान गुणसम्पन्न होकर मुझमें ही बर्तते हैं और मैं भी मेरे श्रेष्ठ भक्तोंके साथ जैसा बर्ताव होना चाहिये, उसी प्रकार उनके साथ बर्तता हूँ ॥२९॥

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥ ३० ॥

यदि कोई अति दुराचारी भी अनन्यभक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही माना जाने योग्य है, क्योंकि वह ठीक-ठीक निश्चयवाला है ॥ ३० ॥

तत्र अपि **तत्र तत्र जातिविशेषे जातानां यः समाचार उपादेयः परिहरणीयः च, तस्माद् अतिवृत्तः अपि उक्तप्रकारेण** माम् अनन्यभाक् **भजनैकप्रयोजनो** भजते चेत् साधुः एव सः **वैष्णवाग्रेसर एव** मन्तव्यः, **बहुमन्तव्यः पूर्वोक्तैः सम इत्यर्थः । कुत एतत् ?** सम्यग् व्यवसितो हि सः, **यतः अस्य व्यवसायः सुसमीचीनः ।**

उनमें भी, फिर उन-उन जाति-विशेषमें उत्पन्न होनेवालोंके जो-जो ग्रहण करने योग्य और त्याग करने योग्य आचरण हैं, उनके विपरीत आचरण करनेवाला जो कोई भी मनुष्य यदि अनन्यभक्त होकर—केवल मेरे भजनको ही अपना एकमात्र प्रयोजन समझनेवाला होकर उपर्युक्त प्रकारसे मुझे भजता है, तो उसे साधु—वैष्णवोंमें आगे बढ़ा हुआ ही मानना चाहिये । अर्थात् पूर्वोक्त महात्माओंके समान ही परम सम्माननीय समझना चाहिये । यह कैसे हो सकता है ? इसलिये कि वह ठीक-ठीक निश्चयवाला है—उसका निश्चय परम समीचीन है ।

भगवान् निखिलजगदेककारण-भूतः परब्रह्म नारायणः चराचरपतिः अस्मत्स्वामी मम गुरुः मम सुहृद् मम परं भोग्यम् इति सर्वैः दुष्प्रापः अयं व्यवसायः तेन कृतः, तत्कार्यं च अनन्यप्रयोजनं निरन्तरभजनं तस्य अस्ति, अतः साधुः एव बहु-मन्तव्यः।

'सम्पूर्ण जगत्के एकमात्र कारणरूप परब्रह्म नारायण चराचरके स्वामी भगवान् श्रीकृष्ण हमारे स्वामी, हमारे गुरु, हमारे सुहृद् और हमारे परम भोग्य (सब भावोंसे अनुभव करने योग्य) हैं', इस प्रकारका निश्चय, जो अन्य सब लोगोंके लिये दुर्लभ है, उसने कर लिया है तथा इस निश्चयका कार्य जो दूसरे किसी भी प्रयोजनसे रहित निरन्तर भजन करना है, वह भी उससे होता है; इसलिये उसे साधु ही मानना चाहिये—बहुत सम्माननीय समझना चाहिये।

अस्मिन् व्यवसाये तत्कार्ये च उक्तप्रकारभजने संपन्ने सति तस्य आचारव्यतिक्रमः स्वल्पवैकल्यम् इति न तावता अनादरणीयः, अपि तु बहुमन्तव्य एव इत्यर्थः॥ ३०॥

अभिप्राय यह है कि ऐसा निश्चय और उस निश्चयका कार्य उपर्युक्त भजन, इन दोनोंके सम्पन्न हो जानेपर उस पुरुषका जो आचारव्यतिक्रम (विपरीत आचरण) रूप दोष है, वह बहुत छोटा है; अतएव इतने-से दोषके कारण उसका अनादर नहीं करना चाहिये; बल्कि उसे बहुत सम्मान्य समझना चाहिये॥ ३०॥

ननु *'नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः। नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥'* (क० उ० १।२।२४) इत्यादिश्रुतेः आचारव्यतिक्रम उत्त-

शङ्का—**'जो पुरुष दुष्ट आचरणोंसे विरत नहीं है, जो शान्त नहीं है, जो समाहित नहीं है, अशान्त मनवाला है, वह इस आत्माको ज्ञानके द्वारा नहीं पा सकता।'** इत्यादि श्रुतियोंसे सिद्ध

रोत्तरभजनोत्पत्तिप्रवाहं निरुणद्धि इति अत्र आह—

होता है कि विपरीत आचरण उत्तरोत्तर बढ़नेवाले भजनके प्रवाहको रोकनेवाला है—इसपर कहते हैं—

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥ ३१ ॥

वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली शान्तिको प्राप्त होता है । हे कुन्तीपुत्र ! तुम प्रतिज्ञा करो कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता ॥ ३१ ॥

मत्प्रियत्वकारितानन्यप्रयोजनमद्भजनेन विधूतपापतया एव समूलोन्मूलितरजस्तमोगुणः क्षिप्रं धर्मात्मा भवति **क्षिप्रम् एव विरोधिरहितसपरिकरमद्भजनैकमना भवति । एवंरूपभजनम् एव हि 'धर्मस्य अस्य परंतप ।' (९ । ३) इति उपक्रमे धर्मशब्दोदितः ।**

बिना किसी अन्य प्रयोजनके केवल मेरे प्रेमवश किये जानेवाले मेरे भजनसे उसके सारे पाप धुल जाते हैं; इसीसे उसके रजोगुण और तमोगुण समूल नष्ट होकर वह शीघ्र ही धर्मात्मा बन जाता है—शीघ्र ही विरोधी गुणोंसे रहित एकमात्र मेरे सर्वाङ्गपूर्ण भजनमें ही मन लगानेवाला हो जाता है । क्योंकि इस प्रकारके भजनको ही प्रारम्भमें 'धर्मस्यास्य परन्तप' इस प्रकार 'धर्म'के नामसे कहा गया है ।

शश्वच्छान्तिं निगच्छति । **शाश्वतीम् अपुनरावर्तिनीं मत्प्राप्तिविरोध्याचारनिवृत्तिं गच्छति ।**

फिर वह शाश्वती (सदा रहनेवाली) शान्तिको प्राप्त हो जाता है—मेरी प्राप्तिके विरोधी आचरणोंकी आत्यन्तिक निवृत्तिरूप सनातनी—पुनः न लौटने देनेवाली स्थितिको प्राप्त हो जाता है ।

कौन्तेय **त्वम् एव अस्मिन् अर्थे प्रतिज्ञां कुरु मद्भक्तौ**

कौन्तेय ! (भैया अर्जुन !) इस विषयमें तू स्वयं ही प्रतिज्ञा कर कि मेरी

उपक्रान्तो विरोध्याचारमिश्रः अपि न नश्यति अपि तु मद्भक्तिमाहात्म्येन सर्वं विरोधिजातं नाशयित्वा शाश्वतीं विरोधिनिवृत्तिम् अधिगम्य क्षिप्रं परिपूर्णभक्तिः भवति ॥३१॥

भक्तिमें लगा हुआ पुरुष विरोधी आचरणोंसे मिश्रित होनेपर भी नष्ट नहीं होता, बल्कि मेरी भक्तिकी महिमासे समस्त विरोधी समुदायका नाश करके सदा रहनेवाली शान्तिको—विरोधि-निवृत्तिको प्राप्त करके शीघ्र ही परिपूर्ण भक्तिमान् हो जाता है ॥ ३१ ॥
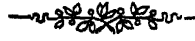
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥३२॥

अर्जुन ! मेरा आश्रय लेकर स्त्रियाँ, वैश्य और शूद्र (अथवा) जो भी कोई पापयोनि हों, वे भी परमगतिको प्राप्त हो जाते हैं ॥ ३२ ॥

स्त्रियो वैश्याः शूद्राः च पापयोनयः अपि मां व्यपाश्रित्य परां गतिं यान्ति ॥ ३२ ॥

स्त्रियाँ, वैश्य, शूद्र और पापयोनि-वाले जीव भी मेरी शरण लेकर परम-गतिको प्राप्त हो जाते हैं ॥ ३२ ॥

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥३३॥

फिर पुण्ययोनि ब्राह्मणों और राजर्षि भक्तोंके लिये तो कहना ही क्या ? (इसलिये) तू इस अनित्य और सुखरहित मनुष्यशरीरको प्राप्त होकर मुझको (ही) भज ॥ ३३ ॥

किं पुनः पुण्ययोनयो ब्राह्मणाः राजर्षयः च मद्भक्तिम् आश्रिताः । अतः त्वं राजर्षिः अस्थिरं ताप-

फिर, पुण्ययोनिवाले ब्राह्मण और राजर्षिगण मेरी भक्तिका आश्रय लेकर (परमगतिको प्राप्त करें) इसमें तो कहना ही क्या है । अतएव तू राजर्षि है, इसलिये जो अनित्य है और तीनों

त्रयाभिहततया असुखं च इमं लोकं प्राप्य वर्तमानो मां भजस्व ॥ ३३ ॥

प्रकारके तापोंसे बार-बार व्यथित किया जानेके कारण सुखरहित है, ऐसे इस शरीरको पाकर इसमें रहता हुआ मेरा ही भजन कर ॥३३॥

भक्तिस्वरूपम् आह—

अब भक्तिका स्वरूप बतलाते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥३४॥

मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त हो, मेरा पूजन करनेवाला हो, मुझको नमस्कार कर । इस प्रकार आत्माको लगाकर मेरे परायण हुआ तू मुझको ही प्राप्त होगा ॥ ३४ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

मन्मना भव मयि सर्वेश्वरे निखिलहेयप्रत्यनीककल्याणैकताने सर्वज्ञे सत्यसंकल्पे निखिलजगदेककारणे परस्मिन् ब्रह्मणि पुरुषोत्तमे पुण्डरीकदलामलायतेक्षणे स्वच्छनीलजीमूतसंकाशे युगपदुदितदिनकरसहस्रसदृशतेजसि लावण्यामृतमहोदधौ उदारपीवरचतुर्बाहौ अत्युज्ज्वलपीताम्बरे अमलकिरीटमकरकुण्डलहारकेयूरकटकादिभूषिते अपारकारुण्यसौशील्यसौन्दर्यमाधुर्यगाम्भीर्यौदार्य-

मुझमें मनवाला हो—मैं जो सबका ईश्वर, सम्पूर्ण जगत्का एकमात्र कारण, समस्त त्याज्य दोषोंके विरोधी केवल कल्याणमय प्रवाहसे युक्त, सर्वज्ञ, सत्यसंकल्प, कमलदलसदृश निर्मल और विशाल नेत्रवाले, स्वच्छ नील मेघसदृश श्याम-वर्ण, एक साथ उदय हुए सहस्रों सूर्योंके सदृश तेजसम्पन्न, लावण्यरूप सुधाका महान् समुद्र, पुष्ट एवं उदार चार भुजाओंसे युक्त, अत्यन्त उज्ज्वल पीताम्बरधारी, निर्मल किरीट, मकराकृति-कुण्डल, हार, कड़े, बाजूबन्द आदि भूषणोंसे विभूषित, अपार कारुण्य, सौशील्य, सौन्दर्य, माधुर्य, गाम्भीर्य, औदार्य और वात्सल्य-

वात्सल्यजलधौ अनालोचितविशेषाशेषलोकशरण्ये सर्वस्वामिनि तैलधारावद् अविच्छेदेन निविष्टमना भव।

का समुद्र, बिना अच्छे-बुरेके भेदका विचार किये समस्त लोकोंको शरण देनेवाला, सबका स्वामी परब्रह्म पुरुषोत्तम हूँ, उस परमेश्वरमें तैलधारावत् अविच्छिन्नभावसे मन लगानेवाला हो।

तद् एव विशिनष्टि—मद्भक्तः अत्यर्थमत्प्रियत्वेन युक्तो मन्मना भव इत्यर्थः।

उसीकी विशेषता बताते हैं—मेरा भक्त हो अर्थात् मेरे अतिशय प्रेमसे युक्त होकर मुझमें मनवाला हो।

पुनः अपि विशिनष्टि—मद्याजी अनवधिकातिशयप्रियमदनुभवकारितमद्यजनपरो भव।

फिर भी उसीकी विशेषता बताते हैं—मेरा यजन (पूजन) करनेवाला—असीम, अतिशय प्रिय मेरे अनुभवपूर्वक किये जानेवाले मेरे पूजनके परायण हो।

यजनं नाम परिपूर्णशेषवृत्तिः, औपचारिकसांस्पर्शिकाभ्यवहारिकादिसकलभोगप्रदानरूपो हि यागः।

परिपूर्ण शेष वृत्ति (भगवान्‌की पूर्ण अधीनता) का नाम 'यजन' है। क्योंकि 'औपचारिक' 'सांस्पर्शिक' और 'आभ्यवहारिक' आदि सब प्रकारके भोगोंको* प्रदान करना ही 'याग' है।

यथा मदनुभवजनितनिरवधिकातिशयप्रीतिकारितमद्यजनपरो भवसि तथा मन्मना भव इत्युक्तं भवति।

कहनेका तात्पर्य यह कि जिस प्रकार मेरे अनुभवजनित अपार अतिशय प्रीतिसे किये जानेवाले मेरे पूजनमें तू परायण हो जाय, उस प्रकार मुझमें मन लगानेवाला हो।

---

* आदर-सत्कारादि उपचारके द्वारा जिनसे सुख मिलता है, उन पदार्थोंका नाम 'औपचारिक' है, स्पर्शके द्वारा जिन वस्तुओंसे सुख मिलता है, उनको 'सांस्पर्शिक' कहते हैं और खान-पान आदिके द्वारा जिन वस्तुओंसे सुख मिलता है, उनको 'आभ्यवहारिक' कहा जाता है। यहाँ इन तीनों शब्दोंका प्रयोग करके पूजन-विषयक सभी प्रकारकी विविध सामग्रियोंका उनमें सन्निवेश किया गया है।

पुनः अपि तद् एव विशिनष्टि—मां नमस्कुरु, **अनवधिकातिशयप्रियमद्नुभवकारितात्यर्थप्रियाशेषशेषवृत्तौ अपर्यवस्यन् मयि अन्तरात्मनि अतिमात्रप्रह्वीभावव्यवसायं कुरु ।**

मत्परायणः **अहम् एव परम् अयनं यस्य असौ मत्परायणः, मया विना आत्मधारणासंभावनया मदाश्रय इत्यर्थः ।**

एवम् आत्मानं युक्त्वा **मत्परायणः त्वम् एवम् अनवधिकातिशयप्रीत्या मदनुभवसमर्थं मनः प्राप्य** माम् एव एष्यसि । **आत्मशब्दो हि अत्र मनोविषयः ।**

एवंरूपेण मनसा मां ध्यात्वा माम् अनुभूय माम् इष्ट्वा मां नमस्कृत्य मत्परायणो माम् एव प्राप्स्यसि इत्यर्थः ।

तद् एवं लौकिकानि शरीरधारणार्थानि वैदिकानि च नित्यनैमित्तिकानि कर्माणि मत्प्रीतये मच्छेषतैकरसो मया एव कारित इति कुर्वन् सततं मत्कीर्तनयजननमस्कारादि-

फिर भी उसीकी विशेषता बताते हैं—मुझे ही नमस्कार कर, अपार अतिशय प्रिय मेरे अनुभवसे उत्पन्न अत्यन्त प्रिय परिपूर्ण अधीनताके भावमें सर्वथा रत होकर मुझ अन्तर्यामी परमेश्वरमें अत्यन्त नम्र-भावका निश्चय कर ।

मैं ही जिसका परम अयन—आश्रय हूँ, उसका नाम मत्परायण है अर्थात् मेरे बिना जीवन धारण करना असम्भव समझकर जो केवल मेरे आश्रित हो जाय, वह मत्परायण है ।

इस प्रकार मनको लगाकर मेरे परायण हुआ—ऐसी असीम अतिशय प्रीतिसे मेरा अनुभव करनेमें समर्थ मनको पाकर तू मुझको ही प्राप्त होगा । यहाँ 'आत्मा' शब्द 'मन' का ही वाचक है ।

अभिप्राय यह है कि इस प्रकारके मनसे मेरा ध्यान करके, मेरा अनुभव करके, मेरा पूजन करके, मुझे नमस्कार करके, मेरे परायण हुआ तू मुझको ही प्राप्त होगा ।

इस प्रकार तू पूर्णतया मेरे अधीन एकरस हुआ शरीरनिर्वाहार्थ लौकिक और नित्य-नैमित्तिक वैदिक कर्मोंको, मैं ही तुमसे करवा रहा हूँ, ऐसा समझकर मेरी प्रीतिके लिये करता रह; तथा निरन्तर मेरा कीर्तन, पूजन और

कान् प्रीत्या कुर्वाणो मन्नियाम्यं निखिलजगत् मच्छेषतैकरसः इति च अनुसंदधानः, अत्यर्थप्रियमद्गुणगणं च अनुसंधाय अहरहः उक्तलक्षणम् इदम् उपासनम् उपादधानो माम् एव प्राप्स्यसि ॥ ३४ ॥

इति श्रीमद्भगवद्रामानुजाचार्य-विरचिते श्रीमद्भगवद्गीताभाष्ये नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

नमस्कारादि भी प्रीतिपूर्वक करता रह। एवं मैं ही जिसका नियामक हूँ, ऐसा यह सारा जगत् मेरे ही अधीन और एकरस है, इसको समझता रह, इस प्रकार अत्यन्त प्रिय मेरे गुणगणोंका अनुसन्धान करके प्रतिदिन उक्त प्रकारकी मेरी उपासना करता हुआ तू मुझको ही प्राप्त होगा ॥ ३४ ॥

इस प्रकार श्रीमान् भगवान् रामानुजाचार्यद्वारा रचित गीता-भाष्यके हिन्दी-भाषानुवादका नवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ९ ॥

ॐ

दसवाँ अध्याय

भक्तियोगः सपरिकर उक्तः। इदानीं भक्त्युत्पत्तये तद्विवृद्धये च भगवतो निरङ्कुशैश्वर्यादिकल्याणगुणगणानन्त्यं कृत्स्नस्य जगतः तच्छरीरतया तदात्मकत्वेन तत्प्रवर्त्यत्वं च प्रपञ्च्यते—

(नवम अध्यायतक) अङ्गोंसहित भक्तियोग कहा गया। अब भक्तिकी उत्पत्ति और उसकी वृद्धिके लिये यह बात विस्तारपूर्वक कहते हैं कि भगवान्‌के निरङ्कुश (स्वतन्त्र) ऐश्वर्य आदि कल्याणमय गुणगण अनन्त हैं। सम्पूर्ण जगत् उन्हींका शरीर होनेके कारण वे ही उसके आत्मा हैं; इसलिये इसके प्रवर्तक भी वे ही हैं—

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—महाबाहो अर्जुन! फिर भी मेरे श्रेष्ठ वचनको सुन। जो मैं (सुनकर) प्रसन्न होनेवाले तुझ भक्तके लिये तेरे हितकी कामनासे कहूँगा ॥ १ ॥

मम माहात्म्यं श्रुत्वा प्रीयमाणाय ते **मद्भक्त्युत्पत्तिविवृद्धिरूपहितकामनया** भूयः **मन्माहात्म्यप्रपञ्चविषयम्** एव परमं वचो यद् वक्ष्यामि **तद् अवहितमनाः** शृणु ॥ १ ॥

मेरे माहात्म्यको सुनकर अत्यन्त प्रसन्न होनेवाले तुझ भक्तके लिये मेरी भक्तिकी उत्पत्ति और वृद्धिरूप तेरे हितकी कामनासे मैं फिर भी अपने माहात्म्य-विस्तारसम्बन्धी जो श्रेष्ठ वचन कहूँगा, उनको तू सावधान चित्तसे सुन ॥ १ ॥

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥ २ ॥

न देवतागण मेरे प्रभावको जानते हैं और न महर्षिगण; क्योंकि मैं देवताओं और महर्षियोंका सब प्रकारसे आदि हूँ ॥ २ ॥

सुरगणा महर्षयः **च अतीन्द्रियार्थदर्शिनः अधिकतरज्ञाना अपि** मे प्रभवं **प्रभावं** न विदुः, **मम नामकर्मस्वरूपस्वभावादिकं न जानन्ति । यतः तेषां** देवानां महर्षीणां च सर्वशः अहम् आदिः, **तेषां स्वरूपस्य ज्ञानशक्त्यादेः च अहम् एव आदिः;**

तेषां देवत्वदेवऋषित्वादिहेतुभूतपुण्यानुगुणं मया दत्तं ज्ञानं परिमितम्, अतः ते परिमितज्ञानाः मत्स्वरूपादिकं यथावत् न जानन्ति ॥२॥

देवतागण और महर्षिगण जो इन्द्रियातीत विषयोंको भी जाननेवाले अधिकतर ज्ञानसे सम्पन्न हैं, वे भी मेरे प्रभव यानी प्रभावको नहीं जानते—मेरे नाम, कर्म, स्वरूप और स्वभाव आदिको नहीं जानते। क्योंकि उन देवों और महर्षियोंका सभी प्रकारसे मैं ही आदि हूँ, उनके स्वरूपका और ज्ञानशक्ति आदिका भी मैं ही आदि हूँ।

देवत्व, देवऋषित्व आदिके कारणरूप पुण्योंके अनुसार मेरेद्वारा प्रदान किया हुआ उनका ज्ञान परिमित है, इसलिये वे परिमित ज्ञानवाले होनेसे मेरे स्वरूपादिकोयथार्थरूपसेनहींजानते ॥२॥

तद् एतद् देवाद्यचिन्त्यस्वरूपयाथात्म्यविषयज्ञानं भक्त्युत्पत्तिविरोधिपापविमोचनोपायम् आह—

देवादिके लिये अचिन्त्य मेरे यथार्थस्वरूपके विषयका वह ज्ञान भक्तिकी उत्पत्तिके विरोधी पापोंको नष्ट करनेका उपाय है; यह बतलाते हैं—

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

मनुष्योंमें मोहसे रहित हुआ जो भक्त मुझको अजन्मा, अनादि और लोकोंका महान् ईश्वर जानता है, वह सब पापोंसे छूट जाता है ॥ ३ ॥

न जायते इति अजः, अनेन विकारिद्रव्याद् अचेतनात् तत्संसृष्टात्

जिसका जन्म न हो उसे 'अज' कहते हैं, इससे विकारी अचेतन वस्तुमात्रकी अपेक्षा और उस अचेतन (जड)

संसारिचेतनात् च विसजातीयत्वम् उक्तम्; संसारिचेतनस्य हि कर्मकृताचित्संसर्गो जन्म ।

वस्तुसमुदायसे लिप्त सांसारिक चेतनों (जीवों) की अपेक्षा भी भगवान्‌की विजातीयता (विलक्षणता) बतलायी गयी है; क्योंकि संसारी चेतनका कर्मजनित अचेतन-संसर्गरूप जन्म होता है ।

अनादिम् इति अनेन पदेन आदिमतः अजात् मुक्तात्मनः विसजातीयत्वम् उक्तम् । मुक्तात्मनो हि अजत्वम् आदिमत्, तस्य हेयसम्बन्धस्य पूर्ववृत्तत्वात् तदर्हता अस्ति, अतः अनादिम् इति अनेन तदनर्हतया तत्प्रत्यनीकता उच्यते; *'निरवद्यम्'* (श्वे० उ० ६ । १९) इत्यादिश्रुत्या च ।

जो आदियुक्त अज मुक्तात्मा हैं, उनकी अपेक्षा भगवान्‌की विजातीयता (विलक्षणता) 'अनादि' इस पदसे बतलायी गयी है; क्योंकि मुक्तात्मा पुरुषोंका अजत्व आदिवाला है । उनका त्यागने योग्य जड पदार्थोंके साथ पहलेसे सम्बन्ध था, इसलिये उनके अजत्वको आदिमत् कहना उचित है । अतएव 'अनादि' इस पदसे यह सूचित करते हैं कि, भगवान् वैसे (आदिमत्) अजत्वके योग्य नहीं हैं--उनका अजत्व उससे विलक्षण है, इस कारण ही उनमें उसका विरोधीपन **'निरवद्यम्'** आदि श्रुतिसे बतलाया जाता है ।

एवं हेयसम्बन्धप्रत्यनीकस्वरूपतया तदनर्हं मां लोकमहेश्वरं लोकेश्वराणाम् अपि ईश्वरं मर्त्येषु असंमूढो यो वेत्ति; इतरसजातीयतया एकीकृत्य

इस प्रकार मेरा स्वरूप त्याज्य पदार्थोंके सम्बन्धका सर्वथा विरोधी है, इसलिये उनका मुझमें होना असम्भव है, ऐसे मुझ परमेश्वरको, मनुष्योंमें जो असम्मूढ (मोहरहित) पुरुष लोकमहेश्वर—लोकेश्वरोंका भी ईश्वर जानता है, वह मेरी भक्तिकी उत्पत्तिके विरोधी समस्त पापोंसे मुक्त हो जाता है ।

मोहः संमोहः तद्रहितोऽसंमूढः स मद्भक्त्युत्पत्तिविरोधिभिः सर्वैः पापैः प्रमुच्यते ।

एतद् उक्तं भवति—लोके मनुष्याणां राजा इतरमनुष्यसजातीयः, केनचित् कर्मणा तदाधिपत्यं प्राप्तः, तथा देवानाम् अधिपतिः अपि, तथा ब्रह्माण्डाधिपतिः अपि इतरसंसारिसजातीयः; तस्यापि भावनात्रयान्तर्गतत्वात्; *'यो ब्रह्माणं विदधाति'* (श्वे० उ० ६ । १८) इति श्रुतेः च । तथा अन्ये अपि ये केचन अणिमाद्यैश्वर्यं प्राप्ताः ।

अयं तु लोकमहेश्वरः—कार्यकारणावस्थाद् अचेतनाद् बद्धात् मुक्तात् च चेतनाद् ईशितव्यात् सर्वस्मात् निखिलहेयप्रत्यनीकानवधिकातिशयासंख्येयकल्याणैकताननतया नियमनैकस्वभावतया च विसजातीय इति, इतरसजातीयतामोहरहितो

भगवान्‌को अन्य मनुष्योंका सजातीय समझकर उनके-जैसा समझना 'सम्मोह' है, जो इससे रहित है वह 'असम्मूढ' है ।

कहनेका अभिप्राय यह है कि जगत्‌में मनुष्योंका राजा, किसी कर्मके कारण मनुष्योंके आधिपत्यको प्राप्त होनेपर भी दूसरे मनुष्योंका सजातीय ही होता है । इसी प्रकार देवताओंका अधिपति भी और ब्रह्माण्डका अधिपति ब्रह्मा भी दूसरे संसारी जीवोंका सजातीय ही होता है, क्योंकि वह भी ब्रह्मभावना, कर्मभावना और उभयभावना—इन तीनों भावनाओंके अन्तर्गत आ जाता है । **'जो ब्रह्माको रचता है'** इस श्रुतिसे भी यही सिद्ध होता है । वैसे ही और भी जो कोई अणिमादि सिद्धियोंको प्राप्त योगी हैं, वे भी अन्य जीवोंके सजातीय ही हैं ।

परन्तु यह लोकमहेश्वर परमपुरुष कार्यकारण-अवस्थामें स्थित अचेतन समुदायसे तथा बद्ध और मुक्त-चेतन-समुदायसे, जो कि इसके शासनाधीन हैं, उन सबसे विजातीय है; क्योंकि समस्त त्याज्य वस्तुओंके विरोधी असीम अतिशय असंख्य कल्याणगुणगण उसमें निरन्तर विराजमान रहते हैं और सबका नियमन करना ही उसका स्वभाव है । अतएव जो दूसरोंका सजातीय समझना-रूप मोहसे रहित हुआ पुरुष मुझको

यो मां वेत्ति स सर्वैः पापैः प्रमुच्यते इति ॥ ३ ॥

इस प्रकार (पुरुषोत्तम) जानता है, वह सारे पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ ३ ॥

एवं स्वस्वभावानुसंधानेन भक्त्युत्पत्तिविरोधिपापनिरसनं विरोधिनिरसनाद् एव अर्थतो भक्त्युत्पत्तिं च प्रतिपाद्य स्वैश्वर्यस्वकल्याणगुणगणप्रपञ्चानुसंधानेन भक्तिवृद्धिप्रकारम् आह—

इस प्रकार भगवान् अपने स्वरूप और स्वभावको समझनेसे भक्तिकी उत्पत्तिके विरोधी पापोंका नाश और विरोधियोंके नाशसे ही यथार्थ भक्तिकी उत्पत्तिका प्रतिपादन करके अब अपने ऐश्वर्य और कल्याण-गुणगणोंके विस्तारके चिन्तनसे भक्तिकी वृद्धिका प्रकार बतलाते हैं—

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥ ४ ॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ ५ ॥

बुद्धि, ज्ञान, असंमोह, क्षमा, सत्य, दम, शम, सुख, दुःख, भव, अभाव, भय और अभय, अहिंसा, समता, तुष्टि, तप, दान, यश, अपयश—प्राणियोंके ये नाना भाव (मनोवृत्तियाँ) मुझसे ही होते हैं ॥ ४-५ ॥

बुद्धिः **मनसो निरूपणसामर्थ्यम्,** ज्ञानं **चिदचिद्वस्तुविशेषविषयः निश्चयः** । असंमोहः **पूर्वगृहीताद् रजतादेः विसजातीये शुक्तिकादिवस्तुनि सजातीयताबुद्धिनिवृत्तिः** । क्षमा **मनोविकारहेतौ सति अपि अविकृतमनस्त्वम्** । सत्यं **यथादृष्टविषयं भूतहित-**

निरूपण करनेवाली मानसिक सामर्थ्यका नाम 'बुद्धि' है । चेतनाचेतन वस्तुके भेदको अनुभव करनेवाला निश्चय 'ज्ञान' है । पूर्वपरिचित चाँदी आदिके विजातीय सीप आदि पदार्थोंमें जो सजातीय भाव है, उसकी निवृत्तिका नाम 'असम्मोह' है । मनके विकारका कारण उपस्थित होनेपर भी मनका विकृत न होना 'क्षमा' है । जैसा देखा है, ठीक वैसा ही प्राणियोंके हितसाधक

रूपं वचनम्, तदनुगुणा मनोवृत्तिः इह अभिप्रेता, मनोवृत्तिप्रकरणात्। दमः **बाह्यकरणानाम् अनर्थविषयेभ्यो नियमनम्।** शमः **अन्तःकरणस्य तथा नियमनम्।** सुखम् **आत्मानुकूलानुभवः।** दुःखं **प्रतिकूलानुभवः।** भवो **भवनम्; अनुकूलानुभवहेतुकं मनसो भवनम्।** अभावः **प्रतिकूलानुभवहेतुको मनसः अवसादः।** भयम् **आगामिनो दुःखस्य हेतुदर्शनजं दुःखम्, तन्निवृत्तिः** अभयम्। अहिंसा **परदुःखाहेतुत्वम्।** समता **आत्मनि सुहृत्सु विपक्षेषु च अर्थानर्थयोः सममतित्वम्।** तुष्टिः **सर्वेषु आत्मसु दृष्टेषु तोषस्वभावत्वम्।** तपः **शास्त्रीयो भोगसंकोचरूपः कायक्लेशः।** दानं **स्वकीयभोग्यानां परस्मै प्रतिपादनम्।** यशो **गुणवत्ताप्रथा,** अयशः **नैर्गुण्यप्रथा, कीर्त्यकीर्त्यनुगुणमनो-**

वचन बोलना 'सत्य' है; किन्तु यहाँ तदनुकूल मनोवृत्तिका नाम सत्य समझना चाहिये, क्योंकि यह प्रकरण मनोवृत्तिका है। बाह्य इन्द्रियोंको अनर्थकारी विषयोंसे रोकनेका नाम 'दम' है। उसी तरह अन्तःकरणको वशमें रखना 'शम' है। अपने अनुकूल अनुभवको सुख कहते हैं, प्रतिकूल अनुभव दुःख है। होनेका नाम 'भव' है—अनुकूल अनुभवके कारण होनेवाले मानसिक भाव (उत्साह) का नाम 'भव' है, प्रतिकूल अनुभवके कारण होनेवाले मानस अवसाद (मनकी शिथिलता)का नाम 'अभाव' है। आगामी दुःखके कारणको देखनेसे होनेवाले दुःखको 'भय' कहते हैं, उसकी निवृत्ति 'अभय' है। दूसरेके दुःखमें हेतु न बनना अहिंसा है। अपनेमें, मित्रोंमें और विपक्षियोंमें भी हानि-लाभकी अपेक्षासे समबुद्धि रहना 'समता' है। सभी दृष्ट आत्माओंमें सन्तुष्ट भावसे रहना (किसीकी भी उन्नतिमें ईर्ष्या न करना) 'तुष्टि' है। शास्त्रानुकूल भोगोंके संकोचरूप कायक्लेशका नाम 'तप' है। अपनी भोग्य वस्तुओंको दूसरोंके लिये दे देना 'दान' है। गुणवानपनकी ख्याति यश है। गुणरहित होनेकी ख्याति 'अपयश' है। पर यहाँ कीर्ति **और**

वृत्तिविशेषौ तथा उक्तौ, मनोवृत्तिप्रकरणात्। तपोदाने च तथा। एवमाद्याः सर्वेषां भूतानां भावाः **प्रवृत्तिनिवृत्तिहेतवो मनोवृत्तयो** मत्त एव **मत्संकल्पायत्ताः** भवन्ति ॥ ४-५ ॥

अपकीर्तिके अनुरूप मनोवृत्तियोंको यश और अयश नामसे कहा गया है, क्योंकि यह प्रकरण मनोवृत्तिका है। वैसे ही तप और दानके विषयमें भी समझना चाहिये। सब प्राणियोंके पूर्वोक्त बुद्धि आदि भाव—प्रवृत्ति-निवृत्तिकी कारणरूप मनोवृत्तियाँ मुझसे ही—मेरे सङ्कल्पके आश्रित ही होती हैं ॥ ४-५॥

सर्वस्य भूतजातस्य सृष्टिस्थित्योः प्रवर्तयितारः च मत्संकल्पायत्तप्रवृत्तय इत्याह—

सम्पूर्ण प्राणीमात्रकी सृष्टि और स्थिति करनेवाले भी सब-के-सब मेरे सङ्कल्पके आधारपर ही कार्य करनेवाले हैं, यह कहते हैं—

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥ ६ ॥

ब्रह्माके मनसे उत्पन्न पहलेके सात महर्षि और चार मनु, जिनकी लोकमें उत्पन्न हुई ये प्रजाएँ हैं, मेरे भाववाले हैं ॥ ६ ॥

पूर्वे सप्त महर्षयः **अतीतमन्वन्तरे ये भृग्वादयः सप्त महर्षयो नित्यसृष्टिप्रवर्तनाय ब्रह्मणो मनसः संभवाः नित्यस्थितिप्रवर्तनाय ये च सावर्णिका नाम** चत्वारो मनवः **स्थिताः** येषां संतानैः लोके जाता इमाः **सर्वाः** प्रजाः, **प्रतिक्षणम् आप्रलयाद् अपत्यानाम् उत्पादकाः पालकाश्च भवन्ति, ते**

पूर्वके सात महर्षि—अतीत मन्वन्तरमें जो भृगु आदि सात महर्षि नित्य जगत्‌की रचनाके लिये ब्रह्माके मनसे उत्पन्न हुए थे और जो सावर्णिक नामवाले चार मनु जगत्‌का नित्य पालन करनेके लिये हुए थे; जिनके सन्तानोंसे भरपूर लोकमें उत्पन्न हुई ये समस्त प्रजाएँ हैं, जो प्रलयकालसे लेकर अबतक सदा अपनी सन्तानोंके उत्पादक और रक्षक रहे हैं; वे भृगु आदि

भृग्वादयो मनवः च मद्भावाः, **मम यो भावः स एव येषां भावः ते मद्भावाः, मन्मते स्थिताः मत्संकल्पानुवर्तिन इत्यर्थः** ॥ ६ ॥

महर्षिगण और चारों मनु मेरे भाववाले हैं। मेरा जो भाव है, वही जिनका भाव हो, वे 'मेरे भाववाले' कहलाते हैं। अभिप्राय यह है कि ये सब मेरे मतमें स्थित और मेरे सङ्कल्पका अनुवर्तन करनेवाले हैं ॥ ६ ॥

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥ ७ ॥

जो मेरी इस विभूतिको और (कल्याणगुणगणरूप) योगको तत्त्वसे जानता है, वह अचल (भक्ति) योगसे युक्त होता है, इसमें संशय नहीं है ॥७॥

विभूतिः ऐश्वर्यम्, एतां **सर्वस्य मदायत्तोत्पत्तिस्थितिप्रवृत्तिरूपां** विभूतिं मम **हेयप्रत्यनीककल्याणगुणरूपं** योगं च यः तत्त्वतो वेत्ति, सः अविकम्पेन **अप्रकम्पेन भक्ति**योगेन युज्यते, न अत्र संशयः ।

मद्विभूतिविषयं कल्याणगुणविषयं च ज्ञानं भक्तियोगवर्धनम् इति स्वयम् एव द्रक्ष्यसि इत्यभिप्रायः ॥ ७ ॥

ऐश्वर्यको विभूति कहते हैं। मेरे अधीन जो सबकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रवृत्ति है, यही मेरी विभूतिका स्वरूप है। ऐसी मेरी इस विभूतिको, और त्याज्य अवगुणोंके विरोधी कल्याणमय गुणगण रूप मेरे योगको जो तत्त्वसे जानता है, वह निश्चल भक्तियोगसे युक्त होता है, इसमें संशय नहीं है।

अभिप्राय यह है कि मेरी विभूतियोंका ज्ञान और कल्याणमय गुणगणोंका ज्ञान भक्तियोगको बढ़ानेवाला है। यह बात तू स्वयं प्रत्यक्ष देख लेगा ॥ ७ ॥

विभूतिज्ञानविपाकरूपां भक्तिवृद्धिं दर्शयति—

विभूति-ज्ञानकी परिपक्व-दशारूप भक्तिकी वृद्धिको दिखलाते हैं—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ ८ ॥

'मैं सबकी उत्पत्तिका कारण हूँ, सब मुझसे ही प्रवृत्त किये जाते हैं।' ऐसा जानकर भावसमन्वित ज्ञानी भक्त मुझको भजते हैं ॥ ८ ॥

अहं सर्वस्य 'विचित्रचिदचित्प्रपञ्चस्य प्रभवः उत्पत्तिकारणम्; सर्वं मत्त एव प्रवर्तते; इति इदं मम स्वाभाविकं निरङ्कुशैश्वर्यं सौशील्यसौन्दर्यवात्सल्यादिकल्याणगुणगणयोगं च मत्वा बुधाः ज्ञानिनो भावसमन्विताः मां सर्वकल्याणगुणान्वितं भजन्ते। भावो मनोवृत्तिविशेषः, मयि स्पृहयालवो मां भजन्त इत्यर्थः ॥ ८ ॥

मैं इस समूचे आश्चर्यमय जडचेतन-प्रपञ्चका प्रभव—इसकी उत्पत्तिका कारण हूँ। सब मुझसे ही प्रवर्तित किये जाते हैं; (उन-उनके कर्मानुसार मैं ही उनका सञ्चालन करता हूँ) मेरे इस स्वाभाविक अङ्कुशरहित (सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र) ऐश्वर्यको तथा सौशील्य, सौन्दर्य, वात्सल्यादि कल्याणमय गुणगण-रूप योगको समझकर भावयुक्त ज्ञानी भक्त मुझ सम्पूर्ण कल्याणगुण-समन्वित परमेश्वरको भजते हैं। मनकी वृत्ति-विशेषका नाम भाव है। अभिप्राय यह है कि अत्यन्त स्पृहासे मुझमें तन्मय होकर मुझे भजते हैं ॥ ८ ॥

कथम्—

कैसे भजते हैं—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ ९ ॥

मुझमें चित्तवाले और मेरे ही अधीन प्राणोंवाले भक्त, परस्पर (अपने अनुभव-को) समझाते हुए और नित्य मेरा कथन करते हुए सन्तुष्ट होते हैं और रमण करते हैं ॥ ९ ॥

मच्चित्ताः मयि निविष्टमनसः, मद्गतप्राणाः मद्गतजीविताः मया विना आत्मधारणम् अलभमाना इत्यर्थः। स्वैः स्वैः अनुभूतान् मदीयान्

मच्चित्त—मनको निरन्तर मुझमें प्रविष्ट किये रहनेवाले, तथा मद्गतप्राण—मेरे अधीन जीवनवाले अर्थात् मेरे बिना जीवन धारण न कर सकनेवाले मेरे भक्त अपने-अपने अनुभवमें आये हुए मेरे

गुणान् परस्परं बोधयन्तः, **मदीयानि दिव्यानि रमणीयानि कर्माणि च** कथयन्तः तुष्यन्ति च रमन्ति च । **वक्तारः तद्वचनेन अनन्यप्रयोजनेन तुष्यन्ति, श्रोतारश्च तच्छ्रवणेन अनवधिकातिशयप्रियेण रमन्ते** ॥ ९ ॥

गुणोंको परस्पर समझाते हुए और मेरे दिव्य रमणीय कर्मोंका वर्णन करते हुए सन्तुष्ट होते हैं और रमण करते हैं। अभिप्राय यह है कि वक्तागण, जिसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी प्रयोजन नहीं है, ऐसे उस मेरे गुण-प्रवचनसे सन्तुष्ट हो जाते हैं और श्रोतागण उस असीम अतिशय प्रिय गुण-श्रवणसे परम आनन्द लाभ करते हैं ॥ ९ ॥

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥१०॥

उन निरन्तर (मुझमें) लगे हुए भजन करनेवाले (भक्तों) को मैं प्रीतिपूर्वक वह बुद्धियोग देता हूँ कि जिससे वे मुझको प्राप्त हो जाते हैं ॥ १० ॥

तेषां सततयुक्तानां **मयि सततयोगम् आशंसमानानां मां भजमानानाम् अहं** तम् एव बुद्धियोगं **विपाकदशापन्नं** प्रीतिपूर्वकम् ददामि येन ते माम् उपयान्ति ॥ १० ॥

उन निरन्तर लगे हुए—निरन्तर मेरा संयोग चाहनेवाले और मेरा भजन करनेवाले भक्तोंको मैं वही परिपक्व अवस्थाको प्राप्त बुद्धियोग (बड़े) प्रेमके साथ देता हूँ, जिससे वे मुझे प्राप्त हो जाते हैं ॥ १० ॥

किं च—

तथा—

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥११॥

उन्हींपर अनुग्रह करनेके लिये मैं (उनके) आत्मभावमें स्थित होकर (उनके) अज्ञानसे उत्पन्न अन्धकारको प्रज्वलित ज्ञान-दीपकसे नाश कर देता हूँ ॥ ११ ॥

तेषाम् एव अनुग्रहार्थम् अहम् आत्मभावस्थः तेषां मनोवृत्तौ विषयतया अवस्थितो मदीयान् कल्याणगुणगणान् च आविष्कुर्वन् मद्विषयज्ञानाख्येन भास्वता दीपेन ज्ञानविरोधिप्राचीनकर्मरूपाज्ञानजं मद्व्यतिरिक्तविषयप्रावण्यरूपं पूर्वाभ्यस्तं तमः नाशयामि ॥ ११ ॥

उन्हींपर अनुग्रह करनेके लिये उनके आत्मभावमें स्थित—उनकी मनोवृत्तिमें प्रकट रूपसे विराजमान मैं, अपने कल्याणमय गुणगणोंको प्रकट करके अपने विषयके ज्ञानरूप प्रकाशमय दीपकके द्वारा, उनका जो पूर्व-अभ्यस्त ज्ञानविरोधी प्राचीन कर्मरूप अज्ञानसे उत्पन्न मुझसे अतिरिक्त लौकिक विषयोंमें प्रीतिरूप अन्धकार है, उसका नाश कर देता हूँ ॥ ११ ॥

एवं सकलेतरविसजातीयं भगवदसाधारणं श्रृण्वतां निरतिशयानन्दजनकं कल्याणगुणगणयोगं तदैश्वर्यविततिं च श्रुत्वा तद्विस्तारं श्रोतुकामः अर्जुन उवाच—

इस प्रकार अन्य सबसे विजातीय (विलक्षण) और श्रवण करनेवालोंको अतिशय आनन्दजनक भगवान्‌के असाधारण कल्याणमय गुणगणरूप योगको और उनके ऐश्वर्यके विस्तारको सुनकर उसे अधिक विस्तारपूर्वक सुननेकी इच्छावाला अर्जुन बोला—

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥ १२ ॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥ १३ ॥

अर्जुन बोला—आप परमब्रह्म, परमधाम और परमपवित्र हैं। सब ऋषि और देवर्षि नारद, असित, देवल, व्यास आपको शाश्वत दिव्य पुरुष, अजन्मा, व्यापक आदिदेव कहते हैं और आप स्वयं भी मुझे ऐसा ही कहते हैं ॥ १२-१३ ॥

परं ब्रह्म **परं धाम परमं पवित्रम्** **इति यं श्रुतयो वदन्ति स हि** भवान्।

'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति' (तै० उ० ३ । १) *'ब्रह्मविदाप्नोति परम्'* (तै० उ० २।१) *'स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति'* (मु० उ० ३ । २ । ९) **इति।**

तथा परं धाम; **धामशब्दो ज्योतिर्वचनः, परं ज्योतिः** *'अथ यदतः परो दिव्यो ज्योतिर्दीप्यते'* (छा० उ० ३ । १३ । ७) *'परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते'* (छा० उ० ८ । १२ । २) *'तद् देवा ज्योतिषां ज्योतिः'* (बृ० उ० ४।४।१६) **इति**

तथा च परमं पवित्रं **परमं पावनं स्मर्तुः अशेषकल्मषाश्लेषकरं विनाशकरं च।** *'यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते'* (छा० उ० ४ । १४ । ३) *'तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवꣳ हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते'* (छा० उ० ५ । २४ । ३)। *'नारायणः परं ब्रह्म*

श्रुतियाँ जिसको परम ब्रह्म, परम धाम और परम पवित्र कहती हैं, वे आप ही हैं।

श्रुति इस प्रकार कहती है— **'जिससे ये सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिसमें जीवन धारण करते हैं और अन्तमें मरकर जिसमें लय होते हैं, उसको जाननेकी इच्छा करो, वह ब्रह्म है।' 'ब्रह्मवेत्ता परमपुरुषको प्राप्त करता है।' 'वह जो उस परम ब्रह्मको जानता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है।'**

वैसे ही श्रुतियाँ आपको 'परमधाम' बतलाती हैं। 'धाम' शब्द ज्योतिका वाचक है, सो आप परम ज्योति हैं **'और जो इससे परे दिव्य ज्योति प्रकाशित है' 'परम ज्योतिको प्राप्त होकर अपने रूपसे सम्पन्न होता है' 'देवतालोग उसको ज्योतियोंका भी ज्योति (मानते) हैं।'**

ऐसे ही श्रुतियाँ आपको परम पवित्र, स्मरण करनेवालेके समस्त पापसम्बन्धका अभाव और पापोंका नाश करनेवाला परमपावन कहती हैं— **'जैसे कमलके पत्तेमें जल लिप्त नहीं होता, इसी तरह ऐसे ज्ञानीमें पापकर्म लिप्त नहीं होते' 'जैसे सरकंडेकी सींकके अग्रभागमें स्थित रूई अग्निमें डालते ही भस्म हो जाती है, वैसे ही इसके समस्त पाप भस्म हो जाते हैं।' 'नारायण परमब्रह्म है,**

तत्त्वं नारायणः परः। नारायणः परं ज्योतिरात्मा नारायणः परः॥' (महाना० ९।४) इति हि श्रुतयो वदन्ति।

ऋषयः च सर्वे **परावरतत्त्वयाथात्म्यविदः** त्वाम् **एव** शाश्वतं दिव्यं पुरुषम् आदिदेवम् अजं विभुम् आहुः। तथा एव देवर्षिः नारदः असितो देवलो व्यासः च।

'एष नारायणः श्रीमान् क्षीरार्णवनिकेतनः। नागपर्यङ्कमुत्सृज्य ह्यागतो मथुरां पुरीम्॥' 'पुण्या द्वारवती तत्र यत्रास्ते मधुसूदनः। साक्षाद्देवः पुराणोऽसौ स हि धर्मः सनातनः॥ ये च वेदविदो विप्रा ये चाध्यात्मविदो जनाः। ते वदन्ति महात्मानं कृष्णं धर्मं सनातनम्॥ पवित्राणां हि गोविन्दः पवित्रं परमुच्यते। पुण्यानामपि पुण्योऽसौ मङ्गलानां च मङ्गलम्॥ त्रैलोक्ये पुण्डरीकाक्षो देवदेवः सनातनः। आस्ते हरिरचिन्त्यात्मा तत्रैव मधुसूदनः॥' (महा० वन० ८८। २४-२८) **तथा** *'यत्र नारायणो देवः परमात्मा सनातनः। तत्र कृत्स्नं जगत्पार्थ तीर्थान्यायतनानि च॥ तत्पुण्यं तत्परं ब्रह्म*

नारायण परमतत्त्व है, नारायण परम ज्योति है और नारायण परम आत्मा है।' इस प्रकार श्रुतियाँ कहती हैं।

इसके अतिरिक्त श्रेष्ठ-निकृष्ट सम्पूर्ण तत्त्वको यथार्थ जाननेवाले ऋषिगण भी आपको ही शाश्वत दिव्य पुरुष, अजन्मा, व्यापक तथा आदिदेव बतलाते हैं, वैसे ही देवर्षि नारद, असित, देवल और वेदव्यास भी कहते हैं—

जैसे कि **'क्षीरसागरमें निवास करनेवाले यह साक्षात् श्रीमान् नारायण शेषशय्याको छोड़कर यहाँ मथुरापुरीमें आ गये हैं।' 'वहाँ परम पवित्र द्वारावती पुरी है, जहाँ भगवान् मधुसूदन निवास करते हैं, वे देव साक्षात् पुराणपुरुष हैं, वे ही सनातन धर्म हैं। जो वेदके जाननेवाले ब्राह्मण हैं और जो अध्यात्मके जाननेवाले पुरुष हैं, वे महात्मा श्रीकृष्णको सनातन धर्मरूप बतलाते हैं। गोविन्द भगवान् समस्त पवित्रोंके भी परम पवित्र कहे जाते हैं। ये सब पुण्योंके भी पुण्य हैं और मङ्गलोंके भी मङ्गल हैं। देवोंके देव त्रिभुवनव्यापी सनातन भगवान् कमलनेत्र अचिन्त्यस्वरूप श्रीहरि मधुसूदन उस द्वारकामें ही रहते हैं।'** तथा **'पार्थ! जहाँ सनातन परमात्मा नारायणदेव हैं वहीं समस्त जगत् और सम्पूर्ण तीर्थस्थान विद्यमान हैं। वहीं परमपुण्य, वहीं परमब्रह्म, वहीं तीर्थ और वहीं**

तत्तीर्थं तत्तपोवनम्। ···तत्र देवर्षयः सिद्धाः सर्वे चैव तपोधनाः॥ आदिदेवो महायोगी यत्रास्ते मधुसूदनः। पुण्यानामपि तत्पुण्यं माभूत्ते संशयोऽत्र वै॥' (महा० वन० ९०।२८—३२) 'कृष्ण एव हि लोकानामुत्पत्तिरपि चाप्ययः। कृष्णस्य हि कृते भूतमिदं विश्वं चराचरम्॥' (महा०सभा० ३८।२३) इति।

तथा स्वयम् एव ब्रवीषि च 'भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च। अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥' (७।४) **इत्यादिना,** 'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते' (१०।८) **इत्यन्तेन**॥ १२-१३॥

तपोवन है तथा वहीं सब देवर्षि, सिद्ध और तपोधन पुरुष रहते हैं। जहाँ महायोगी भगवान् आदिदेव मधुसूदन विराजते हैं, वह स्थान पुण्योंका भी पुण्य है, इसमें तुझे जरा भी सन्देह नहीं होना चाहिये।' 'वे श्रीकृष्ण ही सब लोकोंकी उत्पत्ति और प्रलयके स्थान हैं। यह सम्पूर्ण चराचर जगत् श्रीकृष्णके लिये ही प्रकट हुआ है।'

तथा आप स्वयं भी '**भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च। अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥**' यहाँसे लेकर '**अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते**' यहाँतक (यही बात) मुझसे कहते हैं॥ १२-१३॥

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः॥१४॥

केशव! आप जो कुछ मुझसे कहते हैं, वह सब मैं सत्य (तत्त्व) मानता हूँ; क्योंकि आपकी व्यक्तिको हे भगवन्! न देवता जानते हैं और न दानव॥१४॥

अतः सर्वम् एतद् **यथावस्थितवस्तुकथनं** मन्ये **न प्रशंसाद्यभिप्रायम्।** यद् मां **प्रति अनन्यसाधारणम् अनवधिकातिशयं स्वाभाविकं तव ऐश्वर्यं कल्याणगुणगणानन्त्यं च** वदसि। **अतो** भगवन् **निरतिशयज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजसां निधे** ते व्यक्तिं

अतएव यह सब, जो कि आप मुझे दूसरोंकी समानतासे रहित अपार अतिशय अपने स्वाभाविक ऐश्वर्य और कल्याणमय गुणगणोंकी अनन्तता बतला रहे हैं, इसे मैं यथार्थ वस्तुस्थितिका वर्णन मानता हूँ। प्रशंसादिके लिये कही हुई बात नहीं मानता। इसलिये हे भगवन्! हे निरतिशय ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेजके भण्डार! आपकी व्यक्तिको—

व्यक्तिप्रकारं न हि परिमितज्ञाना देवा दानवाः च विदुः ॥ १४ ॥

प्रकट होनेकी रीतिको सीमित ज्ञानवाले होनेके कारण देवता और दानवगण भी नहीं जानते ॥ १४ ॥

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥ १५ ॥

पुरुषोत्तम ! भूतभावन ! भूतेश ! देवदेव ! जगन्नाथ ! आप स्वयं ही अपने ज्ञानसे अपने-आपको जानते हैं ॥ १५ ॥

हे पुरुषोत्तम आत्मना आत्मानं त्वं स्वयम् एव **स्वेन एव ज्ञानेन** वेत्थ । भूतभावन **सर्वेषां भूतानाम् उत्पादयितः**, भूतेश **सर्वेषां भूतानां नियन्तः**, देवदेव **दैवतानाम् अपि परमदैवत, यथा मनुष्यमृगपक्षिसरीसृपादीन् सौन्दर्यसौशील्यादिकल्याणगुणगणैः दैवतानि अतीत्य वर्तन्ते तथा तानि सर्वाणि दैवतानि अपि तैः तैः गुणैः अतीत्य वर्तमान**, जगत्पते **जगत्स्वामिन्** ॥ १५ ॥

हे पुरुषोत्तम ! अपने-आपको आप स्वयं ही अपने ज्ञानके द्वारा जानते हैं । भूतभावन—समस्त भूतोंको उत्पन्न करनेवाले ! भूतेश—समस्त प्राणियोंके नियन्ता ! देवदेव—देवोंके भी परमदेव ! जिस प्रकार मनुष्य, पशु-पक्षी, कीट-पतङ्गादिसे सौन्दर्य, सौशील्य आदि कल्याणमय गुणगणोंमें देवता बढ़े हुए होते हैं, वैसे ही आप उन सब देवताओंसे भी उन सब गुणोंमें सबसे बढ़े हुए (परम श्रेष्ठ)-हैं । जगत्पते ! जगन्नाथ ! ॥ १५ ॥

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥ १६ ॥

जिन विभूतियोंसे इन लोकोंको व्याप्त करके आप स्थित हैं, उन अपनी दिव्य विभूतियोंका सम्पूर्णतासे वर्णन करनेमें आप ही समर्थ हैं ॥ १६ ॥

दिव्याः **त्वदसाधारण्यो** विभूतयो **याः ताः त्वम् एव** अशेषेण वक्तुम्

आपकी जो दिव्य-असाधारण विभूतियाँ हैं, जिन अनन्त विभूतियोंसे—नियन्त्रण करने योग्य विशेष शक्तियोंसे

अर्हसि **त्वम् एव व्यञ्जय इत्यर्थः** । याभिः **अनन्ताभिः** विभूतिभिः **यैः नियमनविशेषैः युक्त** इमान् लोकान् त्वं **नियन्तृत्वेन** व्याप्य तिष्ठसि ॥ १६ ॥

युक्त होकर आप इन सब लोकोंको नियन्तारूपसे व्याप्त करके स्थित हो रहे हैं, उन सबका सम्पूर्णतासे वर्णन आप ही कर सकते हैं—अभिप्राय यह कि—आप ही उनको प्रकाशित कीजिये ॥ १६ ॥

किमर्थं तत्प्रकाशनम् ? इति अपेक्षायाम् आह—

उनका प्रकाशन किसलिये किया जाय ? इसपर कहते हैं—

कथं विद्यामहं योगी त्वां सदा परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥ १७ ॥

भगवन् ! मैं भक्तियोगी सदा आपका चिन्तन करता हुआ आपको कैसे जानूँ ? और आप मुझसे किन-किन भावोंमें चिन्तन किये जानेके योग्य हैं ॥ १७ ॥

अहं योगी **भक्तियोगनिष्ठः सन् भक्त्या** त्वां सदा परिचिन्तयन् **चिन्तयितुं प्रवृत्तः चिन्तनीयं त्वां परिपूर्णैश्वर्यादिकल्याणगुणगणं** कथं विद्याम् **पूर्वोक्तबुद्धिज्ञानादिभावव्यतिरिक्तेषु अनुक्तेषु** केषु केषु च भावेषु मया **नियन्तृत्वेन** चिन्त्यः असि ॥ १७ ॥

मैं योगी—भक्तियोगमें निष्ठ होकर भक्तिपूर्वक सदा आपका चिन्तन करता हुआ—चिन्तनमें प्रवृत्त हुआ, चिन्तन करने योग्य एवं परिपूर्ण ऐश्वर्य आदि कल्याणमय गुणगणोंसे युक्त आप परमेश्वरको कैसे जानूँ ? पूर्वोक्त बुद्धि और ज्ञान आदि भावोंके अतिरिक्त जिनका वर्णन नहीं किया गया, ऐसे कौन-कौनसे भावोंमें मुझे आपका नियन्तारूपसे चिन्तन करना चाहिये ? ॥ १७ ॥

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥ १८ ॥

जनार्दन ! अपने योग और विभूतिको विस्तारपूर्वक आप फिर कहिये, क्योंकि (आपके माहात्म्यरूप) अमृतको सुनते-सुनते मेरी तृप्ति नहीं हो रही है ॥ १८ ॥

'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते' (१० । ८) **इति संक्षेपेण उक्तं तव स्रष्टृत्वादियोगं** विभूतिं **नियमनं** च भूयः विस्तरेण कथय । **त्वया उच्यमानं त्वन्माहात्म्यामृतं** शृण्वतो मे तृप्तिः न अस्ति हि—**मम अतृप्तिः त्वया एव विदिता इति अभिप्रायः** ॥ १८ ॥

'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते' इस प्रकार संक्षेपमें कहे हुए आपके सृष्टिकर्ता आदि गुणरूप योगको और विभूतिको—नियमन करने योग्य भावोंको फिर विस्तारपूर्वक कहिये । आपके द्वारा कहे हुए आपके माहात्म्यरूप अमृतको सुनते-सुनते (कानोंसे पीते-पीते) मैं तृप्त नहीं होता हूँ । यहाँ 'हि'का यह अभिप्राय है कि मेरी अतृप्तिको आप ही जानते हैं ॥ १८ ॥

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि विभूतीरात्मनः शुभाः ।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥ १९ ॥

श्रीभगवान् बोले—अर्जुन ! अब मैं तुझे अपनी कल्याणमयी विभूतियोंको प्रधानतासे कहूँगा । क्योंकि मेरे (विभूतियोंके) विस्तारका अन्त नहीं है ॥ १९ ॥

हे कुरुश्रेष्ठ **मदीयाः कल्याणीः** विभूतीः प्राधान्यतः ते कथयिष्यामि । **प्राधान्यशब्देन उत्कर्षो विवक्षितः,** *'पुरोधसां च मुख्यं माम्'* (१० । २४) **इति हि वक्ष्यते । जगति उत्कृष्टाः काश्चन विभूतीः वक्ष्यामि, विस्तरेण वक्तुं श्रोतुं च न शक्यते, तासाम् आनन्त्यात् । विभूतित्वं नाम**

कुरुश्रेष्ठ अर्जुन ! मेरी कल्याणमयी विभूतियोंको मैं तुझे प्रधानतासे सुनाऊँगा । यहाँ 'प्राधान्य' शब्दसे उत्कृष्टताका प्रतिपादन करना अभीष्ट है; क्योंकि **'पुरोधसां च मुख्यं माम्'** इस प्रकार आगे कहेंगे । अभिप्राय यह है कि संसारमें अपनी कुछ श्रेष्ठ विभूतियोंको बतलाऊँगा; क्योंकि मेरी विभूतियाँ अनन्त हैं, इसलिये उनका न तो विस्तारसे कहना शक्य है और न सुनना ही । यहाँ भगवान्के नियमनमें

नियाम्यत्वम्, सर्वेषां भूतानां बुद्ध्यादयः पृथग्विधा भावा मत्त एव भवन्ति इति उक्त्वा '*एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।*' (१०।७) इति प्रतिपादनात्। तथा तत्र योगशब्दनिर्दिष्टं स्रष्टृत्वादिकं विभूतिशब्दनिर्दिष्टं तत्प्रवर्त्यत्वम् इति युक्तम्। पुनश्च '*अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते। इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥*' (१०।८) इति उक्तम्॥ १९॥

रहनेवाली (समस्त जडचेतन) वस्तुओंका नाम विभूति है। क्योंकि समस्त भूतोंके नाना प्रकारके बुद्धि आदि भाव मुझसे ही होते हैं, ऐसा कहकर **'एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।'** इस तरह प्रतिपादन किया गया है। इसलिये यही समीचीन है कि वहाँ 'योग' शब्दसे निर्दिष्ट भगवान्‌के स्रष्टापन आदि गुण हैं और 'विभूति' शब्दके द्वारा निर्दिष्ट वे पदार्थ हैं, जो भगवान्‌द्वारा प्रेरित किये जाने योग्य हैं। यही बात पुनः इस प्रकार कही गयी है कि **'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते। इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥'** ॥ १९॥

तत्र सर्वभूतानां प्रवर्तनरूपं नियमनम् आत्मतया अवस्थाय इति इमम् अर्थं योगशब्दनिर्दिष्टं सर्वस्य स्रष्टृत्वं पालयितृत्वं संहर्तृत्वं च इति सुस्पष्टम् आह—

वहाँ आत्मरूपसे सबमें स्थित होकर सब भूतोंका यथायोग्य संचालनरूप जो नियमन है; यह तथा सबके सृजन, पालन और संहारका कर्तापन भी 'योग' शब्दसे निर्दिष्ट है; यह बात स्पष्ट रूपसे कहते हैं—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च॥ २०॥

अर्जुन! सब भूतोंके हृदयमें स्थित आत्मा मैं हूँ और मैं ही सारे भूतोंका आदि, मध्य और अन्त हूँ॥ २०॥

सर्वेषां भूतानाम् मम शरीरभूतानाम् आशये हृदये अहम् **आत्मतया अवस्थितः** । आत्मा **हि नाम शरीरस्य सर्वात्मना आधारो नियन्ता शेषी च । तथा वक्ष्यते**—'*सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*' (१५ । १५) '*ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति । भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥*' (१८ । ६१) **इति । श्रूयते च**—'*यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यं सर्वाणि भूतानि न विदुः । यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयति । एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः*' (बृ० उ० ३ । ७ । १५) **इति** '*य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्य आत्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः*' (श० प० १४ । ५ । ३०) **इति च ।**

एवं सर्वभूतानाम् आत्मतया अवस्थितः अहं **तेषाम्** आदिः मध्यं च अन्तः च, **तेषाम् उत्पत्तिस्थितिप्रलयहेतुः इत्यर्थः** ॥ २० ॥

मेरे शरीररूप सभी भूतोंके हृदयमें मैं आत्मरूपसे स्थित हूँ । शरीरका जो सब प्रकारसे आधार, नियन्ता, शेषी (स्वामी) हो, उसका नाम 'आत्मा' है । सो यह बात आगे इस प्रकार कहेंगे—**'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।' 'ईश्वरःसर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥'** श्रुतियाँ भी कहती हैं कि **'जो सब भूतोंमें स्थित होकर समस्त भूतोंकी अपेक्षा आन्तरिक है, जिसको सब भूत नहीं जानते, सब भूत जिसके शरीर हैं, तथा जो सब भूतोंके अंदर रहकर उनका नियमन करता है, वह सर्वान्तर्यामी अमृत तेरा आत्मा है ।' 'जो आत्मामें स्थित होकर आत्माकी अपेक्षा भी आन्तरिक है, जिसको आत्मा नहीं जानता, आत्मा जिसका शरीर है, जो आत्माके अंदर रहकर उसका नियमन करता है, वह अन्तर्यामी अमृत तेरा आत्मा है ।'**

इस प्रकार सब भूतोंमें आत्मरूपसे स्थित हुआ मैं उन सबका आदि, मध्य और अन्त हूँ अर्थात् उनकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयका कारण हूँ ॥ २० ॥

एवं भगवतः स्वविभूतिभूतेषु सर्वेषु आत्मतया अवस्थानं तत्तच्छब्दसामानाधिकरण्यनिर्देशहेतुं प्रतिपाद्य विभूतिविशेषाम् सामानाधिकरण्येन व्यपदिशति; भगवति आत्मतया अवस्थिते हि सर्वे शब्दाः तस्मिन् एव पर्यवस्यन्ति । यथा देवो मनुष्यः पक्षी वृक्ष इत्यादयः शब्दाः शरीराणि प्रतिपादयन्तः तत्तदात्मनि पर्यवस्यन्ति ।

भगवतः तत्तदात्मतया अवस्थानम् एव तत्तच्छब्दसामानाधिकरण्यनिबन्धनम्, इति विभूत्युपसंहारे वक्ष्यति—*'न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ।'* *(१० । ३९)* इति सर्वेषां स्वेन अविनाभाववचनात् । अविनाभावश्च नियाम्यतया इति *'मत्तः सर्वं प्रवर्तते'* *(१० । ८)* इति उपक्रमोदितम् ।

इस प्रकार अपनी विभूतिरूप समस्त व्यक्तियोंमें भगवान्‌का आत्मारूपसे स्थित होना ही उन-उन व्यक्तिवाचक शब्दोंके द्वारा समान भावसे भगवान्‌का निर्देश किये जानेमें कारण है; यह बात प्रतिपादन करके अब उन-उन विभूतियोंके भेदोंका समानाधिकरणतापूर्वक वर्णन करते हैं—क्योंकि भगवान् सबके आत्मरूपसे स्थित हैं, इसलिये समस्त शब्दोंका पर्यवसान उन्हींमें होता है । जैसे कि देव, मनुष्य, पक्षी और वृक्ष इत्यादि शब्द शरीरोंका प्रतिपादन करते हुए उन-उन शरीरोंके आत्मामें पर्यवसित होते हैं ।

भगवान्‌का उन-उन जड-चेतन पदार्थोंके आत्मारूपसे स्थित होना ही उन-उनके वाचक शब्दोंकी समानाधिकरणतामें कारण है, यह बात विभूतियोंके उपसंहारप्रकरणमें भी **'न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ।'** इस प्रकार सबका अपनेसे रहित न होना (अपने बिना उनका न होना) बताकर कहेंगे । (इससे भगवान्‌का नियामक होना सिद्ध होता है ।) तथा भगवान्‌से रहित किसीका न होना नियाम्यताके ही कारण है; यह आरम्भमें इस प्रकार कहा गया है कि **'मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।'**

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥ २१ ॥

आदित्योंमें मैं विष्णु, ज्योतियोंमें किरणोंवाला सूर्य, मरुतोंमें मरीचि और नक्षत्रोंमें चन्द्रमा मैं हूँ ॥ २१ ॥

द्वादशसंख्यासंख्यातानाम् आदित्यानां **द्वादशो य उत्कृष्टो** विष्णुः **नाम आदित्यः सः** अहम्; ज्योतिषां **जगति प्रकाशकानां यः** अंशुमान् रविः **आदित्यगणः सः अहम्**, मरुताम् **उत्कृष्टो** मरीचिः **यः सः अहम्** अस्मि, नक्षत्राणाम् अहं शशी । **न इयं निर्धारणे षष्ठी, 'भूतानाम् अस्मि चेतना' इतिवत् नक्षत्राणां पतिः यः चन्द्रः** सः **अहम् अस्मि** ॥ २१ ॥

बारहकी गणनामें गिने जानेवाले आदित्योंमें बारहवाँ जो सबसे श्रेष्ठ विष्णुनामक आदित्य है, वह मैं हूँ, ज्योतियोंमें—जगत्के प्रकाशकोंमें जो किरणोंवाला सूर्य आदित्यगण है, वह मैं हूँ; मरुतोंमें उत्कृष्ट जो मरीचि है, वह मैं हूँ; नक्षत्रोंका (पति) चन्द्रमा मैं हूँ । यहाँ 'नक्षत्राणाम्' इस पदमें जो षष्ठी विभक्ति है, वह 'निर्धारण'में नहीं है, अपितु 'भूतोंकी चेतना मैं हूँ' इस वाक्यकी भाँति, इसका यह भाव है कि नक्षत्रोंका स्वामी जो चन्द्रमा है, वह मैं हूँ ॥ २१ ॥

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥ २२ ॥

मैं वेदोंमें सामवेद हूँ, देवताओंमें इन्द्र हूँ, इन्द्रियोंमें मन हूँ और भूतोंकी चेतना हूँ ॥ २२ ॥

वेदानाम् **ऋग्यजुःसामाथर्वणां य उत्कृष्टः** सामवेदः **सः अहम्**, देवानाम् **इन्द्रः अहम्** अस्मि । **एकादशानाम्** इन्द्रियाणां **यद् उत्कृष्टं मन इन्द्रियं तद् अहम्** अस्मि । **इयम्**

ऋक्, यजुः, साम और अथर्व इन चारों वेदोंमें श्रेष्ठ जो सामवेद है, वह मैं हूँ । देवोंमें इन्द्र मैं हूँ । ग्यारह इन्द्रियों-में श्रेष्ठ जो मन है, वह मैं हूँ । चेतनायुक्त

अपि न निर्धारणे—भूतानां **चेतनावतां** **या** चेतना **सा अहम्** अस्मि ॥ २२ ॥	भूतोंकी जो चेतना है, वह मैं हूँ। यह भी निर्धारणषष्ठी विभक्ति नहीं है ॥ २२ ॥

रुद्राणां शङ्करश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥ २३ ॥

मैं रुद्रोंमें शङ्कर और यक्ष-राक्षसोंमें कुबेर हूँ; वसुओंमें पावक और शिखर-वाले पर्वतोंमें सुमेरु मैं हूँ ॥ २३ ॥

रुद्राणाम् **एकादशानां** शङ्करः **अहम्** अस्मि; यक्षरक्षसां **वैश्रवणः अहम्**, वसूनाम् **अष्टानां** पावकः **अहम्**; शिखरिणां **शिखरशोभिनां पर्वतानां मध्ये** मेरुः अहम् ॥ २३ ॥	एकादश रुद्रोंमें शङ्कर मैं हूँ; यक्ष और राक्षसोंमें कुबेर मैं हूँ; आठ वसुओंमें अग्नि मैं हूँ; शिखरोंसे सुशोभित पर्वतोंमें सुमेरु मैं हूँ ॥ २३ ॥

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥ २४ ॥

अर्जुन ! पुरोहितोंमें प्रमुख बृहस्पति तू मुझको जान । सेनापतियोंमें स्कन्द और सरोवरोंमें सागर मैं हूँ ॥ २४ ॥

पुरोधसाम् **उत्कृष्टो बृहस्पतिः यः सः अहम् अस्मि** । सेनानीनां **सेनापतीनां** स्कन्दः अहम् **अस्मि**, सरसां सागरः **अहम्** अस्मि ॥ २४ ॥	पुरोहितोंमें श्रेष्ठ जो बृहस्पति है, वह मैं हूँ; सेनापतियोंमें स्कन्द मैं हूँ, सरोवरोंमें समुद्र मैं हूँ ॥ २४ ॥

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥ २५ ॥

महर्षियोंमें भृगु, वाणियोंमें एक अक्षर (प्रणव), यज्ञोंमें जपयज्ञ और स्थावरोंमें हिमालय मैं हूँ ॥ २५ ॥

महर्षीणां **मरीच्यादीनां** भृगुः अहम्; **अर्थाभिधायिनः शब्दा गिरः, तासाम्** एकम् अक्षरं **प्रणवः अहम् अस्मि;** यज्ञानाम् **उत्कृष्टः** जपयज्ञः अस्मि, **पर्वतमात्राणां हिमवान् अहम्** ॥ २५ ॥

मरीचि आदि महर्षियोंमें भृगु मैं हूँ; अर्थबोधक शब्दोंका नाम गिरा है, उनमें एक अक्षर—ओंकार मैं हूँ; यज्ञोंमें श्रेष्ठ जप-यज्ञ मैं हूँ; समस्त पर्वतोंमें हिमालय मैं हूँ ॥ २५ ॥

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥ २६ ॥

सब वृक्षोंमें पीपल, देवर्षियोंमें नारद, गन्धर्वोंमें चित्ररथ, सिद्धोंमें कपिल मुनि मैं हूँ ॥ २६ ॥

सर्ववृक्षाणां **मध्ये पूज्यः** अश्वत्थ **एव अहम्** । देवर्षीणां **मध्ये परम-वैष्णवो** नारदः **अहम् अस्मि** । गन्धर्वाणां **देवगायकानां मध्ये** चित्ररथः **अस्मि** । सिद्धानां **योगनिष्ठानां परमोपास्यः** कपिलः **अहम्** ॥ २६ ॥

सब वृक्षोंमें पूज्य पीपल मैं ही हूँ; देवर्षियोंमें परम वैष्णव नारद मैं हूँ; गन्धर्वोंमें—देव-गायकोंमें चित्ररथ मैं हूँ; योगनिष्ठ सिद्ध पुरुषोंके परम उपास्य कपिल मैं हूँ ॥ २६ ॥

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥ २७ ॥

घोड़ोंमें अमृत-मन्थनके समय उत्पन्न उच्चैः-श्रवा, श्रेष्ठ हाथियोंमें ऐरावत और नरोंमें राजा तू मुझको जान ॥ २७ ॥

सर्वेषाम् अश्वानां **मध्ये** अमृतमथनोद्भवम् उच्चैःश्रवसं मां विद्धि । गजेन्द्राणां **सर्वेषां मध्ये अमृतमथनोद्भवम्** ऐरावतं **मां विद्धि । 'अमृतोद्भवम्' इति ऐरावतस्य अपि विशेषणम्** । नराणां **मध्ये राजानं मां विद्धि** ॥ २७ ॥

समस्त अश्वोंमें अमृतमन्थनके समय उत्पन्न उच्चैःश्रवा मुझको जान । सब गजेन्द्रोंमें अमृतमन्थनके समय प्रकट हुआ ऐरावत मुझको जान; मनुष्योंमें राजा मुझको जान । इस श्लोकमें आया हुआ 'अमृतोद्भव' शब्द ऐरावतका भी विशेषण है ॥ २७ ॥

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥२८॥

मैं शस्त्रोंमें वज्र और गौओंमें कामधेनु हूँ, उत्पन्न करनेवाला कामदेव और सर्पोंमें वासुकि हूँ ॥ २८ ॥

आयुधानां **मध्ये** वज्रं **तद्** अहम् । धेनूनां **हविर्दुघानां मध्ये** कामधुक्, **दिव्या सुरभिः** । प्रजनः **जननहेतुः** कन्दर्पः च **अहम्** अस्मि, **सर्पाः एकशिरसः तेषां मध्ये** वासुकिः अस्मि ॥ २८ ॥

आयुधोंमें जो वज्र है, वह मैं हूँ; हवि प्रदान करनेवाली धेनुओंमें दिव्य सुरभि कामधेनु मैं हूँ; उत्पत्तिका कारण काम भी मैं हूँ, एक सिरवालोंका नाम सर्प है, उनमें वासुकि मैं हूँ ॥ २८ ॥

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥२९॥

नागोंमें अनन्त (शेषनाग) हूँ, जलचरोंका राजा वरुण मैं हूँ, पितरोंमें अर्यमा और दण्ड देनेवालोंमें यम हूँ ॥ २९ ॥

नागा बहुशिरसः, यादांसि जलवासिनः, तेषां वरुणः अहम्, **अत्र अपि न निर्धारणे षष्ठी, दण्डयतां वैवस्वतः** अहम् ॥ २९ ॥

बहुत सिरवालोंका नाम नाग है, उनमें शेषनाग मैं हूँ, जलचरोंका नाम 'यादस्' है, उनका राजा वरुण मैं हूँ । यहाँ भी निर्धारण-षष्ठी नहीं है । दण्ड देनेवालोंमें यम मैं हूँ ॥ २९ ॥

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥३०॥

मैं दैत्योंमें प्रह्लाद हूँ, गिनती करनेवालोंमें काल, मृगोंमें मृगेन्द्र (सिंह) और पक्षियोंमें गरुड़ मैं हूँ ॥ ३० ॥

अनर्थप्रेप्सुतया गणयतां मध्ये कालः मृत्युः अहम् ॥ ३० ॥

अनर्थ-प्राप्ति करानेकी इच्छासे जो जीवोंकी आयुकी गणना करते हैं, उनमें मृत्यु-नामक काल मैं हूँ (और सब स्पष्ट है)॥ ३०॥

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥ ३१॥

मैं गमन करनेवालोंमें पवन और शस्त्रधारियोंमें राम हूँ मछलियोंमें मगर और नदियोंमें श्रीगङ्गाजी मैं हूँ ॥ ३१ ॥

पवतां गमनस्वभावानां पवनः अहम् । शस्त्रभृतां रामः अहम् । शस्त्रभृत्त्वम् अत्र विभूतिः, अर्थान्तराभावात् । आदित्यादयः च क्षेत्रज्ञा आत्मत्वेन अवस्थितस्य भगवतः शरीरतया धर्मभूता इति शस्त्रभृत्त्वस्थानीयाः ॥ ३१ ॥

गमन करनेके स्वभाववालोंमें पवन मैं हूँ; शस्त्रधारियोंमें राम मैं हूँ । यहाँ 'शस्त्रधारीपन' विभूति है, क्योंकि दूसरा कोई अर्थ नहीं हो सकता । आदित्यादि सब जीव उनमें आत्मरूपसे स्थित भगवान्के शरीररूप होनेसे धर्मरूप हैं, इसलिये उनका विभूतियोंमें गणना करना भी शस्त्रधारीपनकी भाँति ही समझना चाहिये ॥ ३१ ॥

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥३२॥

अर्जुन ! सर्गोंका आदि, मध्य और अन्त मैं ही हूँ । विद्याओंमें अध्यात्म-विद्या और विवाद करनेवालोंमें वाद मैं हूँ ॥ ३२ ॥

सृज्यन्ते इति सर्गाः, तेषाम् आदिः कारणम्; सर्वदा सृज्यमानानां सर्वेषां प्राणिनां तत्र तत्र स्रष्टारः अहम् एव इत्यर्थः । तथा अन्तः

जिनका सृजन किया जाय, उनका नाम सर्ग है, उनका आदिकारण मैं हूँ; सदा सृजन किये जानेवाले सब प्राणियोंके जो भिन्न-भिन्न स्थानोंपर पृथक्-पृथक् स्रष्टा हैं, वे स्रष्टा मैं ही हूँ;

सर्वदा संह्रियमाणानां तत्र तत्र संहर्तारः अपि अहम् एव । तथा च मध्यं **पालनं सर्वदा पाल्यमानानां पालयितारश्च** अहम् एव **इत्यर्थः** । **श्रेयःसाधनभूतानां** विद्यानां **मध्ये परमनिःश्रेयससाधनभूता** अध्यात्मविद्या **अहम् अस्मि** । **जल्पवितण्डादि कुर्वतां तत्त्वनिर्णयाय प्रवृत्तो** वादः **यः सः** अहम् ॥ ३२ ॥

इसी प्रकार अन्त हूँ—सदा नष्ट होनेवालोंके जो पृथक्-पृथक् संहार करनेवाले हैं, वे भी मैं ही हूँ । मध्यका अर्थ यहाँ पालन है, अर्थात् सदा पालन किये जानेवाले सब प्राणियोंके जो पृथक्-पृथक् पालनकर्ता हैं, वे मैं ही हूँ; कल्याणसाधनरूपा विद्याओंमें परम कल्याणसाधनरूपा अध्यात्मविद्या मैं हूँ; जल्प-वितण्डा आदि विवाद करनेवालोंका जो तत्त्वनिर्णयके लिये किया जानेवाला वाद है, वह मैं हूँ ॥ ३२ ॥

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ॥ ३३ ॥

अक्षरोंमें अकार और समासोंके समूहमें द्वन्द्वनामक समास हूँ । मैं ही अक्षय काल हूँ, मैं ही चारों ओर मुखवाला विधाता (ब्रह्मा) हूँ ॥ ३३ ॥

अक्षराणां **मध्ये** *'अकारो वै सर्वा वाक्'* (ऐ० पू० ३ । ६) **इति श्रुतिसिद्धः, सर्ववर्णानां प्रकृतिः** अकारः **अहम्, सामासिकः समाससमूहः, तस्य मध्ये द्वन्द्वसमासः अहम्; स हि उभयपदार्थप्रधानत्वेन उत्कृष्टः । कलामुहूर्तादिमयः** अक्षयः कालः अहम् एव; **सर्वस्य स्रष्टा हिरण्यगर्भः चतुर्मुखः** अहम् ॥ ३३ ॥

सब वर्णोंमें 'अकार' जो कि **'अकार ही सब वाणी है'** इस श्रुतिसे प्रसिद्ध सब वर्णोंका कारण है, वह मैं हूँ; समास-समूहका नाम सामासिक है, उसमें द्वन्द्व-नामक समास मैं हूँ, क्योंकि उसमें दोनों पदोंके अर्थ प्रधान होते हैं, इसलिये वह श्रेष्ठ है । कला-मुहूर्त्तादि विभागवाला अविनाशी काल मैं ही हूँ । सबका सृजन करनेवाला चतुर्मुख ब्रह्मा मैं हूँ ॥ ३३ ॥
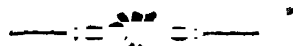
मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥३४॥

सबका हरण करनेवाला मृत्यु और उत्पन्न होनेवालोंकी उत्पत्तिरूपी कर्म मैं हूँ । नारियोंमें श्री, कीर्ति, वाणी, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा मैं हूँ ॥ ३४ ॥

सर्वप्राणहरः मृत्युः च अहम्; उत्पत्स्यमानानाम् उद्भवाख्यं कर्म च अहम्, नारीणां श्रीः अहं कीर्तिः च अहं वाक् च अहं स्मृतिः च अहं मेधा च अहं धृतिः च अहं क्षमा च अहम् ॥३४॥

सबके प्राणोंका हरण करनेवाला मृत्यु भी मैं ही हूँ; उत्पन्न होनेवालोंका उत्पत्तिरूप कर्म भी मैं ही हूँ, स्त्रियोंमें श्री मैं हूँ, कीर्ति मैं हूँ, वाणी मैं हूँ, स्मृति मैं हूँ, मेधा मैं हूँ, धृति मैं हूँ और क्षमा भी मैं हूँ ॥ ३४ ॥

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥३५॥

मैं सामोंमें बृहत्साम, छन्दोंमें गायत्री, मासोंमें मार्गशीर्ष और ऋतुओंमें वसन्त ऋतु मैं हूँ ॥ ३५ ॥

साम्नां बृहत्साम अहम्, छन्दसां गायत्री अहम्, ऋतूनां कुसुमाकरः वसन्तः ॥ ३५ ॥

सामोंमें 'बृहत्' नामक साम मैं हूँ । छन्दोंमें गायत्री मैं हूँ, (छहों) ऋतुओंमें कुसुमाकर—वसन्त मैं हूँ ॥ ३५ ॥

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥३६॥

छल करनेवालोंका जूआ, तेजस्वियोंका तेज, (जीतनेवालोंकी) जीत, (निश्चय करनेवालोंका) निश्चय और सत्त्वशीलोंका सत्त्व मैं हूँ ॥ ३६ ॥

छलं कुर्वतां छलास्पदेषु अक्षादिलक्षणम् द्यूतम् अहम् । जेतॄणां जयः

छल करनेवालोंके जो छलके आश्रय हैं उनमेंसे पासे आदिसे खेला जानेवाला जूआ मैं हूँ । जीतनेवालोंकी

अस्मि, व्यवसायिनां व्यवसायः अस्मि, सत्त्ववतां सत्त्वं **महामनस्त्वम् ॥३६॥**

विजय हूँ, निश्चय करनेवालोंका निश्चय हूँ और सत्त्वयुक्त पुरुषोंका सत्त्व महान् मनस्वीपन हूँ ॥ ३६ ॥

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥३७॥

मैं वृष्णियोंमें (वसुदेवपुत्र) वासुदेव तथा पाण्डवोंमें अर्जुन हूँ; मुनियोंमें भी मैं व्यास और कवियोंमें उशना कवि (शुक्राचार्य)हूँ ॥ ३७ ॥

वसुदेवसूनुत्वम् अत्र विभूतिः, अर्थान्तराभावाद् एव । पाण्डवानां धनंजयः **अर्जुनः अहम्, मुनयो मननेन अर्थयाथात्म्यदर्शिनः, तेषां** व्यासः अहम्; **कवयो विपश्चितः ॥३७॥**

यहाँ (वृष्णिवंशियोंमें मैं वसुदेवका पुत्र हूँ, इस कथनमें) वसुदेवका पुत्र होना ही विभूति है, क्योंकि दूसरा अर्थ सम्भव ही नहीं है अर्थात् साक्षाद् भगवान् श्रीकृष्णको विभूति बतलाना बन नहीं सकता । पाण्डवोंमें धनंजय अर्जुन मैं हूँ । मनन करके वेद-शास्त्रके अर्थको यथार्थरूपमें समझनेवालोंका नाम मुनि है, उनमें मैं व्यास हूँ । विद्वानोंका नाम कवि है, (उनमें मैं उशना कवि हूँ) ॥ ३७ ॥

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥३८॥

दण्ड देनेवालोंका दण्ड हूँ, जयकी इच्छावालोंकी नीति हूँ, गुह्योंमें मौन और ज्ञानवालोंका ज्ञान मैं ही हूँ ॥ ३८ ॥

नियमातिक्रमणे दण्डं कुर्वतां दण्डः **अहम् । विजिगीषूणां जयोपाय-भूता** नीतिः अस्मि । गुह्यानां **सम्बन्धिषु**

नियमका अतिक्रमण करनेपर दण्ड देनेवालोंका दण्ड मैं हूँ । विजयकी इच्छावालोंकी विजयकी उपायभूत नीति मैं हूँ; गुह्योंमें अर्थात् गोपनीय वस्तु-

गोपनेषु मौनम् अस्मि, ज्ञानवतां ज्ञानं च अहम् ॥ ३८ ॥

सम्बन्धी गोपन-चेष्टाओंमें मैं मौन हूँ। ज्ञानवालोंका ज्ञान मैं हूँ ॥ ३८ ॥

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥३९॥

अर्जुन ! जो भी सारे भूतोंका बीज है, वह मैं हूँ। ऐसा कोई भी चराचर पदार्थ नहीं है, जो मेरे बिना हो ॥ ३९ ॥

सर्वभूतानां **सर्वावस्थावस्थितानां तत्तदवस्थाबीजभूतं प्रतीयमानम् अप्रतीयमानं** च यत् तद् अहम् **एव । चराचरसर्वभूतजातं** मया **आत्मतया अवस्थितेन** विना यत् स्यात् न तद् अस्ति; *'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।'* (१० । २०) **इति प्रक्रमात्;'न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ।' इति अत्र अपि आत्मतया अवस्थानम् एव विवक्षितम्** ।

सर्ववस्तुजातं सर्वावस्थं मया आत्मभूतेन युक्तं स्याद् इत्यर्थः । अनेन सर्वस्य अस्य सामानाधिकरण्यनिर्देशस्य आत्मतया अवस्थितिः एव हेतुः इति प्रकटयति ॥३९॥

विभिन्न प्रकारकी सब अवस्थाओंमें स्थित सम्पूर्ण भूतोंकी उन-उन अवस्थाओंका जो व्यक्त या अव्यक्त बीज है, वह मैं ही हूँ। सम्पूर्ण चराचर भूतसमुदाय, जो आत्मारूपसे मुझ परमेश्वरके स्थित हुए बिना ही रह सके, ऐसा नहीं है, क्योंकि आरम्भमें **'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।'** यह बात कही गयी है। इसलिये यहाँ 'न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्' इस कथनमें भी आत्मारूपसे स्थित होना ही विवक्षित है।

अभिप्राय यह है कि सभी अवस्थाओंमें स्थित सम्पूर्ण वस्तुमात्र उनके आत्मरूप मुझ परमेश्वरसे युक्त है। इस वर्णनसे यह बात प्रकट करते हैं कि इस सम्पूर्ण समानाधिकरणताके वर्णनका कारण भगवान्‌का आत्मरूपसे स्थित होना ही है ॥ ३९ ॥

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥४०॥

परंतप अर्जुन ! मेरी दिव्य विभूतियोंका अन्त नहीं है, यह विभूतियोंका विस्तार तो मेरे द्वारा संक्षेपसे कहा गया है ॥ ४० ॥

मम दिव्यानां **कल्याणीनां** विभूतीनाम् अन्तो न अस्ति । एष तु विभूतेः विस्तरो मया **कैश्चिद् उपाधिभिः संक्षेपतः** प्रोक्तः ॥ ४० ॥

मेरी दिव्य—कल्याणमयी विभूतियोंका अन्त नहीं है । यह कितनीक उपाधियोंसे युक्त मेरी विभूतियोंका विस्तार तो मैंने तुझे संक्षेपसे बतलाया है ॥ ४० ॥

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥४१॥

जो-जो भी विभूतिमान्, श्रीमान् और ऊर्जित है, वह-वह तू मेरे ही तेजके अंशसे उत्पन्न हुआ जान ॥ ४१ ॥

यद् यद् विभूतिमद् **ईशितव्यसंपन्नं भूतजातं** श्रीमत् **कान्तिमद् धनधान्यसमृद्धं** वा ऊर्जितं **कल्याणारम्भेषु उद्युक्तं** तत् तद् मम तेजोंऽशसंभवम् **इति** अवगच्छ ।

तेजः पराभिभवनसामर्थ्यम्, मम अचिन्त्यशक्तेः नियमनशक्त्या एकदेशसंभवम् इत्यर्थः ॥ ४१ ॥

जो-जो विभूतियुक्त—ऐश्वर्ययुक्त भूतसमुदाय है, अथवा श्रीमान्—कान्तिमान् धन-धान्यसे समृद्ध है या ऊर्जित—कल्याणप्राप्तिके उद्योगमें संलग्न है, उस-उसको तू मेरे तेजके अंशकी अभिव्यक्ति समझ ।

दूसरोंको पराभूत करनेकी सामर्थ्यका नाम तेज है । अभिप्राय यह है कि उसे तू मुझ अचिन्त्यशक्ति परमेश्वरकी नियमनशक्तिके द्वारा मेरे एक देशकी अभिव्यक्ति समझ ॥ ४१ ॥

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञानेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥४२॥

अथवा अर्जुन ! इस बहुत जाननेसे तुझे क्या (प्रयोजन) है ? इस सम्पूर्ण जगत्‌को मैं (अपने) एक अंशसे धारण करके स्थित हूँ ॥ ४२ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

बहुना एतेन **उच्यमानेन** ज्ञानेन किं **प्रयोजनम्?** इदं **चिदचिदात्मकं** कृत्स्नं जगत् **कार्यावस्थं कारणावस्थं स्थूलं सूक्ष्मं च स्वरूपसद्भावे स्थितौ प्रवृत्तिभेदे च यथा मत्संकल्पं न अतिवर्तेत तथा मम महिम्नः अयुतायुतांशेन** विष्टभ्य अहम् **अवस्थितः । यथा उक्तं भगवता पराशरेण**—*'यस्यायुतायुतांशांशे विश्वशक्तिरियं स्थिता ।'* (*वि० पु० १ । ९ । ५३*) **इति** ॥४२॥

इति श्रीमद्भगवद्रामानुजाचार्यविरचिते श्रीमद्भगवद्गीताभाष्ये दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

इस बतलाये जानेवाले बहुतेरे ज्ञानसे तुझे क्या प्रयोजन है ? कारणरूपमें या कार्यरूपमें स्थित हुआ यह जड-चेतनरूप सारा स्थूल-सूक्ष्म जगत् अपने स्वरूपके सद्भावमें, स्थितिमें तथा प्रवृत्तिभेदमें भी जिस प्रकार मेरे संकल्पका उल्लङ्घन न कर सके, उस प्रकार मैं अपनी महिमाके हजारों, लाखों अंशोंके एक अंशमात्रसे इसे धारण करके स्थित हूँ । जैसे कि भगवान् पराशरजीने कहा है—**'जिसके दस हजार भागमेंसे एक भागके फिर दस हजार भाग करनेपर बचे हुए अंशमात्रमें समस्त विश्वशक्ति स्थित है'** ॥ ४२ ॥

इस प्रकार श्रीमान् भगवान् रामानुजाचार्यद्वारा रचित गीताभाष्यके हिन्दी-भाषानुवादका दसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १० ॥

ॐ

ग्यारहवाँ अध्याय

एवं भक्तियोगनिष्पत्तये तद्विवृद्धये च सकलेतरविलक्षणेन स्वाभाविकेन भगवदसाधारणेन कल्याणगुणगणेन सह भगवतः सर्वात्मत्वं तद्व्यतिरिक्तस्य कृत्स्नस्य चिदचिदात्मकस्य वस्तुजातस्य तच्छरीरतया तदायत्तस्वरूपस्थितिप्रवृत्तित्वं च उक्तम्।

तम् एतं भगवदसाधारणस्वभावं कृत्स्नस्यतदायत्तस्वरूपस्थितिप्रवृत्तितां च भगवत्सकाशाद् उपश्रुत्य एवम् एव इति निश्चित्य तथाभूतं भगवन्तं साक्षात्कर्तुकामः अर्जुन उवाच। तथा एव भगवत्प्रसादाद् अनन्तरं द्रक्ष्यति '*सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम्॥*' '*तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।*' (११।११, १३) इति हि वक्ष्यते।

इस प्रकार भक्तियोगकी सिद्धि और उसकी वृद्धिके लिये अन्य सबसे विलक्षण भगवान्‌के असाधारण स्वाभाविक कल्याणमय गुणगणोंके सहित भगवान्‌की सर्वात्मताका वर्णन हुआ तथा भगवान्‌से अतिरिक्त सम्पूर्ण जड-चेतन वस्तुमात्र उनका ही शरीर होनेके कारण सबके स्वरूपकी स्थिति और प्रवृत्तिके आधार भगवान् ही हैं, यह बात भी कही गयी।

भगवान्‌के इस असाधारण स्वभावको और समस्त जगत्‌की स्वरूप-स्थिति और प्रवृत्ति उन्हींके आश्रित हैं, इस बातको भगवान्‌से सुनकर 'यह इसी प्रकार ठीक है' ऐसा निश्चय करके वैसे भगवान्‌को प्रत्यक्ष देखनेकी इच्छावाला अर्जुन बोला। भगवान्‌की कृपासे अब अर्जुन वैसा ही देखेगा। क्योंकि '**सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम्॥**' '**तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।**' ऐसा आगे कहेंगे।

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम॥ १॥

अर्जुन बोला—मेरे अनुग्रहके लिये अध्यात्म नामक जो परमगुह्य वचन आपने कहा है, उससे मेरा यह मोह दूर हो गया है॥ १॥

देहात्माभिमानरूपमोहेन मोहितस्य मम अनुग्रहैकप्रयोजनाय परमं गुह्यं **परमं रहस्यम्** अध्यात्मसंज्ञितम् **आत्मनि वक्तव्यं** वचः *'न त्वेवाहं जातु नासम्'* (२ । १२) **इत्यादि** *'तस्माद्योगी भवार्जुन'* (६ । ४६) **इत्येतदन्तं** यत् त्वया उक्तम्, तेन अयं मम **आत्मविषयो** मोहः **सर्वो** विगतः **दूरतो निरस्तः** ॥ १ ॥

देहमें आत्माभिमानरूप मोहसे मोहित हुए मुझ दासपर केवल अनुग्रह करनेके उद्देश्यसे ही जो आपने **'न त्वेवाहं जातु नासम्'** यहाँसे लेकर **'तस्माद्योगी भवार्जुन'** तक परमगुह्य—परम रहस्यमय अध्यात्मसंज्ञक यानी आत्मविषयमें कहने योग्य वचन कहे हैं, उनसे यह मेरा आत्मविषयक मोह संपूर्ण नष्ट हो गया—उसका अत्यन्त अभाव हो गया है ॥ १ ॥

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥ २ ॥

कमलपत्राक्ष ! आपसे भूतोंकी उत्पत्ति एवं प्रलय होते हैं, यह बात और आपका अविनाशी माहात्म्य भी निस्सन्देह मेरेद्वारा विस्तारपूर्वक सुने गये ॥ २ ॥

तथा सप्तमप्रभृति दशमपर्यन्तं त्वद्व्यतिरिक्तानां सर्वेषां भूतानां त्वत्तः **परमात्मनो** भवाप्ययौ **उत्पत्तिप्रलयौ** विस्तरशः मया श्रुतौ । **हे** कमलपत्राक्ष **तव** अव्ययं **नित्यं सर्वचेतनाचेतनवस्तुशेषित्वं ज्ञानबलादिकल्याणगुणगणैः तव एव परतरत्वं सर्वाधारत्वं चिन्तितनिमिषितादिसर्वप्रवृत्तिषु तव एव प्रवर्तयितृत्वम्,**

तथा सातवें अध्यायसे लेकर दसवें अध्यायतक मैंने आपके अतिरिक्त समस्त भूतोंकी उत्पत्ति और प्रलय आपसे ही होते हैं, यह बात भी विस्तारसे सुनी । तथा हे कमलनयन ! मैंने आपसे आपका अविनाशी प्रभाव भी सुना—समस्त जड-चेतनका शेषित्व (स्वामित्व), ज्ञान और बल आदि कल्याणमय गुणगणोंके नाते सबकी अपेक्षा आपका अतिशय श्रेष्ठत्व और सर्वाधारत्व एवं चिन्तन तथा पलक मारनेतककी सम्पूर्ण प्रवृत्तियोंमें आपकी

इत्यादि अपरिमितं माहात्म्यं च श्रुतम् हि शब्दो वक्ष्यमाणदिदृक्षाद्योतनार्थः ॥ २ ॥

ही प्रवर्तकता है, इत्यादि आपका अपरिमित माहात्म्य भी सुना। यहाँ 'हि' शब्द आगे कही जानेवाली देखनेकी इच्छाका द्योतक है ॥ २ ॥

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ ३ ॥

परमेश्वर ! जैसा आप अपनेको बतलाते हैं, यह ऐसा ही है, (इसलिये) पुरुषोत्तम ! मैं आपके ऐश्वर रूपको देखना चाहता हूँ ॥ ३ ॥

हे परमेश्वर एवम् एतद् इति अवधृतं यथा आत्थ त्वम् आत्मानं ब्रवीषि। पुरुषोत्तम आश्रितवात्सल्यजलधे तव ऐश्वरं त्वदसाधारणं सर्वस्य प्रशासितृत्वे पालयितृत्वे स्रष्टृत्वे संहर्तृत्वे भर्तृत्वे कल्याणगुणाकरत्वे परतरत्वे सकलेतरविसजातीयत्वे च अवस्थितं रूपं द्रष्टुं साक्षात्कर्तुम् इच्छामि ॥३॥

हे परमेश्वर ! आपने अपनेको जैसा बतलाया है यह सब ऐसा ही है, यह मैंने निश्चय कर लिया है। पुरुषोत्तम—शरणागतवत्सलताके समुद्र ! आपका ऐश्वर्ययुक्त असाधारण रूप जो कि सबका शासक, पालक, सृजनकर्ता, संहारकर्ता, पोषक, कल्याणमय गुणोंकी खान, सबसे परमश्रेष्ठ तथा अन्य सबसे विजातीय (विलक्षण) रूपमें स्थित है, उसको (मैं) देखना—साक्षात् करना चाहता हूँ ॥ ३ ॥

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥ ४ ॥

प्रभो ! यदि आप ऐसा मानते हैं कि मेरेद्वारा वह (आपका ऐश्वर रूप) देखा जाना संभव है तो योगेश्वर ! आप मुझे अपने रूपको पूर्णतया दिखलाइये ॥ ४ ॥

तत् **सर्वस्य स्रष्टृ सर्वस्य प्रशासितृ सर्वस्य आधारभूतं त्वद्रूपं** मया द्रष्टुं शक्यम् इति यदि मन्यसे, ततो योगेश्वर **योगो ज्ञानादिकल्याणगुणयोगः** 'पश्य मे योगमैश्वरम्' (११ । ८) **इति हि वक्ष्यते । त्वद्व्यतिरिक्तस्य कस्य अपि असंभावितानां ज्ञानबलैश्वर्यवीर्यशक्तितेजसां निधे** आत्मानं **त्वाम्** अव्ययं मे दर्शय त्वम् **अव्ययम् इति क्रियाविशेषणम्; त्वां सकलं मे दर्शय इत्यर्थः** ॥ ४ ॥

ऐसा सबका स्रष्टा, सबका शासक और सबका आधारभूत आपका रूप मुझसे देखा जा सकता है, यह बात यदि आप मानते हों तो योगेश्वर ! अपनेसे अतिरिक्त अन्य किसीमें भी सम्भव नहीं, ऐसे ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, शक्ति और तेज आदि गुणोंके भण्डार ! अपने रूपको मुझे पूर्णतया दिखलाइये । यहाँ 'योग' शब्दसे ज्ञान आदि कल्याणमय गुणोंका संयोग विवक्षित है । क्योंकि **'पश्य मे योगमैश्वरम्'** यह बात आगे कहेंगे । 'अव्ययम्' यह क्रियाविशेषण है । इसलिये यह अभिप्राय है कि अपने रूपका मुझे पूर्णतया दर्शन कराइये ॥ ४ ॥

एवं कौतूहलान्वितेन हर्षगद्गदकण्ठेन पार्थेन प्रार्थितो भगवान् उवाच—

इस प्रकार कौतूहलसे युक्त और हर्षके कारण गद्गदकण्ठ हुए अर्जुनके द्वारा प्रार्थना किये जानेपर भगवान् बोले—

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥ ५ ॥

श्रीभगवान् बोले—अर्जुन ! तू मेरे नाना प्रकारके दिव्य, नाना वर्ण और आकारवाले सैकड़ों तथा हजारों रूपोंको देख ॥ ५ ॥

पश्य मे **सर्वाश्रयाणि** रूपाणि अथ शतशः सहस्रशः **च** नानाविधानि **नानाप्रकाराणि** दिव्यानि **अप्राकृतानि**

सबको आश्रय देनेवाले मेरे सैकड़ों और हजारों नाना प्रकारवाले दिव्य—अप्राकृत, नानावर्ण और आकृतिवाले—

नानावर्णाकृतीनि **शुक्लकृष्णादिनानावर्णानि नानाकाराणि** च पश्य ॥५॥

श्वेत-कृष्ण इत्यादि नाना वर्णोंवाले और नाना आकारवाले रूपोंको देख ॥५॥

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥ ६ ॥

अर्जुन ! आदित्यों, वसुओं, रुद्रों, अश्विनीकुमारों और मरुतोंको तू देख और बहुत-से पूर्वमें (इससे पहले) न देखे हुए आश्चर्यमय रूपोंको देख ॥ ६ ॥

मम एकस्मिन् रूपे पश्य आदित्यान् **द्वादश,** वसून् **अष्टौ,** रुद्रान् **एकादश,** अश्विनौ **द्वौ,** मरुतः **च एकोनपञ्चाशतम्; प्रदर्शनार्थमिदम्; इह जगति प्रत्यक्षदृष्टानि शास्त्रदृष्टानि च यानि वस्तूनि तानि सर्वाणि अन्यानि अपि सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु च शास्त्रेषु** अदृष्टपूर्वाणि बहूनि आश्चर्याणि पश्य ॥ ६ ॥

मेरे एक ही रूपमें बारह आदित्योंको, आठ वसुओंको, ग्यारह रुद्रोंको, दोनों अश्विनीकुमारोंको और उनचास मरुतोंको देख । यह कहना केवल उपलक्षणके लिये है । अभिप्राय यह है कि इस लोकमें प्रत्यक्ष देखे हुए और शास्त्रोंके द्वारा देखे हुए जो पदार्थ हैं, उन सबको तथा सब लोकोंमें एवं सब शास्त्रोंमें जो पहले देखनेमें नहीं आये, ऐसे बहुत-से अन्यान्य आश्चर्योंको भी तू देख ॥६॥

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥ ७ ॥

गुडाकेश ! तू आज यहाँ मेरे शरीरके एक देशमें स्थित चराचरके सहित समूचे जगत्‌को तथा और भी जो कुछ देखना चाहता है (उसे) देख ॥ ७ ॥

इह मम **एकस्मिन्** देहे **तत्र अपि** एकस्थम् **एकदेशस्थं** सचराचरं कृत्स्नं जगत् पश्य । यत् च अन्यद् द्रष्टुम् इच्छसि **तद् अपि एकदेहैकदेशे एव पश्य** ॥ ७ ॥

इस मेरे एक शरीरमें, वहाँ भी एक देशमें स्थित चराचरसहित समूचे जगत्‌को देख । और भी जो कुछ देखना चाहता है, वह भी एक शरीरके एक देशमें ही देख ले ॥ ७ ॥

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ ८ ॥

परन्तु अपने इसी नेत्रसे तू मुझे देखनेमें समर्थ नहीं है। (अतएव) मैं तुझे दिव्य नेत्र देता हूँ (उनसे) तू मेरे ऐश्वर योग और विभूतियोगको भी देख ॥८॥

अहं मम देहैकदेशे सर्वं जगद् दर्शयिष्यामि, त्वं तु अनेन **नियमित-परिमितवस्तुग्राहिणा प्राकृतेन** स्वचक्षुषा मां **तथाभूतं सकलेतरविसजातीयम् अपरिमेयं** द्रष्टुं न शक्यसे । **तव** दिव्यम् **अप्राकृतं मद्दर्शनसाधनं** चक्षुः ददामि । पश्य मे योगम् ऐश्वरं **मदसाधारणं योगं पश्य, मम अनन्तज्ञानादियोगम् अनन्तविभूतियोगं च पश्य इत्यर्थः** ॥ ८ ॥

मैं अपने शरीरके एक देशमें सम्पूर्ण जगत् तुझे दिखलाऊँगा। परन्तु तू नियमित परिमित वस्तुओंको ग्रहण कर सकनेवाले इन प्राकृत नेत्रोंके द्वारा अन्य सबसे विजातीय (विलक्षण) उपर्युक्त मुझ अपरिमेय ईश्वरको नहीं देख सकेगा। इसलिये मैं तुझे दिव्य—अप्राकृत और मुझे देख सके—ऐसे नेत्र देता हूँ। उनसे तू मेरे योग और ऐश्वरको देख अर्थात् मेरे अनन्त ज्ञान आदि गुणोंसे युक्त असाधारण योगको देख और अनन्त विभूतियोगको भी देख ॥८॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥

संजय बोला—राजा धृतराष्ट्र ! इतना कहकर उसके बाद महायोगेश्वर हरिने अर्जुनको अपना परम ऐश्वर रूप दिखलाया ॥ ९ ॥

एवम् उक्त्वा **सारथ्ये अवस्थितः पार्थमातुलजो** महायोगेश्वरो हरिः **महाश्चर्ययोगानाम् ईश्वरः परब्रह्मभूतो**

इस प्रकार कहनेके पश्चात् सारथिके रूपमें स्थित अर्जुनके मामाके पुत्र महायोगेश्वर—महान् आश्चर्यमय योगोंके ईश्वर श्रीहरि—साक्षात् परब्रह्मरूप नारायण

नारायणः परमम् ऐश्वरं स्वासाधारणं रूपं पार्थाय पितृष्वसुः पृथायाः पुत्राय दर्शयामास तद् विविधविचित्र-निखिलजगदाश्रयं विश्वस्य प्रशासितृ च रूपम् ॥ ९ ॥

श्रीकृष्णने अपने पिताकी बहिन पृथाके पुत्र अर्जुनको परम ऐश्वर्ययुक्त अपना असाधारण रूप दिखलाया—इस विचित्र अखिल जगत्का आधार और सम्पूर्ण विश्वका शासक अपना आगे बताया जानेवाला रूप दिखलाया ॥९॥

तत् च ईदृशम्—

तथा वह रूप ऐसा था—

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥१०॥
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥११॥

(वह रूप) अनेक मुख-नेत्रोंवाला, अनेक अद्भुत दर्शनवाला, अनेक दिव्य भूषणोंवाला और अनेक दिव्य शस्त्रोंको उठाये हुए, दिव्य माला-वस्त्र धारण किये हुए, दिव्य गन्ध लेपन किये हुए सब प्रकारसे आश्चर्यमय, प्रकाशमय, अनन्तरूप और सब ओर मुखवाला था ॥ १०-११ ॥

देवं द्योतमानम् अनन्तं कालत्रयवर्तिनिखिलजगदाश्रयतया देशकालपरिच्छेदानर्हं विश्वतोमुखं विश्वदिग्वर्तिमुखं स्वोचितदिव्याम्बरगन्धमाल्याभरणायुधान्वितम् ॥ १०-११ ॥

देव—प्रकाशमान, अनन्त—तीनों कालोंमें वर्तमान सम्पूर्ण जगत्का आधार होनेसे देशकालकी सीमामें न आनेयोग्य विश्वतोमुख—सम्पूर्ण दिशाओंकी ओर वर्तमान मुखवाला, स्वोचित (भगवान्के अनुरूप) दिव्य वस्त्र, गन्ध, माला, आभूषण और आयुधोंसे युक्त था ॥ १०-११ ॥

ताम् एव देवशब्दनिर्दिष्टां द्योतमानतां विशिनष्टि—

'देव'शब्दसे बतलायी हुई उस प्रकाशमानताको ही विस्तारसे कहते हैं—

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥१२॥

आकाशमें यदि सहस्र सूर्योंकी प्रभा एक साथ उदय हो जाय, तो वह उस महात्माकी प्रभाके सदृश शायद हो सकती है ॥ १२ ॥

तेजसः अपरिमितत्वदर्शनार्थम् इदम् । **अक्षयतेजःस्वरूपम् इत्यर्थः** ॥ १२ ॥

यह श्लोक भगवान्‌के तेजकी अपरिमितता दिखलानेके लिये है । अभिप्राय यह है कि भगवान्‌का स्वरूप अक्षय तेजसे युक्त है ॥ १२ ॥

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥१३॥

तब अर्जुनने वहाँ देवदेव (श्रीकृष्ण) के शरीरमें एक देशमें स्थित अनेक प्रकारसे विभक्त हुए समस्त जगत्‌को देखा ॥ १३ ॥

तत्र **अनन्तायामविस्तारे अनन्तबाहूदरवक्त्रनेत्रे अपरिमिततेजस्के अपरिमितदिव्यायुधोपेते स्वोचितापरिमितदिव्यभूषणे दिव्यमाल्याम्बरधरे दिव्यगन्धानुलेपने अनन्ताश्चर्यमये** देवदेवस्य **दिव्ये** शरीरे अनेकधा प्रविभक्तं **ब्रह्मादिविविधविचित्रदेवतिर्यङ्मनुष्यस्थावरादिभोक्तृवर्गपृथिव्यन्तरिक्षस्वर्गपातालातलवितलसुतलादिभोगस्थानभोग्यभोगोपकरणभेद-**

उस अनन्त लंबाई और विस्तारवाले अनन्त बाहु, उदर, मुख और नेत्रोंवाले अपार तेजपूर्ण अपरिमित दिव्य शस्त्रोंसे युक्त भगवान्‌के अपने ही योग्य अपरिमित दिव्य भूषणोंसे युक्त, दिव्य माला और वस्त्र धारण किये हुए दिव्य गन्धके अनुलेपनसे युक्त, अनन्त आश्चर्यमय देवदेव भगवान्‌के दिव्य शरीरमें अनेक प्रकारसे विभक्त— ब्रह्मादि विविध विचित्र देवता, तिर्यक्, मनुष्य, स्थावरादि भोक्तृवर्ग तथा पृथ्वी, अन्तरिक्ष, स्वर्ग, पाताल, अतल, वितल और सुतल आदि भोगस्थान एवं भोग्य भोगसामग्रियोंके भेदसे विभिन्न

भिन्नं प्रकृतिपुरुषात्मकं कृत्स्नं जगत् 'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।' (१०।८) 'हन्त ते कथयिष्यामि विभूतीरात्मनः शुभाः ।' (१०।१९) 'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।' (१०।२०) 'आदित्यानामहं विष्णुः' (१०।२१) **इत्यादिना** 'न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ।' (१०।३९) 'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥' (१०।४२) **इत्यन्तेन उदितम्;** एकस्थम् **एकदेशस्थं** पाण्डवः **भगवत्प्रसादलब्धतद्दर्शनानुगुणदिव्यचक्षुः** अपश्यत् ॥ १३ ॥

प्रकृति और पुरुषरूप इस सारे जगत्को अर्जुनने देखा । अर्थात् **'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।' 'हन्त ते कथयिष्यामि विभूतीरात्मनः शुभाः ।' 'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः' 'आदित्यानामहं विष्णुः'** यहाँसे लेकर **'न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्' 'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्'** तक जिसका वर्णन किया गया है, उस समस्त विश्वको पाण्डुपुत्र अर्जुनने, जिसको भगवान्की कृपासे उनके दिव्यरूप-दर्शनके योग्य दिव्य चक्षु मिल चुके हैं, एकस्थ—(भगवान्के शरीरमें) एक देशमें स्थित देखा ॥ १३ ॥

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥ १४ ॥

तब वह विस्मयसे पूर्ण और रोमाञ्चसे युक्त अर्जुन श्रीकृष्णको सिरसे प्रणाम करके हाथ जोड़े हुए बोला—॥ १४ ॥

ततः धनंजयः **महाश्चर्यस्य कृत्स्नस्य जगतः स्वदेहैकदेशेन आश्रयभूतं कृत्स्नस्य प्रवर्तयितारं च आश्चर्यतमानन्तज्ञानादिकल्याणगुणगणं** देवं **दृष्ट्वा** विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा शिरसा **दण्डवत्** प्रणम्य कृताञ्जलिः अभाषत ॥ १४ ॥

फिर वह अर्जुन महान् आश्चर्यमय सम्पूर्ण जगत्का अपने शरीरके एक देशसे ही आधार बने हुए तथा सबका प्रवर्तन करनेवाले और अत्यन्त आश्चर्यपूर्ण अनन्त ज्ञानादि कल्याणमय गुणगणोंसे समन्वित परमदेव भगवान्को देखकर विस्मयसे भर गया और रोमाञ्चयुक्त हुआ सिरसे दण्डवत्-प्रणाम करके हाथ जोड़े हुए बोला—॥ १४ ॥

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दीप्तान् ॥ १५ ॥

अर्जुन बोला—देव ! आपके देहमें सब देवताओंको, प्राणियोंके विभिन्न समूहोंको, ब्रह्माको, कमलासन ब्रह्माके मतमें रहनेवाले महादेवको, समस्त ऋषियोंको और तेजस्वी सर्पोंको मैं देख रहा हूँ ॥ १५ ॥

देव तव देहे सर्वान् देवान् पश्यामि, तथा **सर्वान् प्राणिविशेषाणां** संघान्, **तथा** ब्रह्माणं **चतुर्मुखम् अण्डाधिपतिम्, तथा** ईशं कमलासनस्थं **कमलासने ब्रह्मणि स्थितम् ईशं तन्मते अवस्थितं तथा देवर्षिप्रमुखान्** सर्वान् ऋषीन्, उरगान् च **वासुकितक्षकादीन्** दीप्तान् ॥ १५ ॥

देव ! मैं आपके शरीरमें सम्पूर्ण देवताओंको देख रहा हूँ तथा विभिन्न प्रकारके प्राणियोंके समस्त समुदायोंको, तथा ब्रह्माण्डके स्वामी चतुर्मुख ब्रह्माको वैसे ही कमलासनस्थ ईशको—कमलासन ब्रह्मामें स्थित यानी उसके मतमें स्थित ईश (महादेव) को, तथा देवर्षि नारद प्रभृति समस्त ऋषियोंको और वासुकि, तक्षक आदि तेजस्वी सर्पोंको देख रहा हूँ ॥ १५ ॥

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥ १६ ॥

आपको मैं अनेक बाहु, उदर, मुख, नेत्रोंसे युक्त तथा सब ओरसे अनन्त रूपवाले देख रहा हूँ । विश्वेश्वर ! विश्वरूप ! मैं न आपके अन्तको देख पाता हूँ, न मध्यको और न आदिको ही ॥ १६ ॥

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रम् अनन्तरूपं त्वां सर्वतः पश्यामि । विश्वेश्वर **विश्वस्य नियन्तः** विश्वरूप **विश्वशरीर यतः त्वम् अनन्तः, अतः तव** न अन्तं न मध्यं न पुनः तव आदिं **च** पश्यामि ॥ १६ ॥

आपको अनेकों बाहु, उदर, मुख और नेत्रोंसे युक्त सब ओरसे अनन्त रूपवाले देख रहा हूँ । विश्वेश्वर ! विश्वके नियन्ता ! और विश्वशरीर ! आप असीम हैं; अतएव मैं आपका अन्त, मध्य और आदि नहीं देख पा रहा हूँ ॥ १६ ॥

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता-
द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥ १७ ॥

तेजके पुञ्ज, सब ओरसे देदीप्यमान, सब ओरसे कठिनतापूर्वक देखे जानेवाले, प्रज्वलित अग्नि तथा सूर्यकी-सी प्रभावाले और अप्रमेयस्वरूप आपको मैं किरीट, गदा एवं चक्र धारण किये देखता हूँ ॥ १७ ॥

तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तं समन्ताद् दुर्निरीक्ष्यं दीप्तानलार्कद्युतिम् अप्रमेयं त्वां किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च पश्यामि ॥ १७ ॥

मैं आपको तेजकी राशि, सब ओरसे देदीप्यमान, सब ओरसे देखे जानेमें बहुत कठिन—प्रदीप्त अग्नि और सूर्यके समान तेजवाले अप्रमेयस्वरूप तथा मुकुटधारी, गदाधारी और चक्रधारी भी देख रहा हूँ ॥ १७ ॥

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥ १८ ॥

आप जानने योग्य परम अक्षर हैं; आप इस विश्वके परम निधान हैं; आप अविनाशी हैं, शाश्वत धर्मके रक्षक हैं और सनातन पुरुष हैं। इस प्रकार मैंने आपको जाना है ॥ १८ ॥

उपनिषत्सु *'द्वे विद्ये वेदितव्ये'* *(मु० उ० १ । १ । ४)* **इत्यादिषु वेदितव्यतया निर्दिष्टं** परमम् अक्षरं त्वम् **एव**। अस्य विश्वस्य परं निधानं **विश्वस्य अस्य परमाधारभूतः** त्वम् **एव,** त्वम् अव्ययः **व्ययरहितः, यत्स्वरूपो यद्गुणो यद्विभवश्च त्वं तेन एव रूपेण सर्वदा अवतिष्ठसे,** शाश्वतधर्मगोप्ता **शाश्वतस्य नित्यस्य वैदिकस्य धर्मस्य एवमादिभिः अवतारैः त्वम् एव गोप्ता**। सनातनः त्वं पुरुषो मतो मे *'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्' (यजुःसंहिता ३१ । १८) 'परात्परं पुरुषम्' (मु० उ० ३ । २ । ८)* **इत्यादिषु उदितः सनातनपुरुषः त्वम् एव इति मे मतो ज्ञातः। यदुकुलतिलकः त्वम् एवंभूत इदानीं साक्षात्कृतो मया इत्यर्थः** ॥ १८ ॥

'दो विद्याएँ जानने योग्य हैं' इत्यादि उपनिषद्-वाक्योंमें जानने योग्य बतलाया हुआ परम अक्षर आप ही हैं। इस विश्वके परम निधान—इस विश्वके परम आधाररूप आप ही हैं। आप अविनाशी—नाशरहित हैं। अभिप्राय यह है कि आप जैसे रूपवाले, जिन गुणोंसे युक्त और जिस प्रकारके वैभवसे युक्त हैं उसी रूपमें सदा रहते हैं। आप शाश्वत धर्मके रक्षक हैं—इस प्रकारके अवतार धारण करके सनातन, नित्य वैदिक धर्मकी आप ही रक्षा किया करते हैं। मेरे मतसे आप सनातन पुरुष हैं—**'मैं इस महापुरुषको जानता हूँ।' 'परात्पर—श्रेष्ठसे भी श्रेष्ठ पुरुषको (प्राप्त होता है)'** इत्यादि श्रुति-वाक्योंमें कहे हुए सनातन पुरुष आप ही हैं, इस प्रकार मैंने आपको जाना है। तात्पर्य यह है कि यदुकुलतिलक आपको मैंने ऐसे प्रभावशाली रूपमें इस समय प्रत्यक्ष देखा है ॥ १८ ॥

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-

मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।

पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥ १९ ॥

मैं आपको आदि, मध्य और अन्तसे रहित, अनन्त शक्तिशाली और अनन्त भुजाओंसे युक्त चन्द्र-सूर्यके समान नेत्रवाले, प्रज्वलित अग्निके समान मुखवाले और अपने तेजसे इस विश्वको तपाते हुए देख रहा हूँ ॥ १९ ॥

अनादिमध्यान्तम् **आदिमध्यान्तरहितम्,** अनन्तवीर्यम् **अनवधिकातिशयवीर्यम्, वीर्यशब्दः प्रदर्शनार्थः, अनवधिकातिशयज्ञानबलैश्वर्यशक्तितेजसां निधिम् इत्यर्थः ।** अनन्तबाहुम् **असंख्येयबाहुम्, सोऽपि प्रदर्शनार्थः, अनन्तबाहूदरपादवक्त्रादिकः,** शशिसूर्यनेत्रं **शशिवत् सूर्यवत् च प्रसादप्रतापयुक्तसर्वनेत्रम्, देवादीन् अनुकूलान् नमस्कारादि कुर्वाणान् प्रति प्रसादः, तद्विपरीतान् असुरराक्षसादीन् प्रति प्रतापः;** *'रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ॥' (११ । ३६)* **इति हि वक्ष्यते ।**

मैं आपको अनादिमध्यान्त—आदि, मध्य और अन्तसे रहित और अनन्तवीर्य—असीम एवं अतिशय वीर्य (सामर्थ्य) से युक्त (देख रहा हूँ) । यहाँ 'वीर्य' शब्द अन्य शक्तियोंके उपलक्षणके लिये है । अभिप्राय यह है कि मैं आपको असीम अतिशय ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, शक्ति और तेजके भण्डाररूप देख रहा हूँ । तथा अनन्तबाहु—असंख्य भुजाओंसे युक्त (देख रहा हूँ) । यह कथन भी उपलक्षणके लिये ही है, अभिप्राय यह है कि अनन्त भुजा, उदर, पैर और मुख आदिसे युक्त (देख रहा हूँ) । तथा चन्द्रमा और सूर्यके समान प्रसाद (शीतलता) एवं प्रखर तापवाले समस्त नेत्रोंसे युक्त (देख रहा हूँ) । अपने अनुकूल रहने और नमस्कार आदि करनेवाले देवादिके प्रति आपकी दृष्टिका प्रसाद है और उनसे विपरीत असुर-राक्षसादिके प्रति आपकी दृष्टि प्रताप (संताप) फैलाती है ? ऐसी ही बात आगे कहेंगे भी—**'रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ॥'**

दीप्तहुताशवक्त्रं **प्रदीप्तकालानलवत् संहारानुगुणवक्त्रम्,** स्वतेजसा विश्वम् इदं तपन्तम्—**तेजः पराभिभवनसामर्थ्यम्, स्वकीयेन तेजसा विश्वम् इदं तपन्तं** त्वां पश्यामि । **एवंभूतं सर्वस्य स्रष्टारम्, सर्वस्य आधारभूतं सर्वस्य प्रशासितारम्, सर्वस्य संहर्तारम्, ज्ञानाद्यपरिमितगुणसागरम्, आदिमध्यान्तरहितम् एवंभूतदिव्यदेहं त्वां यथोपदेशं साक्षात्करोमि इत्यर्थः ।**

एकस्मिन् दिव्यदेहे अनेकोदरादिकं कथम् ?

इत्थम् उपपद्यते-एकस्मात् कटिप्रदेशाद् अनन्तपरिमाणाद् ऊर्ध्वम् उद्गता यथोदितदिव्योदरादयः, अधश्च यथोदितदिव्यपादाः, तत्र एकस्मिन् मुखे नेत्रद्वयम् इति च न विरोधः ॥ १९ ॥

तथा मैं आपको प्रज्वलित अग्निके समान मुखवाले—प्रलयकालीन प्रदीप्त अग्निके समान सबका संहार करनेमें समर्थ मुखोंसे युक्त (देख रहा हूँ)। इसी प्रकार अपने तेजसे इस विश्वको तपाते हुए देखता हूँ—दूसरोंको पराभूत करनेकी सामर्थ्यका नाम तेज है, सो अपने तेजके द्वारा इस समस्त विश्वको तपाते हुए आपको मैं देख रहा हूँ। अभिप्राय यह है कि इस प्रकार सबके स्रष्टा, सबके आधाररूप, सबके शासक, सबके संहारकर्ता, ज्ञान आदि अपरिमित गुणोंके समुद्र, आदि-मध्य और अन्तसे रहित ऐसे दिव्य देहसे युक्त आपको जैसा मुझे उपदेश मिला था, वैसे ही रूपमें साक्षात् देख रहा हूँ।

शङ्का—एक ही दिव्य शरीरमें अनेक उदर आदिका होना कैसे सम्भव है ?

उत्तर—इस प्रकार सम्भव है—अनन्त परिमाणवाले एक कटिप्रदेशसे ऊपरकी ओर प्रकट हुए पूर्वोक्त अनेक दिव्य उदर आदि हो सकते हैं, तथा नीचेकी ओर उपर्युक्त अनेक दिव्य पैर भी हो सकते हैं। फिर प्रत्येक मुखमें दो नेत्र हो सकते हैं, इसमें भी कोई विरोध नहीं है ॥१९॥

एवंभूतं त्वां दृष्ट्वा देवादयः अहं च प्रव्यथिता भवाम इति आह—

आपको ऐसे रूपसे युक्त देखकर देवादि और मैं भी—हम सभी अत्यन्त व्यथित हो रहे हैं, यह कहते हैं—

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥ २० ॥

महात्मन् ! द्युलोक और पृथ्वीका यह मध्य भाग और सारी दिशाएँ एक आपसे ही व्याप्त हैं। आपके इस अद्भुत, उग्र रूपको देखकर तीनों लोक व्यथित हो रहे हैं ॥ २० ॥

द्युशब्दः पृथिवीशब्दश्च उभौ उपरितनानाम् अधस्तनानां च लोकानां प्रदर्शनार्थौ; द्यावापृथिव्योः अन्तरम् **अवकाशः, यस्मिन् अवकाशे सर्वे लोकाः तिष्ठन्ति, सर्वः अयम् अवकाशः** दिशश्च सर्वाः त्वया एकेन **व्याप्ताः ।**

दृष्ट्वा अद्भुतं रूपम् उग्रं तव इदम्—

अनन्तायामविस्तारम् अत्यद्भुतम् अति उग्रं तव रूपं दृष्ट्वा लोकत्रयं प्रव्यथितम्—**युद्धदिदृक्षया आगतेषु ब्रह्मादिदेवासुरपितृगणसिद्धगन्धर्व-**

'द्यु' शब्द और 'पृथ्वी' शब्द—ये दोनों ही ऊपर और नीचेके सब लोकोंका संकेत करनेके लिये हैं। द्यु और पृथ्वी-के बीचका जो अवकाश है, जिस अवकाशमें समस्त लोक वर्तमान हैं, ऐसा यह समस्त अवकाश और समस्त दिशाएँ एक आपसे ही परिपूर्ण हो रही हैं।

महात्मन् ! जिसकी सीमा अथवा इयत्ता न बतायी जा सके ऐसी मनोवृत्ति-से युक्त (विशाल हृदयवाले) भगवन् ! आपके इस अद्भुत उग्र रूपको देखकर—अनन्त विस्तारवाले अति अद्भुत और अत्यन्त उग्र आपके रूपको देखकर तीनों लोक अत्यन्त व्यथित हो रहे हैं। अभिप्राय यह है कि युद्ध देखनेके लिये आये हुए ब्रह्मादि देवता, असुर, पितृ-

यक्षराक्षसेषु प्रतिकूलानुकूलमध्यस्थरूपं लोकत्रयं सर्वं प्रव्यथितम्, अत्यन्तभीतम्; महात्मन् अपरिच्छेद्यमनोवृत्ते।

एतेषाम् अपि अर्जुनस्य इव विश्वाश्रयरूपसाक्षात्कारसाधनं दिव्यं चक्षुः भगवता दत्तम्। किमर्थम् इति चेत्? अर्जुनाय स्वैश्वर्यं सर्वं प्रदर्शयितुम्; अत इदम् उच्यते—'दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्' इति॥ २०॥

गण, सिद्ध, गन्धर्व, यक्ष और राक्षसोंमें अनुकूल-प्रतिकूल और मध्यस्थरूप जो तीनों लोक हैं, वे सब-के-सब अत्यन्त व्यथित हो रहे हैं—बहुत डरे हुए हैं।

इन लोगोंको भी भगवान्‌ने अर्जुनकी भाँति विश्वके आश्रयरूप अपने स्वरूपका साक्षात् करनेके साधन दिव्य नेत्र प्रदान कर दिये थे। यदि कहा जाय कि किसलिये दे दिये थे; तो इसका उत्तर यह है कि अर्जुनको अपना सारा ऐश्वर्य दिखलानेके लिये दिये थे। इसीलिये यह कहा कि 'महात्मन्! आपके इस अद्भुत उग्र रूपको देखकर तीनों लोक अत्यन्त व्यथित हो रहे हैं'॥२०॥

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः॥ २१॥

ये देवताओंके संघ आपमें ही समा रहे हैं। कितने ही भयभीत हुए हाथ जोड़े स्तुति कर रहे हैं। महर्षियों और सिद्धोंके संघ 'कल्याण हो' ऐसा कहकर आपके अनुरूप बड़ी-बड़ी स्तुतियोंसे आपका स्तवन कर रहे हैं॥ २१॥

अमी सुरसंघाः उत्कृष्टाः त्वां विश्वाश्रयम् अवलोक्य हृष्टमनसः त्वत्समीपं विशन्ति। तेषु एव केचिद् अति उग्रम् अति अद्भुतं च तव आकारम्

ये श्रेष्ठ देव-समुदाय विश्वके आश्रयरूप आपको देखकर हर्षितचित्तसे आपके समीप आ रहे हैं। उनमें कितने ही तो अत्यन्त उग्र और अत्यन्त

आलोक्य भीताः प्राञ्जलयः **स्वज्ञानानुगुणं स्तुतिरूपाणि वाक्यानि** गृणन्ति **उच्चारयन्ति । अपरे** महर्षिसंघाः सिद्धसंघाः **च परावरतत्त्वयाथात्म्यविदः** स्वस्ति इति उक्त्वा पुष्कलाभिः **भगवदनुरूपाभिः** स्तुतिभिः स्तुवन्ति ॥२१॥

अद्भुत आपकी आकृतिको देखकर भयभीत हुए हाथ जोड़कर अपने-अपने ज्ञानके अनुसार स्तुतिरूप वचनोंका उच्चारण कर रहे हैं। दूसरे महर्षि और सिद्धोंके संघ, जो भले-बुरे तत्त्वको यथार्थ समझनेवाले हैं, वे 'स्वस्ति' (कल्याण हो) ऐसा कहकर आपके अनुरूप विस्तृत स्तोत्रोंद्वारा आपकी स्तुति कर रहे हैं ॥ २१ ॥

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥२२॥

रुद्र, आदित्य, वसु, साध्य, विश्वेदेव, दोनों अश्विनीकुमार, मरुत्, ऊष्मपा (पितृगण), गन्धर्व, यक्ष, असुर और सिद्धोंके समूह—ये सब-के-सब विस्मित हुए आपको देख रहे हैं ॥ २२ ॥

ऊष्मपाः **पितरः** *'ऊष्मभागा हि पितरः'* (*यजुः० १ । ३ । १० । ६१ । ३*) इति **श्रुतेः । एते** सर्वे **विस्मयम् आपन्नाः** त्वां वीक्षन्ते ॥२२॥

'ऊष्मपा' पितरोंका नाम है, क्योंकि श्रुतिमें **'पितर ऊष्मभागी होते हैं'** ऐसा कहा है। ये (इस श्लोकमें बतलाये हुए) सब-के-सब विस्मयमें भरकर आपको देख रहे हैं ॥ २२ ॥

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥ २३॥

महाबाहो ! बहुत मुख-नेत्रोंवाले, बहुत भुजा, जाँघ और पैरोंवाले, बहुत उदर-वाले और बहुत-सी दाढ़ोंके कारण भयानक आकारवाले, आपके महान् रूपको देखकर ये लोक और मैं सभी अत्यन्त व्यथित हो रहे हैं ॥ २३ ॥

बह्वीभिः दंष्ट्राभिः अतिभीषणाकारं लोकाः पूर्वोक्ताः प्रतिकूलानुकूल-मध्यस्थाः त्रिविधाः सर्व एव अहं **च तव इदम् ईदृशं** रूपं दृष्ट्वा **अतीव व्यथिता भवामः ॥ २३ ॥**

बहुत-सी दाढ़ोंके कारण भीषण आकारवाले आपके इस रूपको देखकर पूर्वोक्त प्रतिकूल, अनुकूल और मध्यस्थ तीनों प्रकारके लोग और मैं, हम सभी अत्यन्त भयभीत हो रहे हैं ॥ २३ ॥

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥२४॥

विष्णो ! आपको नभःस्पर्शी, प्रकाशमान, अनेक वर्णोंवाला, फैलाये हुए मुखोंवाला और प्रज्वलित विशाल नेत्रोंवाला देखकर अत्यन्त व्यथित चित्त हुआ मैं निस्सन्देह धृति और शान्तिको नहीं पा रहा हूँ ॥ २४ ॥

नभःशब्दः *'तदक्षरे परमे व्योमन्'* *(महाना० १ । २) 'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्' (श्वे० उ० ३ । ८; यजुः सं० ३१ १८) 'क्षयन्तमस्य रजसः पराके' (ऋक्सं० २ । ६ । २५ । ५) 'यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्' (ऋक्सं० ८ । ९ । १७ । ७)* **इत्यादिश्रुतिसिद्धत्रिगुणप्रकृत्यतीत-परमव्योमवाची, सविकारस्य प्रकृति-तत्त्वस्य पुरुषस्य च सर्वावस्थस्य,**

'वह अविनाशी परम व्योममें है' 'आदित्यके समान वर्णवाले और अन्धकार (माया) से अत्यन्त दूर' 'इस विनाशशील रजोमय लोकसे दूर रहनेवाले' जो इसका अध्यक्ष है वह परम व्योममें है, इत्यादि श्रुतियोंमें प्रसिद्ध त्रिगुणमयी प्रकृतिसे अतीत परम व्योम (नित्य भगवद्धाम) का वाचक यहाँ 'नभस्' शब्द है; क्योंकि विकारसहित प्रकृतितत्त्व और सब अवस्थाओंमें स्थित समस्त पुरुष-समुदायका आश्रयरूप बताकर यहाँ 'नभः-

कृत्स्नस्य आश्रयतया नभःस्पृशम् **इति वचनात्** । *'द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तम्'* (११ । २०) **इति पूर्वोक्तत्वात् च** ।

दीप्तम् अनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रं त्वां दृष्ट्वा प्रव्यथितान्तरात्मा **अत्यन्तभीतमना** धृतिं न विन्दामि, **देहस्य धारणं न लभे । मनसः च इन्द्रियाणां** च शमं **न लभे ।**

विष्णो **व्यापिन् सर्वव्यापिनम् अतिमात्रम् अत्यद्भुतम् अतिघोरं च त्वां दृष्ट्वा प्रशिथिलसर्वावयवो व्याकुलेन्द्रियः च भवामि इत्यर्थः** ॥२४॥

स्पृशम्' पदका प्रयोग किया गया है तथा **'द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन'** इस कथनसे प्राकृत आकाशकी बात तो पहले ही कह दी गयी है । (इससे भी यहाँ 'नभस्' शब्दका अर्थ उपर्युक्त ही सिद्ध होता है ।)

तेजसे जलते हुए, अनेक वर्णवाले, फैलाये हुए मुखोंवाले और प्रज्वलित विशाल नेत्रोंवाले आपको देखकर अत्यन्त व्यथित अन्तरात्मा—अत्यन्त भयभीत चित्तवाला मैं धृति नहीं पा रहा हूँ—देहको धारण नहीं कर पा रहा हूँ तथा मन और इन्द्रियोंकी शान्ति नहीं पा रहा हूँ ।

(अर्जुनके कथनका) अभिप्राय यह है कि विष्णो ! व्यापक परमेश्वर ! आपके सर्वव्यापी, अतिशय अत्यन्त अद्भुत और अत्यन्त घोर रूपको देखकर मेरे सारे अङ्गोपाङ्ग अत्यन्त शिथिल हो रहे हैं और इन्द्रियाँ व्याकुल हो रही हैं ॥२४॥

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥२५॥

आपके प्रलयानलके समान और विकराल दाढ़ोंवाले मुखोंको देखकर न

मुझे दिशाएँ सूझती हैं और न शान्ति ही पाता हूँ। जगन्निवास ! देवेश ! आप प्रसन्न होइये ॥ २५ ॥

युगान्तकालानलवत् सर्वसंहारे प्रवृत्तानि अतिघोराणि तव मुखानि दृष्ट्वा दिशो न जाने सुखं च न लभे। **जगतां** निवास देवेश **ब्रह्मादीनाम् ईश्वराणाम् अपि परममहेश्वर मां प्रति प्रसन्नो भव; यथा अहं प्रकृतिं गतो भवामि, तथा कुरु इत्यर्थः ॥ २५ ॥**

प्रलयकालीन अग्निके समान सबका संहार करनेमें प्रवृत्त आपके अत्यन्त घोर मुखोंको देखकर मैं दिशाओंको नहीं जान रहा हूँ और मुझे सुख भी नहीं मिल रहा है। हे जगत्के आधार ! देवेश ! ब्रह्मादि ईश्वरोंके भी परम महान् ईश्वर ! मुझपर प्रसन्न होइये—जिस प्रकार मैं प्रकृतिस्थ हो सकूँ, वैसा ही कीजिये ॥ २५ ॥

एवं सर्वस्य जगतः स्वायत्तस्थितिप्रवृत्तित्वं दर्शयन् पार्थसारथी राजवेषच्छद्मना अवस्थितानां धार्त्तराष्ट्राणां यौधिष्ठिरेषु अनुप्रविष्टानां च असुरांशानां संहारेण भूभारावतरणं स्वमनीषितं स्वेन एव करिष्यमाणं पार्थाय दर्शयामास। स च पार्थो भगवतः स्रष्टृत्वादिकं सर्वैश्वर्यं साक्षात्कृत्य तस्मिन् एव भगवति सर्वात्मनि धार्तराष्ट्रादीनाम् उपसंहारम् अनागतम् अपि तत्प्रसादलब्धेन दिव्येन चक्षुषा पश्यन् इदं प्रोवाच—

इस प्रकार समस्त जगत्की स्थिति और प्रवृत्ति अपने अधीन दिखलाकर पार्थके सारथि श्रीकृष्णने कपटसे राजवेष धारण करके स्थित हुए धृतराष्ट्रके पक्षवाले असुर-अंशी राजाओंका और युधिष्ठिरके पक्षमें घुसे हुए असुर-अंशी राजाओंका संहार करके पृथ्वीके भार-हरणरूपी अपने अभिलषित कार्यको अपने ही द्वारा किया जानेवाला अर्जुनको दिखलाया और वह अर्जुन भगवान्की कृपासे प्राप्त दिव्य नेत्रोंके द्वारा श्रीभगवान्के सृष्टिरचनादि सारे ऐश्वर्यको प्रत्यक्ष देखकर तथा उस सबके आत्मरूप भगवान्में ही भविष्यमें होनेवाले धृतराष्ट्रके पुत्र आदिके संहारको भी देखकर यह बोला—

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसंघैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥ २६ ॥
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥ २७ ॥

ये धृतराष्ट्रके समस्त पुत्र भी सभी राजाओंके समूहोंके साथ तथा भीष्म, द्रोण और वह सूतपुत्र (कर्ण) भी हमारे मुख्य योद्धाओंके साथ बड़ी जल्दीसे आपके विकराल और भयङ्कर दाढ़ोंवाले मुखोंमें घुसे चले जाते हैं । कितने ही तो चूर्ण हुए सिरोंके साथ दाँतोंके दराजोंमें लगे दिखायी देते हैं ॥ २६-२७ ॥

अमी धृतराष्ट्रस्य पुत्राः **दुर्योधनादयः** सर्वे भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रः **कर्णश्च तत्पक्षीयैः अवनिपालसमूहैः सर्वैः** अस्मदीयैः अपि **कैश्चिद्** योधमुख्यैः सह त्वरमाणा दंष्ट्राकरालानि भयानकानि **तव** वक्त्राणि **विनाशाय** विशन्ति । **तत्र** केचित् चूर्णितैः उत्तमाङ्गैः दशनान्तरेषु विलग्नाः संदृश्यन्ते ॥**२६-२७**॥

वे सब धृतराष्ट्रके पुत्र दुर्योधनादि तथा भीष्म, द्रोण और सूतपुत्र कर्ण, उनके पक्षवाले समस्त पृथ्वीपतियोंके समूहोंसहित और हमारे पक्षके भी कितने ही मुख्य योद्धाओंसहित बड़ी जल्दीसे आपके जो दाढ़ोंके कारण विकराल एवं भयङ्कर हैं, ऐसे मुखोंमें नष्ट होनेके लिये घुसे चले जा रहे हैं । उनमेंसे कितने ही, जिनके मस्तक चूर्ण हो गये हैं, आपके दाँतोंके अन्तरालोंमें लगे दिखायी दे रहे हैं ॥ २६-२७ ॥

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥ २८ ॥
यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका-
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥ २९ ॥

जैसे नदियोंके बहुत-से जलप्रवाह समुद्रकी ओर मुख किये दौड़े जाते हैं, वैसे ही ये नरलोकके वीर आपके सब ओरसे प्रज्वलित मुखोंमें घुसे जाते हैं । जैसे पतङ्ग अपने नाशके लिये पूरे वेगसे प्रज्वलित अग्निज्वालामें प्रवेश करते हैं वैसे ही ये लोग भी पूरे वेगसे अपने नाशके लिये आपके मुखोंमें प्रवेश कर रहे हैं ॥२८-२९॥

एते राजलोका बहवो नदीनाम् **अम्बुप्रवाहाः** समुद्रम् **इव** प्रदीप्त-ज्वलनम् **इव च शलभाः** तव वक्त्राणि अभिविज्वलन्ति **स्वयम् एव त्वरमाणा आत्म**नाशाय विशन्ति ॥२८-२९॥

ये सब राजा लोग जैसे बहुत-सी नदियोंके जलप्रवाह समुद्रमें गिरते हैं और जैसे पतंग जलती हुई अग्निमें प्रवेश करते हैं, वैसे ही अपने-आप दौड़ते हुए अपने नाशके लिये आपके अत्यन्त प्रज्वलित मुखोंमें प्रवेश कर रहे हैं ॥ २८-२९ ॥

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-
ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥ ३० ॥

विष्णो ! आप अपने प्रज्वलित मुखोंसे सब ओरसे सभी लोगोंको अपना ग्रास बनाते हुए (उनके रुधिरसे भीगे अपने ओठोंको) जीभसे बारंबार चाट रहे हैं। और आपकी उग्र प्रभा (किरण) अपने तेजसे सम्पूर्ण जगत्को परिपूर्ण करके तपा रही है ॥ ३० ॥

राजलोकान् समग्रान् ज्वलद्भिः वदनैः ग्रसमानः **कोपवेगेन तद्रुधिरावसिक्तम् ओष्ठपुटादिकं** लेलिह्यसे **पुनः पुनः लेहनं करोषि**। तव **अतिघोरा** भासो **रश्मयः** तेजोभिः **स्वकीयैः प्रकाशैः** जगत् समग्रम् आपूर्य प्रतपन्ति ॥३०॥

आप उन समस्त राजा लोगोंको क्रोधके वेगसे प्रज्वलित मुखोंके द्वारा अपना ग्रास बनाकर उनके रक्तसे भीगे हुए होठ आदि-को बार-बार चाट रहे हैं। आपकी अत्यन्त घोर प्रभा–किरणें अपने तेज–अपने प्रकाशके द्वारा समस्त जगत्को परिपूर्ण करके प्रखररूपसे तप रही हैं ॥ ३० ॥

'*दर्शयात्मानमव्ययम्*' (११।४)

इति तव ऐश्वर्यं निरङ्कुशं साक्षात्कर्तुं प्रार्थितेन भवता निरङ्कुशम् ऐश्वर्यं दर्शयता अतिघोररूपम् इदम् आविष्कृतम्—

'अपने अविनाशी स्वरूपको दिखलाइये' इस प्रकार आपके निरंकुश (सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र) ऐश्वर्यका साक्षात् करनेकी इच्छासे मेरेद्वारा प्रार्थना किये जानेपर आपने निरङ्कुश ऐश्वर्यका दर्शन कराते हुए इस अत्यन्त घोररूपको प्रकट किया है, (इसलिये)—

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥ ३१ ॥

मुझे बतलाइये कि उग्ररूपधारी आप कौन हैं? आपको नमस्कार हो। देवश्रेष्ठ ! आप प्रसन्न होइये। आप आदिपुरुषको मैं जानना चाहता हूँ, क्योंकि आपकी प्रवृत्तिको मैं नहीं जानता हूँ ॥ ३१ ॥

अतिघोररूपः को भवान्? **किं कर्तुं प्रवृत्तः? इति** भवन्तं ज्ञातुम् इच्छामि। तव **अभिप्रेतां** प्रवृत्तिं न जानामि। **एतद्** आख्याहि मे; नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद—**नमः ते अस्तु सर्वेश्वर एवं कर्तुम् अनेन अभिप्रायेण इदं संहर्तृरूपम् आविष्कृतम् इति उक्त्वा प्रसन्नरूपश्च भव** ॥ ३१ ॥

मैं आपको जानना चाहता हूँ कि अत्यन्त घोररूपधारी आप कौन हैं और क्या करनेको उद्यत हुए हैं? आपकी अभिलषित प्रवृत्तिको मैं नहीं जानता, अतः यह आप मुझको बतलाइये। देवश्रेष्ठ! सर्वेश्वर! आपको नमस्कार हो। आप प्रसन्न होइये। तात्पर्य यह है कि अमुक अभिप्रायसे अमुक कार्य करनेके लिये यह संहारक रूप प्रकट किया है, यह सब बतलाकर प्रसन्न-स्वरूप हो जाइये ॥ ३१ ॥

आश्रितवात्सल्यातिरेकेण विश्वैश्वर्यं दर्शयतो भवतो घोररूपाविष्कारे कः अभिप्रायः? इति पृष्टो भगवान् पार्थसारथिः स्वाभिप्रायम् आह— पार्थोद्योगेन विना अपि धार्तराष्ट्रप्रमुखम् अशेषं राजलोकं निहन्तुम् अहम् एव प्रवृत्तः, इति ज्ञापनाय मम घोररूपाविष्कारः, तज्ज्ञापनं च पार्थम् उद्योजयितुम् इति—

आश्रित-वत्सलताकी अधिकतासे विश्वरूप ऐश्वर्यका दर्शन करानेवाले आप परमेश्वरका इस घोररूपके प्रकट करनेमें क्या अभिप्राय है? इस प्रकार अर्जुनके द्वारा पूछे जानेपर पार्थसारथि भगवान् श्रीकृष्ण अपना अभिप्राय बतलाते हुए बोले कि अर्जुनके उद्योग न करनेपर भी मैं धृतराष्ट्रपुत्रोंके सहित सम्पूर्ण राजालोगोंको मारनेके लिये प्रवृत्त हुआ हूँ। यही जनानेके लिये मेरे घोररूपका आविष्कार हुआ है और यह जनाना भी पार्थको उद्योगमें लगानेके लिये ही है—

श्रीभगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।

ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥३२॥

श्रीभगवान् बोले—मैं लोकोंका नाश करनेवाला बढ़ा हुआ काल हूँ। लोकोंका संहार करनेके लिये यहाँ प्रवृत्त हुआ हूँ। तेरे बिना भी, ये सब योद्धा, जो प्रतिपक्षी सेनामें स्थित हैं, नहीं बचेंगे ॥ ३२ ॥

कलयति गणयति इति कालः, **सर्वेषां धार्तराष्ट्रप्रमुखानां राजलोकानाम् आयुरवसानं गणयन् अहं तत्क्षयकृत् घोररूपेण** प्रवृद्धो **राज**लोकान् समाहर्तुम् **आभिमुख्येन संहर्तुम्** इह प्रवृत्तः अस्मि। **अतो मत्संकल्पाद् एव** त्वाम् ऋते अपि **त्वदुद्योगम् ऋतेऽपि एते धार्तराष्ट्रप्रमुखाः तव** प्रत्यनीकेषु ये अवस्थिता योधाः, **ते** सर्वे न भविष्यन्ति **विनङ्क्ष्यन्ति** ॥ ३२ ॥

जो कलना—गणना करे उसका नाम काल है, सो सभी धृतराष्ट्रके पुत्रादि राजालोगोंके आयुके अन्तसमयकी गणना कर उनका नाश करनेवाला मैं घोररूपसे बहुत बढ़ा हुआ काल हूँ, यहाँ इन राजालोगोंका सब ओरसे संहार करनेके लिये प्रवृत्त हुआ हूँ। इसलिये तेरे बिना भी—तेरे उद्योग न करनेपर भी मेरे सङ्कल्पसे ही ये तेरी प्रतिपक्षी सेनामें स्थित धृतराष्ट्रके पुत्रोंसहित जो योद्धालोग हैं, वे सब-के-सब (कोई) नहीं बचेंगे—नष्ट हो जायँगे ॥ ३२ ॥

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥३३॥

इसलिये अर्जुन! तू उठ, शत्रुओंको जीतकर यशको प्राप्त कर और समृद्ध राज्यको भोग। मेरेद्वारा ये सब पहलेसे ही मारे हुए हैं, तू निमित्तमात्र हो जा ॥३३॥

तस्मात् त्वम् **तान् प्रति युद्धाय** उत्तिष्ठ, **तान्** शत्रून् जित्वा यशो लभस्व **धर्म्यं**

अतएव तू उनके साथ युद्ध करनेके लिये उठ खड़ा हो और उन शत्रुओंको जीतकर यशको प्राप्त कर तथा धर्मयुक्त

राज्यं च समृद्धं भुङ्क्ष्व। मया एव एते **कृतापराधाः** पूर्वम् एव निहताः, **हनने विनियुक्ताः, त्वं तु तेषां हनने** निमित्तमात्रं भव। **मया हन्यमानानां शस्त्रादिस्थानीयो भव,** सव्यसाचिन् 'षच समवाये' (धा० पा० १। १०२२) **सव्येन शरसचनशीलः सव्यसाची; सव्येन अपि करेण शरसमवायकरः, करद्वयेन योद्धुं समर्थ इत्यर्थः** ॥ ३३ ॥

समृद्ध राज्यको भोग। ये अपराध करनेवाले मेरे ही द्वारा पहलेसे ही मारे हुए हैं— मृत्युके लिये नियत किये हुए हैं। सव्यसाचिन्! तू तो इनको मारनेमें केवल निमित्त भर बन जा, मेरेद्वारा मारे जानेवालोंको मारनेमें शस्त्रादिकी जगह (निमित्तमात्र) हो जा। **'षच समवाये'** इस धातुपाठके अनुसार समवायार्थक षच धातुसे 'साची' पद बना है। अतः बायें हाथसे बाणोंका सचन (संग्रह और सन्धान) करनेवाला अर्थात् बायें हाथसे भी बाणसमूहोंका सन्धान करनेवाला 'सव्यसाची' होता है। अभिप्राय यह कि तू दोनों हाथोंसे युद्ध करनेमें समर्थ है ॥ ३३ ॥

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥ ३४ ॥

द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण और अन्य भी वीर योद्धा, (जो पहले ही मेरे द्वारा मारे हुए हैं) उन मेरेद्वारा मारे हुओंको तू मार, घबड़ा मत, युद्ध कर, रणमें शत्रुओंको तू जीतेगा ॥ ३४ ॥

द्रोणभीष्मकर्णादीन् कृतापराधतया मया **एव हनने विनियुक्तान्** त्वं जहि, **त्वं हन्याः; एतान् गुरून्**

अपराधी होनेके कारण जो मेरे ही द्वारा मृत्युके लिये नियत किये गये हैं, ऐसे द्रोण, भीष्म, कर्ण आदिको तू मार। इस प्रकारसे घबड़ा मत कि इन गुरु, बन्धु और

बन्धून् च अन्यान् अपि **भोगसक्तान् कथं हनिष्यामि ? इति** मा व्यथिष्ठाः, **तान् उद्दिश्य धर्माधर्मभयेन बन्धुस्नेहेन कारुण्येन च मा व्यथां कृथाः । यतः ते कृतापराधाः, मया एव हनने विनियुक्ताः, अतो निर्विशङ्को** युध्यस्व, रणे सपत्नान् जेतासि, **जेष्यसि, न एतेषां वधे नृशंसतागन्धः, अपि तु जय एव लभ्यते इत्यर्थः** ॥३४॥

अन्यान्य भोगासक्त लोगोंको मैं कैसे मारूँ—उनके लिये धर्माधर्मके भयसे, बन्धुस्नेहसे या करुणाभावसे तू दुखी मत हो। क्योंकि वे अपराधी होनेके कारण मेरेद्वारा पहलेसे ही मृत्युके लिये नियत किये जा चुके हैं; इसलिये तू बिल्कुल निःशङ्क होकर युद्ध कर। युद्धमें तू शत्रुओंको जीतेगा। अभिप्राय यह है कि इनको मारनेमें नृशंसताकी गन्ध भी नहीं है, अपि तु इनके साथ युद्ध करनेपर तेरी विजय ही होगी ॥३४॥

संजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी ।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥ ३५॥

संजय बोला—केशवके इस वचनको सुनकर अर्जुन हाथ जोड़े हुए काँपता हुआ, नमस्कार करके और डरते-डरते पुनः प्रणाम करके श्रीकृष्णसे गद्गद वाणीद्वारा इस प्रकार कहने लगा—॥ ३५ ॥

एतद् **आश्रितवात्सल्यजलधेः** केशवस्य वचनं श्रुत्वा **अर्जुनः तस्मै नमस्कृत्य** भीतभीतः **अतिभीतः** भूयः **तं** प्रणम्य कृताञ्जलिः वेपमानः किरीटी सगद्गदम् आह ॥ ३५ ॥

आश्रितवत्सलताके समुद्र भगवान् केशवके ये वचन सुनकर किरीटधारी अर्जुन उनको नमस्कार करके अत्यन्त भयभीत होकर पुनः उनको प्रणाम करके हाथ जोड़े हुए काँपता हुआ गद्गद वाणीसे इस प्रकार बोला—॥ ३५ ॥

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ॥३६॥

अर्जुन बोला—इन्द्रियोंके स्वामी परमेश्वर ! यह उचित है कि आपके यश-कीर्तनसे जगत् अत्यन्त हर्षित और अनुरागको प्राप्त हो रहा है । राक्षसलोग भयभीत हुए दिशाओंको भाग रहे हैं और समस्त सिद्धोंके समूह आपको नमस्कार कर रहे हैं ॥ ३६ ॥

स्थाने **युक्तम्, यद् एतद् युद्धदिदृक्षया आगतम् अशेषं देवगन्धर्वसिद्धयक्ष-विद्याधरकिन्नरकिंपुरुषादिकं** जगत् **त्वत्प्रसादात् त्वां सर्वेश्वरम् अवलोक्य** तव प्रकीर्त्या **सर्वं** प्रहृष्यति अनुरज्यते च । **यत् च त्वाम् अवलोक्य** रक्षांसि भीतानि **सर्वा** दिशः प्रद्रवन्ति; सर्वे सिद्धसंघाः **सिद्धाद्यनुकूलसंघाः** नमस्यन्ति च; **तद् एतत् सर्वं युक्तम् इति पूर्वेण सम्बन्धः ॥ ३६ ॥**

यह उचित ही है जो कि युद्ध देखनेकी इच्छासे यहाँ आये हुए देव, गन्धर्व, सिद्ध, यक्ष, विद्याधर, किन्नर और किम्पुरुष आदि समस्त जगत् आपकी कृपासे आप सर्वेश्वरके दर्शन कर आपके यश-कीर्तनसे अत्यन्त हर्षित हो रहा है और अनुरक्त हो रहा है । तथा जो कि राक्षस-लोग आपको देखकर भयभीत हुए सब दिशाओंकी ओर वेगसे भाग रहे हैं, और समस्त सिद्धोंके समुदाय—सिद्ध आदि अनुकूल बर्तनेवालोंके संघ आपको नमस्कार कर रहे हैं 'यह सब भी उचित ही है,' इस पूर्व कथित वाक्यके साथ इस वाक्यका सम्बन्ध है ॥३६॥

युक्तताम् एव उपपादयति—

उपर्युक्त औचित्यको ही सिद्ध करते हैं—

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।

अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥ ३७॥

महात्मन् ! ब्रह्माके भी आदिकारणभूत कर्ता और सबसे महान् आप परमेश्वरको वे क्यों नमस्कार न करें। अनन्त ! देवेश ! जगन्निवास ! आप अक्षर, सत्, असत् और इससे भी जो परे हैं; वह हैं ॥ ३७ ॥

महात्मन् ते **तुभ्यं** गरीयसे ब्रह्मणः **हिरण्यगर्भस्य** अपि आदि**भूताय** कर्त्रे, **हिरण्यगर्भादयः** कस्माद् **हेतोः** न **नमस्कुर्युः**, अनन्त देवेश जगन्निवास त्वम् **एव** अक्षरम् **न क्षरति इति अक्षरम् जीवात्मतत्त्वम्**; *'न जायते म्रियते वा विपश्चित्'* (कठ० १।२।१८) **इत्यादिश्रुतिसिद्धो जीवात्मा हि न क्षरति।**

सद् असत् **च त्वम् एव, सदसच्छब्दनिर्दिष्टं कार्यकारणभावेन अवस्थितं प्रकृतितत्त्वम्, नामरूपविभागवत्तया कार्यावस्थं सच्छब्दनिर्दिष्टं तदनर्हतया कारणावस्थम् असच्छब्दनिर्दिष्टं च त्वम् एव,** तत्परं यत् **तस्मात् प्रकृतेः** प्रकृतिसम्बन्धिनः **च**

महात्मन् ! हिरण्यगर्भ ब्रह्माके भी आदिकारणरूप कर्ता, सबसे महान्, आप परमेश्वरको ये ब्रह्मादि देव क्यों न नमस्कार करें ? अनन्त ! देवेश ! जगन्निवास ! आप ही अक्षर—जीवात्म-तत्त्व हैं। जिसका नाश न हो उसका नाम अक्षर है, इस व्युत्पत्तिसे जीवात्माका नाम अक्षर है, क्योंकि **'जीवात्मा न जन्मता है और न मरता है।'** इत्यादि श्रुतियोंसे प्रसिद्ध जीवात्मा कभी नष्ट नहीं होता।

तथा सत् और असत् भी आप ही हैं—कार्य और कारणभावमें स्थित प्रकृति-तत्त्व ही सत् और असत् शब्दसे वर्णित है। नामरूपविभागसे युक्त होकर कार्य-अवस्थामें तो सत् शब्दसे वर्णित है। जब नामरूपके विभागकी अवस्थामें न हो उस समय कारण अवस्थामें स्थित असत् शब्दसे कहा जाता है। वह ऐसा प्रकृतितत्त्व भी आप ही हैं तथा उससे परे भी आप ही हैं—जो इस प्रकृतिसे और प्रकृतिसे सम्बन्ध रखनेवाले

जीवात्मनः परम् अन्यत् मुक्तात्मतत्त्वं यत् तद् अपि त्वम् एव ॥३७॥

जीवात्माओंसे श्रेष्ठ अन्य मुक्तात्मतत्त्व है, वह भी आप ही हैं ॥ ३७ ॥

अतः— | इसलिये—

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥ ३८ ॥

आप आदिदेव, पुरातन पुरुष, इस विश्वके परम निधान, (सबके) जाननेवाले हैं और जानने योग्य तथा परमधाम भी आप ही हैं । अनन्तरूप ! आपसे यह सम्पूर्ण विश्व व्याप्त है ॥ ३८ ॥

त्वम् आदिदेवः पुरुषः पुराणः त्वम् अस्य विश्वस्य परं निधानम्, **निधीयते त्वयि विश्वम् इति त्वम् अस्य विश्वस्य परं निधानम्, विश्वस्य शरीरभूतस्य आत्मतया परमाधारभूतः त्वम् एव इत्यर्थः ।**

जगति सर्वो वेदिता वेद्यं च **सर्वं त्वम् एव, एवं सर्वात्मतया अवस्थितः त्वम् एव** परं च धाम **स्थानं प्राप्यस्थानम् इत्यर्थः ।**

त्वया ततं विश्वम् अनन्तरूप **त्वया आत्मत्वेन विश्वं चिदचिन्मिश्रं जगत् ततं व्याप्तम्** ॥ ३८ ॥

आप आदिदेव पुरातन पुरुष और इस विश्वके परम निधान हैं । यह विश्व आपमें ही निहित (स्थित) होता है, इसलिये आप इसके परम निधान हैं । अभिप्राय यह है कि शरीररूप विश्वके आत्मरूप होनेके कारण आप ही इसके परम आधार हैं ।

जगत्‌में सम्पूर्ण जाननेवाले और जानने योग्य भी आप ही हैं । इस प्रकार सर्वात्मभावसे स्थित आप ही परम धाम—स्थान हैं अर्थात् परम प्राप्यस्थान हैं ।

हे अनन्तरूप ! इस विश्वके आत्मभावमें स्थित आप परमेश्वरसे यह जडचेतनमिश्रित सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है ॥ ३८ ॥

अतस्त्वम् एव वाय्वादिशब्द-वाच्य इति आह—

इसलिये वायु आदि शब्दोंके वाच्य भी आप ही हैं, यह कहते हैं—

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥ ३९ ॥

आप वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, प्रजापति और प्रपितामह हैं। आपको सहस्र-सहस्र नमो नमः (नमस्कार) है और फिर बार-बार आपको नमो नमः (नमस्कार) है ॥ ३९ ॥

सर्वेषां प्रपितामहः त्वम् एव, पितामहादयः च । सर्वासां प्रजानां पितरः प्रजापतयः, प्रजापतीनां पिता हिरण्यगर्भः प्रजानां पितामहः, हिरण्यगर्भस्य अपि पिता त्वं प्रजानां प्रपितामहः; पितामहादीनाम् आत्मतया तत्तच्छब्दवाच्यः त्वम् एव इत्यर्थः ॥ ३९ ॥

सबके प्रपितामह और पितामह आदि भी आप ही हैं । अर्थात् समस्त प्रजाके पिता प्रजापतिगण हैं, उन प्रजापतियोंके पिता और सब प्रजाओंके पितामह ब्रह्मा हैं, उनके भी पिता आप सारी प्रजाओंके प्रपितामह हैं । अर्थात् पितामह आदिके भी आत्मा होनेके कारण उन-उन शब्दोंके वाच्य आप ही हैं ॥ ३९ ॥

अत्यद्भुताकारं भगवन्तं दृष्ट्वा हर्षोत्फुल्लनयनः अत्यन्तसाध्वसावनतः सर्वतो नमस्करोति—

अत्यन्त अद्भुत आकृतिवाले भगवान्‌का दर्शन करके, जिसके नेत्र हर्षसे प्रफुल्लित हो गये हैं, ऐसा चकित और अत्यन्त भयसे विनम्र हुआ अर्जुन भगवान्‌को सब ओरसे नमस्कार करता है—

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।

अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥ ४० ॥

सर्वरूप ! आपको आगेसे, पीछेसे तथा सभी ओरसे बार-बार नमस्कार है। आप अनन्त शक्ति और अपरिमित पराक्रमवाले हैं, आप सबको व्याप्त कर रहे हैं, अतएव सर्वरूप हैं ॥ ४० ॥

अनन्तवीर्यामितविक्रमः त्वं सर्वम् **आत्मतया** समाप्नोषि ततः सर्वः असि, **यतः त्वं सर्वं चिदचिद्वस्तुजातम् आत्मतया समाप्नोषि। अतः सर्वस्य चिदचिद्वस्तुजातस्य त्वच्छरीरतया त्वत्प्रकारत्वात् सर्वप्रकारः त्वम् एव सर्वशब्दवाच्यः असि इत्यर्थः।**

'त्वमक्षरं सदसत्' (११।३७) 'वायुर्यमोऽग्निः' (११।३९) **इत्यादिसर्वसामानाधिकरण्यनिर्देशस्य आत्मतया व्याप्तिः एव हेतुः इति सुव्यक्तम् उक्तम्।** *'त्वया ततं विश्वमनन्तरूप' (११।३८)* **सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥ इति च ॥ ४० ॥**

आप अनन्त शक्ति और अपरिमित पराक्रमसे युक्त हैं। आपने आत्मरूपसे सबको व्याप्त कर रक्खा है, इसलिये सब आप ही हैं। अभिप्राय यह है कि जडचेतन वस्तुमात्रको आत्मरूपसे आपने व्याप्त कर रक्खा है। इसलिये यह सम्पूर्ण जडचेतन वस्तुमात्र आपका शरीर होनेसे सबके स्वरूपमें आप ही हैं, अतः आप ही सर्वशब्दके वाच्य हैं।

'त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्' 'वायुर्यमोऽग्निः' इन सब वचनोंके द्वारा समस्त समानाधिकरणताके वर्णनका कारण आत्मरूपसे भगवान्‌की व्याप्ति ही है। यह बात स्पष्टरूपसे इस प्रकार कही गयी है कि **'त्वया ततं विश्वमनन्तरूप'** यहाँ भी कहते हैं कि आपने सबको व्याप्त कर रखा है इसलिये आप ही सर्वरूप हैं ४०

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥ ४१ ॥

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥४२॥

आपकी इस महिमाको न जाननेवाले मुझ मूढद्वारा प्रमादसे या प्रेमवश 'सखा हैं' ऐसा मानकर जो 'हे यादव ! हे कृष्ण ! हे सखे' ऐसा अविनयपूर्वक कहा गया है तथा परिहासके लिये अकेलेमें अथवा उन (मित्रों) के सामने चलते, सोते, बैठते और भोजन करते समय मुझसे आपका जो-जो तिरस्कार किया गया है, उस (सब) की हे अच्युत ! आप अप्रमेय परमेश्वरसे मैं क्षमा मागता हूँ ॥ ४१-४२ ॥

तव **अनन्तवीर्यत्वामितविक्रमत्व-सर्वान्तरात्मत्वस्रष्टृत्वादिको यो महिमा तम् इमम्** अजानता मया प्रमादात् **मोहात्** प्रणयेन **चिरपरिचयेन** वा सखा इति **'मम वयस्यः' इति** मत्वा हे कृष्ण हे यादव हे सखे इति **त्वयि** प्रसभं **विनयापेतं** यद् उक्तं यत् च **परिहासार्थं सर्वदा एव सत्कार्हः त्वम्** असत्कृतः असि, विहारशय्यासनभोजनेषु **च सहकृतेषु एकान्ते वा** समक्षं **वा यद् असत्कृतः असि,** तत् **सर्वं** त्वाम् अप्रमेयम् अहं क्षामये ॥ ४१-४२ ॥

आप अनन्त शक्ति और अपरिमित पराक्रमसे युक्त हैं; सबके अन्तरात्मा और स्रष्टा हैं, इत्यादि जो आपकी महिमा है, उसको न जाननेवाले मुझ मूर्खके द्वारा प्रमाद—मोहसे या प्रणयसे—पुराने परिचयके कारण, या मेरे सखा हैं, समवयस्क हैं, ऐसा मानकर 'हे कृष्ण ! हे यादव ! हे सखे !' इत्यादि जो अविनीत वाक्य कहे गये हैं, तथा सदा सत्कार करनेयोग्य आप परमेश्वरका जो परिहासमें तिरस्कार किया गया है, तथा जो एक साथ किये हुए चलने, सोने, बैठने और खानेके समय एकान्तमें या सबके सामने मेरे-द्वारा आपका तिरस्कार किया गया है, उस सबकी मैं आप अप्रमेय परमेश्वरसे क्षमा माँगता हूँ ॥ ४१-४२ ॥

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥४३॥

आप इस चराचर लोकके पिता और गुरु हैं, अतः श्रेष्ठतम परम पूज्य हैं। अप्रतिम प्रभावशाली ! तीनों लोकोंमें आपके समान भी दूसरा नहीं, (फिर आपसे) बढ़कर तो कहाँ ? ॥ ४३ ॥

अप्रतिमप्रभाव त्वम् अस्य चराचरस्य लोकस्य पिता असि **अस्य लोकस्य** गुरुः च **असि । अतः त्वम् अस्य चराचरस्य लोकस्य** गरीयान् **पूज्यतमः** । न त्वत्समः अस्ति अभ्यधिकः कुतः अन्यः लोकत्रये अपि **त्वदन्यः कारुण्यादिना केन अपि गुणेन न त्वत्समः अस्ति, कुतः अभ्यधिकः** ॥ ४३ ॥

अनुपम प्रभावशाली ! आप इस चराचर लोकके पिता हैं, और इसके गुरु भी हैं, अतः आप इस चराचर लोकके लिये अति गरिष्ठ—पूज्यतम हैं। तीनों लोकोंमें आपके सिवा दूसरा कोई दयालुता आदि किसी भी गुणमें आपके समान भी नहीं है, फिर अधिक तो हो ही कैसे सकता है ? ॥ ४३ ॥

यस्मात् त्वं सर्वस्य पिता पूज्यतमो गुरुः च कारुण्यादिगुणैः च सर्वाधिकः असि—

जब कि आप सबके पिता, पूज्यतम और गुरु हैं तथा दयालुता आदि गुणोंमें भी सबसे अधिक हैं—

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥४४॥

इसलिये मैं दण्डवत् प्रणाम करके आप स्तुति करने योग्य ईश्वरको प्रसन्न करता हूँ। जैसे पिता पुत्रकी, मित्र मित्रकी (धृष्टता सहता है), वैसे ही देव ! आप प्रियतमको मुझ प्रेमीके लिये सब कुछ सहना उचित है ॥ ४४ ॥

तस्मात् त्वाम् ईशम् ईड्यम् प्रणम्य प्रणिधाय **च** कायं प्रसादये । **यथा कृतापराधस्य अपि** पुत्रस्य **यथा च** सख्युः **प्रणामपूर्वकम् प्रार्थितः** पिता सखा **वा प्रसीदति, तथा त्वं परमकारुणिकः** प्रियः प्रियाय **मे सर्वं** सोढुम् अर्हसि ॥ ४४ ॥

इसलिये स्तुति करने योग्य आप ईश्वरको दण्डवत्—साष्टाङ्ग-प्रणाम करके मैं प्रसन्न करता हूँ । जिस प्रकार अपराध करनेवाले पुत्र और मित्रपर भी उसके द्वारा प्रणामपूर्वक प्रार्थना करनेपर पिता या मित्र प्रसन्न होकर दया करते हैं, वैसे ही आप परम दयालु प्रियतम परमेश्वरको भी मुझ प्रेमीके लिये सब कुछ सहन करना उचित है ॥ ४४ ॥

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥४५॥

पूर्वमें न देखे हुए (रूप) को देखकर मैं हर्षित हो रहा हूँ और भयसे मेरा मन अत्यन्त व्यथित हो रहा है । (अतः) देव ! वही रूप मुझको दिखलाइये । देवेश ! जगन्निवास ! प्रसन्न होइये ॥ ४५ ॥

अदृष्टपूर्वम् **अत्यद्भुतम् अत्युग्रं च तव रूपं** दृष्ट्वा हृषितः अस्मि **प्रीतः अस्मि,** भयेन प्रव्यथितं च मे मनः, **अतः** तद् एव **तव सुप्रसन्नं** रूपं मे दर्शय ।

प्रसीद देवेश जगन्निवास **मयि प्रसादं कुरु देवानां ब्रह्मादीनाम् अपि ईश निखिलजगदाश्रयभूत॥४५॥**

पहले न देखे हुए अत्यन्त अद्भुत और अति उग्र आपके रूपको देखकर मैं हर्षित—प्रसन्न हो रहा हूँ, (साथ ही) मेरा मन भयसे अत्यन्त व्यथित भी हो रहा है । इसलिये वही अपना अति प्रसन्न रूप मुझे दिखलाइये ।

देवेश ! जगन्निवास ! ब्रह्मादि देवोंके भी ईश्वर और सम्पूर्ण जगत्‌के आश्रय-रूप ईश्वर ! मुझपर कृपा कीजिये ॥४५॥

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥४६॥

मैं आपको वैसा ही मुकुटधारी, गदाधारी और हाथमें चक्र धारण किये देखना चाहता हूँ । सहस्रबाहो ! विश्वमूर्ते ! आप उसी चतुर्भुज रूपसे युक्त हो जाइये ॥ ४६ ॥

तथा एव **पूर्ववत्** किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तं त्वां द्रष्टुम् इच्छामि, **अतः** तेन एव **पूर्वसिद्धेन** चतुर्भुजेन रूपेण **युक्तो** भव सहस्रबाहो विश्वमूर्ते **इदानीं सहस्रबाहुत्वेन विश्वशरीरत्वेन दृश्यमानरूपः त्वं तेन एव रूपेण युक्तो भव इत्यर्थः** ॥ ४६ ॥

मैं आपको पहलेकी भाँति ही मुकुट धारण किये, हाथमें गदा और चक्र लिये देखना चाहता हूँ । इसलिये हे सहस्रबाहो ! विश्वमूर्ते ! आप अपने उस पूर्वसिद्ध चतुर्भुज रूपसे युक्त हो जाइये। अभिप्राय यह है कि अब जो सहस्रों भुजाओंवाले और विश्वरूप शरीरवाले आप दीख रहे हैं, सो उस पहलेवाले रूपसे युक्त हो जाइये ॥ ४६ ॥

श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥४७॥

श्रीभगवान् बोले—अर्जुन ! प्रसन्न हुए मुझ ईश्वर द्वारा तुझको यह मेरा परम तेजोमय, अनन्त, आद्य विश्वरूप अपने सत्यसंकल्परूप योगसे दिखलाया गया है, जो तेरे अतिरिक्त किसी दूसरेसे पहले नहीं देखा गया ॥ ४७ ॥

यत् मे तेजोमयं **तेजोराशिं** विश्वं **सर्वात्मभूतम्** अनन्तम् **अन्तरहितम् प्रदर्शनार्थम् इदम्,आदिमध्यान्तरहितम्,** आद्यं **मद्व्यतिरिक्तस्य कृत्स्नस्य आदिभूतं** त्वदन्येन **केन अपि** न दृष्टपूर्वं रूपं **तद्** इदं प्रसन्नेन मया **मद्भक्ताय ते** दर्शितम् आत्मयोगात् **आत्मनः सत्यसंकल्पत्वयोगात्** ॥४७॥

मेरा जो तेजोमय—तेजकी राशि विश्वरूप—सबका आत्मरूप, अनन्त—अन्तरहित—आदि, मध्य और अन्तसे रहित, आद्य—मुझसे अतिरिक्त सम्पूर्ण जगत्का आदिकारण, जिसको तेरे सिवा और किसीने भी पहले नहीं देखा, ऐसा यह रूप मैंने प्रसन्न होकर तुझ स्वभक्तको आत्मयोगसे—अपने सत्यसङ्कल्परूप योगसे दिखलाया है। इस वाक्यमें 'अनन्त' पद उपलक्षणार्थक है, अतः उसका भाव आदि और मध्यसे भी रहित बताना है ॥ ४७ ॥

अनन्यभक्तिव्यतिरिक्तैः सर्वैः अपि उपायैः यथावद् अवस्थितः अहं द्रष्टुं न शक्य इति आह—

अनन्यभक्तिके अतिरिक्त सम्पूर्ण उपायोंद्वारा भी अपने यथार्थस्वरूपमें स्थित हुआ मैं देखा नहीं जा सकता, यह बात कहते हैं—

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥४८॥

कुरुकुलके श्रेष्ठ वीर अर्जुन ! मनुष्यलोकमें इस प्रकार (विश्व) रूपवाला मैं न तो वेदसे, न यज्ञसे, न स्वाध्यायसे, न दानोंसे, न क्रियाओंसे और न उग्र तपोंसे ही तेरे अतिरिक्त दूसरेके द्वारा देखा जा सकता हूँ ॥ ४८ ॥

एवंरूपः **यथावस्थितः** अहं **मयि भक्तिमतः त्वत्तः** अन्येन **ऐकान्ति-**

इस प्रकारके रूपवाला—अपने यथार्थ स्वरूपमें स्थित मैं, मुझमें भक्ति रखनेवाले तुझ भक्तके अतिरिक्त जो

कात्यन्तिकभक्तिरहितेन केन अपि पुरुषेण केवलैः वेदयज्ञादिभिः द्रष्टुं न शक्यः ॥ ४८ ॥

ऐकान्तिक और आत्यन्तिक भक्तिसे रहित है, ऐसे किसी भी पुरुषके द्वारा केवल वेद और यज्ञादिसे नहीं देखा जा सकता ॥ ४८ ॥

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥४९॥

मेरे इस ऐसे घोर रूपको देखकर तुझे व्यथा और मूढ़भाव नहीं होना चाहिये । भयको छोड़कर और प्रसन्नचित्त होकर तू पुनः मेरे उसी (पहलेवाले) रूपको भलीभाँति देख ॥ ४९ ॥

ईदृशघोररूपदर्शनेन ते **या** व्यथा, **यः** च विमूढभावो **वर्तते, तद् उभयं** मा **भूत्, त्वया अभ्यस्तपूर्वम् एव सौम्यरूपं दर्शयामि,** तद् एव इदं **मम** रूपं प्रपश्य ॥ ४९ ॥

ऐसे घोर रूपको देखकर तुझको जो व्यथा हो रही है, और जो तुझमें मूढ़भाव हो रहा है, ये दोनों ही नहीं होने चाहिये । तेरा पहलेसे ही अभ्यास किया हुआ सौम्य रूप ही (अब) तुझको दिखला रहा हूँ । वही यह मेरा रूप तू देख ॥ ४९ ॥

संजय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥५०॥

संजय बोला—इस प्रकार अर्जुनको कहकर फिर वासुदेव भगवान्‌ने अपना वैसा (चतुर्भुज) रूप दिखलाया, इस प्रकार महात्मा (श्रीकृष्ण) ने सौम्य-रूप होकर इस भयभीत अर्जुनको पुनः धीरज दिया ॥ ५० ॥

एवं पाण्डुतनयं भगवान् वसुदेव-सूनुः उक्त्वा भूयः **स्वकीयम् एव चतुर्भुजरूपं** दर्शयामास, **अपरिचितस्व-रूपदर्शनेन** भीतम् एनं पुनः **अपि परिचितसौम्यवपुः** भूत्वा आश्वासयामास च, महात्मा **सत्यसंकल्पः** ।

भगवान् वसुदेवपुत्र श्रीकृष्णने पाण्डु-पुत्र अर्जुनको इस प्रकार कहकर फिर अपने ही चतुर्भुजरूपको दिखलाया। महात्मा सत्यसङ्कल्प भगवान्‌ने चिर-परिचित सौम्यरूप धारणकर अपरिचित स्वरूपके दर्शनसे डरे हुए उस अर्जुनको फिर भी आश्वासन दिया।

अस्य सर्वेश्वरस्य परमपुरुषस्य परस्य ब्रह्मणो जगदुपकृतिमर्त्यस्य वसुदेवसूनोः चतुर्भुजम् एव स्वकीयं रूपम् कंसाद् भीतवसुदेवप्रार्थनेन आकंसवधात् पूर्वं भुजद्वयम् उपसंहृतं पश्चाद् आविष्कृतं च ।

इस सर्वेश्वर परमपुरुष परब्रह्म जगत्‌का उपकार करनेके लिये मनुष्यरूप धारण करनेवाले वसुदेवपुत्र श्रीकृष्णका अपना रूप चतुर्भुज ही था। कंससे डरे हुए वसुदेवकी प्रार्थनासे कंसको मारनेतक आपने दो भुजाओंका उप-संहार कर लिया था। पर पीछेसे उनको प्रकट कर दिया।

'जातोऽसि देवदेवेश शङ्खचक्रगदाधर । दिव्यरूपमिदं देव प्रसादेनोपसंहर ॥' (वि० पु० ५ । ३ । १०) 'उपसंहर विश्वात्मन् रूपमेतच्चतुर्भुजम्' (वि० पु० ५ । ३ । १३) **इति हि प्रार्थितम् ।**

वसुदेवने इस प्रकार प्रार्थना की थी—**'हे शङ्ख, चक्र, गदाधारी देवदेवेश! आप साक्षात् प्रकट हुए हैं, देव! आप कृपापूर्वक इस दिव्यरूपका उपसंहार कर लीजिये।' 'विश्वात्मन्! अपने इस चतुर्भुजरूपको छिपा लीजिये।'**

शिशुपालस्य अपि द्विषतः अनवरत-भावनाविषयं चतुर्भुजम् एव वसुदेव-

द्वेष करनेवाले शिशुपालके द्वारा जिसकी निरन्तर भावना की जाती थी, वह वसुदेवपुत्र श्रीकृष्णका चतुर्भुजरूप

सूनो रूपम् 'उदारपीवरचतुर्बाहुं शङ्ख-चक्रगदाधरम्।' (वि०पु०४।१५।१०) **इति; अतः पार्थेन अत्र** 'तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन' (११।४६) **इति उच्यते ॥ ५० ॥**

ही था। कहा है **'उदार और पुष्ट चार भुजाओंवाले शङ्ख, चक्र और गदाधारी श्रीकृष्णको'** अतएव यह सिद्ध होता है कि अर्जुनने इस प्रसंगमें उसी रूपके लिये **'तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन'** ऐसा कहा है ५०

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥ ५१ ॥

अर्जुन बोला—जनार्दन! आपके इस सौम्य मानुष-रूपको देखकर अब मैं सचेत हो गया हूँ और अपनी प्रकृतिको प्राप्त हुआ हूँ ॥ ५१ ॥

अनवधिकातिशयसौन्दर्यसौकुमार्यलावण्यादियुक्तं तव एव असाधारणं मनुष्यत्वसंस्थानसंस्थितम् अतिसौम्यम् इदं तव रूपं दृष्ट्वा इदानीं सचेताः संवृत्तः अस्मि, प्रकृतिं गतः **च ॥५१॥**

अपार अतिशय सौन्दर्य, सौकुमार्य, लावण्य आदि गुणोंसे युक्त आपहीके योग्य असाधारण आपके इस मनुष्याकार अत्यन्त सौम्य रूपको देखकर अब मैं सचेत हो गया हूँ और अपनी प्रकृतिको प्राप्त हुआ हूँ ॥ ५१ ॥

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥ ५२ ॥

श्रीभगवान् बोले—जो मेरे इस अति कठिनतासे देखे जाने योग्य रूपको तूने देखा है, देवता भी इस रूपके दर्शनकी नित्य आकांक्षा करते हैं ॥ ५२ ॥

मम इदं **सर्वस्य प्रशासने अवस्थितं सर्वाश्रयं सर्वकारणभूतं** रूपं यत् दृष्टवान् असि, **तत्** सुदुर्दर्शं **न केन**

जो मेरे इस सबके शासकरूपमें स्थित, सबके आश्रय, सबके कारणभूत रूपको तूने देखा है, यह देखनेमें बड़ा ही कठिन है—किसीसे भी इसका देखा

अपि द्रष्टुं शक्यम्; अस्य रूपस्य देवा अपि नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः, **न तु दृष्टवन्तः** ॥ ५२ ॥

जाना शक्य नहीं है। देवतालोग भी इस रूपके दर्शनकी सदा आकांक्षा करते हैं; परन्तु उन्होंने उसे देखा नहीं ॥ ५२ ॥

कुतः ? इत्यत्र आह—

क्यों नहीं देखा, इसपर कहते हैं—

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥ ५३ ॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥ ५४ ॥

अर्जुन ! जैसे तूने मुझको देखा है, उस प्रकार मैं न वेदोंसे, न तपसे, न दानसे और न यज्ञसे देखा जा सकता हूँ ॥ ५३ ॥ परन्तु परन्तप ! अनन्य भक्तिसे मैं इस प्रकार तत्त्वसे जाना, देखा और प्रवेश किया जा सकता हूँ ॥ ५४ ॥

वेदैः **अध्यापनप्रवचनाध्ययनश्रवणजपविषयैःयागदानहोमतपोभिः च मद्भक्तिरहितैः केवलैः यथावद् अवस्थितः** अहं द्रष्टुं न शक्यः। अनन्यया तु भक्त्या **तत्त्वतः शास्त्रैः** ज्ञातुं **तत्त्वतः साक्षात्कर्तुं तत्त्वतः** प्रवेष्टुं च शक्यः।

मेरी भक्तिसे रहित केवल अध्यापन, प्रवचन, अध्ययन, श्रवण और जपविषयक वेदोंद्वारा तथा यज्ञ, दान, होम और तपोंद्वारा अपने यथार्थरूपमें स्थित मैं नहीं देखा जा सकता। केवल अनन्य भक्तिके द्वारा ही मैं शास्त्रीय पद्धतिसे तत्त्वतः जाना जा सकता हूँ, तत्त्वतः साक्षात् किया जा सकता हूँ और तत्त्वसे प्रवेश भी किया जा सकता हूँ।

तथा च श्रुतिः *'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।*

श्रुति भी ऐसे ही कहती है—
'यह आत्मा न प्रवचनसे प्राप्त हो सकता है, न बुद्धिसे और न बहुत

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्।' (कठ० १।२।२२) इति ॥ ५३-५४ ॥

सुननेसे ही, बस, यह जिसको वरण करता है उसीको प्राप्त हो सकता है। उसीके लिये यह आत्मा अपना स्वरूप प्रकट कर देता है' ॥ ५३-५४ ॥

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥ ५५ ॥

पाण्डुकुमार ! जो मेरा कर्म करनेवाला, मेरे परायण, मेरा भक्त, संगरहित और सब भूतोंमें वैररहित है, वह मुझे प्राप्त होता है ॥ ५५ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनयोगो
नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

वेदाध्ययनादीनि सर्वाणि कर्माणि मदाराधनरूपाणि इति यः करोति स मत्कर्मकृत्; मत्परमः—सर्वेषाम् आरम्भाणां अहम् एव परमोद्देश्यो यस्य स मत्परमः; मद्भक्तः—अत्यर्थमत्प्रियत्वेन मत्कीर्तनस्तुतिध्यानार्चनप्रणामादिभिः विना आत्मधारणम् अलभमानो मदेकप्रयोजनतया यः सततं तानि करोति स मद्भक्तः।

वेदाध्ययन आदि समस्त कर्म मेरी आराधनाके ही रूप हैं, ऐसी भावना रखकर जो (उन्हें) करता है, वह 'मेरा कर्म करनेवाला' है। सम्पूर्ण आरम्भोंका मैं ही परम उद्देश्य हूँ, ऐसा जिसका भाव है, वह 'मत्परायण' है। मुझमें अतिशय प्रेम होनेके कारण मेरा कीर्तन, स्तवन, ध्यान, पूजन और नमस्कार आदि किये बिना जीवन धारण करनेमें असमर्थ जो पुरुष केवल मात्र एक मेरे ही लिये उन सबको करता है, वह मेरा भक्त है।

सङ्गवर्जितः—**मदेकप्रियत्वेन इतरसङ्गम् असहमानः।** निर्वैरः सर्वभूतेषु—**मत्संश्लेषवियोगैकसुखदुःखस्वभावत्वात् स्वदुःखस्य स्वापराधनिमित्तत्वानुसंधानात् च सर्वभूतानां परमपुरुषपरतन्त्रत्वानुसंधानात् च सर्वभूतेषु वैरनिमित्ताभावात् तेषु निर्वैरः।**

यः **एवंभूतः** स माम् एति, **मां यथावद् अवस्थितं प्राप्नोति। निरस्ताविद्याद्यशेषदोषगन्धो मदेकानुभवो भवति इत्यर्थः ॥ ५५ ॥**

इति श्रीमद्भगवद्रामानुजाचार्यविरचिते श्रीमद्भगवद्गीताभाष्ये एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

मुझमें अत्यन्त प्रेम होनेके कारण जो दूसरे स्त्री-पुत्रादिमें होनेवाली आसक्तिको सहन नहीं कर सकता, वह 'संगवर्जित' है। केवल मेरे मिलन और वियोगसे ही सुखी और दुखी होनेके स्वभाववाला हो जानेसे तथा अपने दुःखका कारण अपने ही अपराधको समझ लेनेसे एवं समस्त भूतोंको परम पुरुषके अधीन समझ लेनेसे सम्पूर्ण भूतोंमें वैर करनेका जिसके लिये कोई कारण नहीं है, इसलिये जो सम्पूर्ण प्राणियोंमें वैर-भावसे रहित हो गया है, वह 'सर्वभूतोंमें निर्वैर' है।

जो ऐसा पुरुष है, वह मुझे पाता है—यथार्थ रूपमें स्थित मुझ परमेश्वरको प्राप्त कर लेता है। अभिप्राय यह है कि अविद्यादि सम्पूर्ण दोषोंके गन्धमात्रतकको सर्वथा नाश करके केवल एक मेरा ही अनुभव करनेवाला हो जाता है ॥ ५५ ॥

इस प्रकार श्रीमान् भगवान् रामानुजाचार्यद्वारा रचित गीता-भाष्यके हिन्दी-भाषानुवादका ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ११ ॥

ॐ

बारहवाँ अध्याय

भक्तियोगनिष्ठानां प्राप्यभूतस्य परस्य ब्रह्मणो भगवतो नारायणस्य निरङ्कुशैश्वर्यं साक्षात्कर्तुकामाय अर्जुनाय अनवधिकातिशयकारुण्यौदार्यसौशील्यादिगुणसागरेण सत्यसंकल्पेन भगवता स्वैश्वर्यं यथावद् अवस्थितं दर्शितम्। उक्तं च तत्त्वतो भगवज्ज्ञानदर्शनप्राप्तीनाम् ऐकान्तिकात्यन्तिकभगवद्भक्त्यैकलभ्यत्वम्।

अनन्तरम् आत्मप्राप्तिसाधनभूताद् आत्मोपासनाद् भक्तिरूपस्य भगवदुपासनस्य स्वसाध्यनिष्पादने शैघ्र्यात् सुखोपादानत्वात् च श्रैष्ठ्यम्; भगवदुपासनोपायः च तदशक्तस्य अक्षरनिष्ठता तदपेक्षिताः च उच्यन्ते।

भगवदुपासनस्य प्राप्यभूतोपास्यश्रैष्ठ्यात्, श्रैष्ठ्यं तु '*योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना। श्रद्धावान्*

भक्तियोगमें निष्ठा रखनेवाले भक्तोंको प्राप्त होनेयोग्य परब्रह्म भगवान् नारायणके निरङ्कुश (सर्वतन्त्रस्वतन्त्र) ऐश्वर्यके दर्शनकी इच्छावाले अर्जुनको अपार अतिशय कारुण्य, औदार्य, सौशील्य आदि गुणोंके समुद्र, सत्यसङ्कल्प भगवान् श्रीकृष्णने अपना यथार्थरूपमें स्थित ऐश्वर्य दिखलाया। और यह भी कहा गया है कि तत्त्वसे भगवान्‌का ज्ञान, उनके दर्शन और उनकी प्राप्ति—ये सब केवल एकमात्र अनन्य और आत्यन्तिक भक्तिसे ही हो सकते हैं।

अब यह कहते हैं कि आत्मप्राप्तिके साधनरूप आत्मोपासनाकी अपेक्षा भगवान्‌की भक्तिरूप उपासना अपने साध्यको शीघ्र सिद्ध करनेवाली है और वह सुखपूर्वक की जा सकती है, अतएव श्रेष्ठ है; तथा भक्तियोगमें असमर्थ अधिकारीके लिये भगवदुपासनाकी साधनरूपा अक्षरनिष्ठता (आत्मोपासना) तथा उसके लिये अपेक्षित साधन भी श्रेष्ठ हैं।

भगवान्‌की उपासनाके साध्य उपास्यदेव परमेश्वर श्रेष्ठ हैं, अतः भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है। यह बात छठे अध्यायके अन्तमें इस प्रकार कही गयी है—

भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥' (६ । ४७) **इत्यत्र उक्तम्** ।

'योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना । श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥'

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥ १ ॥

अर्जुन बोला—इस प्रकार निरन्तर प्रयत्नमें लगे हुए जो भक्त आपकी भलीभाँति उपासना करते हैं और जो अव्यक्त अक्षरकी उपासना करते हैं, उनमें उत्तम योगवेत्ता कौन हैं ? ॥ १ ॥

एवं *'मत्कर्मकृत्'* (११।५५)**इत्यादिना उक्तेन प्रकारेण** सततयुक्ताः **भगवन्तं त्वाम् एव परं प्राप्यं मन्वाना** ये भक्ताः त्वां **सकलविभूतियुक्तम् अनवधिकातिशयसौन्दर्यसौशील्यसार्वज्ञ्यसत्यसंकल्पत्वाद्यनन्तगुणसागरं** परिपूर्णम् उपासते, ये च अपि अक्षरं **प्रत्यगात्मस्वरूपं तद् एव च** अव्यक्तं **चक्षुरादिकरणेनअनभिव्यक्तस्वरूपम् उपासते,** तेषाम् **उभयेषां** के योगवित्तमाः **के स्वसाध्यं प्रति शीघ्रगामिनः इत्यर्थः** ।

'भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥' (१२ । ७) **इति उत्तरत्र योगवित्तमत्वं शैघ्र्यविषयम् इति हि व्यञ्जयिष्यते** ॥ १ ॥

इस प्रकार—**'मत्कर्मकृत्'** आदि श्लोकद्वारा बतलाये हुए प्रकारसे निरन्तर प्रयत्न करनेवाले जो भक्त आप भगवान्‌को ही परम प्राप्य मानकर समस्त विभूतियोंसे युक्त, अपार अतिशय सौन्दर्य, सौशील्य, सर्वज्ञत्व, सत्यसङ्कल्पत्व आदि अनन्त गुणोंके समुद्र आप परमेश्वरकी परिपूर्ण उपासना करते हैं; तथा जो चक्षु आदि इन्द्रियोंके द्वारा अभिव्यक्त न होनेवाले अव्यक्त अक्षर प्रत्यगात्मस्वरूपकी उपासना करते हैं, उन दोनोंमें उत्तम योगवेत्ता कौन है ? अभिप्राय यह है कि अपने साध्यके समीप शीघ्रतासे कौन पहुँच सकते हैं ? क्योंकि **'भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥'** यह कहकर आगे इस बातको स्पष्ट करेंगे कि यहाँ—योगवेत्तापन शीघ्रताविषयक है ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ २ ॥

श्रीभगवान् बोले—जो परम श्रद्धाके साथ मुझमें मन लगाकर नित्ययुक्त हुए मेरी उपासना करते हैं, वे मुझे योगियोंमें श्रेष्ठ मान्य हैं ॥ २ ॥

अत्यर्थमत्प्रियत्वेन मनो मयि आवेश्य श्रद्धया परया उपेता नित्ययुक्ता **नित्ययोगं काङ्क्षमाणा** ये माम् उपासते, **प्राप्यविषयं मनो मयि आवेश्य ये माम् उपासते इत्यर्थः;** ते युक्ततमा मे मताः । **मां सुखेन अचिरात् प्राप्नुवन्ति इत्यर्थः** ॥ २ ॥

जो परम श्रद्धासे समन्वित मेरा नित्य संयोग चाहनेवाले भक्तजन, मैं उनका अत्यन्त प्रियतम होनेके कारण, नित्य मुझमें ही मन लगाकर मेरी उपासना करते हैं अर्थात् प्राप्य वस्तुको विषय करनेवाले अपने मनको मुझमें प्रवेश कराकर मेरी उपासना करते हैं, उनको मैं युक्ततम मानता हूँ । अभिप्राय यह है कि वे मुझे सुखपूर्वक और शीघ्र पा जाते हैं ॥ २ ॥

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ ३ ॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ ४ ॥

परन्तु जो इन्द्रियसमूहको भलीभाँति रोककर, सर्वत्र समबुद्धि होकर तथा सम्पूर्ण भूतोंके हितोंमें रत होकर अक्षर, अनिर्देश्य, अव्यक्त, सर्वव्यापक, अचिन्त्य, कूटस्थ, अचल और नित्य (आत्मा) की उपासना करते हैं, वे भी मुझे ही प्राप्त होते हैं ॥ ३-४ ॥

ये तु अक्षरं **प्रत्यगात्मस्वरूपं** अनिर्देश्यं **देहाद् अन्यतया देवादि-**

अक्षर—प्रत्यगात्मा (जीवात्मा) का स्वरूप जो कि 'अनिर्देश्य है'—शरीरोंसे

शब्दानिर्देश्यम्; अतएव चक्षुरादि-करणानभिव्यक्तं सर्वत्रगम् अचिन्त्यं च सर्वत्र देवादिदेहेषु वर्तमानम् अपि तद्विसजातीयतया तेन तेन रूपेण चिन्तयितुम् अनर्हम्, तत एव कूटस्थं सर्वसाधारणं तत्तद्देवाद्यसाधारणाकारासंबन्धम् इत्यर्थः। अपरिणामित्वेन स्वासाधारणाकारात् न चलति, न च्यवते इति अचलं तत एव ध्रुवं नित्यम् सन्नियम्य इन्द्रियग्रामं चक्षुरादिकम् इन्द्रियग्रामं सर्वस्वव्यापारेभ्यः सम्यक् नियम्य सर्वत्र समबुद्धयः सर्वत्र देवादिविषमाकारेषु देहेषु अवस्थितेषु आत्मसु ज्ञानैकाकारतया समबुद्धयः; तत एव सर्वभूतहिते रताः सर्वभूताहितरतित्वात् निवृत्ताः, सर्वभूताहितरतित्वं हि आत्मनो देवादिविषमाकाराभिमाननिमित्तम्, ये एवम् अक्षरम् उपासते

अन्य होनेके कारण देव-मनुष्यादि नामोंसे जिसका निर्देश नहीं किया जा सकता, इसीलिये चक्षु आदि इन्द्रियोंके द्वारा व्यक्त न होनेवाला अव्यक्त है, तथा 'सर्वव्यापी' और 'अचिन्त्य' है—सब जगह देवादि शरीरोंमें वर्तमान रहते हुए भी जो उनसे विजातीय (विलक्षण) होनेके कारण उनके रूपमें चिन्तन किये जाने योग्य नहीं है और इसीलिये 'कूटस्थ' है—सब शरीरोंमें एक-सा ही रहता है अर्थात् उन-उन देवता आदि असाधारण (विशिष्ट) शरीरोंके भेदसे सम्बन्ध नहीं रखता है। अपरिणामी होनेके कारण अपने असाधारण स्वरूपसे विचलित नहीं होता—च्युत नहीं होता, इसलिये जो 'अचल' है और इसीलिये 'ध्रुव'—नित्य है। उस अक्षरकी जो पुरुष चक्षु आदि इन्द्रिय-समुदायको उनके अपने-अपने सम्पूर्ण व्यापारोंसे भलीभाँति रोककर और सब जगह समबुद्धि होकर देवादि विषमाकार शरीरोंमें स्थित आत्माओंमें ज्ञानकी एकाकारतासे समभावापन्न होकर तथा सब भूतोंके हितमें रत होकर उपासना करते हैं। सब भूतोंके अपकारमें रत होना विषमाकार देवादि शरीरमें आत्माभिमान होनेसे ही होता है, अतः अभिप्राय यह है कि जो समस्त भूतोंके अपकारकी प्रवृत्तिसे निवृत्त होकर इस प्रकार 'अक्षर' की उपासना करते हैं

ते अपि मां प्राप्नुवन्ति एव। **मत्समानाकारम् असंसारिणम् आत्मानं प्राप्नुवन्ति एव इत्यर्थः।** *'मम साधर्म्यमागताः'* (१४ । २) **इति वक्ष्यते; श्रूयते च** —*'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति'* (मु० उ० ३ । १ । ३) **इति।**

तथा अक्षरशब्दनिर्दिष्टात् कूटस्थाद् अन्यत्वं परस्य ब्रह्मणो वक्ष्यते। *'कूटस्थोऽक्षर उच्यते।'* (१५ । १६) *'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः'* (१५ । १७) **इति। अथ** *'परा यया तदक्षरमधिगम्यते'* (मु० उ० १ । १ । ५) **इति अक्षरविद्यायां तु अक्षरशब्दनिर्दिष्टं परम् एव ब्रह्म, भूतयोनित्वाद् एव॥ ३-४॥**

वे भी मुझको ही पाते हैं, अर्थात् मेरे समानाकार जन्म-मरणरहित आत्मस्वरूपको ही प्राप्त होते हैं। **'मम साधर्म्यमागताः'** यह बात आगे कहेंगे। श्रुतिमें कहा है कि **'निरञ्जन (निर्मलात्मा) होकर परमपुरुषकी समताको प्राप्त होता है।'**

इसके सिवा अक्षर शब्दसे कहे जानेवाले कूटस्थसे परब्रह्मकी भिन्नता आगे **'कूटस्थोऽक्षर उच्यते' 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः'** इस प्रकार कहेंगे; परन्तु अक्षर विद्याके प्रसङ्गमें **'परा विद्या वह है जिससे वह अक्षर प्राप्त होता है'** इस प्रकार जिसको 'अक्षर' कहा गया है, वह परब्रह्म ही है; क्योंकि वहाँ अक्षरको भूतोंका कारण बतलाया गया है॥ ३-४॥

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥ ५॥

उन अव्यक्तमें आसक्त चित्तवालोंको क्लेश अधिकतर होता है; क्योंकि देहाभिमानियोंके द्वारा अव्यक्तविषयक मनोवृत्ति दुःखपूर्वक प्राप्त की जाती है॥५॥

तेषाम् अव्यक्तासक्तचेतसां क्लेशः **तु** अधिकतरः, अव्यक्ता हि गतिः **अव्यक्तविषया मनोवृत्तिः** देहवद्भिः **देहात्माभिमानयुक्तैः दुःखेन** अवाप्यते; **देहवन्तो हि देहम् एव आत्मानं मन्यन्ते॥ ५॥**

परन्तु उन अव्यक्त आत्मामें चित्त लगानेवाले पुरुषोंको अधिकतर क्लेश होता है; क्योंकि अव्यक्तको विषय करनेवाली मनोवृत्ति देहात्माभिमानयुक्त पुरुषको कठिनतासे मिलती है। कारण कि देहाभिमानी प्राणी शरीरको ही आत्मा समझते हैं॥५॥

भगवन्तम् उपासीनानां युक्ततमत्वं सुव्यक्तम् आह—

भगवान्‌की उपासना करनेवालोंका 'युक्ततमत्व' स्पष्टरूपसे बतलाते हैं—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ ६ ॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ ७ ॥

परन्तु अर्जुन ! जो समस्त कर्मोंका मुझमें संन्यास करके मेरे परायण हुए अनन्य योगसे मेरा चिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते हैं, उन मुझमें चित्तको लगाये रखनेवालोंका मैं मृत्युरूप संसार-सागरसे शीघ्र ही भलीभाँति उद्धार करनेवाला होता हूँ ॥ ६-७॥

ये तु **लौकिकानि देहयात्राशेषभूतानि देहधारणार्थानि च अशनादीनि** कर्माणि, **वैदिकानि च यागदानहोमतपःप्रभृतीनि** सर्वाणि **सकारणानि सोद्देश्यानि अध्यात्मचेतसा** मयि संन्यस्य, मत्पराः **मदेकप्राप्याः** अनन्येन एव योगेन मां ध्यायन्तः उपासते, **ध्यानार्चनप्रणामस्तुतिकीर्तनादीनि स्वयम् एव अत्यर्थप्रियाणि प्राप्यसमानि कुर्वन्तो माम् उपासते इत्यर्थः** । तेषां **मत्प्राप्तिविरोधितया मृत्युभूतात्** संसाराख्यात् सागराद् अहम् **अचिरेण एव कालेन** समुद्धर्ता भवामि ॥ ६-७ ॥

जो पुरुष शरीरयात्रा-निर्वाहके अङ्गभूत लौकिक कर्म और शरीरधारणार्थ किये जानेवाले भोजनादि कर्म तथा यज्ञ, दान, होम और तप आदि वैदिक कर्म—इन सबको कारण और उद्देश्योंके सहित मुझमें भलीभाँति अध्यात्मविषयक चित्तसे छोड़कर मेरे परायण—केवल एकमात्र मुझको ही प्राप्य समझकर अनन्य योगसे मेरा ही चिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते हैं । अर्थात् ध्यान, अर्चन, प्रणाम, स्तवन और कीर्तनादि जो स्वभावसे ही साध्य तत्त्वके समान अत्यन्त प्रिय हैं, उनको करते हुए मेरी उपासना करते हैं, उनका मैं इस संसार-सागरसे, जो कि मेरी प्राप्तिका विरोधी होनेके कारण मृत्युरूप है, शीघ्र ही भलीभाँति उद्धार करनेवाला होता हूँ ॥ ६-७ ॥

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ८ ॥

तू मुझमें ही मन लगा, मुझमें ही बुद्धिको लगा । इसके अनन्तर तू मुझमें ही निवास करेगा—इसमें संशय नहीं है ॥ ८ ॥

अतः अतिशयितपुरुषार्थत्वात् सुलभत्वाद् अचिरलभ्यत्वात् च मयि एव मन आधत्स्व—**मयि मनःसमाधानं कुरु,** मयि बुद्धिं निवेशय—**अहम् एव परमप्राप्य इति अध्यवसायं कुरु ।** अत ऊर्ध्वं मयि एव निवसिष्यसि । **अहम् एव परमप्राप्य इति अध्यवसायपूर्वकमनोनिवेशनानन्तरम् एव मयि निवसिष्यसि इत्यर्थः ॥ ८ ॥**

मैं सबसे बढ़कर पुरुषार्थ (प्राप्य) हूँ, सुलभ हूँ और शीघ्र मिलनेवाला हूँ; इसलिये तू मुझमें ही मन लगा—मुझमें ही मनका समाधान कर; और मुझमें ही बुद्धि लगा—मैं परमेश्वर ही परम प्राप्य हूँ, ऐसा निश्चय कर । ऐसा करनेके अनन्तर तू मूझमें ही निवास करेगा । अभिप्राय यह है कि मैं ही परम प्राप्य हूँ, इस निश्चयके साथ मन लगानेके बाद ही तू मुझमें निवास करेगा ॥ ८ ॥

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥ ९ ॥

यदि तू मुझमें चित्तको स्थिरतापूर्वक स्थापना करनेमें समर्थ नहीं है तो अर्जुन ! अभ्यासयोगसे तू मुझे प्राप्त करनेकी इच्छा कर ॥ ९ ॥

अथ **सहसा एव** मयि स्थिरं चित्तं समाधातुं न शक्नोषि, ततः अभ्यासयोगेन माम् आप्तुम् इच्छ । **स्वाभाविकानवधिकातिशयसौन्दर्यसौशील्यसौहार्दवात्सल्यकारुण्यमाधुर्यगाम्भीर्यौदार्यशौर्यवीर्यपराक्रमसर्वज्ञत्वसत्यकामत्व-**

यदि सहसा ही मुझमें चित्त स्थिर न कर सके तो तू अभ्यासयोगके द्वारा मुझे प्राप्त करनेकी इच्छा कर । अभिप्राय यह है कि स्वाभाविक अपार अतिशय सौन्दर्य, सौशील्य, सौहार्द, वात्सल्य, कारुण्य, माधुर्य, गाम्भीर्य, औदार्य, शौर्य, वीर्य, पराक्रम, सर्वज्ञत्व, सत्यकामत्व,

सत्यसंकल्पत्वसर्वेश्वरत्वसकल-कारणत्वाद्यसंख्येयकल्याणगुणसागरे निखिलहेयप्रत्यनीके मयि निरतिशय-प्रेमगर्भस्मृत्यभ्यासयोगेन स्थिरं चित्तसमाधानं लब्ध्वा मां प्राप्तुम् इच्छ ॥ ९ ॥

सत्यसङ्कल्पत्व, सर्वेश्वरत्व और सर्वकारणत्व आदि असंख्य कल्याणमय गुणोंके समुद्र तथा सम्पूर्ण अवगुणोंके विरोधी मुझ परमेश्वरमें अतिशय प्रेमयुक्त स्मृतिके अभ्यासरूप योगसे स्थिरतापूर्वक चित्तको स्थापन करके मुझको प्राप्त करनेकी इच्छा कर ॥ ९ ॥

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ १० ॥

(यदि) तू अभ्यासमें भी असमर्थ है तो मेरे कर्मोंके परायण हो । मेरे अर्थ कर्म करता हुआ भी तू सिद्धिको प्राप्त हो जायगा ॥ १० ॥

अथ एवंविधस्मृत्यभ्यासे अपि असमर्थः असि मत्कर्मपरमो भव; **मदीयानि कर्माणि आलयनिर्माणोद्यानकरण-प्रदीपारोपणमार्जनाभ्युक्षणोपलेपनपुष्पापहरणपूजनोद्वर्तननामकीर्तनप्रदक्षिणनमस्कारस्तुत्यादीनि, तानि अत्यर्थप्रियत्वेन आचर । अत्यर्थप्रियत्वेन** मदर्थं कर्माणि कुर्वन् अपि **अचिराद् अभ्यासयोगपूर्विकां मयि स्थिरां चित्तस्थितिं लब्ध्वा मत्प्राप्तिरूपां** सिद्धिम् अवाप्स्यसि ॥ १० ॥

यदि इस प्रकारकी स्मृतिके अभ्यासमें भी तू असमर्थ है तो मत्कर्मपरायण हो जा अर्थात् मन्दिर बनवाना, (उसमें) बगीचे लगाना, दीपक जलाना, झाड़ू देना, उसे धोना, आँगन लीपना, (मेरी पूजाके लिये) फूल ले आना, पूजन करना, अंगराग लगाना, नामकीर्तन करना, प्रदक्षिणा करना, नमस्कार करना और स्तुति करना आदि जो मेरे कर्म हैं, उनका अत्यन्त प्रेमके साथ आचरण करता रह । इस प्रकार अत्यन्त प्रेमपूर्वक मेरे लिये कर्म करता हुआ भी तू शीघ्र ही अभ्यास-योगसे होनेवाली मुझमें चित्तकी स्थिर स्थितिको पाकर मेरी प्राप्तिरूपा सिद्धिको प्राप्त हो जायगा ॥ १० ॥

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥ ११ ॥

यदि मेरे योगका आश्रय लेकर तू यह (मदर्थ कर्म) भी करनेमें असमर्थ है, तो मनको संयममें रखकर समस्त कर्मोंके फलका त्याग कर ॥ ११ ॥

अथ मद्योगम् **आश्रित्य** एतद् अपि कर्तुं **न शक्नोषि, मद्गुणानुसंधानकृतं मदेकप्रियत्वाकारं भक्तियोगम् आश्रित्य भक्तियोगाङ्गरूपम् एतद् मत्कर्म अपि कर्तुं न शक्नोषि;** ततः **अक्षरयोगम् आत्मस्वभावानुसंधानरूपं परभक्तिजननं पूर्वषट्कोदितम् आश्रित्य तदुपायतया** सर्वकर्मफलत्यागं कुरु । **मत्प्रियत्वेन मदेकप्राप्यताबुद्धिः हि प्रक्षीणाशेषपापस्य एव जायते;** यतात्मवान् **यतमनस्कः । ततः अनभिसंहितफलेन मदाराधनरूपेण अनुष्ठितेन कर्मणा सिद्धेन आत्मज्ञानेन निवृत्ताविद्यादिसर्वतिरोधाने मच्छेष-**

यदि मेरे योगका आश्रय लेकर इस प्रकार करनेमें भी तू समर्थ नहीं है—मेरे गुणोंके अनुशीलनसे होनेवाला जो केवल एक मुझमें ही प्रेमरूप भक्तियोग है, उसका आश्रय लेकर भक्तियोगके अंगरूप इन मेरे कर्मोंको भी करनेमें तू असमर्थ है, तो यतात्मवान् होकर—मनको संयममें रखनेवाला होकर, मुझमें परा भक्तिको उत्पन्न करनेवाला जो आत्मस्वरूपानुसन्धानरूप अक्षरयोग पहले षट्कमें बतलाया गया है, उसका आश्रय लेकर उसके उपायरूप सर्वकर्मफलत्यागका साधन कर । जिसके पाप पूर्णतया नष्ट हो चुके हैं, उसकी ही मुझे परम प्रियतम समझकर ऐसी बुद्धि होती है कि प्राप्त करनेयोग्य एकमात्र मैं (भगवान्) ही हूँ । अतः इस प्रकार फलाभिसन्धिशून्य मेरी आराधनाके रूपमें किये हुए कर्मोंके द्वारा सिद्ध होनेवाले आत्मज्ञानसे अविद्यादि सम्पूर्ण आवरणोंका अभाव होनेपर केवल एक मैं ही जिसका शेषी

तैकस्वरूपे प्रत्यगात्मनि साक्षात्कृते सति मयि परा भक्तिः स्वयम् एव उत्पद्यते ।

तथा च वक्ष्यते—'*स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।*' (१८ । ४६) इत्यारभ्य '*विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ॥ समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥*' (१८ । ५३-५४) इति ॥ ११ ॥

(स्वामी) हूँ, ऐसे प्रत्यगात्माके स्वरूपका साक्षात् होनेसे मुझमें पराभक्ति अपने-आप ही उत्पन्न हो जाती है ।

यही बात आगे '**स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।**' से आरम्भ करके '**विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ब्रह्मभूतःप्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति । समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥**' यहाँतक कहेंगे ॥ ११ ॥

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥ १२ ॥

अभ्याससे ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञानसे ध्यान विशेष है, ध्यानसे कर्मफलत्याग श्रेष्ठ है; क्योंकि त्यागके अनन्तर शान्ति होती है ॥ १२ ॥

अत्यर्थप्रीतिविरहितात् कर्कशरूपात् स्मृत्यभ्यासाद् अक्षरयाथात्म्यानुसंधानपूर्वकं तदापरोक्ष्यज्ञानम् एव आत्महितत्वे विशिष्यते; आत्मापरोक्ष्यज्ञानाद् अपि अनिष्पन्नरूपात् तदुपायभूतात्मध्यानम् एव आत्महितत्वे विशिष्यते, तद्ध्यानाद् अपि अनिष्पन्नरूपात् तदुपायभूतं फलत्यागेन अनुष्ठितं कर्म एव विशिष्यते ।

जिसमें अत्यधिक प्रेम नहीं है, ऐसे कर्कश (नीरस) स्मरणके अभ्यासकी अपेक्षा आत्माके यथार्थरूपके विचारपूर्वक उसका अपरोक्षज्ञान ही आत्मकल्याणके लिये श्रेष्ठ है । जो भलीभाँति सम्पन्न नहीं हो गया है, ऐसे अपरोक्ष आत्मज्ञानकी अपेक्षा भी उसका उपायरूप आत्मध्यान ही आत्मकल्याणके लिये श्रेष्ठ है । जो भलीभाँति सम्पन्न नहीं हुआ है, ऐसे ध्यानकी अपेक्षा भी उसका उपायरूप फल-त्यागपूर्वक किया हुआ कर्मानुष्ठान ही श्रेष्ठ है ।

अनभिसंहितफलाद् अनुष्ठितात् कर्मण: अनन्तरम् एव निरस्तपापतया मनस:शान्ति:भविष्यति; शान्ते मनसि आत्मध्यानं संपत्स्यते; ध्यानाद् ज्ञानं ज्ञानात् च तदापरोक्ष्यं तदापरोक्ष्यात् परा भक्ति:; इति भक्तियोगाभ्यासाशक्तस्य आत्मनिष्ठा एव श्रेयसी। आत्मनिष्ठस्य अपि अशान्तमनसो निष्ठाप्राप्तये अन्तर्गतात्मज्ञानानभिसंहितफलकर्मनिष्ठा एव श्रेयसी इत्यर्थ: ॥ १२ ॥

फलाभिसन्धिरहित किये हुए कर्मोंसे शीघ्र ही पापोंका नाश हो जानेपर मनकी शान्ति हो जायगी, शान्त मनमें आत्माका ध्यान होगा, ध्यानसे ज्ञान और ज्ञानसे उसकी अपरोक्षता सिद्ध होगी और उसकी अपरोक्षतासे पराभक्ति हो जायगी। इसलिये भक्तियोगके अभ्यासमें असमर्थ पुरुषके लिये आत्मनिष्ठा ही कल्याणकारिणी है। और अशान्त मनवाले आत्मनिष्ठ पुरुषके लिये भी, आत्मज्ञान जिसके अन्तर्गत है ऐसी फलाभिसन्धिरहित कर्मनिष्ठा ही भक्तिनिष्ठाकी प्राप्तिके लिये श्रेष्ठ है, यह अभिप्राय है ॥ १२ ॥

अनभिसंहितफलकर्मनिष्ठस्य उपादेयान् गुणान् आह—

फलाभिसन्धिरहित होकर कर्म करनेमें निष्ठा रखनेवाले पुरुषके लिये उपादेय गुण बतलाते हैं—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ १३ ॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १४ ॥

सब भूतप्राणियोंके साथ द्वेष न करनेवाला, मित्रता और दया-भाववाला, ममता और अहङ्कारसे रहित, सुख-दुःखमें समान, क्षमाशील, सन्तुष्ट, नित्य योगी, मनकी वृत्तियोंको वशमें रखनेवाला, दृढनिश्चयी और मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला जो मेरा भक्त है, वह मुझे प्रिय है ॥ १३-१४ ॥

अद्वेष्टा सर्वभूतानां **विद्विषताम् अपकुर्वताम् अपि सर्वेषां भूतानाम् अद्वेष्टा मदपराधानुगुणम् ईश्वरप्रेरितानि एतानि भूतानि द्विषन्ति अपकुर्वन्ति च इति अनुसंदधानः, तेषु द्विषत्सु अपकुर्वत्सु च सर्वभूतेषु मैत्रीं मतिं कुर्वन्** मैत्रः, **तेषु एव दुःखितेषु करुणां कुर्वन्** करुणः, निर्ममः—**देहेन्द्रियेषु तत्सम्बन्धिषु च निर्ममः,** निरहंकारः—**देहात्माभिमानरहितः, तत एव** समदुःखसुखः **सुखदुःखागमयोः सांकल्पिकयोः हर्षोद्वेगरहितः,** क्षमी **स्पर्शप्रभवयोः अवर्जनीययोः अपि तयोः विकाररहितः,** संतुष्टः **यदृच्छोपनतेन येन केन अपि देहधारणद्रव्येन संतुष्टः,** सततं योगी **सततं प्रकृतिवियुक्तात्मानुसंधानपरः,** यतात्मा **नियमितमनोवृत्तिः,** दृढनिश्चयः—**अध्यात्मशास्त्रो-**

जो सब प्राणियोंमें द्वेषभावसे रहित है—अर्थात् अपने साथ द्वेष रखनेवाले तथा अपना अपकार करनेवाले समस्त भूतोंके प्रति भी जो इस विचारसे द्वेष नहीं करता कि मेरे अपराधोंके अनुसार ही ईश्वरके द्वारा प्रेरित ये सब भूतप्राणी मुझसे द्वेष तथा मेरा अपकार करते हैं। तथा जो उन द्वेष और अपकार करनेवाले समस्त भूतोंके प्रति भी मैत्री-बुद्धि रखता हुआ सबका मित्र है, और उन्हीं द्वेषी तथा अपकारी जीवोंपर भी उनके दुःखित होनेपर दया करनेवाला दयालु है। तथा जो शरीर, इन्द्रिय और उनसे सम्बन्ध रखनेवाले सब पदार्थोंमें ममतासे रहित है। निरहङ्कार है—देहमें आत्माभिमानसे रहित है। इसी कारण सुख-दुःखमें सम है—संकल्पमात्रसे होनेवाली सुख-दुःखकी प्राप्तिमें हर्ष और उद्वेगसे रहित है। तथा क्षमाशील है—स्पर्शसे होनेवाले अनिवार्य सुख-दुःखोंमें भी विकाररहित रहता है। बिना याचनाके अपने-आप मिले हुए शरीरधारणके उपयुक्त जिस किसी भी द्रव्यसे सन्तुष्ट रहता है, तथा सदा योगी है—निरन्तर प्रकृतिसंसर्गसे रहित आत्मस्वरूपके अनुसन्धानमें लगा है। यतात्मा है—मनोवृत्तियोंको नियममें रखनेवाला है और अध्यात्म-

दितेषु अर्थेषु दृढनिश्चयः, मय्यर्पितमनोबुद्धिः भगवान् वासुदेव एव अनभिसंहितफलेन अनुष्ठितेन कर्मणा आराध्यते; आराधितश्च मम आत्मापरोक्ष्यं साधयिष्यति इति मय्यर्पितमनोबुद्धिः, एवंभूतो मद्भक्तः एवंभूतेन कर्मयोगेन मां भजमानो यः स मे प्रियः ॥ १३-१४ ॥

शास्त्रमें बतलाये हुए अर्थोंमें दृढ़ निश्चयवाला है। फलाभिसन्धिसे रहित होकर किये जानेवाले कर्मोंके द्वारा भगवान् वासुदेवकी ही आराधना होती है, 'ऐसी आराधनासे प्रसन्न होकर भगवान् मुझे आत्माका अपरोक्ष (साक्षात्कार) करा देंगे', इस भावसे जो मन-बुद्धिको मुझे समर्पित कर देनेवाला है। जो मेरा ऐसा भक्त है—इस प्रकारके कर्मयोगके द्वारा मुझको भजनेवाला है, वह मेरा प्रिय है ॥ १३-१४ ॥

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥ १५ ॥

जिससे संसार उद्वेग नहीं करता और जो संसारसे उद्वेगको प्राप्त नहीं होता, जो हर्ष, अमर्ष, भय तथा उद्वेगसे मुक्त है, वह भी मेरा प्यारा है ॥ १५ ॥

यस्मात् कर्मनिष्ठात् पुरुषान्निमित्तभूतात् लोको न उद्विजते, यः लोकोद्वेगकरं कर्म किंचिद् अपि न करोति इत्यर्थः । लोकात् च निमित्तभूताद् यः न उद्विजते, यम् उद्दिश्य सर्वलोको न उद्वेगकरं कर्म करोति, सर्वाविरोधित्वनिश्चयात् । अतएव कंचन प्रति हर्षेण, कंचन प्रति अमर्षेण, कंचन प्रति भयेन, कंचन प्रति उद्वेगेन मुक्तः एवंभूतः यः सः अपि मे प्रियः ॥ १५ ॥

जिस कर्मनिष्ठावाले पुरुषके निमित्तसे प्राणियोंको उद्वेग नहीं होता अर्थात् जो पुरुष लोगोंको उद्विग्न करनेवाला कोई भी कर्म नहीं करता तथा जो लोगोंके द्वारा उद्वेगयुक्त नहीं किया जाता—जिसके उद्देश्यसे दूसरे लोग भी कोई उद्वेगकारक कर्म नहीं करते; क्योंकि सभी उसको अविरोधी समझते हैं। इसीलिये जो किसीके प्रति हर्ष, किसीके प्रति ईर्ष्या, किसीसे भय और किसीके प्रति उद्वेगसे रहित हो गया है, ऐसा जो पुरुष है, वह भी मेरा प्रिय है ॥ १५ ॥

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१६॥

अपेक्षासे रहित, शुद्ध, दक्ष, उदासीन, व्यथारहित, सारे आरम्भोंका त्याग करनेवाला जो मेरा भक्त है, वह मेरा प्यारा है ॥ १६ ॥

अनपेक्षः—**आत्मव्यतिरिक्ते कृत्स्ने वस्तुनि अनपेक्षः,** शुचिः—**शास्त्रविहितद्रव्यवर्धितकायः,** दक्षः—**शास्त्रीयक्रियोपादानसमर्थः अन्यत्र** उदासीनः, गतव्यथः—**शास्त्रीयक्रियानिर्वृत्तौ अवर्जनीयशीतोष्णपरुषस्पर्शादिदुःखेषु व्यथारहितः,** सर्वारम्भपरित्यागी—**शास्त्रीयव्यतिरिक्तसर्वकर्मारम्भपरित्यागी,** य **एवंभूतो** मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १६ ॥

जो आत्माके अतिरिक्त समस्त वस्तुओंमें अपेक्षासे शून्य हो गया है । शुद्ध है—शास्त्रविहित द्रव्यसे शरीरका पोषण करनेवाला है । दक्ष—शास्त्रीय क्रियाके सम्पादनमें समर्थ है । अन्य क्रियाओंसे उदासीन है । शास्त्रीय क्रियाओंका सम्पादन करते हुए अनिवार्य शीत, उष्ण एवं कठोर वस्तुओंके स्पर्श आदि दुःखोंकी प्राप्तिमें व्यथासे रहित रहता है । शास्त्रीय कर्मोंके अतिरिक्त अन्य सभी आरम्भोंका त्यागी है । जो इस प्रकारका मेरा भक्त है, वह मेरा प्रिय है ॥१६॥

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥१७॥

जो न हर्ष करता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है, न आकांक्षा करता है और शुभ-अशुभ दोनोंका त्यागी है, जो ऐसा भक्त है, वह मुझे प्यारा है ॥ १७ ॥

यो न हृष्यति **यद् मनुष्याणां हर्षनिमित्तं प्रियजातं तत् प्राप्य यः कर्मयोगी न हृष्यति, यत् च अप्रियं तत् प्राप्य यो** न द्वेष्टि, **यत् च मनुष्याणां शोकनिमित्तं भार्यापुत्र-**

मनुष्योंके हर्षके हेतु जो कुछ भी प्रिय पदार्थ हैं, उनको पाकर जो कर्मयोगी हर्षित नहीं होता; और जो अप्रिय है, उसको पाकर उनसे द्वेष नहीं करता । मनुष्योंके शोकका हेतु जो

वित्तक्षयादिकं तत् प्राप्य न शोचति; **तथाविधम् अप्राप्तं च** न कांक्षति, **यत् च मनुष्याणां हर्षनिमित्तभार्यावित्तादि, तद् अप्राप्तं च न काङ्क्षति इत्यर्थः**। शुभाशुभपरित्यागी **पापवत् पुण्यस्य अपि बन्धहेतुत्वाविशेषाद् उभयपरित्यागी,** यः **एवंभूतो** भक्तिमान् स मे प्रियः ॥ १७ ॥

स्त्री, पुत्र, धन आदिका नाश है, उसको पाकर शोक नहीं करता; और उनके न मिलनेपर उनकी आकाङ्क्षा भी नहीं करता। अभिप्राय यह है कि मनुष्योंके हर्षके हेतु जो स्त्री-पुत्र-धनादि हैं, वे न मिलें तो उनको चाहता नहीं। तथा जो शुभाशुभका त्यागी है—पापकी भाँति पुण्य भी समान भावसे बन्धनका कारण होनेसे, जो दोनोंका त्यागी है। जो ऐसा भक्तिमान् साधक है, वह मेरा प्रिय है ॥ १७ ॥

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥ १८ ॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥ १९ ॥

शत्रु-मित्र और मान-अपमानमें एक समान, शीत-उष्ण तथा सुख-दुःखमें एक समान, आसक्तिसे रहित, निन्दा और स्तुतिको समान समझनेवाला, मौनी, जिस किसीसे भी सन्तुष्ट, अनिकेत और स्थिर मतिवाला जो भक्तिमान् है, वह मनुष्य मेरा प्यारा है ॥ १८-१९ ॥

'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' (१२। १३) **इत्यादिना शत्रुमित्रादिषु द्वेषादिरहितत्वम् उक्तम्। अत्र तेषु सन्निहितेषु अपि समचित्तत्वम्, ततः अपि अतिरिक्तो विशेष उच्यते।**

'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' इस श्लोकके द्वारा शत्रु-मित्रादिमें द्वेष आदिका अभाव बतलाया गया था। इस श्लोकमें उन शत्रु-मित्रोंमें, जब उनका सान्निध्य प्राप्त हो, उस समय भी चित्तका सम रहना बतलाया जाता है, जो उससे भी भिन्न विशेष भाव है।

आत्मनि स्थिरमतित्वेन निकेतनादिषु असक्त इति अनिकेतः, **तत एव मानापमानादिषु अपि समः, य एवंभूतो** भक्तिमान् **स** मे प्रियः ॥१८-१९॥

आत्मामें स्थिरबुद्धि होनेके कारण जो गृह आदिमें अनासक्त हो गया है, अतः अनिकेत है। तथा इसी कारण जो मानापमान आदिमें भी सम हो गया है। जो इस प्रकारका भक्तिमान् पुरुष है, वह मेरा प्रिय है ॥ १८-१९ ॥

अस्माद् आत्मनिष्ठात् मद्भक्तियोगनिष्ठस्य श्रैष्ठ्यं प्रतिपादयन् यथोपक्रमम् उपसंहरति—

उपर्युक्त आत्मनिष्ठाशील पुरुषकी अपेक्षा भगवद्भक्तियोगनिष्ठ पुरुषकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन करते हुए भगवान् आरम्भ किये हुए प्रसङ्गका उपसंहार करते हैं—

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥२०॥

परन्तु जो पहले कहे हुए इस धर्म्यामृतका अनुष्ठान करते हैं, वे श्रद्धायुक्त मेरे परायण भक्त मुझे अत्यन्त प्यारे हैं ॥ २० ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो
नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

धर्म्यं च अमृतं च 'इति' धर्म्यामृतं ये तु **प्राप्यसमं प्रापकं भक्तियोगं** यथोक्तं *'मय्यावेश्य मनो ये माम्'* (*१२।२*) **इत्यादिना उक्तेन प्रकारेण** उपासते ते भक्ता **अतितरां** मे प्रियाः ॥ २० ॥

इति श्रीमद्भगवद्रामानुजाचार्यविरचिते श्रीमद्भगवद्गीताभाष्ये द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

जो धर्म्य (धर्मानुकूल) भी हो और अमृत भी वह 'धर्म्यामृत' है। जो भक्त प्राप्त करने योग्य भगवान्‌के समान ही उसकी प्राप्ति करानेवाले पूर्वोक्त भक्तियोगकी **'मय्यावेश्य मनो ये माम्'** इत्यादि श्लोकद्वारा कहे हुए प्रकारसे साधना करते हैं, वे भक्त मुझको अतिशय प्रिय हैं ॥२०॥

इस प्रकार श्रीमान् भगवान् रामानुजाचार्यद्वारा रचित गीता-भाष्यके हिन्दी-भाषानुवादका बारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १२ ॥

ॐ

तेरहवाँ अध्याय

पूर्वस्मिन् षट्के परमप्राप्यस्य परस्य ब्रह्मणो भगवतो वासुदेवस्य प्राप्त्युपायभूतभक्तिरूपभगवदुपासनाङ्गभूतं प्राप्तुःप्रत्यगात्मनो याथात्म्यदर्शनं ज्ञानयोगकर्मयोगलक्षणनिष्ठाद्वयसाध्यम् उक्तम् ।

मध्यमे च परमप्राप्यभूतभगवत्तत्त्वयाथात्म्यतन्माहात्म्यज्ञानपूर्वकैकान्तिकात्यन्तिकभक्तियोगनिष्ठा प्रतिपादिता, अतिशयितैश्वर्यापेक्षाणाम् आत्मकैवल्यमात्रापेक्षाणां च भक्तियोगः तत्तदपेक्षितसाधनम् इति च उक्तम् ।

इदानीम् उपरितनषट्के प्रकृतिपुरुषतत्संसर्गरूपप्रपञ्चेश्वरयाथात्म्यकर्मज्ञानभक्तिस्वरूपतदुपादानप्रकाराः च षट्कद्वयोदिता विशोध्यन्ते ।

पहले षट्क (छः अध्यायों) में परम प्राप्य परब्रह्म भगवान् वासुदेवकी प्राप्तिकी उपायभूता भक्तिरूप भगवद्-उपासनाका अंगरूप, जो प्राप्त-कर्ता प्रत्यगात्मा (जीवात्मा) का यथार्थ स्वरूप-ज्ञान है, जिसकी प्राप्ति ज्ञानयोग और कर्मयोग—इन दोनों निष्ठाओंसे होती है, उसका वर्णन किया गया ।

मध्यके षट्क (छः अध्यायों) में परम प्राप्य भगवान्के स्वरूपका यथार्थ तत्त्व और उसके माहात्म्य-ज्ञानसहित ऐकान्तिक, आत्यन्तिक भक्तियोग-निष्ठा-का प्रतिपादन किया गया तथा अतिशय ऐश्वर्यकी इच्छा करनेवालोंके एवं आत्मा-की कैवल्यस्थितिकी इच्छा करनेवालोंके लिये भी भक्तियोग और उसके लिये आवश्यक अन्य साधन भी बतला दिये गये।

अब इस अन्तिम षट्क (छः अध्यायों) में प्रकृति और पुरुषका, उन दोनों-के संसर्गरूप प्रपञ्चका, ईश्वरके यथार्थ स्वरूपका, कर्म, ज्ञान और भक्तिके स्वरूप-का और उन-उनकी उत्पत्तिके प्रकारका अर्थात् पिछले दो षट्कोंमें (एकसे लेकर बारह अध्यायतक) जिनका वर्णन किया गया है, उन सब प्रसंगोंका स्पष्टीकरण किया जाता है ।

तत्र तावत्त्रयोदशे देहात्मनोः स्वरूपम्, देहयाथात्म्यशोधनम् देहवियुक्तात्मप्राप्त्युपायः, विविक्तात्मस्वरूपसंशोधनम्, तथाविधस्य आत्मनः च अचित्संबन्धहेतुः, ततो विवेकानुसंधानप्रकारः च उच्यते—

उस अन्तिम षट्कमेंसे तेरहवें अध्यायमें पहले शरीर और आत्माका स्वरूप, शरीरके स्वरूपका स्पष्टीकरण, शरीरसे विलक्षण आत्माकी प्राप्तिका उपाय, प्रकृति-संसर्गसे रहित आत्माके स्वरूपका स्पष्टीकरण और वैसे आत्माका जडके साथ सम्बन्ध होनेमें कारण तथा उसके अनन्तर दोनोंके विवेचनका प्रकार भी बतलाते हैं—

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—कौन्तेय ! यह शरीर क्षेत्र है, ऐसा कहा जाता है, जो इस क्षेत्रको जानता है, उसको उसे जाननेवाले ज्ञानी पुरुष क्षेत्रज्ञ ऐसा कहते हैं ॥ १ ॥

इदं शरीरं **देवः अहम्, मनुष्यः अहम्, स्थूलः अहम्, कृशः अहम्, इति आत्मना भोक्त्रा सह सामानाधिकरण्येन प्रतीयमानं भोक्तुः आत्मनः अर्थान्तरभूतं तस्य भोगक्षेत्रम्** इति **शरीरयाथात्म्यविद्भिः** अभिधीयते ।

यह शरीर जो कि मैं देवता हूँ, मैं मनुष्य हूँ, मैं स्थूल हूँ, मैं कृश हूँ, इस प्रकार भोक्ता आत्माके साथ सामानाधिकरणतासे एक-सा प्रतीत होता है और वास्तवमें भोक्ता आत्मासे भिन्न पदार्थ है। यह (शरीर) उस भोक्ता आत्माका भोगक्षेत्र है। इस प्रकार शरीर-तत्त्वको यथार्थतया जाननेवाले कहते हैं।

एतद् **अवयवशः संघातरूपेण च इदम् अहं वेद्मि इति** यो वेत्ति तं **वेद्यभूताद् अस्माद् वेदितृत्वेन अर्थान्तरभूतं** क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः— **आत्मयाथात्म्यविदः** प्राहुः ।

जो इस शरीरको इसके सारे अवयवोंको अलग-अलग तथा संघातरूपसे इस प्रकार जानता है कि 'मैं इसको जानता हूँ,' वह इस जाननेमें आनेवाले शरीरका जाननेवाला होनेके कारण इससे भिन्न पदार्थ है, उसको आत्मतत्त्वके यथार्थ ज्ञाता पुरुष 'क्षेत्रज्ञ' नामसे कहते हैं।

यद्यपि देहव्यतिरिक्तघटाद्यर्थानु-संधानवेलायाम् देवः अहम्, मनुष्यः अहम्, घटादिकं जानामि इति देह-सामानाधिकरण्येन ज्ञातारम् आत्मानम् अनुसंधत्ते; तथापि देहा-नुभववेलायां देहम् अपि घटादिकम् इव इदम् अहं वेद्मि इति वेद्यतया वेदिता अनुभवति इति वेत्तुः आत्मनो वेद्यतया शरीरम् अपि घटादिवद् अर्थान्तरभूतम्; तथा घटादेः इव वेद्यभूतात् शरीराद् अपि वेदिता क्षेत्रज्ञः अर्थान्तरभूतः ।

यद्यपि मनुष्य जब शरीरसे अतिरिक्त घटादि पदार्थोंका अनुभव करता है उस समय मैं देव हूँ, मैं मनुष्य हूँ, मैं घटादिको अनुभव करता हूँ, इस प्रकार शरीरके सहित अपनेको समानाधि-करणतासे जाननेवाला समझता है। परन्तु जब ज्ञाता आत्मा शरीरका अनुभव करता है, उस समय शरीरको भी घटादि पदार्थोंकी भाँति 'इसको मैं जानता हूँ' इस प्रकार ज्ञेयरूपसे अनुभव करता है। अतएव शरीर भी ज्ञाता आत्माका ज्ञेयरूप होनेके कारण वस्तुतः घटादिकी भाँति आत्मासे भिन्न पदार्थ ही है, और वैसे ही घटादिकी भाँति जाननेमें आनेवाले शरीरसे 'ज्ञाता' 'क्षेत्रज्ञ' भी भिन्न पदार्थ है ।

सामानाधिकरण्येन प्रतीतिः तु वस्तुतः शरीरस्य गोत्वादिवद् आत्मविशेषणतैकस्वभावतया तद-पृथक्सिद्धेः उपपन्ना। तत्र वेदितुः असाधारणाकारस्य चक्षुरादिकरणा-विषयत्वाद् योगसंस्कृतमनोविषय-त्वात् च, प्रकृतिसन्निधानाद् एव

समानाधिकरणतासे जो एकता प्रतीत होती है उसका कारण यह है कि वास्तवमें शरीर आत्माका गोत्व आदिकी भाँति विशेषण होनेसे दोनोंके स्वभाव-की एकता-सी हो रही है, इसीलिये शरीरकी आत्मासे अभिन्नता मालूम नहीं होती। क्योंकि असाधारण आकार-वाला ज्ञाता आत्मा चक्षु आदि इन्द्रियों-का विषय नहीं है, केवल योगके द्वारा विशुद्ध हुए मनका ही विषय है।

मूढाः प्रकृत्याकारम् एव वेदितारं पश्यन्ति । तथा च वक्ष्यति—*'उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् । विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥' (१५ । १०)* इति ॥ १ ॥

इस कारण मूर्खलोग प्रकृतिके सन्निधानसे आत्माको प्रकृतिके रूपमें मानने लग जाते हैं । यही बात इस प्रकार कहेंगे—**'उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् । विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥'** ॥ १ ॥

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥ २ ॥

अर्जुन ! सारे क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ भी तू मुझको जान । क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका जो ज्ञान है, वही (उपादेय) ज्ञान है, यह मेरा मत है ॥ २ ॥

देवमनुष्यादिसर्वक्षेत्रेषु वेदितृत्वैकाकारं क्षेत्रज्ञं च मां विद्धि—मदात्मकं विद्धि । क्षेत्रज्ञं च अपि इति अपिशब्दात् क्षेत्रम् अपि मां विद्धि इति उक्तम् इति अवगम्यते ।

यथा क्षेत्रं क्षेत्रज्ञविशेषणतैकस्वभावतया तदपृथक्सिद्धेः तत्सामानाधिकरण्येन एव निर्देश्यं, तथा क्षेत्रं क्षेत्रज्ञः च मद्विशेषणतैकस्वभावतया

देव-मनुष्यादि समस्त क्षेत्रों (शरीरों) में जो ज्ञातापनके कारण एकाकार हैं, वह 'क्षेत्रज्ञ' भी तू मुझको समझ—उसका भी मैं आत्मा हूँ, ऐसा समझ । 'क्षेत्रज्ञं च अपि' इस वाक्यमें 'अपि' शब्दका प्रयोग होनेसे यह अभिप्राय जान पड़ता है कि 'क्षेत्र' भी तू मुझको ही समझ ऐसा कहा गया है ।

जैसे क्षेत्र 'क्षेत्रज्ञ'का विशेषण होनेसे स्वभावकी एकताके कारण उससे अपृथक् प्रतीत होता है, इसलिये उसका क्षेत्रज्ञके साथ समानाधिकरणतासे वर्णन किया जाना ठीक है, वैसे ही क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ ये दोनों भी मेरे (भगवान्के) विशेषण होनेसे स्वभावकी एकताके कारण मुझसे

मदपृथक्सिद्धेः मत्सामानाधिकरण्येन एव निर्देश्यौ विद्धि ।

वक्ष्यति हि क्षेत्रात् क्षेत्रज्ञात् च बद्ध-मुक्तोभयावस्थात् क्षराक्षरशब्दनिर्दिष्टाद् अर्थान्तरत्वं परस्य ब्रह्मणो वासुदेवस्य—'*द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च । क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः । यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः । अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥' (१५ । १६–१८)* **इति ।**

पृथिव्यादिसंघातरूपस्य क्षेत्रस्य क्षेत्रज्ञस्य च भगवच्छरीरतैकस्वभावस्वरूपतया भगवदात्मकत्वं श्रुतयो वदन्ति । '*यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः' (बृह० उ० ३ । ७ । ३)* **इत्यारभ्य** '*य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद*

अपृथक् प्रतीत होते हैं, इसलिये इनका वर्णन भी मेरे साथ समानाधिकरणतासे किया जाना उचित है, ऐसा तू समझ ।

यथार्थमें तो 'क्षेत्र'से तथा क्षर और अक्षर नामसे कहे हुए बद्ध और मुक्त दोनों अवस्थाओंमें स्थित 'क्षेत्रज्ञ'से परब्रह्म भगवान् वासुदेवकी भिन्नता इस प्रकार कहेंगे—**'द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च । क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः । यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥ यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः । अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥'**

पृथिवी आदिका संघातरूप क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ—ये दोनों ही भगवान्के शरीर होनेके कारण भगवान्के साथ इनकी स्वभाव और स्वरूपविषयक एकता है । अतः ये दोनों भगवदात्मक हैं—इन दोनोंके आत्मा भगवान् हैं । यह बात श्रुतियाँ भी इस प्रकार कहती हैं—**'जो पृथिवीमें रहकर पृथिवीकी अपेक्षा आन्तरिक है, जिसको पृथिवी नहीं जानती, जिसका पृथिवी शरीर है, जो पृथिवीके भीतर रहकर उसका नियमन करता है, वह तेरा अन्तर्यामी अमृतस्वरूप आत्मा है,** यहाँसे लेकर **'जो आत्मामें रहनेवाला आत्माकी अपेक्षा अन्तरङ्ग**

यस्यात्मा शरीरं यः आत्मानमन्तरो यमयति । स त आत्मान्तर्याम्यमृतः' (बृह० उ० ३।७।२२) इत्याद्याः।

इदम् एव अन्तर्यामितया सर्वक्षेत्रज्ञानाम् आत्मत्वेन अवस्थानं भगवत्सामानाधिकरण्येन व्यपदेशहेतुः।

'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।' (१०।२०) *'न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥'* (१०।३९) *'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥'* (१०।४२) **इति। पुरस्ताद् उपरिष्टात् च अभिधाय मध्ये सामानाधिकरण्येन व्यपदिशति।** *'आदित्यानामहं विष्णुः'* (१०।२१) **इत्यादिना।**

यद् इदं क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः **विवेकविषयं तयोः मदात्मकत्वविषयं च** ज्ञानम् **उक्तम्,** तद् **एव उपादेयं** ज्ञानम् **इति** मम मतम्।

केचिद् आहुः—'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' इति सामानाधिकरण्येन एकत्वं अवगम्यते, ततश्च ईश्वरस्य एव

है जिसको आत्मा नहीं जानता, जिसका आत्मा शरीर है, जो आत्माके अंदर रहकर उसका नियमन करता है, वह अन्तर्यामी अमृतस्वरूप तेरा आत्मा है।' यहाँतक कहा है।

इस प्रकार यह अन्तर्यामीरूपसे सम्पूर्ण आत्माओंमें आत्मरूपसे भगवान्‌का स्थित रहना ही दसवें अध्यायमें भगवान्‌की समानाधिकरणतासे सबका वर्णन करनेमें हेतु है।

इसलिये भगवान् **'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।' 'न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥' 'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥'** इस प्रकार प्रारम्भ और अन्तमें अपने स्वरूपका वर्णन करके **'आदित्यानामहं विष्णुः'** इत्यादि वाक्योंद्वारा मध्यमें समानाधिकरणतासे उपदेश करते हैं।

यह जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके विवेकका और 'इन दोनोंका मैं आत्मा हूँ', इस तत्त्वका ज्ञान बताया गया है, यही उपादेय ज्ञान है, यह मेरा मत है।

सिद्धान्त-निर्णय

कुछ टीकाकार कहते हैं कि—'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' इस प्रकार समानाधिकरणताके वर्णनसे एकता प्रतीत होती है। इसीलिये यह मानना चाहिये

सतः अज्ञानात् क्षेत्रज्ञत्वम् इव भवति इति अभ्युपगन्तव्यम्, तन्निवृत्त्यर्थः च अयम् एकत्वोपदेशः। अनेन च आप्ततमभगवदुपदेशेन रज्जुः इयं न सर्पः, इति आप्तोपदेशेन सर्पत्वभ्रम-निवृत्तिवत् क्षेत्रज्ञत्वभ्रमो निवर्तते इति।

ते प्रष्टव्याः अयम् उपदेष्टा भगवान् वासुदेवः परमेश्वरः किम् आत्मयाथात्म्यसाक्षात्कारेण निवृत्ता-ज्ञानः, उत न? इति

निवृत्ताज्ञानः चेत्, निर्विशेषचि-न्मात्रैकस्वरूपे आत्मनि अतद्रूपाध्या-सासम्भावनया कौन्तेयादिभेददर्शनं तान् प्रति उपदेशादिव्यापारः च न संभवति।

अथ आत्मयाथात्म्यसाक्षात्का-राभावाद् अनिवृत्ताज्ञानः, तर्हि तस्य अज्ञत्वाद् एव आत्मज्ञानोप-देशारम्भो न संभवति; '*उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।*' (४। ३४) इति हि उक्तम्।

कि जो ईश्वर है, उसीको अज्ञानसे क्षेत्रज्ञत्व-सा प्राप्त हो जाता है। उस (क्षेत्रज्ञत्व) की निवृत्तिके लिये ही यह एकत्वका उपदेश है। जिस प्रकार सत्यवादी पुरुषके द्वारा ऐसा कहे जाने-पर कि 'यह रज्जु है, सर्प नहीं है' रज्जुमें होनेवाले सर्पत्व-भ्रमकी निवृत्ति हो जाती है, वैसे ही आप्तपुरुषोंमें सर्व-श्रेष्ठ भगवान्‌के इस उपदेशसे, क्षेत्रज्ञत्व-का भ्रम निवृत्त हो जाता है।

उनसे पूछना चाहिये कि ऐसा उपदेश करनेवाले इन भगवान् वासुदेव परमेश्वरका अज्ञान आत्माके यथार्थ स्वरूप-साक्षात्कारसे निवृत्त हो चुका है या नहीं?

यदि वे कहें कि इनका अज्ञान निवृत्त हो चुका है तब तो निर्विशेष चेतनमात्र एक आत्मामें विपर्यय-ज्ञानकी सम्भावना न रहनेके कारण अर्जुन आदिको अपनेसे पृथक् समझना और उनके प्रति उपदेशादि देनेका व्यवहार करना नहीं बन सकता।

यदि वे कहें कि आत्माके यथार्थ स्वरूपका साक्षात्कार न होनेके कारण भगवान्‌का अज्ञान निवृत्त नहीं हुआ है तो फिर वे अज्ञानी ठहरते हैं। इसलिये भी उनके द्वारा आत्मज्ञानका उपदेश दिया जाना सम्भव नहीं है। क्योंकि पहले कह चुके हैं—**उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।**'

अत एवमादिवादा अनाकलित-श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणन्यायसदाचार-स्ववाक्यविरोधैः स्ववचःस्थापनदुराग्रहैः अज्ञानिभिः जगन्मोहनाय प्रवर्तिताः, इति अनादरणीयाः ।

अतएव जिन लोगोंने कभी श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण, न्याय, सदाचार और अपने कथनके विरोधको भी नहीं समझा है, जिनको अपना सिद्धान्त-स्थापन करनेका दुराग्रह है, ऐसे अज्ञानियोंके द्वारा जगत्‌को मोहमें डालनेके लिये ही इस प्रकारके सिद्धान्त चलाये गये हैं। इसलिये ऐसे सिद्धान्तोंका आदर नहीं करना चाहिये।

अत्र इदं तत्त्वम्—अचिद्वस्तुनः चिद्वस्तुनः परस्य ब्रह्मणो भोग्यत्वेन भोक्तृत्वेन ईशितृत्वेन च स्वरूपविवेकम् आहुः काश्चन श्रुतयः—*'अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः ॥' (श्वे० उ० ४ । ९) 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।' (श्वे० उ० ४ । १०) 'क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः ।' (श्वे० उ० १ । १०)* । 'अमृताक्षरं हरः' इति भोक्ता निर्दिश्यते, प्रधानं भोग्यत्वेन हरति इति हरः ।

इस विषयमें यथार्थ तत्त्व यह है—कितनी ही श्रुतियाँ जडवस्तु, चेतनवस्तु और परब्रह्मके स्वरूपका विवेचन; उनको क्रमसे भोग्य, भोक्ता और शासक बतलाकर इस प्रकार कहती हैं—**'इसलिये जो मायावी है, वह इस विश्वका सृजन करता है, और जो दूसरा है वह मायासे उसमें बँधा हुआ है' 'माया तो प्रकृतिको समझना चाहिये और मायी (मायापति) महेश्वरको ।' 'प्रधान (प्रकृति) तो क्षर है और हर (जीवात्मा) अमृत एवं अक्षर है, क्षर (जडप्रकृति) और आत्मा (जीव) इन दोनोंपर वह एक देव महेश्वर शासन करता है ।'** इस श्रुतिमें अमृत, अक्षर और हरके नामसे भोक्ता चेतनका निर्देश है । भोग्यरूपा होनेके कारण प्रकृतिको जो हरण करे—भोगे, उसका नाम 'हर' है।

'स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः ॥' (श्वे० उ० ६ । ९) 'प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः ।' (श्वे० उ० ६ । १६) 'पतिं विश्वस्यात्मेश्वरं शाश्वतं शिवमच्युतम् ।' (तै० ना० १०) 'ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशौ ।' (श्वे० उ० १ । ९) 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् ॥' (श्वे० उ० ६ । १३) 'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा' (श्वे० उ० १ । १२) 'पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति' (श्वे० उ० १ । ६) 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्न्योऽभिचाकशीति ।' (मु० उ० ३ । १ । १) 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजा सृजमानां सरूपाः। अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥' (श्वे० उ० ४ । ५) 'गौरनाद्यन्तवती सा जनित्री भूतभाविनी ।' (मं० उ० ५) 'समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति

'वह सबका कारण है, इन्द्रियोंके अधिपतिका भी अधिपति है, इसका जनयिता और अधिपति और कोई नहीं है,' 'वह गुणेश्वर प्रधान (प्रकृति) और क्षेत्रज्ञ (पुरुष) दोनोंका स्वामी है ।' 'विश्वके पति और आत्मरूप सनातन शिव अच्युत ईश्वरको' 'ज्ञानी और अज्ञानी, ईश्वर और अनीश्वर (जीवात्मा) ऐसे दो अजन्मा चेतन हैं' 'जो नित्योंका भी नित्य है, चेतनोंका भी चेतन है और अकेला ही बहुतोंकी कामना पूर्ण करता है' 'भोक्ता, भोग्य और प्रेरकको पृथक् जानकर' 'आत्माको पृथक् और उसके प्रेरकको पृथक् समझकर फिर उससे सम्बन्धित होकर अमृतत्वको प्राप्त होता है' 'इन दोनोंमें एक फलोंका स्वाद लेता हुआ खाता है और दूसरा उसे न खाता हुआ केवल देखता रहता है ।' 'लाल (रजोगुण), सफेद (सत्त्वगुण) और काले (तमोगुण) रंगवाली अपने अनुरूप बहुत-सी सन्तानोंको जन्म देनेवाली एक अजाको एक अज भोगता हुआ उसके अनुकूल चलता है, और दूसरा अज इस भुक्तभोगाका त्याग कर देता है।' 'वह आदि-अन्तसे रहित गौ भूतोंको जन्म देनेवाली उनकी माता है' 'एक वृक्षपर एक पुरुष अज्ञानमें डूबा हुआ मोहित होकर सामर्थ्यके अभावसे शोक करता है पर वह जब अपनेसे

मुह्यमानः । जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः' (श्वे० उ० ४ । ७) इत्याद्याः ।

अत्रापि—'अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् । जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥' (७ । ४·५) 'सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् । कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥ प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः । भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥' (९ । ७, ८) 'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् । हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥' (९ । १०) 'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।' (१३ । २०) 'मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् । संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥' (१४ । ३) इति ।

कृत्स्नजगद्योनिभूतं महद् ब्रह्म मदीयं प्रकृत्याख्यं भूतसूक्ष्मम् अचिद्वस्तु यत् तस्मिन् चेतनाख्यं गर्भं संयोजयामि, ततो मत्संकल्पकृतात् चिदचित्संसर्गाद् एव देवादिस्थावरान्तानाम् अचिन्मिश्राणां सर्वभूतानां संभवो भवति इत्यर्थः ।

भिन्न साथ रहनेवाले ईश्वरको देख पाता है और उसकी महिमाको समझता है, तब शोकरहित हो जाता है ।' इत्यादि ।

इस गीताशास्त्रमें भी कहा है—'अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा । अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् । जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥' 'सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् । कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥ प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः । भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥' 'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् । हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥' 'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।' 'मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् । संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥'

अर्थात् सम्पूर्ण जगत्‌की योनिभूत मेरी प्रकृति नामक महद्ब्रह्म जो कि भूतोंका सूक्ष्म भावमात्र जड वस्तु है, उसमें मैं चेतननामक गर्भको संयोजित करता हूँ । उस मेरे सङ्कल्पके द्वारा किये हुए जडचेतनके संयोगसे ही देवोंसे लेकर स्थावरतक सम्पूर्ण जडमिश्रित भूतोंकी उत्पत्ति होती है ।

'श्रुतौ अपि भूतसूक्ष्मं ब्रह्म' इति निर्दिष्टम् *'तस्माद् एतद्ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते'* (मु० उ० १ । १ । ९) इति ।

एवं भोक्तृभोग्यरूपेण अवस्थितयोः सर्वावस्थावस्थितयोः चिदचितोः परमपुरुषशरीरतया तन्नियाम्यत्वेन तदपृथक्स्थितिं परमपुरुषस्य च आत्मत्वम् आहुः काश्चन श्रुतयः— *'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद, यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति'* (बृ० उ० ३ । ७ । ३) **इत्यारभ्य** *'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद, यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः'* (बृ० उ० ३ । ७ । २२) **इति । तथा** *'यस्य पृथिवी शरीरम्, यः पृथिवीमन्तरे संचरन् यं पृथिवी न वेद'* **इति आरभ्य** *'यस्याक्षरं शरीरं योऽक्षरमन्तरे संचरन् यमक्षरं न वेद' 'यस्य मृत्युः शरीरं यो*

श्रुतिमें भी भूतोंके सूक्ष्म भावको 'ब्रह्म' नामसे इस प्रकार निर्देश किया है कि **'उससे वह ब्रह्म तथा नाम, रूप और अन्न उत्पन्न होते हैं।'**

इस प्रकार भोक्ता और भोग्यके रूपमें सभी अवस्थाओंमें स्थित चेतन और जड दोनों ही तत्त्व परमपुरुषके शरीर होनेके कारण उसके द्वारा नियमन करनेयोग्य हैं। इसलिये इन दोनोंकी भगवान्से अपृथक् स्थिति और परमपुरुष भगवान्के आत्मत्वका वर्णन कितनी ही श्रुतियाँ इस प्रकार करती हैं— **'जो पृथिवीमें रहकर पृथिवीकी अपेक्षा अन्तरङ्ग है, जिसको पृथिवी नहीं जानती। पृथिवी जिसका शरीर है। जो पृथिवीके भीतर रहकर उसका नियमन करता है।'** यहाँसे लेकर **'जो आत्मामें रहकर आत्माकी अपेक्षा अन्तरङ्ग है, जिसको आत्मा नहीं जानता, आत्मा जिसका शरीर है, जो आत्माके भीतर रहकर उसका नियमन करता है, वह अन्तर्यामी अमृतस्वरूप तेरा आत्मा है'** यहाँतक तथा **'पृथिवी जिसका शरीर है, जो पृथिवीके भीतर विचरता है, जिसको पृथिवी नहीं जानती'** यहाँसे लेकर **'अक्षर जिसका शरीर है, जो अक्षरके भीतर विचरता है, जिसको अक्षर नहीं जानता। मृत्यु जिसका शरीर है,**

मृत्युमन्तरे संचरन् यं मृत्युर्न वेद । स एष सर्वभूतान्तरात्मापहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः' (सुबालो० ७) अत्र मृत्युशब्देन तमःशब्दवाच्यं सूक्ष्मावस्थम् अचिद्वस्तु अभिधीयते। अस्याम् एव उपनिषदि *'अव्यक्तमक्षरे लीयते अक्षरं तमसि लीयते । तमः परे देव एकीभूय तिष्ठति' (सुबालो० २)* इति वचनात् *'अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा' (तै० आ० ३ । ११)* इति च ।

जो मृत्युके भीतर विचरता है, जिसको मृत्यु नहीं जानता । यह सब भूतोंका अन्तरात्मा सब पापोंसे रहित एक दिव्य देव नारायण है ।' इस श्रुतिमें 'मृत्यु' नामसे 'तमः' शब्दकी अर्थभूत सूक्ष्म अवस्थामें स्थित जड प्रकृति कही गयी है । क्योंकि इसी उपनिषद्में **'अव्यक्त अक्षरमें लय होता है, अक्षर तममें लय होता है, तम परम देवमें एक होकर रहता है ।'** ऐसा कहा है । तथा **'जीवोंका शासक सबका आत्मा अन्तरमें प्रविष्ट है ।'** यह भी कहा है ।

एवं सर्वावस्थावस्थितचिदचिद्वस्तुशरीरतया तत्प्रकारः परमपुरुष एव कार्यावस्थकारणावस्थजगद्रूपेण अवस्थित इति इमम् अर्थं ज्ञापयितुं काश्चन श्रुतयः कार्यावस्थं कारणावस्थं जगत् स एव इति आहुः—

इस प्रकार सब अवस्थाओंमें स्थित जड-चेतन प्रकृति-पुरुष ईश्वरके शरीर होनेके कारण उनके रूपमें परमपुरुष ही कार्यावस्थायुक्त और कारणावस्थायुक्त जगत् रूपमें स्थित हो रहा है । इसी अर्थको समझानेके लिये कितनी ही श्रुतियाँ कहती हैं कि 'कार्यरूप और कारणरूपसे स्थित समूचा जगत् वह परम पुरुष ही है ।'

यथा *'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ।' (छा० उ० ६ । २ । १) 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत' (छा० उ० ६ । २ । ३)* इति आरभ्य *'सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः' (छा० उ० ६ । ८ । ६) 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (छा० उ० ६ । ८। ७)* इति

जैसे कि **'हे सोम्य ! पहले केवल एक अद्वितीय सद् ब्रह्म ही था ।' 'उसने इच्छा की मैं प्रजोत्पादनके लिये बहुत होऊँ, उसने तेजको रचा'** यहाँसे लेकर **'हे सोम्य ! इस सारी प्रजाका सत् ही कारण है, सत् ही अधिष्ठान है, सत् ही प्रतिष्ठा है' 'यह समूचा जगत् इसीका स्वरूप है, वह सत्य है । हे श्वेतकेतो ! वह आत्मा तू है ।'** यहाँतक ।

तथा *'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति । स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत'* इत्यारभ्य *'सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्' (तै० उ० २ । ६ । १)* इत्याद्याः ।

अत्र अपि श्रुत्यन्तरसिद्धः चिदचितोः परमपुरुषस्य च स्वरूपविवेकः स्मारितः । *'हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति' (छा० उ० ६ । ३ । २)* *'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् । तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत् । विज्ञानं चाविज्ञानं च सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्' (तै० उ० २ । ६ । १)* इति च ।

अनेन जीवेन आत्मना अनुप्रविश्य इति जीवस्य ब्रह्मात्मकत्वं, तद् 'सच्च त्यच्चाभवत् विज्ञानं चाविज्ञानं च' इति अनेन ऐकार्थ्याद् आत्मशरीरभावनिबन्धनम् इति विज्ञायते ।

तथा **'उसने कामना की कि मैं प्रजोत्पादनके लिये बहुत होऊँ, उसने तप किया, उसने तप करके इन सबको बनाया'** यहाँसे लेकर **'सत्य ही सत्य और अनृत (मिथ्या) के रूपमें हो गया'** इत्यादि ।

इस श्रुतिमें भी दूसरी श्रुतिमें कहे हुए जड-चेतन और परम पुरुषके स्वरूपके विवेकका स्मरण कराया गया है **'अब मैं इस जीवात्माके रूपसे इन तीनों देवताओंमें—पृथ्वी, जल और तेजमें अनुप्रविष्ट होकर नामरूपात्मक जगत्को प्रकट करूँ । उसको रचकर उसीमें प्रविष्ट हो गया । उसमें प्रविष्ट होकर सत् और त्यत् हो गया । सत्य ही ज्ञान और विज्ञान तथा सत्य और अनृत हो गया ।'**

इस जीवात्माके रूपसे प्रविष्ट होकर, इस वाक्यके द्वारा जो जीवको ब्रह्मरूप बतलाया गया है वह जीवात्मा परब्रह्मका शरीर है इस कारण उसीका स्वरूप है इस भावको लेकर ही कहा गया है क्योंकि 'उसके भीतर प्रविष्ट होकर सत् और त्यत्, विज्ञान और अविज्ञान हो गया' इस वाक्यके साथ उपर्युक्त वाक्यकी एकार्थता है ।

एवंभूतम् एव यन्नामरूपव्याकरणं *'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत् तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियते' (बृ० उ० १।४।७)* इत्यत्र अपि उक्तम्।

अतः कार्यावस्थः कारणावस्थः च स्थूलसूक्ष्मचिदचिद्वस्तुशरीरः परमपुरुष एव, इति कारणात् कार्यस्य अनन्यत्वेन कारणविज्ञानेन कार्यस्य ज्ञाततया एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं समीहितम् उपपन्नतरम्।

'हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छा० उ० ६। ३। २) इति तिस्रो देवता इति सर्वम् अचिद् वस्तु निर्दिश्य तत्र स्वात्मकजीवानुप्रवेशेन नामरूपव्याकरणवचनात् सर्वे वाचकाः शब्दाः अचिज्जीवविशिष्टपरमात्मन एव वाचकाः, इति कारणावस्थपरमात्मवाचिना शब्देन कार्यवाचिनः शब्दस्य सामानाधिकरण्यं मुख्यवृत्तम्। अतः स्थूलसूक्ष्मचिदचित्प्रकारं ब्रह्म एव कार्यं कारणं च इति ब्रह्मोपादानं जगत्।

इस प्रकार जो नाम-रूपको व्यक्त करना है वही इस अन्य श्रुतिमें भी ऐसे कहा गया है—**'उस समय यह अव्यक्त था, पीछे नाम-रूपसे प्रकट किया गया।'**

अतएव स्थूल और सूक्ष्म, जड और चेतन वस्तुमात्र जिसका शरीर है, ऐसा परम पुरुष ही कार्य और कारण दोनों अवस्थाओंमें सर्वथा स्थित है। तथा कारणसे कार्य अभिन्न होता है इसलिये कारणके विज्ञानसे कार्यका ज्ञान सिद्ध हो जाता है। अतः जो एकको भलीभाँति जान लेनेसे सबका भलीभाँति ज्ञान होना कहा गया है, वह सर्वथा युक्तियुक्त सिद्ध होता है।

'अब मैं इस जीवात्माके रूपसे इन तीनों देवताओंमें अनुप्रविष्ट होकर नामरूपात्मक जगत्‌को प्रकट करूँ।' इस श्रुतिमें 'तीनों देवता' इस वाक्यसे समस्त जडवस्तुमात्रका निर्देश करके उसमें अपने ही स्वरूप जीवात्माके प्रवेशसे नामरूपका प्रकट करना बतलाया जानेसे सभी वाचक शब्द चेतनाचेतनविशिष्ट परमात्माके ही वाचक हुए, अतएव कारण-अवस्थामें स्थित परमात्माके वाचक शब्दके साथ कार्यवाची शब्दकी समानाधिकरणता मुख्य रूपसे है। इसलिये स्थूल-सूक्ष्म, जड, चेतनके रूपमें ब्रह्म ही कार्य और कारण है। इससे यह सिद्ध हुआ कि इस जगत्‌का उपादान ब्रह्म है।

सूक्ष्मचिदचिद्वस्तुशरीरं ब्रह्म एव कारणम् इति जगतो ब्रह्मोपादानत्वे अपि संघातस्य उपादानत्वेन चिदचितोः ब्रह्मणः च स्वभावासंकरः अपि उपपन्नतरः ।

यथा शुक्लकृष्णरक्ततन्तुसंघातोपादानत्वे अपि विचित्रपटस्य तत्तत्तन्तुप्रदेशे एव शौक्ल्यादिसंयोगः, इति कार्यावस्थायाम् अपि न सर्वत्र वर्णसंकरः, कारणवत् सर्वत्र च असंकरः; तथा चिदचिदीश्वरसंघातोपादानत्वे अपि जगतः कार्यावस्थायाम् अपि भोक्तृत्वभोग्यत्वनियन्तृत्वनियम्यत्वाद्यसंकरः ।

तन्तूनां पृथक्स्थितियोग्यानाम् एव पुरुषेच्छया कदाचित्संहतानां कारणत्वं कार्यत्वं च; इह तु चिदचितोः सर्वावस्थयोः परमपुरुषशरीरत्वेन तत्प्रकारतया एव पदार्थत्वात्

तथा सूक्ष्म जडचेतन वस्तुमात्र जिसका शरीर है, ऐसा ब्रह्म ही इसका कारण है । इस प्रकार जगत्का उपादान ब्रह्म होनेपर भी जड-चेतन दोनों प्रकृतियोंके सहित ही ब्रह्म उसका उपादान है । इसलिये जड-चेतन और ब्रह्मके स्वभावका पृथक्-पृथक् होना युक्तियुक्त है ।

जैसे सफेद, काले और लाल तन्तु मिलकर ही विभिन्न रंगोंवाले वस्त्रके उपादान कारण होते हैं, तथापि उन-उन तन्तुओंके स्थानमें ही सफेद आदि रंगोंका संयोग होता है, इसलिये कार्य-अवस्थामें भी सर्वत्र वर्णों (रंगों) का मेल नहीं है; कारण-अवस्थाकी भाँति सर्वत्र उनका पार्थक्य ही है । वैसे ही जड, चेतन और ईश्वर तीनों मिलकर जगत्का उपादान होनेपर भी कार्य-अवस्थाकी स्थितिमें भी भोग्य, भोक्ता, नियन्तापन और नियमन योग्य आदिका भेद तो रहता ही है ।

इस दृष्टान्तमें यह भेद है कि पृथक्-पृथक् रहनेकी योग्यतावाले तन्तु ही मनुष्यकी इच्छासे किसी समय मिलाये जाकर कारण और कार्यभावको प्राप्त होते हैं, परन्तु चेतन और जड दोनों सभी अवस्थाओंमें परम पुरुषका शरीर होनेके कारण उनसे विशिष्ट

तत्प्रकारः परमपुरुष एव कारणं कार्यं च, स एव सर्वदा सर्वशब्दवाच्य इति विशेषः, स्वभावभेदः तदसंकरः च तत्र च अत्र च तुल्यः ।

एवं च सति परस्य ब्रह्मणः कार्यानुप्रवेशे अपि स्वरूपान्यथाभावाद् अविकृतत्वम् उपपन्नतरम् । स्थूलावस्थस्य नामरूपविभागविभक्तस्य चिदचिद्वस्तुन आत्मतया अवस्थानात् कार्यत्वम् अपि उपपन्नतरम् । अवस्थान्तरापत्तिः एव हि कार्यता । निर्गुणवादाःच परस्य ब्रह्मणो हेयगुणसंबन्धाभावादुपपद्यन्ते। '*अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोविजिघत्सोऽपिपासः*' (छा०उ०८।७।१) इति हेयगुणान् प्रतिषिध्य '*सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः*' (छा० उ० ८ । ७ ।१) इति कल्याणगुणान् विदधती इयं श्रुतिः एव अन्यत्र सामान्येन अवगतं गुणनिषेधं हेयगुणविषयं व्यवस्थापयति ।

होकर ही पदार्थरूप होते हैं, इसलिये जडचेतनविशिष्ट परम पुरुष ही कारण और कार्य है । अतः वही सदा 'सर्व' शब्दका वाच्यार्थ है । अवश्य ही, स्वभावका भेद और उसका अमिश्रण यह तन्तु-वस्त्रके समान ही इसमें भी है ।

ऐसा होनेपर भी—परब्रह्मका कार्यमें अनुप्रवेश होनेपर भी उसका अपने स्वरूपसे विपरीत भाव कभी नहीं होता, इसलिये उसका अविकारीपन सर्वथा सिद्ध होता है और स्थूल अवस्थामें स्थित नामरूपके विभागसे विभक्त जडचेतन वस्तुके आत्मरूपसे स्थित होनेके कारण उसका कार्यरूप होना भी भलीभाँति बन जाता है, क्योंकि अवस्थान्तरकी प्राप्ति ही कार्यत्व है । परब्रह्म परमेश्वर निर्गुण है यह कथन भी उसमें हेय गुणोंके सम्बन्धका अभाव होनेके कारण सिद्ध हो सकता है । **'यह आत्मा पापरहित, जरारहित, मृत्युरहित, शोकरहित और क्षुधापिपासासे रहित है'** इस प्रकार हेय गुणोंका निषेध करके **'वह सत्यकाम और सत्यसङ्कल्प है'** इस प्रकार कल्याणमय गुणोंके सम्बन्धका विधान करनेवाली यह श्रुति ही अन्य स्थलोंमें सामान्य रूपसे प्राप्त हुए गुणनिषेधके विषयमें यह व्यवस्था देती है कि वहाँ हेय (त्यागने योग्य) दुर्गुणोंका ही बाध किया गया है ।

'ज्ञानस्वरूपं ब्रह्म' इति वादः च सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेः निखिलहेयप्रत्यनीककल्याणगुणाकरस्य परस्य ब्रह्मणः स्वरूपं ज्ञानैकनिरूपणीयं स्वप्रकाशतया ज्ञानस्वरूपं च इति अभ्युपगमाद् उपपन्नतरः।

'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' (मु० उ० १।१।९) *'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।'* (श्वे० उ० ६।८) *'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्'* (बृ० उ० २।४।१४) **इत्यादिका ज्ञातृत्वम् आवेदयन्ति।** *'सत्यं ज्ञानमनन्तम्'* (तै० उ० २।१।१) **इत्यादिकाश्च, ज्ञानैकनिरूणीयतया स्वप्रकाशतया च ज्ञानस्वरूपत्वम्।** *'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय।'* (तै० उ० २।६।१) *'तदैक्षत बहु स्याम्'* (छा० उ० ६।२।३) *'तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत।'* (बृ० उ० १।४।७) *'आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्वं विदितं (भवति)।'* (बृ० उ० ४।५।६) *'सर्वं तं परादाद् योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद।'* (बृ० उ० ४।५।७) *'(तस्य ह वा) अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदः।'* (बृ० उ० ४।५।११)

'ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है' यह कथन भी इस बातको मान लेनेपर युक्तियुक्त हो सकता है कि सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् अखिल हेय गुणोंके विरोधी कल्याणमय गुणोंकी खान परब्रह्म परमेश्वरका स्वरूप केवल एक ज्ञानके द्वारा ही निरूपित किया जा सकता है तथा वह स्वयं प्रकाश होनेसे भी ज्ञानस्वरूप है।

क्योंकि **'जो सर्वज्ञ है, सबको जानता है' 'जिसकी स्वाभाविकी ज्ञान, बल और क्रियारूपा विभिन्न प्रकारकी परम शक्तियाँ सुनी जाती हैं' 'अरे जाननेवालेको किसके द्वारा जाना जाय ?'** इत्यादि श्रुतियाँ परमेश्वरके ज्ञातापनका वर्णन करती हैं। तथा **'सत्य, ज्ञान और अनन्त ब्रह्म है'** इत्यादि श्रुतियाँ भी परमेश्वरको केवल एक ज्ञानके द्वारा निरूपण किये जाने योग्य होनेसे और स्वप्रकाश होनेसे ज्ञानस्वरूप बतलाती हैं।' **'उसने कामना की कि मैं प्रजोत्पादनके लिये बहुत होऊँ' 'उसने ईक्षण (संकल्प) किया मैं बहुत होऊँ' 'वह नाम-रूपसे ही प्रकट हुआ।' 'हे वत्स, आत्माके देखे, सुने और समझे जानेपर यह सब कुछ जाना हुआ हो जाता है।' 'सब उसको परास्त कर देते हैं जो सबको आत्मासे भिन्न जानता है।' 'यह जो ऋग्वेद है सो उसी इस महान् पुरुष परमेश्वरका निःश्वास**

इति ब्रह्म एव स्वसंकल्पाद् विचित्र स्थिरत्रसस्वरूपतया नानाप्रकारम् अवस्थितम् इति। तत्प्रत्यनीकाब्रह्मात्मकवस्तुनानात्वम् अतत्त्वम् इति प्रतिषिध्यते। *'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति।'* (बृ० उ० ४।४।१९) *'नेह नानास्ति किंचन।'* (क० उ० २।१।११) *'यत्र हि द्वैतमिव भवति।.... तदितर इतरं पश्यति।....यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन किं जिघ्रेत् तत्केन कं पश्येत्'* (बृ० उ० २।४।१४) **इत्यादिना। न पुनः** *'बहु स्यां प्रजायेय'* (तै० उ० २।६) **इत्यातिश्रुतिसिद्धस्वसंकल्पकृतं ब्रह्मणो नानानामरूपभाक्त्वेन नानाप्रकारत्वम् अपि निषिध्यते।** *'यत्रत्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्'* (बृ० उ० २।४।१४) **इति निषेधवाक्यारम्भे च तत्स्थापितं** *'सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद'* (बृ० उ० ४।५।७) *'तस्य ह वा एतस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदः'* (बृ० उ० ४।५।७) **इत्यादिना।**

रूप है।' इस प्रकार परब्रह्म ही अपने सङ्कल्पसे विचित्र आकारों और चेष्टाओंसे विभिन्न रूपोंवाला होनेके कारण नाना प्रकारसे स्थित है, यह बात श्रुति कहती है। इसके विपरीत अब्रह्मात्मक वस्तुका नानात्व मानना सिद्धान्त नहीं है; अतः **'वह मृत्युसे मृत्युको प्राप्त होता है, जो यहाँ नानात्व देखता है' 'यहाँ भिन्न-भिन्न कुछ भी नहीं है' 'जहाँ दो जैसा रहता है, वहाँ एक दूसरेको देखता है। परन्तु जहाँ सब कुछ इसका आत्मा हो गया वहाँ किसके द्वारा किसको सूँघे और किसके द्वारा किसको देखें?'** इत्यादि श्रुतियोंसे नानात्व-दर्शनका निषेध किया गया है। परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि **'मैं प्रजोत्पादनके लिये बहुत होऊँ'** इत्यादि श्रुतियोंसे सिद्ध जो ब्रह्मकी अपने सङ्कल्पसे की हुई नाना नाम-रूपताके कारण नानाप्रकारता है, उसका भी यह प्रतिषेध है। क्योंकि **'यत्रत्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्'** इस प्रकार नानात्वविषयक निषेधवाक्यका प्रारम्भ करते समय **'सब उसे परास्त कर देते हैं, जो सबको आत्मासे भिन्न जानता है।' 'उसी इस महान् प्राणी परमेश्वरका निःश्वासरूप यह ऋग्वेद है'** इत्यादि वाक्योंसे उपर्युक्त बात सिद्ध कर दी गयी है।

एवं चिदचिदीश्वराणां स्वरूपभेदं स्वभावभेदं च वदन्तीनां तासां कार्यकारणभावं कार्यकारणयोः अनन्यत्वं वदन्तीनां च सर्वासां श्रुतीनाम् अविरोधः, चिदचितोः परमात्मनः च सर्वदा शरीरात्मभावं शरीरभूतयोः कारणदशायां नामरूपविभागानर्हसूक्ष्मदशापत्तिं कार्यदशायां च तदर्हस्थूलदशापत्तिं वदन्तीभिः श्रुतिभिः एव ज्ञायते, इति अब्रह्मज्ञानवादस्य औपाधिकब्रह्मभेदवादस्य अन्यस्य अपि अन्यायमूलकस्य सकलश्रुतिविरुद्धस्य न कथंचिद् अपि अवकाशो विद्यते; इत्यलम् अतिविस्तरेण ॥ २ ॥

इस प्रकारसे जड, चेतन और ईश्वर—इन तीनोंके स्वरूप और स्वभावका भेद बतलानेवाली श्रुतियोंका तथा उनका कार्य-कारण-भाव और कार्यकारणकी अनन्यता बतलानेवाली सम्पूर्ण श्रुतियों-का परस्पर अविरोध उन श्रुतियोंसे ही समझमें आ जाता है, जो कि जड-चेतन प्रकृतियोंके और परमात्माके नित्य शरीर और आत्मभावका तथा उन शरीररूप दोनों प्रकृतियोंका कारण-अवस्थामें नामरूप-विभागके अयोग्य सूक्ष्म दशाको प्राप्त होनेका, और कार्य-अवस्थामें नामरूप-विभागके योग्य स्थूल दशाको प्राप्त होनेका वर्णन करती हैं। ऐसा होनेसे अब्रह्मज्ञानवाद, औपाधिक ब्रह्म-भेदवाद या अन्य भी जो कोई समस्त श्रुतियोंसे विरुद्ध अन्यायमूलक वाद हैं, उन सबके लिये किञ्चित् भी अवकाश नहीं है। अतएव बहुत विस्तारका प्रयोजन नहीं है ॥ २ ॥

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥ ३ ॥

वह क्षेत्र जो है, और जैसा है, जिस विकारवाला है और जिससे जो (उत्पन्न) होता है, तथा वह (क्षेत्रज्ञ) जो है, और जिस प्रभाववाला है वह सब तू मुझसे संक्षेपमें सुन ॥ ३ ॥

तत् क्षेत्रं यत् च यद्द्रव्यम्, यादृक् च येषाम् आश्रयभूतम्, यद्विकारि ये च अस्य विकाराः, यतः च यतो हेतोः इदम्

वह 'क्षेत्र' जो है—जिस द्रव्यवाला जैसा है—जिनका आश्रय है, जिन विकारोंवाला है—जो इसके विकार हैं,

उत्पन्नं **यस्मै प्रयोजनाय उत्पन्नम् इत्यर्थः**। यत् **यत्स्वरूपं च इदं** सः च यः **स च क्षेत्रज्ञो यः यत्स्वरूपो** यत्प्रभावः च **ये च अस्य प्रभावाः**, तत् **सर्वं** समासेन **संक्षेपेण मे मत्तः** शृणु ॥ ३ ॥

और जिस कारणसे यह उत्पन्न हुआ है अर्थात् जिस प्रयोजनके लिये उत्पन्न हुआ है, एवं यह जिस स्वरूपवाला है, तथा वह 'क्षेत्रज्ञ' भी जिस स्वरूपवाला और जिस प्रभाववाला है—उसके जो प्रभाव हैं, वह सब तू मुझसे संक्षेपमें सुन ॥ ३ ॥

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ४ ॥

(क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके स्वरूपका वर्णन) ऋषियोंके द्वारा बहुत प्रकारसे किया गया है, नाना प्रकारके वेद-मन्त्रोंके द्वारा पृथक्-पृथक् कहा गया है और ऐसे ही निश्चित अर्थवाले युक्तियुक्त ब्रह्मसूत्रके पदोंसे भी कहा गया है ॥ ४ ॥

तद् **इदं क्षेत्रक्षेत्रज्ञयाथात्म्यम्** ऋषिभिः **पराशरादिभिः** बहुधा **बहुप्रकारं** गीतम् *'अहं त्वं च तथान्ये च भूतैरुह्याम पार्थिव । गुणप्रवाहपतितो भूतवर्गोऽपि यात्ययम् ॥ कर्मवश्या गुणा ह्येते सत्त्वाद्याः पृथिवीपते । अविद्यासञ्चितं कर्म तच्चाशेषेषु जन्तुषु ॥ आत्मा शुद्धोऽक्षरः शान्तो निर्गुणः प्रकृतेः परः । प्रवृद्ध्यपचयौ नास्य चैकस्याखिलजन्तुषु ॥'* (*वि० पु० २ । १३ । ६९–७१*) **तथा** *'पिण्डः पृथग्यतः पुंसः शिरःपाण्यादिलक्षणः ॥*

ऐसा इस क्षेत्र (शरीर) और क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा) के यथार्थ स्वरूपका वर्णन पराशर आदि ऋषियोंके द्वारा बहुत प्रकारसे किया गया है। उदाहरणार्थ—**'राजन् ! मैं, तू और अन्य सभी पञ्चभूतोंके द्वारा ढोये जा रहे हैं। यह पञ्चभूतवर्ग भी गुणोंके प्रवाहमें पड़कर जा रहा है। पृथिवीपते ! ये सत्त्व आदि तीनों गुण भी कर्मोंके वशमें हैं और वे कर्म सब जीवोंमें अविद्याके द्वारा सञ्चित हैं। वस्तुतः आत्मा शुद्ध, अविनाशी, शान्त, निर्गुण और प्रकृतिसे परे है। सब प्राणियोंमें एक रूपसे स्थित इस आत्मतत्त्वकी वृद्धि और क्षय भी नहीं है।'** तथा **'पुरुषका सिर और हाथ आदि लक्षणोंवाला शरीर उससे सर्वथा पृथक् है, अतः**

ततोऽहमिति कुत्रैनां संज्ञां राजन्करोम्यहम् ॥' (वि० पु० २।१३।८९)
तथा च 'किं त्वमेतच्छिरः किं नु ग्रीवा तव तथोदरम् । किमु पादादिकं त्वं वै तवैतत्किं महीपते ॥ समस्तावयवेभ्यस्त्वं पृथक् भूप व्यवस्थितः । कोऽहमित्येव निपुणो भूत्वा चिन्तय पार्थिव ॥' (वि०पु० २।१३।१०२-१०३) **इति ।**

एवं विविक्तयोः द्वयोः वासुदेवात्मकत्वं च आहुः—'इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः सत्त्वं तेजो बलं धृतिः । वासुदेवात्मकान्याहुः क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च ॥' (महा० शान्तिपर्व १४९ । १३६) **इति ।**

छन्दोभिः विविधैः **पृथक् पृथग्विधैः छन्दोभिः ऋग्यजुःसामाथर्वभिः देहात्मनोः स्वरूपं** पृथग् **गीतम्**—'तस्माद्वा एतस्माद् आत्मन आकाशः संभूतः; आकाशाद् वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधीभ्योऽन्नम्, अन्नात् पुरुषः, स वा एष पुरुषः अन्नरसमयः' (तै० उ० २।१) **इति शरीरस्वरूपम् अभिधाय तस्माद् अन्तरं प्राणमयं तस्मात् च अन्तरं**

राजन् ! 'यह मैं हूँ' ऐसी भावना मैं कहाँ करूँ ?' यह भी कहा है कि—

'क्या तू यह सिर है, क्या यह ग्रीवा, क्या यह पेट और क्या ये पैर आदि तू है ? राजन् ! क्या ये सब तेरे हैं ? राजन् ! तू सम्पूर्ण अङ्गोंसे पृथक् है । अब सावधान होकर इस बातका विचार कर कि मैं कौन हूँ ।'

इस प्रकार विभिन्न रूपसे बतलाये हुए क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनोंका वासुदेवात्मक होना भी ऋषियोंने बतलाया है यथा—**'इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, सत्त्व, तेज, बल और धृति तथा क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ सभी वासुदेवात्मक बतलाये गये हैं ।' (अर्थात् इसके आत्मा वासुदेव हैं)**

नाना प्रकारके छन्दोंद्वारा—ऋक्, यजुः, साम और अथर्व—इन चारों वेदोंके द्वारा भी शरीर और आत्माका स्वरूप पृथक्-पृथक् बतलाया गया है । **'ऐसे इस आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ । आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल, जलसे पृथिवी, पृथिवीसे ओषधियाँ, ओषधियोंसे अन्न और अन्नसे पुरुष (शरीर) उत्पन्न हुआ । ऐसा यह पुरुष अन्न और रसमय है'** इस प्रकार शरीरके स्वरूपका वर्णन करके उसके अन्तरमें प्राणमयको और उसके भी अन्तरमें मनोमयको बतलाकर

मनोमयः अभिधाय *'तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयादन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः'* (तै० उ० २ । ४) इति क्षेत्रज्ञस्वरूपम् अभिधाय *'तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात् अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः'* (तै० उ० २ । ५) इति क्षेत्रज्ञस्य अपि अन्तरात्मतया आनन्दमयः परमात्मा अभिहितः ।

एवम् ऋक्सामाथर्वसु च तत्र तत्र क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः पृथग्भावः तयोः ब्रह्मात्मकत्वं च सुस्पष्टं गीतम् ।

'ब्रह्मसूत्रपदैः च एव' ब्रह्मप्रतिपादनसूत्राख्यैः पदैः शारीरकसूत्रैः हेतुमद्भिः हेतुयुक्तैः । विनिश्चितैः निर्णयान्तैः *'न वियदश्रुतेः'* (ब्र० सू० २ । ३ । १) इति आरभ्य क्षेत्रप्रकारनिर्णय उक्तः । *'नात्मा श्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः'* (ब्र० सू० २ । ३ । १७) इत्यारभ्य *'ज्ञोऽत एव'* (ब्र० सू० २ । ३ । १८)

'ऐसे इस मनोमय कोषसे भिन्न उसके अन्तरमें रहनेवाला आत्मा विज्ञानमय है' इस प्रकार क्षेत्रज्ञके स्वरूपका वर्णन किया है । फिर **'ऐसे इस विज्ञानमयसे भी अन्य इसका आन्तरिक आत्मा आनन्दमय है'** इस प्रकार क्षेत्रज्ञका भी अन्तरात्मारूपसे आनन्दमय परमात्माका वर्णन किया गया है ।

इस प्रकार ऋक्, साम और अथर्ववेदमें भी स्थान-स्थानपर क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका पृथक्त्व तथा इन दोनोंका आत्मा ब्रह्म है, यह बात स्पष्टरूपसे कही गयी है ।

'ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव' जो ब्रह्मको प्रतिपादन करनेवाले सूत्र नामक पद हैं, युक्तिसे युक्त हैं तथा भलीभाँति निर्णय करनेवाले हैं ऐसे शारीरक सूत्रोंके पदोंद्वारा भी यही तत्त्व कहा गया है । **'आकाशकी उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि इसमें श्रुति प्रमाण नहीं है'** यहाँसे पूर्वपक्षका आरम्भ करके क्षेत्रके भेदोंका निर्णय कहा गया है, (वहाँ जड-प्रकृतिके कार्योंको उत्पत्तिशील बताया गया है) तथा **'आत्मा उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि इसमें श्रुति प्रमाण है तथा उन श्रुतियोंसे उसका नित्यत्व भी प्रतिपादित है'** यहाँसे लेकर **'इसीलिये वह जाननेवाला है'** इत्यादि

इत्यादिभिः क्षेत्रज्ञयाथात्म्यनिर्णय उक्तः । 'परात्तु तच्छ्रुतेः' (ब्र० सू० २ । ३ । ४१) इति च भगवत्प्रवर्त्यत्वेन भगवदात्मकत्वम् उक्तम् ।

एवं बहुधा गीतं क्षेत्रक्षेत्रज्ञ-याथात्म्यं मया संक्षेपेण सुस्पष्टम् उच्यमानं शृणु इति अर्थः ॥ ४ ॥

सूत्रोंद्वारा क्षेत्रज्ञके यथार्थ स्वरूपका निर्णय किया गया है (वहाँ आत्माको चेतन और कर्ता, भोक्ता, तथा ज्ञाता सिद्ध किया गया है) इसके बाद **'उसका कर्तृत्व परमात्माके अधीन है; क्योंकि श्रुतिसे यही सिद्ध होता है।'** इस प्रकार सब भगवान्‌के अधीन प्रवृत्तिवाले होनेसे भगवान् ही सबका आत्मा है, यह बात कही है ।

अभिप्राय यह है कि इस प्रकार बहुत तरहसे कहे हुए क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके यथार्थ स्वरूपको मेरे द्वारा संक्षेपमें ही सुस्पष्ट-रूपसे कहा हुआ तू सुन ॥ ४ ॥

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥ ५ ॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतनाधृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ६ ॥

महाभूत, अहङ्कार, बुद्धि, अव्यक्त, दश इन्द्रिय, एक मन, पाँच इन्द्रियोंके विषय, इच्छा , द्वेष, सुख, दुःख, यह चेतनका आधाररूप संघात विकारसहित क्षेत्र संक्षेपमें बतलाया गया है ॥ ५-६ ॥

महाभूतानि अहंकारो बुद्धिः अव्यक्तम् एव च इति क्षेत्रारम्भकद्रव्याणि, पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशमहाभूतानि, अहंकारो भूतादिः, बुद्धिः महान्,

महाभूत, अहङ्कार, बुद्धि और अव्यक्त- ये शरीरको उत्पन्न करनेवाले द्रव्य हैं। पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश— इन पाँचोंका नाम महाभूत है । भूतोंके आदिकारणका नाम अहङ्कार है । महत्तत्त्वका नाम बुद्धि है और प्रकृतिका

अव्यक्तं प्रकृतिः। इन्द्रियाणि दश एकं च पञ्च च इन्द्रियगोचराः, इति क्षेत्राश्रितानि तत्त्वानि, श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानि पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि वाक्पाणिपादपायूपस्थानि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, तानि दश, एकम् इति मनः। इन्द्रियगोचराः च पञ्च शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः ॥ ५ ॥

नाम अव्यक्त है। दश इन्द्रियाँ, एक मन, पाँच इन्द्रियोंके विषय—ये सोलह शरीरके आश्रित रहनेवाले तत्त्व हैं। श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना और घ्राण—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। वाक्, हाथ, पैर, गुदा और उपस्थ—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। ये दश हैं और एक मन है तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच इन्द्रियोंके विषय हैं ॥ ५ ॥

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखम् इति क्षेत्रकार्याणि क्षेत्रविकाराः उच्यन्ते; यद्यपि इच्छाद्वेषसुखदुःखानि आत्मधर्मभूतानि, तथापि आत्मनः क्षेत्रसंबन्धप्रयुक्तानि इति क्षेत्रकार्यतया क्षेत्रविकारा उच्यन्ते। तेषां पुरुषधर्मत्वम् *'पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते'* (१३ । २१) इति वक्ष्यते। संघातः चेतनाधृतिः, आधृतिः आधारः, सुखदुःखे भुञ्जानस्य भोगापवर्गौ साधयतः च चेतनस्य आधारतया उत्पन्नो भूतसंघातः, प्रकृत्यादिपृथिव्यन्तद्रव्यारब्धम् इन्द्रियाश्रयभूतम्, इच्छाद्वेषसुख-

इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख—ये क्षेत्रके कार्य हैं, इसलिये इनको क्षेत्रके विकार कहते हैं। यद्यपि इच्छा, द्वेष, सुख और दुःख—ये आत्माके ही धर्म हैं, तथापि ये आत्मामें क्षेत्रके सम्बन्धसे ही हुए हैं; अतः क्षेत्रके कार्य होनेसे क्षेत्रके विकार कहे जाते हैं। ये पुरुषके धर्म हैं यह बात **'पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते'** इस प्रकार कहेंगे। संघातः चेतनाधृतिः, इसमें 'आधृतिः' पद आधारका वाचक है, अतः यह अभिप्राय है कि सुख-दुःखको भोगनेवाले तथा भोग एवं अपवर्गका साधन करनेवाले चेतनके आधाररूपसे उत्पन्न यह भूतसंघातक्षेत्र है कहनेका अभिप्राय यह है कि जो प्रकृतिसे लेकर पृथिवीतक बतलाये हुए द्रव्योंसे आरम्भ होनेवाला है, इन्द्रियोंका आश्रयभूत है तथा इच्छा-द्वेष और सुख-दुःख जिसके

दुःखविकारिभूतसंघातरूपं चेतनसुख-दुःखोपभोगाधारत्वप्रयोजनं **क्षेत्रम्** इति उक्तं भवति ।

एतत् क्षेत्रं समासेन **संक्षेपेण** सविकारं **सकार्यम्** उदाहृतम् ॥ ६ ॥

विकार हैं चेतनके, सुख-दुःखरूप भोगोंका आधार होना ही जिसका प्रयोजन है, ऐसा यह भूतोंका संघातरूप क्षेत्र है ।

इस प्रकार यह क्षेत्रका स्वरूप संक्षेपसे विकारोंसहित यानी 'उसके कार्यसहित कहा गया ॥ ६ ॥

अथ क्षेत्रकार्येषु आत्मज्ञानसाधन-तया उपादेया गुणाः प्रोच्यन्ते—

अब क्षेत्रके कार्योंमेंसे जो आत्मज्ञानके साधन होनेके कारण ग्रहण करने योग्य हैं, ऐसे गुणोंका वर्णन किया जाता है—

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ ७ ॥

मानहीनता, दम्भहीनता, अहिंसा, क्षमा, सरलता, आचार्यकी उपासना, शौच, स्थिरता और मनका भलीभाँति निग्रह ॥ ७ ॥

अमानित्वम् **उत्कृष्टजनेषु अवधीरणारहितत्वम्** । अदम्भित्वं **धार्मिकत्व-यशःप्रयोजनतया धर्मानुष्ठानं दम्भः तद्रहितत्वम्** । अहिंसा **वाङ्मनःकायैः परपीडारहितत्वम्** । क्षान्तिः **परैः पीड्यमानस्य अपि तान् प्रति अविकृतचित्तत्वम्** । आर्जवं **परान् प्रति वाङ्मनःकायवृत्तीनाम्**

उत्तम पुरुषोंके प्रति तिरस्कारबुद्धिके न होनेका नाम 'अमानित्व' है । धार्मिकपनके यशकी प्राप्तिके लिये धर्मानुष्ठान करनेका नाम दम्भ है, उसके न होनेका नाम 'अदम्भित्व' है । मन, वाणी और शरीरसे दूसरेको पीड़ा न पहुँचानेका नाम 'अहिंसा' है । दूसरोंके द्वारा पीड़ित किये जानेपर भी उनके प्रति चित्तमें विकार न होनेका नाम क्षान्ति (क्षमा) है । दूसरोंके लिये मन, वाणी और शरीरकी एकरूपता (सरलभाव)

एकरूपता । आचार्योपासनम् **आत्मज्ञानप्रद आचार्ये प्रणिपातपरिप्रश्नसेवादिनिरतत्वम् ।** शौचम् **आत्मज्ञानतत्साधनयोग्यता मनोवाक्कायगता शास्त्रसिद्धा ।** स्थैर्यम् **अध्यात्मशास्त्रोदितेषु अर्थेषु निश्चलत्वम् ।** आत्मविनिग्रहः—**आत्मस्वरूपव्यतिरिक्तविषयेभ्यो मनसो निवर्तनम्** ॥ ७ ॥

का नाम 'आर्जव' है । आत्मज्ञान देनेवाले आचार्यको प्रणाम करनेका, उनसे प्रश्न करनेका और उनकी सेवा आदिमें लगे रहनेका नाम 'आचार्यकी उपासना' है । मन, वाणी और शरीरमें आत्मज्ञान और उसके साधनकी शास्त्रसिद्ध योग्यता प्राप्त हो जानेका नाम 'शौच' है । अध्यात्मशास्त्रमें कही हुई बातपर निश्चल भावका नाम 'स्थैर्य' है और आत्मस्वरूपके अतिरिक्त विषयोंसे मनको हटाये रखनेका नाम 'आत्मविनिग्रह' है ॥ ७ ॥

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥

इन्द्रियोंके भोगोंमें वैराग्य और अहङ्कारहीनता तथा जन्म, मृत्यु, जरा-व्याधि एवं दुःखरूप दोषको बार-बार देखना ॥ ८ ॥

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम् **आत्मव्यतिरिक्तेषु विषयेषु सदोषतानुसंधानेन उद्वेजनम् ।** अनहंकारः **अनात्मनि देहे आत्माभिमानरहितत्वम्, प्रदर्शनार्थम् इदम्, अनात्मीयेषु आत्मीयाभिमानरहितत्वं च अपि विवक्षितम् ।** जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्—**सशरीरत्वे जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखस्वरूपस्य दोषस्य अवर्जनीयत्वानुसंधानम्** ॥ ८ ॥

इन्द्रियोंके अर्थोंमें वैराग्य यानी आत्माके अतिरिक्त समस्त विषयोंमें दोषदर्शन करके विरक्त हो जाना, अहंकारहीनता यानी अनात्मा शरीरमें आत्माभिमानका अभाव । यह कहना उपलक्षणमात्र है । अतएव जो अपनी वस्तु नहीं है, उसमें अपनेपनका अभाव भी इससे विवक्षित है । जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि और दुःखरूप दोषोंका देखना—शरीरसे युक्त रहनेतक जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि और दुःखरूप दोष अनिवार्य हैं, इस बातका विचार करते रहना ॥ ८ ॥

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥

अनासक्ति, पुत्र-स्त्री, घर आदिमें अलिप्तता तथा इष्ट और अनिष्टकी प्राप्तियोंमें सदा समचित्त रहना ॥ ९ ॥

असक्तिः **आत्मव्यतिरिक्तविषयेषु सङ्गरहितत्वम्**, अनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु **तेषु शास्त्रीयकर्मोपकरणत्वातिरेकेण आश्लेषरहितत्वम्**; नित्यं च समचित्तत्वम् इष्टानिष्टोपपत्तिषु—**संकल्पप्रभवेषु इष्टानिष्टोपनिपातेषु हर्षोद्वेगरहितत्वम्** ॥ ९ ॥

अनासक्ति—आत्माके अतिरिक्त अन्य विषयोंमें आसक्तिका अभाव । पुत्र, स्त्री और घर आदिमें अभिष्वङ्गका अभाव—उनमें शास्त्रीय कर्मोंकी उपयोगिताके सिवा सम्बन्धका अभाव । इष्ट और अनिष्टकी प्राप्तिमें सदा चित्तकी समता—सङ्कल्पसे होनेवाले इष्ट और अनिष्टकी प्राप्तिमें हर्ष और उद्वेगसे रहित रहना ॥ ९ ॥

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ १० ॥

मुझमें अनन्ययोगसे अव्यभिचारिणी भक्ति, एकान्त देशके सेवन करनेका स्वभाव और जनसमुदायमें अप्रीति ॥ १० ॥

मयि **सर्वेश्वरे** च **ऐकान्तिकयोगेन स्थिरा** भक्तिः **जनवर्जितदेशवासित्वं** जनसंसदि **च अप्रीतिः** ॥ १० ॥

मुझ सर्वेश्वरमें ऐकान्तिक भावसे स्थिर भक्ति । निर्जन देशमें निवास करनेका स्वभाव और जनसमुदायमें अप्रीति ॥ १० ॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ ११ ॥

अध्यात्मज्ञानमें नित्य स्थिति, तत्त्वज्ञानके अर्थका दर्शन; यह (सब) ज्ञान है, इसके विपरीत जो है, वह अज्ञान है, ऐसा कहा है ॥ ११ ॥

आत्मनि ज्ञानम् अध्यात्मज्ञानं तन्निष्ठत्वम्, तत्त्वज्ञानार्थदर्शनं तत्त्वज्ञानप्रयोजनं यत् तत्त्वं तन्निरतत्वम् इत्यर्थः। ज्ञायते अनेन आत्मा इति ज्ञानम् आत्मज्ञानसाधनम् इत्यर्थः। क्षेत्रसंबन्धिनः पुरुषस्य अमानित्वादिकम् उक्तं गुणवृन्दम् एव आत्मज्ञानोपयोगि, एतद्व्यतिरिक्तं सर्वं क्षेत्रकार्यम् आत्मज्ञानविरोधि इति अज्ञानम् ॥ ११ ॥

आत्मविषयक ज्ञानका नाम अध्यात्मज्ञान है, उसमें अविच्छिन्न स्थिति। तत्त्वज्ञानके अर्थको देखना अर्थात् जो तत्त्वज्ञानका फलरूप तत्त्व है, उसमें भलीभाँति रत हो जाना। जिससे आत्माको जाना जाय उसका नाम ज्ञान यानी आत्मज्ञानके साधनका नाम ज्ञान है। अतः क्षेत्रसे सम्बन्ध रखनेवाले मनुष्यके लिये यह बतलाया हुआ अमानित्व आदि गुण-समुदाय ही आत्मज्ञानका उपयोगी है। इससे अतिरिक्त समस्त—क्षेत्रका कार्यमात्र आत्मज्ञानका विरोधी है; अतः वह अज्ञान है ॥ ११ ॥

अथ '*एतद् यो वेत्ति*' (*१३।१*) इति वेदितृत्वलक्षणेन उक्तस्य क्षेत्रज्ञस्य स्वरूपं विशोध्यते—

अब '**एतद् यो वेत्ति**' इस वाक्यमें ज्ञातापनके लक्षणसे बतलाये हुए क्षेत्रज्ञके स्वरूपको स्पष्ट करते हैं—

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥१२॥

जो ज्ञेय है, उसको मैं कहूँगा, जिसको जानकर (मनुष्य) अमृत भोगता है। वह अनादि, मत्पर और ब्रह्म है। वह न सत् और न असत् ही कहा जा सकता है ॥१२॥

अमानित्वादिभिः साधनैः ज्ञेयं प्राप्यं यत् प्रत्यगात्मस्वरूपं तत् प्रवक्ष्यामि, यद् ज्ञात्वा जन्मजरामरणादि-

अमानित्व आदि साधनोंके द्वारा जाननेमें आनेवाला—प्राप्त किया जानेयोग्य जो प्रत्यगात्मा (जीव) का स्वरूप है, वह बतलाऊँगा, जिसको जानकर (मनुष्य) जन्म-जरा और मरण आदि

प्राकृतधर्मरहितम् अमृतम् **आत्मानं प्राप्नोति** । अनादि **आदिर्यस्य न विद्यते तद् अनादि, अस्य हि प्रत्यगात्मन उत्पत्तिः न विद्यते तत एव अन्तो न विद्यते । श्रुतिश्च**—*'न जायते म्रियते वा विपश्चित्'* (क० उ० १ । २ । १८) **इति** ।

मत्परम्—**अहं परो यस्य तद् मत्परम्**—*'इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे परां जीवभूताम्'* (७ । ५) **इति हि उक्तम्, भगवच्छरीरतया भगवच्छेषतैकरसं हि आत्मस्वरूपम् । तथा च श्रुतिः**—*'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति'* (बृ० उ० ३ । ७ । २२) **इति । तथा** *'स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः ।'* (श्वे० उ० ६ । ९) *'प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः'* (श्वे० उ० ६ । १६) **इत्यादिका** ।

ब्रह्म **बृहत्त्वगुणयोगि, शरीरादेः अर्थान्तरभूतम्, स्वतः शरीरादिभिः परिच्छेदरहितं क्षेत्रज्ञतत्त्वम् इत्यर्थः** ।

प्राकृत धर्मोंसे रहित अमृतरूप आत्माको प्राप्त करता है । जिसका आदि न हो वह अनादि है । इस प्रत्यगात्माकी उत्पत्ति नहीं है, इसलिये इसका अन्त भी नहीं है । श्रुति भी कहती है कि **'विपश्चित् (आत्मा) न जन्मता है और न मरता है'** इसलिये वह अनादि है ।

मैं जिसका पर (स्वामी) होऊँ, उसका नाम मत्पर है; क्योंकि **'इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे परां जीवभूताम्'** यह बात पहले कही गयी है । इस प्रकार भगवान्‌का शरीर होनेसे एकमात्र भगवान् ही जिसका स्वामी (शेषी) और आत्मा है, ऐसा आत्माका स्वरूप है । इसलिये वह 'मत्पर' है । यही बात **'जो आत्मामें रहता हुआ आत्माकी अपेक्षा अन्तरतम है, जिसको आत्मा नहीं जानता, जिसका आत्मा शरीर है, जो आत्माके अंदर रहकर उसका नियमन करता है ।'** तथा **'वह सबका कारण और करणाधिपतियोंका भी अधिपति है, इसका कोई न तो जनयिता है और न अधिपति है ।' 'वह प्रधान और पुरुष दोनोंका पति और गुणोंका ईश्वर है ।'** इत्यादि श्रुतियाँ भी कहती हैं ।

तथा वह क्षेत्रज्ञ-तत्त्व ब्रह्म है यानी बृहत्ताके गुणोंसे युक्त है, शरीरसे भिन्न वस्तु है, वास्तवमें शरीरादिके द्वारा परिच्छिन्न

'स चानन्त्याय कल्पते' (श्वे० उ० ५ । ९) इति हि श्रूयते । शरीरपरिच्छिन्नत्वं च अस्य कर्मकृतं कर्मबन्धाद् मुक्तस्य आनन्त्यम् । आत्मनि अपि ब्रह्मशब्दः प्रयुज्यते । '*स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ।*' (१४ । २६) '*ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ॥*' (१४ । २७) '*ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति । समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥*' (१८ । ५४) इति वचनम् ।

नहीं है । क्योंकि **'वह अनन्त पदकी प्राप्तिके योग्य होता है ।'** इस प्रकार श्रुति कहती है । इसका शरीरके द्वारा परिच्छिन्न हो जाना केवल कर्मजनित है । कर्मबन्धनसे मुक्त आत्माका स्वरूप तो अनन्त है । इसलिये आत्माके अर्थमें भी ब्रह्म शब्दका प्रयोग इस प्रकार किया जाता है कि **'स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ।' 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।' 'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति । समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥'**

'न सत् तत् न असद् उच्यते'

कार्यकारणरूपावस्थाद्वयरहिततया सदसच्छब्दाभ्याम् आत्मस्वरूपं न उच्यते ।

वह आत्मतत्त्व न सत् कहा जा सकता है और न असत् ही । यानी कार्य और कारणरूप दोनों अवस्थाओंसे रहित होनेके कारण सत् और असत् इन दोनों शब्दोंके द्वारा आत्माका स्वरूप नहीं बतलाया जा सकता ।

कार्यावस्थायां हि देवादिनामरूपभाक्त्वेन सद् इति उच्यते, तदनर्हतया कारणावस्थायाम् असद् इति उच्यते । तथा च श्रुतिः—'*असद्वा इदमग्र आसीत् । ततो वै सदजायत ।*' (तै० उ० २ । ७) '*तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियते*' (बृ० उ० १ । ४ । ७) इत्यादिका ।

यह कार्य-अवस्थामें स्थित देव आदि नाम और रूपवाला होनेसे ही सत् कहा जाता है और कारण-अवस्थामें वैसा न होनेसे असत् कहा जाता है । यही बात **'पहले यह असत् ही था, पीछे सत् उत्पन्न हुआ ।' 'वही यह पहले उस समय अप्रकट था, वही फिर नाम और रूपके द्वारा प्रकट हुआ है ।'** इत्यादि श्रुतियाँ कहती हैं ।

कार्यकारणावस्थाद्वयान्वयः तु आत्मनः कर्मरूपाविद्यावेष्टनकृतः, न स्वरूपतः, इति सदसच्छब्दाभ्याम् आत्मस्वरूपं न उच्यते।

यद्यपि *'असद्वा इदमग्र आसीत्'* इति कारणावस्थं परं ब्रह्म उच्यते। तथापि नामरूपविभागानर्हसूक्ष्मचिदचिद्वस्तुशरीरं परं ब्रह्म कारणावस्थम् इति कारणावस्थायां क्षेत्रक्षेत्रज्ञस्वरूपम् अपि असच्छब्दवाच्यम्, क्षेत्रज्ञस्य सा अवस्था कर्मकृता इति परिशुद्धस्वरूपं न सदसच्छब्दनिर्देश्यम्॥ १२॥

परन्तु जो कार्य और कारण—इन दोनों अवस्थाओंसे आत्माका सम्बन्ध है, यह कर्मरूप अविद्याके आवेष्टन (आवरण) से हुआ है, वास्तविक नहीं है। इसलिये सत् और असत्—इन दोनों शब्दोंसे आत्माका वर्णन नहीं किया जा सकता।

यद्यपि **'पहले यह सब असत् ही था'** इस श्रुतिमें कारण-अवस्थामें स्थित परम पुरुषका वर्णन है, तो भी यह नाम-रूपके विभागसे रहित सूक्ष्म, जड और चेतन वस्तुमात्रका समुदाय जिसका शरीर है ऐसे कारण-अवस्थामें स्थित परब्रह्मका वर्णन है; इसलिये कारण-अवस्थामें क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका स्वरूप भी असत् शब्दद्वारा कहा जा सकता है। परन्तु क्षेत्रज्ञकी वह अवस्था कर्मजनित है इसलिये उसका शुद्ध स्वरूप सत् और असत् शब्दसे निर्देश किये जाने योग्य नहीं है॥ १२॥

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥ १३॥

वह (आत्मा) सब ओर हाथ-पैरवाला, सब ओर नेत्र, सिर, मुखवाला तथा सब ओर कानवाला है, तथा इस जगत्में सबको ढककरके स्थित हो रहा है॥१३॥

सर्वतःपाणिपादं तत् **परिशुद्धात्मस्वरूपं सर्वतःपाणिपादकार्यशक्तम्,**

वह सब जगह हाथ-पैरवाला है—प्रकृतिके संसर्गसे रहित शुद्ध आत्मा सर्वत्र हाथ-पैरका कार्य करनेमें समर्थ है

तथा सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् सर्वतः-श्रुतिमत् **सर्वतश्चक्षुरादिकार्यकृत्**—

'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः' (श्वे० उ० ३ । १९) **इति परस्य ब्रह्मणः अपाणिपादस्य अपि सर्वतःपाणि-पादादिकार्यकर्तृत्वं श्रूयते । प्रत्य-गात्मनः अपि परिशुद्धस्य तत्साम्या-पत्त्या सर्वतःपाणिपादादिकार्यकर्तृत्वं श्रुतिसिद्धम् एव ।**

'तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' (मु० उ० ३ । १ । ३) **इति हि श्रूयते ।** *'इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।'* (१४ । २) **इति च वक्ष्यते ।**

लोके सर्वम् आवृत्य तिष्ठति इति । **लोके यद् वस्तुजातं तत् सर्वं व्याप्य तिष्ठति; परिशुद्धस्वरूपं देशा-दिपरिच्छेदरहिततया सर्वगतम् इत्यर्थः ॥ १३ ॥**

तथा सब जगह नेत्र, सिर, मुखवाला और सब जगह कानवाला है——सर्वत्र नेत्र आदि सभी इन्द्रियोंका कार्य करनेवाला है ।

'वह परमेश्वर बिना हाथ-पैरके चलने और ग्रहण करनेवाला है, बिना आँखोंके देखता और बिना कानोंके सुनता है' इस प्रकार परब्रह्म-को बिना हाथ-पैरके भी सब ओर हाथ-पैर आदिका कार्य करनेवाला श्रुति बतलाती है । विशुद्ध प्रत्यगात्माको भी उसकी समानता प्राप्त हो जाती है; इसलिये उसका भी सब जगह हाथ, पैर आदि इन्द्रियोंका कार्य करनेमें समर्थ होना श्रुतिसिद्ध ही है ।

'तब ज्ञानी पुण्य-पापोंसे छूट-कर निर्लेप होकर परम पुरुषकी समानताको पा जाता है' यह बात श्रुतिमें कही है । तथा **'इदं ज्ञान-मुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः'** इस प्रकार गीतामें भी आगे कहेंगे ।

वह क्षेत्रज्ञ संसारमें सबको ढककर स्थित हो रहा है——संसारमें जो कुछ वस्तुमात्र है उस सबको व्याप्त किये हुए है । अभिप्राय यह है कि विशुद्ध आत्माका स्वरूप देश आदिके द्वारा परिच्छिन्न न होनेके कारण सर्वव्यापी है ॥ १३ ॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ १४ ॥

वह सब इन्द्रियोंके गुणोंके द्वारा भासमान, सब इन्द्रियोंसे रहित और असक्त है परन्तु सबका धारणकर्ता है और वैसे ही निर्गुण है परन्तु गुणोंका भोक्ता भी है ॥ १४ ॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं **सर्वेन्द्रियगुणैः आभासो यस्य तत् सर्वेन्द्रियगुणाभासम् । इन्द्रियगुणा इन्द्रियवृत्तयः, इन्द्रियवृत्तिभिः अपि विषयान् ज्ञातुं समर्थम् इत्यर्थः । स्वभावतः** सर्वेन्द्रियविवर्जितं **विना एव इन्द्रियवृत्तिभिः स्वत एव सर्वं जानाति इत्यर्थः ।** असक्तं **स्वभावाद् एव देवादिदेहसङ्गरहितम्,** सर्वभृत् च एव **देवादिसर्वदेहभरणसमर्थं च ।** *'स एकधा भवति (द्विधा भवति) त्रिधा भवति'* (छा० उ० ७ । २६ । २) **इत्यादिश्रुतेः ।**

निर्गुणं **तथा स्वभावतः सत्त्वादिगुणरहितं** गुणभोक्तृ च **सत्त्वादीनां गुणानां भोगसमर्थं च ॥ १४ ॥**

सम्पूर्ण इन्द्रियोंके गुणोंके द्वारा जिसका आभास हो, उसका नाम 'सर्वेन्द्रियगुणाभास' है । इन्द्रियोंकी वृत्तियोंका नाम इन्द्रियगुण है । अभिप्राय यह है कि वह आत्मा इन्द्रियोंकी वृत्तियोंके द्वारा भी विषयोंको जाननेमें समर्थ है, परन्तु स्वभावसे सब इन्द्रियोंसे रहित है—बिना इन्द्रियोंकी वृत्तियोंके अपने-आप ही सब कुछ जानता है । तथा स्वभावसे तो देव-मनुष्यादि शरीरोंसे संगरहित है पर वैसे देव-मनुष्यादि सब शरीरोंको धारण करनेमें समर्थ भी है । यह बात **'वह एक प्रकारका होता है, दो प्रकारका होता है, तीन प्रकारका होता है'** इत्यादि श्रुतिसे सिद्ध है ।

तथा वह आत्मा स्वभावसे सत्त्वादि गुणोंसे रहित है; परन्तु सत्त्वादि गुणोंको भोगनेमें समर्थ भी है ॥ १४ ॥

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥ १५ ॥

वह भूतोंके अंदर और बाहर है, चर और अचर भी है। सूक्ष्म होनेसे अविज्ञेय है; वह दूरस्थ भी है और समीप भी ॥ १५ ॥

पृथिव्यादीनि भूतानि परित्यज्य अशरीरो बहिः **वर्तते; तेषाम्** अन्तः च **वर्तते**। *'जक्षन् क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा'* (छा० उ० ८ । १२ । ३) **इत्यादिश्रुतिसिद्धस्वच्छन्दवृत्तिषु,** अचरं चरम् एव च-**स्वभावतः अचरं चरं च देहित्वे**। सूक्ष्मत्वात् तद् अविज्ञेयम्, **एवं सर्वशक्तियुक्तं सर्वज्ञं तद् आत्मतत्त्वम् अस्मिन् क्षेत्रे वर्तमानम् अपि अतिसूक्ष्मत्वाद् देहात् पृथक्त्वेन संसारिभिः अविज्ञेयम्।**

पृथिवी आदि भूतोंका परित्याग करके शरीररहित होनेपर उनके बाहर रहता है, और (साधारण स्थितिमें) उनके भीतर भी रहता है। **'भोजन करता हुआ, स्त्रियोंसे क्रीडा करता हुआ, या रथ आदि यानोंद्वारा भ्रमण करता हुआ'** इत्यादि श्रुतियोंसे सिद्ध स्वच्छन्द प्रवृत्तियोंमें वह अचर होते हुए भी चर है—स्वभावसे तो अचर है, किन्तु शरीरके संयोगसे चर है। तथा सूक्ष्म होनेके कारण वह अविज्ञेय है। इस प्रकार वह सर्वशक्तिसम्पन्न सर्वज्ञ आत्मतत्त्व इस शरीरमें (पृथग्भावसे) रहता हुआ भी बहुत सूक्ष्म होनेके कारण संसारी मनुष्योंके द्वारा शरीरसे पृथक् रूपमें नहीं समझा जाता।

दूरस्थं च अन्तिके च तत्, **अमानित्वाद्युक्तगुणरहितानां विपरीतगुणानां पुंसां स्वदेहे वर्तमानम् अपि अतिदूरस्थम्, तथा अमानित्वादिगुणोपेतानां तद् एव अन्तिके च वर्तते** ॥ १५ ॥

वह दूरीपर स्थित है और समीपमें भी है। अभिप्राय यह है कि पूर्वोक्त अमानित्वादि गुणोंसे रहित और विपरीत गुणोंसे युक्त पुरुषोंके लिये तो उनके शरीरमें रहता हुआ भी (वह) बहुत दूर है; और अमानित्वादि गुणोंसे युक्त पुरुषोंके लिये वही समीपमें रहता है॥ १५॥

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥१६॥

वह सब भूतोंमें अविभक्त होनेपर भी विभक्तके सदृश स्थित है। तथा वह ज्ञेयतत्त्व सब भूतोंका भर्ता, ग्रसनेवाला और उत्पन्न करनेवाला भी है ॥१६॥

देवमनुष्यादिभूतेषु सर्वत्र स्थितम् आत्मवस्तु वेदितृत्वैकाकारतया अविभक्तम्; **अविदुषां देवाद्याकारेण 'अयं देवो मनुष्यः' इति** विभक्तम् इव च स्थितम्।

देवता, मनुष्य आदि समस्त प्राणियोंमें सर्वत्र स्थित आत्मतत्त्व ज्ञातापनकी एकाकारतासे विभागरहित है, परन्तु अज्ञानियोंकी समझमें देवता आदिके आकारमें 'यह देव है, यह मनुष्य है' इस प्रकार विभक्तके सदृश स्थित है।

'देवः अहम्' मनुष्यः अहम् इति देहसामानाधिकरण्येन अनुसंधीयमानम् अपि वेदितृत्वेन देहाद् अर्थान्तरभूतं ज्ञातुं शक्यम् इति आदौ उक्तम् 'एतद् यो वेत्ति' (१३ । १) **इति**।

'मैं देव हूँ, मैं मनुष्य हूँ,' इस प्रकार शरीरकी समानाधिकरणतासे समझा जाता हुआ भी ज्ञाता होनेके कारण आत्मा शरीरसे भिन्न वस्तु है, यह बात जानी जा सकती है, यह तो **'एतद् यो वेत्ति'** इस श्लोकमें पहले कहा गया है।

इदानीं प्रकारान्तरैः च देहाद् अर्थान्तरत्वेन ज्ञातुं शक्यम् इति आह— भूतभर्तृ च **इति**।

अब 'वह भूतोंको धारण करनेवाला है', इस कथनसे यह बात कहते हैं कि प्रकारान्तरसे भी आत्माको शरीरसे पृथक् रूपमें जाना जा सकता है;

भूतानां पृथिव्यादीनां देहरूपेण संहतानां यद् भर्तृ तद् **भर्तव्येभ्यो भूतेभ्यः अर्थान्तरं** ज्ञेयम्, **अर्थान्तरम् इति ज्ञातुं शक्यम् इत्यर्थः। तथा** ग्रसिष्णु **अन्नादीनां भौतिकानां ग्रसिष्णु,**

अभिप्राय यह है कि शरीररूपसे संघटित पृथिवी आदि भूतोंका जो धारण करनेवाला है, वह ज्ञेयतत्त्व धारण किये जानेवाले भूतोंसे भिन्न है, अतः आत्मा शरीरसे भिन्न तत्त्व है, यह बात समझी जा सकती है। तथा यह आत्मा ग्रसिष्णु—अन्नादि भौतिक पदार्थोंको ग्रास करने (खाने) वाला है,

'ग्रस्यमानेभ्यो भूतेभ्यो ग्रसितृत्वेन अर्थान्तरभूतम् इति ज्ञातुं शक्यम् ।

प्रभविष्णु च **प्रभवहेतुः** च ।

ग्रस्तानाम् अन्नादीनाम् आकारान्तरेण परिणतानां प्रभवहेतुः तेभ्यः अर्थान्तरम् इति ज्ञातुं शक्यम् इत्यर्थः ।

मृतशरीरे ग्रसनप्रभवादीनाम् अदर्शनात् न भूतसंघातरूपं क्षेत्रं ग्रसनप्रभवभरणहेतुः इति निश्चीयते ॥ १६ ॥

अतः खाये जानेवाले भूतोंसे आत्मा उनका भक्षक होनेके कारण भिन्न वस्तु है, ऐसा समझा जा सकता है ।

तथा प्रभविष्णु—उत्पत्तिका हेतु भी है । अभिप्राय यह है कि खाये हुए अन्नादि पदार्थोंका, जो कि दूसरे आकारमें परिणत हो जाते हैं, उत्पन्न करनेवाला भी यही है; इसलिये उनसे भिन्न वस्तु है, ऐसा समझा जा सकता है ।

मरे हुए शरीरमें 'खाना' और 'उत्पन्न करना' नहीं देखा जाता इसलिये यह निश्चय होता है कि भूतोंका समुदायरूप शरीर ग्रसन, प्रभव और धारणका हेतु नहीं है ॥१६॥

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥१७॥

वह ज्योतियोंका भी ज्योति और प्रकृतिसे पर कहा जाता है; (वह) ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञानगम्य है तथा सबके हृदयमें स्थित है ॥ १७ ॥

ज्योतिषां **दीपादित्यमणिप्रभृतीनाम्** अपि तद् **एव** ज्योतिः **प्रकाशकम्; दीपादित्यादीनाम् अपि आत्मप्रभारूपं ज्ञानम् एव प्रकाशकम् । दीपादयः तु विषयेन्द्रियसन्निकर्ष-**

दीपक, सूर्य और मणि आदि ज्योतियोंका भी वही ज्योति है—वही प्रकाशक है, क्योंकि दीपक और सूर्य आदिका भी आत्म-प्रभारूप ज्ञान ही प्रकाशक है । दीपक आदि तो विषय और इन्द्रियोंके संयोगमें विघ्न

विरोधिसंतमसनिरसनमात्रं कुर्वते, तावन्मात्रेण एव तेषां प्रकाशकत्वम्।

डालनेवाले अन्धकारका नाशमात्र करते हैं; इतने ही मात्रसे वे प्रकाशक समझे जाते हैं।

तमसः परम् उच्यते—**तमः शब्दः सूक्ष्मावस्थप्रकृतिवचनः, प्रकृतेः परम् उच्यते इत्यर्थः।** अतो ज्ञानं ज्ञेयं **ज्ञानैकाकारम् इति ज्ञेयम्; तत् च** ज्ञानगम्यम **अमानित्वादिभिः उक्तैः ज्ञानसाधनैः प्राप्यम् इत्यर्थः।** हृदि सर्वस्य विष्ठितं **सर्वस्य मनुष्यादेः हृदि विशेषेण अवस्थितं सन्निहितम्॥१७॥**

वह आत्मतत्त्व तमसे श्रेष्ठ कहा जाता है। 'तम' शब्द सूक्ष्म अवस्थामें स्थित प्रकृतिका वाचक है। अतः यह अभिप्राय है कि वह (आत्मा) प्रकृतिसे पर है, इसीलिये वह ज्ञान रूपसे ज्ञेय है यानी केवल ज्ञानस्वरूप है, इस प्रकार जाननेके योग्य है। तथा वह ज्ञानगम्य है यानी बतलाये हुए अमानित्वादि ज्ञान-साधनोंके द्वारा प्राप्त हो सकनेवाला है और सबके हृदयमें स्थित है—मनुष्यादि समस्त प्राणियोंके हृदयमें विशेषरूपसे स्थित है॥ १७॥

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते॥१८॥

इस प्रकार क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय संक्षेपसे कहा गया है। मेरा भक्त इसको जानकर मेरे भावको प्राप्त होनेके योग्य बन जाता है॥ १८॥

एवं *'महाभूतान्यहंकारः'* (१३। ५) **इत्यादिना** *'संघातश्चेतनाधृतिः'* (१३। ६) **इत्यन्तेन क्षेत्रतत्त्वं समासेन उक्तम्।** *'अमानित्वम्'* (१३। ७) **इत्यादिना** *'तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्'* (१३। ११) **इत्यन्तेन ज्ञातव्यस्य आत्मतत्त्वस्य ज्ञानसाधनम् उक्तम्।**

इस प्रकार 'महाभूतान्यहंकारः' यहाँसे लेकर **'संघातश्चेतनाधृतिः'** यहाँतक क्षेत्रका स्वरूप संक्षेपसे कहा गया। **'अमानित्वम्'** यहाँसे लेकर **'तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्'** तकके वर्णनसे ज्ञातव्य आत्मतत्त्वके ज्ञानका साधन बतलाया गया।

'अनादिमत्परम्' (१३।१२) इत्यादिना *'हृदि सर्वस्य विष्ठितम्'* (१३।१७) इत्यन्तेन **ज्ञेयस्य क्षेत्रज्ञस्य याथात्म्यं** च **संक्षेपेण** उक्तम्। मद्भक्त एतत् **क्षेत्रयाथात्म्यं क्षेत्राद् विविक्तात्मस्वरूपप्राप्त्युपाययाथात्म्यं क्षेत्रज्ञयाथात्म्यं च** विज्ञाय मद्भावाय उपपद्यते।

मम यो भावः स्वभावः असंसारित्वम्, असंसारित्वप्राप्तये उपपन्नो भवति इत्यर्थः ॥ १८ ॥

'अनादि मत्परम्' से लेकर **'हृदि सर्वस्य विष्ठितम्'** तक जाननेयोग्य क्षेत्रज्ञका भी यथार्थ स्वरूप संक्षेपसे कहा गया। मेरा भक्त इस क्षेत्रके यथार्थ स्वरूपको तथा क्षेत्रसे पृथक् आत्मस्वरूपकी प्राप्तिके उपायके यथार्थ स्वरूपको एवं क्षेत्रज्ञके यथार्थ स्वरूपको जानकर मेरे भावको प्राप्त होनेका अधिकारी बन जाता है।

मेरा जो भाव—स्वभाव है यानी असंसारित्व है उसे 'मद्भाव' कहते हैं, उस असंसारिभावको प्राप्त होनेका अधिकारी बन जाता है, यह अभिप्राय है ॥ १८ ॥

अथ अत्यन्तविविक्तस्वभावयोः प्रकृत्यात्मनोः संसर्गस्य अनादित्वं संसृष्टयोः द्वयोः कार्यभेदः संसर्गहेतुः च उच्यते—

अब अत्यन्त भिन्न स्वभाववाले प्रकृति और आत्माके संसर्गका अनादित्व तथा परस्पर संयुक्त हुए दोनोंके पृथक्-पृथक् कार्य और दोनोंके संसर्गका कारण भी बतलाते हैं—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥ १९ ॥

प्रकृति और पुरुष इन दोनोंको ही तू अनादि जान। और सब विकारों तथा गुणोंको तू प्रकृतिसे उत्पन्न हुआ जान ॥ १९ ॥

प्रकृतिपुरुषौ उभौ **अन्योन्यसंसृष्टौ** अनादी इति विद्धि। **बन्धहेतुभूतान्** विकारान् **इच्छाद्वेषादीन् अमानित्वा-**

तू ऐसा जान कि एक दूसरेसे संयुक्त हुए प्रकृति और पुरुष ये दोनों अनादि हैं, तथा बन्धनके कारणरूप इच्छा-द्वेष आदि विकारोंको और मोक्षके कारणरूप

दिकान् च गुणान् **मोक्षहेतुभूतान्** प्रकृतिसंभवान् विद्धि ।

पुरुषेण संसृष्टा इयम् अनादिकालप्रवृत्ता क्षेत्राकारपरिणता प्रकृतिः स्वविकारैः इच्छाद्वेषादिभिः पुरुषस्य बन्धहेतुः भवति । सा एव अमानित्वादिभिः स्वविकारैः पुरुषस्यापवर्गहेतुः भवति इत्यर्थः ॥ १९ ॥

अमानित्वादि गुणोंको तू प्रकृतिसे उत्पन्न जान ।

अभिप्राय यह है कि पुरुषके संसर्गमें पड़ी हुई यह अनादि कालसे प्रवृत्त, शरीरके आकारमें परिणत प्रकृति ही अपने विकार इच्छा-द्वेषादिके द्वारा पुरुषको बाँधनेमें कारण होती है । और वही अपने विकार अमानित्वादि गुणोंके द्वारा पुरुषके मोक्षका कारण होती है ॥ १९ ॥

संसृष्टयोः प्रकृतिपुरुषयोः कार्यभेदम् आह—

परस्पर संयुक्त हुए प्रकृति और पुरुषके पृथक्-पृथक् कार्य बतलाते हैं—

कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥ २० ॥

कार्य-कारणके कर्तापनमें प्रकृति हेतु कहलाती है और सुख-दुःखके भोक्तापनमें पुरुष हेतु कहलाता है ॥ २० ॥

कार्यं शरीरं कारणानि ज्ञानकर्मात्मकानि समनस्कानि इन्द्रियाणि, तेषां क्रियाकारित्वे पुरुषाधिष्ठिता प्रकृतिः **एव** हेतुः, **पुरुषाधिष्ठितक्षेत्राकारपरिणतप्रकृत्याश्रया भोगसाधनभूता क्रिया इत्यर्थः ।**

शरीरका नाम कार्य है, और मनके सहित कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ, कारण हैं । उनसे क्रिया करवानेमें पुरुषाधिष्ठित प्रकृति ही कारण है । अभिप्राय यह है कि भोगसाधनरूप क्रिया शरीरके आकारमें परिणत पुरुषाधिष्ठित प्रकृतिके आश्रित है ।

पुरुषस्य तु अधिष्ठातृत्वम् एव तदपेक्षया अधिकं'*कर्ताशास्त्रार्थवत्त्वात्*'

पुरुषका तो केवल अधिष्ठातापन ही उस प्रकृतिकी अपेक्षा अधिक है, यही बात **'कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्'** इत्यादि सूत्रोंमें

(ब्र० सू० २ । ३ । ३३) इत्यादिकम् उक्तम्; शरीराधिष्ठानप्रयत्नहेतुत्वम् एव हि पुरुषस्य कर्तृत्वम् ।

कही गयी है; क्योंकि शरीरके अधिष्ठानका और प्रयत्नका कारण होना ही पुरुषका कर्तापन है ।

प्रकृतिसंसृष्टः पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुः, **सुखदुःखानुभवाश्रयः** इत्यर्थः ॥ २० ॥

प्रकृति-संसर्गसे युक्त पुरुष सुख-दुःखोंके भोगनेमें हेतु है अर्थात् सुख-दुःखोंके अनुभवका आश्रय है ॥ २० ॥

एवम् अन्योन्यसंसृष्टयोः प्रकृतिपुरुषयोः कार्यभेद उक्तः; पुरुषस्य स्वतः स्वानुभवैकसुखस्य अपि वैषयिकसुखदुःखोपभोगहेतुत्वम् आह—

इस प्रकार परस्परसंयुक्त प्रकृति और पुरुषका पृथक्-पृथक् कार्य बतलाया गया, अब यह बतलाते हैं कि स्वतः एकमात्र स्वानुभव सुखस्वरूप होनेपर भी आत्माके विषयजनित सुख-दुःखोंके उपभोगका कारण क्या है—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ २१ ॥

पुरुष प्रकृतिमें स्थित हुआ ही प्रकृतिसे उत्पन्न गुणोंको भोगता है और गुणोंका संग ही उसके अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्मका कारण है ॥ २१ ॥

गुणशब्दः स्वकार्येषु औपचारिकः, स्वतःस्वानुभवैकसुखःपुरुषः प्रकृतिस्थः **प्रकृतिसंसृष्टः** प्रकृतिजान् गुणान् **प्रकृतिसंसर्गौपाधिकान् सत्त्वादिगुणकार्यभूतान् सुखदुःखादीन्** भुङ्क्ते **अनुभवति ।**

'गुण' शब्द यहाँ गुणोंके कार्योंका औपचारिक नाम है । स्वभावसे जो एकमात्र स्वानुभव-सुखस्वरूप है, ऐसा यह पुरुष प्रकृतिमें स्थित होकर—प्रकृतिके संसर्गसे युक्त होकर प्रकृतिजन्य गुणोंको भोगता है यानी प्रकृतिके संसर्गसे उत्पन्न उपाधिस्वरूप सत्त्वादि गुणोंके कार्यरूप सुख-दुःख आदिको भोगता है—उनका अनुभव करता है

प्रकृतिसंसर्गहेतुम् आह—पूर्व-पूर्वप्रकृतिपरिणामरूपदेवमनुष्यादि-योनिविशेषेषु स्थितः अयं पुरुषः तत्तद्योनिप्रयुक्तसत्त्वादिगुणमयेषुसुख-दुःखादिषु सक्तः तत्साधनहेतुभूतेषु पुण्यपापकर्मसु प्रवर्तते, ततः तत्पुण्य-पापफलानुभवाय सदसद्योनिषु साध्व-साधुयोनिषु जायते। ततः च कर्म आरभते, ततः च जायते, यावद् अमानित्वादिकान् आत्मप्राप्तिसाधन-भूतान् गुणान् न सेवते, तावद् एव संसरति, तदिदम् उक्तम्—कारणं गुणसङ्गः अस्य सदसद्योनिजन्मसु। इति ॥ २१ ॥

प्रकृतिका संसर्ग होनेमें जो कारण है, उसे बतलाते हैं—पहले-पहलेवाली प्रकृतिके परिणामरूप देव-मनुष्यादि विभिन्न योनियोंमें स्थित यह पुरुष उन-उन शरीरोंमें प्राप्त सत्त्वादि गुणमय सुख-दुःख आदिमें आसक्त रहकर पुनः उन-उनकी प्राप्तिके साधनरूप पुण्य-पाप कर्मोंमें लगता है। फिर उन पुण्य और पापकर्मोंके फल भोगनेके लिये अच्छी और बुरी योनियोंमें—शुभ और अशुभ योनियोंमें जन्म लेता है। तदनन्तर फिर कर्म करता है और फिर उत्पन्न होता है। इस प्रकार जबतक 'अमानित्वादि' आत्मप्राप्तिके साधनरूप गुणोंका सेवन नहीं करता, तबतक ही आवागमनके चक्रमें पड़ा रहता है। यही बात यहाँ कही है कि 'इस पुरुषके अच्छी-बुरी योनियोंमें उत्पन्न होनेका कारण गुणोंका सङ्ग है' ॥ २१ ॥

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥ २२ ॥

इस शरीरमें (यह) पर पुरुष उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता, भोक्ता, महेश्वर और परमात्मा भी है—ऐसा कहा गया है ॥ २२ ॥

अस्मिन् देहे **अवस्थितो अयं पुरुषो देहप्रवृत्त्यनुगुणसंकल्पादिरूपेण देहस्य** उपद्रष्टा अनुमन्ता च **भवति; तथा**

इस शरीरमें स्थित यह पुरुष शरीरकी प्रवृत्तिके अनुसार किये जानेवाले संकल्पादि-रूपसे शरीरका उपद्रष्टा और अनुमन्ता भी

देहस्य भर्ता **च भवति; तथा देह-प्रवृत्तिजनितसुखदुःखयोः** भोक्ता **च भवति। एवं देहनियमनेन देहभरणेन देहशेषित्वेन च** देहेन्द्रियमनांसि प्रति महेश्वरः **भवति । तथा च वक्ष्यते**—*'शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः। गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥' (१५ । ८)* **इति ।**

अस्मिन्देहे देहेन्द्रियमनांसि प्रति परमात्मा इति च अपि उक्तः। **देहे मनसि च आत्मशब्दः अनन्तरम् एव प्रयुज्यते**—*'ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।' (१३ । २४)* **इति । अपिशब्दात् महेश्वर इति अपि उक्त इति गम्यते ।** पुरुषः परः *'अनादिमत्परम्' (१३।१२)* **इत्यादिना उक्तः अपरिच्छिन्नज्ञानशक्तिः अयं पुरुषः अनादिप्रकृतिसंबन्धकृत-गुणसङ्गात् एतद्देहमात्रमहेश्वरो देह-मात्रपरमात्मा च भवति ॥२२॥**

है। तथा शरीरका भरण-पोषण करनेवाला भी है तथा शरीरकी प्रवृत्तिसे उत्पन्न सुख-दुःखोंका भोक्ता भी है। इस प्रकार शरीरका नियमन और भरण-पोषण करनेके कारण तथा शरीरका शेषी (स्वामी) होनेसे शरीर, इन्द्रिय और मनका महेश्वर भी होता है। यह बात आगे भी इस प्रकार कहेंगे—**'शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः। गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥'**

तथा यह पुरुष इस शरीरमें शरीर, इन्द्रिय और मनके लिये परमात्मा है, ऐसा भी कहा गया है। शरीर और मनके अर्थमें आत्मशब्दका प्रयोग तो यहाँ समीपमें ही **'ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना'** इस श्लोकमें किया गया है। 'अपि' शब्दसे यह अभिप्राय है कि इसी तरह इसको महेश्वर भी कहा जाता है। यह पर पुरुष यानी **'अनादिमत्परम्'** इत्यादि श्लोकोंमें जिसका वर्णन किया गया है, ऐसा यह अपरिच्छिन्न ज्ञानशक्तियुक्त पुरुष अनादि प्रकृतिसम्बन्धजनित गुणसङ्गसे इस शरीरमात्रका महेश्वर और शरीरमात्रका परमात्मा होता है ॥ २२ ॥

य एनं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥२३॥

जो इस पुरुषको और गुणोंके सहित प्रकृतिको जानता है, वह सब प्रकारसे बर्तता हुआ भी फिर जन्म ग्रहण नहीं करता ॥ २३ ॥

एनम् **उक्तस्वभावं** पुरुषम् **उक्तस्वभावां** च प्रकृतिं **वक्ष्यमाणस्वभावयुक्तैः सत्त्वादिभिः** गुणैः सह यो वेत्ति **यथावद् विवेकेन जानाति** स सर्वथा **देवमनुष्यादिदेहेषु अतिमात्रक्लिष्टप्रकारेण** वर्तमानः अपि न भूयः अभिजायते **न भूयः प्रकृत्या संसर्गमर्हति, अपरिच्छिन्नज्ञानलक्षणम् अपहतपाप्मानम् आत्मानं तद्देहावसानसमये प्राप्नोति इत्यर्थः** ॥ २३ ॥

जो उपर्युक्त स्वभाववाले इस पुरुषको और प्रकृतिको आगे बताये जानेवाले स्वभावसे युक्त सत्त्वादि गुणोंके सहित जानता है—विवेकपूर्वक यथार्थरूपमें जानता है, वह सब प्रकारसे यानी देव-मनुष्यादि शरीरोंमें अत्यन्त क्लिष्ट रीतिसे बर्तता हुआ भी फिर जन्मग्रहण नहीं करता—फिर प्रकृतिके संसर्गमें आनेयोग्य नहीं रहता । अभिप्राय यह है कि उस शरीरका त्याग करते समय अपरिच्छिन्न ज्ञानस्वरूप निष्पाप आत्मस्वरूपको प्राप्त हो जाता है ॥ २३ ॥

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥२४॥

कितने ही पुरुष आत्मा (शरीर) में स्थित आत्माको आत्मा (मन) से ध्यानके द्वारा देखते हैं, कितने ही सांख्ययोगके द्वारा और दूसरे कर्मयोगके द्वारा (देखते हैं) ॥ २४ ॥

केचित् **निष्पन्नयोगा** आत्मनि **शरीरे अवस्थितम्** आत्मानम् आत्मना **मनसा** ध्यानेन **भक्तियोगेन** पश्यन्ति । अन्ये च **अनिष्पन्नयोगाः** सांख्येन

कितने ही सिद्ध योगी आत्मामें—शरीरमें स्थित आत्माको आत्मासे यानी मनसे ध्यानके द्वारा—भक्तियोगके द्वारा देखते हैं । दूसरे जो सिद्धयोगी नहीं

योगेन ज्ञानयोगेन, योगयोग्यं मनः कृत्वा आत्मानं पश्यन्ति । अपरे योगादिषु आत्मावलोकनसाधनेषु अनधिकृता ये ज्ञानयोगानधिकारिणः, तदधिकारिणः च, सुकरोपायसक्ताः व्यपदेश्याः च, कर्मयोगेन अन्तर्गत-ज्ञानेन मनसा योगयोग्यताम् आपाद्य आत्मानं पश्यन्ति ॥ २४ ॥

हैं, वे सांख्ययोगके—ज्ञानयोगके द्वारा मनको योगके योग्य बनाकर आत्माका दर्शन करते हैं । अन्य जो कि आत्म-दर्शनके साधनरूप योग आदिके अधिकारी नहीं हैं और ज्ञानयोगके भी अधिकारी नहीं हैं, या ज्ञानयोगके अधिकारी होनेपर भी उसकी अपेक्षा सरल उपाय चाहते हैं, अथवा जो संसारमें महानता-के नाते प्रसिद्ध हैं, वे लोग ज्ञान जिसके अन्तर्गत है, ऐसे कर्मयोगके द्वारा योगकी योग्यता प्राप्त करके मनसे आत्माको देखते हैं ॥ २४ ॥

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥२५॥

दूसरे (कितने ही) ऐसा न जानते हुए दूसरों (तत्त्वज्ञानियों) से सुनकर उपासना करते हैं । वे श्रुतिपरायण मनुष्य भी मृत्युसे अवश्य तर जाते हैं ॥ २५ ॥

अन्ये तु कर्मयोगादिषु आत्माव-लोकनसाधनेषु अनधिकृताः अन्येभ्यः तत्त्वदर्शिभ्यो ज्ञानिभ्यः श्रुत्वा कर्म-योगादिभिः आत्मानम् उपासते, ते अपि आत्मदर्शनेन मृत्युम् अति-तरन्ति; ये श्रुतिपरायणाः श्रवणमात्र-निष्ठाः, ते च श्रवणनिष्ठाः पूतपापाः

दूसरे जो कि कर्मयोगादि आत्म-दर्शनके साधनोंके अधिकारी नहीं हैं, अन्य तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंसे सुनकर कर्मयोगादिके द्वारा आत्माकी उपासना करते हैं, वे भी आत्मदर्शनके द्वारा मृत्युसे तर जाते हैं । तथा जो श्रुतिपरायण हैं—श्रवण-मात्रमें निष्ठा रखनेवाले हैं, वे श्रवणनिष्ठ पुरुष भी पापोंसे रहित होकर क्रमसे

क्रमेण कर्मयोगादिकम् आरभ्य अतितरन्ति एव मृत्युम् । **अपिशब्दात् च पर्वभेदः अवगम्यते** ॥२५॥

कर्मयोगादिका आरम्भ करके मृत्युसे अवश्य तर जाते हैं । यहाँ 'अपि' शब्दसे श्रेणी-भेदकी प्रतीति होती है (अर्थात् पहलेवाले उत्कृष्ट साधक हैं और यह उनकी अपेक्षा निकृष्ट है) ॥ २५ ॥

अथ प्रकृतिसंसृष्टस्य आत्मनो विवेकानुसंधानप्रकारं वक्तुं सर्वं स्थावरं जङ्गमं च सत्त्वं चिदचित्संसर्गजम् इत्याह—

अब प्रकृति-संसर्गसे युक्त आत्मस्वरूप-के विवेक-ज्ञानका प्रकार बतलानेके लिये स्थावर-जङ्गम समस्त प्राणी समुदाय जड-चेतनके संयोगसे उत्पन्न हुआ है, यह कहते हैं—

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥२६॥

भरतश्रेष्ठ अर्जुन ! जो भी चर-अचर प्राणी-जगत् उत्पन्न होता है, उसे तू क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके संयोगसे (उत्पन्न हुआ) जान ॥ २६ ॥

यावत् **स्थावरजङ्गमात्मना** सत्त्वं जायते **तावत्** क्षेत्रक्षेत्रज्ञ**योरितरेतर**संयोगाद् **एव जायते, संयुक्तम् एव जायते, न तु इतरेतरवियुक्तम् इत्यर्थः** ॥ २६ ॥

चर और अचररूपसे जितने प्राणी उत्पन्न होते हैं, वे सभी क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके पारस्परिक संयोगसे ही उत्पन्न होते हैं । यानी दोनों मिलकर ही उत्पन्न होते हैं न कि एक-दूसरेसे अलग-अलग उत्पन्न होते हैं ॥ २६ ॥

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥२७॥

जो पुरुष समस्त भूतप्राणियोंमें शरीरादिके नष्ट होते हुए भी उनके स्वामी आत्माको नाशरहित तथा समभावसे स्थित देखता है, वही (यथार्थ) देखता है ॥२७॥

एवम् इतरेतरयुक्तेषु सर्वेषु भूतेषु **देवादिविषमाकाराद् वियुक्तं तत्र तत्र तत्तद्देहेन्द्रियमनांसि प्रति परमेश्वरत्वेन स्थितम् आत्मानं ज्ञातृत्वेन समानाकारं तेषु देहादिषु** विनश्यत्सु **विनाशानर्हस्वभावेन** अविनश्यन्तं यः पश्यति, स पश्यति, **स आत्मानं यथावद् अवस्थितं पश्यति । यस्तु देवादिविषमाकारेण आत्मानम् अपि विषमाकारं जन्मविनाशादियुक्तं च पश्यति, स नित्यम् एव संसरति इति अभिप्रायः ॥ २७ ॥**

इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनोंके परस्पर संयोगसे युक्त होकर उत्पन्न हुए समस्त प्राणियोंमें जो उन देव-मनुष्यादि विषम आकृतियोंसे पृथक् है तथा उन-उन शरीर, इन्द्रिय और मनके लिये परमेश्वर होकर रहनेवाला है उस आत्माको जो मनुष्य उन नष्ट होनेवाले शरीरादिमें ज्ञातारूपसे समानाकार तथा विनाशी स्वभाववाला न होनेसे नष्ट न होता हुआ देखता है, वही देखता है । वही आत्माको यथार्थरूपसे स्थित देखता है । अभिप्राय यह है कि जो देव-मनुष्यादि शरीरोंकी विषमाकारताके कारण आत्माको भी विषमाकार देखता है तथा जो आत्माको जन्म-मृत्यु आदिसे युक्त देखता है, वह सदा आवागमनके चक्रमें पड़ा रहता है ॥ २७ ॥

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥ २८ ॥

क्योंकि सर्वत्र समभावसे स्थित ईश्वरको एक समान देखता हुआ वह आत्मा (मन) के द्वारा आत्माका हनन नहीं करता, इसलिये वह परमगतिको प्राप्त होता है ॥ २८ ॥

सर्वत्र **देवादिशरीरेषु तत्तच्छेषित्वेन आधारतया नियन्तृतया च** स्थितम् ईश्वरम् **आत्मानं देवादि-**

सर्वत्र—देव-मनुष्यादि सब शरीरोंमें उन-उनके शेषी (स्वामी), आधार और नियन्तारूपमें स्थित ईश्वर—आत्माको देवादि विषमाकारसे रहित

विषमाकारवियुक्तं ज्ञानैकाकारतया समं पश्यन् आत्मना **मनसा स्वम्** आत्मानं न हिनस्ति **रक्षति, संसारात् मोचयति** । ततः **तस्माद् ज्ञातृतया सर्वत्र समानाकारदर्शनात्** परां गतिं याति ।

गम्यत इति गतिः, परं गन्तव्यं यथावद् अवस्थितम् आत्मानं प्राप्नोति । देवाद्याकारयुक्ततया सर्वत्र विषमम् आत्मानं पश्यन् आत्मानं हिनस्ति, भवजलधिमध्ये प्रक्षिपति ॥ २८ ॥

ज्ञानकी एकाकारतासे सम देखनेवाला पुरुष आत्मासे यानी मनसे अपने आत्माकी हिंसा नहीं करता, उसकी रक्षा करता है, उसे संसारसे मुक्त करता है। इस कारण यानी ज्ञातारूपसे सर्वत्र समानाकार देखनेके कारण वह परम गतिको प्राप्त हो जाता है ।

जो प्राप्त किया जाय उसका नाम गति है अतः अभिप्राय यह है कि वह परम प्राप्य यथार्थ स्वरूपमें स्थित आत्माको प्राप्त हो जाता है; परन्तु जो देवादिके आकारसे युक्त होनेके कारण आत्माको सर्वत्र विषमाकार देखता है, वह आत्माकी हिंसा करता है—उसे भवसागरमें डालता है ॥ २८ ॥

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥२९॥

जो कर्मोंको सब प्रकारसे प्रकृतिके द्वारा ही किये हुए देखता है और आत्माको अकर्ता देखता है, वह (यथार्थ) देखता है ॥ २९ ॥

सर्वाणि कर्माणि '*कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते*' (१३ । २०) **इति पूर्वोक्तरीत्या** प्रकृत्या क्रियमाणानि **इति** यः पश्यति तथा आत्मानम् अकर्तारं **ज्ञानाकारं च यः पश्यति, तस्य प्रकृतिसंयोगः तदधिष्ठानं तज्जन्य-**

'कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते' इस पहले बतलायी हुई रीतिसे जो पुरुष समस्त कर्मोंको प्रकृतिके द्वारा किये हुए देखता है तथा जो आत्माको ज्ञानस्वरूप और अकर्ता देखता है, एवं जो उस आत्माका प्रकृतिके साथ संयोग, उसका अधिष्ठान होना और उस

सुखदुःखानुभवः च कर्मरूपाज्ञानकृतानि इति च यः पश्यति, स आत्मानं यथावद् अवस्थितं पश्यति ॥ २९ ॥

संयोगसे होनेवाले सुख-दुःखोंका अनुभव, इन सबको कर्मरूप अज्ञानसे उत्पन्न समझता है, वह आत्माको यथार्थ स्थितिमें देखता है ॥ २९ ॥

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥३०॥

जब यह भूतोंके पृथक् भावको एक (प्रकृति) में स्थित और उस (प्रकृति) से ही (भूतोंके) विस्तारको देखता है, तब वह ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है ॥ ३० ॥

प्रकृतिपुरुषतत्त्वद्वयात्मकेषु देवादिषु सर्वेषु भूतेषु सत्सु तेषां देवत्वमनुष्यत्वह्रस्वत्वदीर्घत्वादि पृथग्भावम् एकस्थम् **एकतत्त्वस्थं प्रकृतिस्थं** यदा पश्यति, **नआत्मस्थम्,** ततं एव **प्रकृतित एव उत्तरोत्तरपुत्रपौत्रादिभेद**विस्तारं च **यदा पश्यति,** तदा **एव** ब्रह्म संपद्यते **अनवच्छिन्नज्ञानैकाकारम् आत्मानं प्राप्नोति इत्यर्थः** ॥ ३० ॥

जिस समय मनुष्य प्रकृति और पुरुष इन दो तत्त्वोंसे बने हुए देव-मनुष्यादि सम्पूर्ण भूतप्राणियोंमें उन सब भूतोंके देवत्व, मनुष्यत्व, ह्रस्वत्व (छोटेपन), दीर्घत्व (बड़ेपन) इत्यादि विभिन्न भावोंको एकमें स्थित—एक तत्त्वमें स्थित यानी प्रकृतिमें स्थित देखता है, आत्मामें स्थित नहीं देखता है तथा जब प्रकृतिसे ही उत्तरोत्तर पुत्र-पौत्रादिके भेदके विस्तारको देखता है, उसी समय ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है—अविभक्त एकमात्र ज्ञानस्वरूप आत्माको प्राप्त कर लेता है ॥ ३० ॥

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥३१॥

कुन्तीपुत्र अर्जुन ! अनादि और निर्गुण होनेसे यह अव्यय परमात्मा शरीरमें स्थित हुआ भी न (कुछ) करता है और न लिप्त होता है ॥ ३१ ॥

अयं परमात्मा **देहात् निष्कृष्य स्वभावेन निरूपितः**, शरीरस्थः अपि अनादित्वाद् **अनारभ्यत्वाद्** अव्ययः **व्ययरहितः** । निर्गुणत्वात् **सत्त्वादिगुणरहितत्वात्** न करोति न लिप्यते । **देहस्वभावैः न लिप्यते, न बध्यते** ॥ ३१ ॥

शरीरसे अलग बतलाकर अपने स्वरूपसे निरूपण किया हुआ यह परमात्मा शरीरमें स्थित हुआ भी अनादि—आरम्भरहित होनेके कारण अव्यय—व्ययरहित है । और निर्गुण—सत्त्व आदि गुणोंसे रहित होनेके कारण न तो कुछ करता है और न लिप्त होता है । अर्थात् शरीरके स्वभावोंसे लिप्त नहीं होता है—बँधता नहीं है ॥ ३१ ॥

यद्यपि निर्गुणत्वात् न करोति, नित्यसंयुक्तः देहस्वभावैः कथं न लिप्यते ? इत्यत्र आह—

यद्यपि आत्मा निर्गुण होनेके कारण कुछ करता नहीं, यह कहना ठीक है, परन्तु शरीरसे संयुक्त रहकर भी वह शरीरके स्वभावोंसे लिप्त कैसे नहीं होता ? इसपर कहते हैं—

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥३२॥

जैसे सर्वगत आकाश सूक्ष्म होनेके कारण लिप्त नहीं होता, वैसे ही शरीरमें सर्वत्र स्थित हुआ भी आत्मा लिप्त नहीं होता ॥ ३२ ॥

यथा आकाशं सर्वगतम् **अपि सर्वैः वस्तुभिः संयुक्तम् अपि** सौक्ष्म्यात् **सर्ववस्तुस्वभावैः** न लिप्यते, तथा आत्मा **अतिसौक्ष्म्यात्** सर्वत्र **देवमनुष्यादौ**

जैसे आकाश सर्वगत—समस्त वस्तुओंसे संयुक्त होनेपर भी सूक्ष्म होनेके कारण सब वस्तुओंके स्वभावोंसे लिप्त नहीं होता, वैसे ही आत्मा अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण सर्वत्र—देव-

देहे अवस्थितः **अपि तत्तद्देहस्वभावैः** न लिप्यते ॥ ३२ ॥

मनुष्यादि समस्त शरीरोंमें स्थित हुआ भी उन-उन शरीरोंके स्वभावसे लिप्त नहीं होता ॥ ३२ ॥

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥ ३३ ॥

भारत ! जैसे एक ही सूर्य इस समस्त लोकको प्रकाशित करता है, वैसे ही क्षेत्रज्ञ समस्त क्षेत्रको प्रकाशित करता है ॥ ३३ ॥

यथा एक **आदित्यः स्वया प्रभया** कृत्स्नम् इमं लोकं प्रकाशयति, तथा क्षेत्रम् **अपि** क्षेत्री **मम इदं क्षेत्रम् ईदृशम् इति** कृत्स्नं **बहिः अन्तः च आपादतलमस्तकं स्वकीयेन ज्ञानेन** प्रकाशयति । **अतः प्रकाश्यात् लोकात् प्रकाशकादित्यवद् वेदितृत्वेन वेद्यभूताद् असात् क्षेत्राद् अत्यन्तविलक्षणः अयम् उक्तलक्षण आत्मा इत्यर्थः** ॥ ३३ ॥

जैसे एक ही सूर्य अपनी प्रभासे इस सम्पूर्ण लोकको प्रकाशित करता है, वैसे ही क्षेत्री (आत्मा) भी, 'यह मेरा क्षेत्र (शरीर) ऐसा है' इस प्रकार बाहर और भीतर पैरोंके तलुवेसे लेकर मस्तकपर्यन्त सारे शरीरको अपने ज्ञानसे प्रकाशित करता है । अतः यह अभिप्राय है कि जिस प्रकार प्रकाश्य लोकसे उसका प्रकाशक सूर्य अत्यन्त भिन्न है, उसी प्रकार यह उपर्युक्त लक्षणोंवाला आत्मा ज्ञाता होनेके कारण ज्ञेयरूप इस शरीरसे अत्यन्त विलक्षण है ॥ ३३ ॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥ ३४ ॥

इस प्रकार क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके भेदको और भूत-प्रकृतिके मोक्षको (अमानित्वादि उपायको) जो ज्ञाननेत्रोंके द्वारा जान लेते हैं, वे परम तत्त्वको प्राप्त होते हैं ॥ ३४ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

एवम् **उक्तेन प्रकारेण** क्षेत्र-क्षेत्रज्ञयोः अन्तरं **विशेषं विवेकविषय-ज्ञानाख्येन** चक्षुषा ये विदुः भूत-प्रकृतिमोक्षं च, ते परं यान्ति **निर्मुक्त-बन्धनम् आत्मानं प्राप्नुवन्ति ।**

मोक्ष्यते अनेन इति मोक्षः, अमानित्वादिकम् उक्तं मोक्षसाधनम् इत्यर्थः । क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः विवेकविषयेण उक्तेन ज्ञानेन तयोः विवेकं विदित्वा भूताकारपरिणतप्रकृतिमोक्षोपायम् अमानित्वादिकं च अवगम्य ये आचरन्ति, ते निर्मुक्तबन्धाः स्वेन रूपेण अवस्थितम् अनवच्छिन्नज्ञान-लक्षणम् आत्मानं प्राप्नुवन्ति इत्यर्थः ॥ ३४ ॥

इति श्रीमद्भगवद्रामानुजाचार्यविरचिते श्रीमद्भगवद्गीताभाष्ये त्रयो-दशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

जो पुरुष इस बतलाये हुए प्रकारसे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेदको विवेकविषयक ज्ञानरूप नेत्रोंके द्वारा जान लेते हैं, तथा जो भूत-प्रकृतिके मोक्षको भी जान लेते हैं, वे परमतत्त्वको — बन्धनरहित आत्माको प्राप्त हो जाते हैं ।

जिसके द्वारा छुड़ाया जाय उसका नाम मोक्ष है, इस व्युत्पत्तिके अनुसार पहले बतलाये हुए अमानित्वादि मोक्षसाधनका नाम यहाँ मोक्ष है । अभिप्राय यह है कि जो साधक क्षेत्र और क्षेत्रज्ञसम्बन्धी विवेक-विषयक उक्त ज्ञानके द्वारा उन दोनोंके भेदको जानकर तथा भूतोंके आकारमें परिणत प्रकृतिसे छूटनेके उपायरूप अमानित्व आदि गुणोंको समझकर वैसा ही आचरण करते हैं, वे बन्धनसे मुक्त होकर अपने स्वरूपमें स्थित अविभक्त ज्ञानस्वरूप आत्माको प्राप्त कर लेते हैं ॥ ३४ ॥

इस प्रकार श्रीमान् भगवान् रामानुजाचार्य-द्वारा रचित गीता-भाष्यके हिन्दी-भाषानुवादका तेरहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १३ ॥

ॐ

चौदहवाँ अध्याय

त्रयोदशे प्रकृतिपुरुषयोः अन्योन्यसंसृष्टयोः स्वरूपयाथात्म्यं विज्ञाय अमानित्वादिभिः भगवद्भक्त्या अनुगृहीतैः बन्धात् मुच्यते इति उक्तम्; तत्र बन्धहेतुः पूर्वपूर्वसत्त्वादिगुणमयसुखादिसङ्गः इति च अभिहितम् 'कारणंगुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥' (१३। २१) इति।

अथ इदानीं गुणानां बन्धहेतुताप्रकारो गुणनिवर्तनप्रकारः च उच्यते—

तेरहवें अध्यायमें यह कहा गया कि परस्परसंयुक्त हुए प्रकृति और पुरुषका यथार्थ स्वरूप जानकर भगवद्भक्तिके साथ अमानित्वादि गुणोंके सेवनद्वारा मनुष्य बन्धनसे मुक्त हो जाता है। उसी अध्यायमें **'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥'** इस श्लोकसे यह भी कहा है कि पूर्व-पूर्व जन्मोंमें प्राप्त सत्त्वादि गुणोंके कार्यरूप सुखदुःखादिका सङ्ग ही इसके बन्धनका कारण है।

अब इस अध्यायमें, गुण किस प्रकार बन्धन करते हैं और किस प्रकार उनको हटाया जा सकता है, यह बतलाया जाता है—

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः॥ १॥

श्रीभगवान् बोले—मैं ज्ञानोंमें उत्तम परम ज्ञानको फिर कहता हूँ, जिसको जानकर सब मुनि इस संसारसे (छूटकर) परमसिद्धिको प्राप्त हो चुके हैं॥१॥

परं **पूर्वोक्ताद् अन्यत् प्रकृतिपुरुषान्तर्गतम् एव सत्त्वादिगुणविषयं ज्ञानं** भूयः प्रवक्ष्यामि; **तत् च ज्ञानं**

प्रकृति और पुरुषविषयक ज्ञानोंके अन्तर्गत ही सत्त्वादि गुणविषयक परम ज्ञान—जो पहले कहे हुए ज्ञानसे भिन्न है, मैं तुझे फिर कहता हूँ। वह ज्ञान

सर्वेषां प्रकृतिपुरुषविषयज्ञानानाम् उत्तमम्; यद् **ज्ञानं** ज्ञात्वा सर्वे मुनयः **तन्मननशीलाः** इतः **संसारमण्डलात्** परां सिद्धिं गताः **परिशुद्धात्मस्वरूप-प्राप्तिरूपां सिद्धिम्** **अवाप्ताः** ॥ १ ॥

प्रकृति-पुरुषविषयक समस्त ज्ञानोंमें उत्तम है और यह ऐसा है कि जिसको जानकर उसका मनन करनेवाले सब मुनि इस संसारमण्डलसे (छूटकर) परमसिद्धिको प्राप्त हो गये हैं—परिशुद्ध आत्मस्वरूपकी प्राप्तिरूप सिद्धिको प्राप्त हो चुके हैं ॥ १ ॥

पुनः अपि तद् ज्ञानं फलेन विशिनष्टि—

फिर और भी उस ज्ञानका फल बतलाकर विस्तार करते हैं—

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ २ ॥

इस ज्ञानका आश्रय लेकर मेरे साधर्म्यको प्राप्त हुए पुरुष न तो सृष्टिकालमें उत्पन्न होते हैं और न प्रलयकालमें व्यथित होते हैं ॥ २ ॥

इदं **वक्ष्यमाणं** ज्ञानम् उपाश्रित्य मम साधर्म्यम् आगताः **मत्साम्यं प्राप्ताः,** सर्गे अपि न उपजायन्ते **न सृजिकर्मतां भजन्ते,** प्रलये न व्यथन्ति च, **न च संहृतिकर्मतां भजन्ते** ॥ २ ॥

इस आगे कहे जानेवाले ज्ञानका आश्रय लेकर मेरी समताको प्राप्त हुए पुरुष सृष्टिकालमें उत्पन्न नहीं होते—यानी मेरी रचनाके कार्य नहीं बनते और प्रलयकालमें व्यथित भी नहीं होते यानी संहार-क्रियाके भी कार्य नहीं बनते (अर्थात् उनका नाश भी नहीं होता) ॥ २ ॥

अथ प्राकृतानां गुणानां बन्धहेतुताप्रकारं वक्तुं सर्वस्य भूतजातस्य प्रकृतिपुरुषसंसर्गजत्वम् *'यावत्संजायते*

अब प्राकृत गुण किस प्रकार बन्धनके हेतु होते हैं, यह बतलानेके लिये कहते हैं कि **'यावत् संजायते किञ्चित्'** इस श्लोकके द्वारा बतलाया

किञ्चित्' (१३ । २६) **इत्यनेन उक्तं भगवता स्वेन एव कृतम् इत्याह—**

हुआ सम्पूर्ण प्राणीमात्रका प्रकृति-पुरुषके संयोगसे उत्पन्न होना स्वयं भगवान्‌की ही रचना है (स्वतन्त्र नहीं)—

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ ३ ॥

भारत ! मेरी महद्ब्रह्म योनि (प्रकृति) है, उसमें मैं गर्भको स्थापन करता हूँ, उस (संयोग) से समस्त भूतोंकी उत्पत्ति होती है ॥ ३ ॥

मम **मदीयं कृत्स्नस्य जगतो** योनि-**भूतं** महद् ब्रह्म **यत्** तस्मिन् गर्भं दधामि अहम् । *'भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च । अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ अपरेयम्'* (७ । ४-५) **इति निर्दिष्टा अचेतना प्रकृतिः महदहंकारादिविकाराणां कारणतया 'महद्ब्रह्म' इति उच्यते । श्रुतौ अपि क्वचित् प्रकृतिः अपि ब्रह्म इति निर्दिश्यते ।** *'यः सर्वज्ञः सर्ववित्, यस्य ज्ञानमयं तपः, तस्मादेतद्ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते'* (मु० उ० १ । १ । ९) **इति**

सम्पूर्ण जगत्‌का कारणभूत जो 'महद्ब्रह्म' अर्थात् मेरी प्रकृति है, उसमें मैं गर्भको स्थापन करता हूँ । **'भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च । अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ अपरेयम्'** इस प्रकार निर्देश की हुई जड प्रकृति महत्तत्त्व और अहङ्कार आदि समस्त विकारोंकी कारण होनेसे 'महद्ब्रह्म' नामसे कही जाती है । श्रुतिमें भी कहीं-कहीं प्रकृति भी 'ब्रह्म' नामसे कही जाती है, जैसे **'जो सर्वज्ञ है, सर्वविद् है, जिसका ज्ञानमय तप है, उससे यह ब्रह्म तथा नाम, रूप और अन्न उत्पन्न होता है ।'**

'इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् । जीवभूताम्' (७ । ५) **इति चेतनपुञ्जरूपा या प्रकृतिः निर्दिष्टा, सा इह सकलप्राणिबीजतया गर्भ-शब्देन उच्यते;**

'इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् । जीवभूताम्' इस प्रकार चेतनकी पुञ्जरूपा जो प्रकृति बतलायी गयी है, वह सब प्राणियोंकी बीज होनेके कारण यहाँ गर्भ नामसे कही गयी है ।

तस्मिन् अचेतने योनिभूते महति ब्रह्मणि चेतनपुञ्जरूपं गर्भं दधामि; अचेतनप्रकृत्या भोगक्षेत्रभूतया भोक्तृवर्गपुञ्जभूतां चेतनप्रकृतिं संयोजयामि इत्यर्थः । ततः **तस्मात्** प्रकृतिद्वयसंयोगात् मत्संकल्पकृतात् **सर्वभूतानां** ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानां **सम्भवो भवति** ॥ ३ ॥

उस योनिरूप महद्ब्रह्ममें—जड प्रकृतिमें मैं चेतनके पुञ्जरूप गर्भको स्थापित करता हूँ यानी भोगस्थानरूपा जड प्रकृतिसे भोक्तावर्गके पुञ्जरूप चेतन प्रकृतिको संयुक्त कर देता हूँ । उससे यानी मेरे सङ्कल्पके द्वारा किये हुए दोनों प्रकृतियोंके संयोगसे ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है ॥ ३ ॥

कार्यावस्थः अपि चिदचित्प्रकृति-संसर्गो मया एव कृतः इत्याह—

कार्य-अवस्थामें भी चेतन और अचेतन प्रकृतिका संयोग मेरा (भगवान्‌का) ही किया हुआ है, यह बात कहते हैं—

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ४ ॥

कुन्तीपुत्र अर्जुन ! समस्त योनियोंमें जो मूर्तियाँ उत्पन्न होती हैं, उन सबकी योनि महद्ब्रह्म है और मैं बीज प्रदान करनेवाला पिता हूँ ॥ ४ ॥

सर्वासु देवगन्धर्वयक्षराक्षस-मनुष्यपशुमृगपक्षिसरीसृपादिषु **योनिषु** तत्तन्मूर्तयः **याः संभवन्ति** जायन्ते **तासां ब्रह्म महद् योनिः** कारणं मया संयोजितचेतनवर्गा महदादिविशेषा-न्तावस्था प्रकृतिः कारणम् इत्यर्थः । **अहं बीजप्रदः पिता** तत्र तत्र च

देव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, मनुष्य, पशु, मृग, पक्षी, कीट और सर्प आदि समस्त योनियोंमें जो वैसी-वैसी मूर्तियाँ (शरीरके आकारमें व्यक्तियाँ) उत्पन्न होती हैं, उनकी योनि यानी कारण महद्ब्रह्म है । अभिप्राय यह है कि मैंने जिसका चेतनवर्गके साथ संयोग किया है, ऐसी महत्तत्त्वसे लेकर विशेषोंतक* अवस्थावाली प्रकृति इनका कारण है । और मैं बीज प्रदान करनेवाला पिता हूँ

* पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, एक मन और पाँच इन्द्रियोंके विषय—इन सोलहका नाम विशेष है ।

तत्तत्कर्मानुगुण्येन चेतनवर्गस्य संयोजकः च अहम् इत्यर्थः ॥ ४ ॥

अर्थात् मैं उन-उनके कर्मोंके अनुरूप चेतनवर्गका उस-उस योनिमें जड प्रकृतिके साथ संयोग करनेवाला हूँ ॥ ४ ॥

एवं सर्गादौ प्राचीनकर्मवशाद् अचित्संसर्गेण देवादियोनिषु जातानां पुनः पुनः देवादिभावेन जन्महेतुम् आह—

इस प्रकार सृष्टिके आदिमें प्राचीन कर्मवश जडके संयोगसे देवादि योनियोंमें उत्पन्न प्राणियोंके पुनः-पुनः देवादिके रूपमें जन्म लेनेका कारण बतलाते हैं—

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ ५ ॥

अर्जुन ! प्रकृतिसे उत्पन्न सत्त्व, रज और तम—ये गुण अव्यय आत्माको देहमें बाँध लेते हैं ॥ ५ ॥

सत्त्वरजस्तमांसि त्रयो गुणाः प्रकृतेः स्वरूपानुबन्धिनः स्वभावविशेषाः प्रकाशादिकार्यैकनिरूपणीयाः; प्रकृत्यवस्थायाम् अनुद्भूताः तद्विकारेषु महदादिषु उद्भूताः; महदादिविशेषान्तैः आरब्धदेवमनुष्यादिदेहसंबन्धिनम् एनं देहिनम् अव्ययं स्वतो गुणसम्बन्धानर्हं देहे वर्तमानं निबध्नन्ति देहे वर्तमानत्वोपाधिना निबध्नन्ति इत्यर्थः ॥ ५ ॥

सत्त्व, रज और तम—ये तीन गुण प्रकृतिके स्वरूपानुबन्धी स्वभावविशेष हैं, एकमात्र प्रकाशादि कार्योंके द्वारा इनका निरूपण किया जा सकता है। प्रकृतिकी कारण-अवस्थामें तो ये अप्रकट रहते हैं और प्रकृतिके विकारभूत महत्तत्त्वादिमें प्रकट हो जाते हैं। उस समय महत्तत्त्वसे लेकर विशेषोंतक तत्त्वोंके द्वारा उत्पन्न देव-मनुष्यादि शरीरोंसे सम्बन्ध रखनेवाले इस देहधारी अविनाशी जीवात्माको, जो कि स्वरूपतः गुणोंसे सम्बन्धित होने योग्य नहीं है, देहमें स्थित होनेपर बाँधते हैं अर्थात् शरीरमें स्थितिरूप उपाधिसे बाँध लेते हैं ॥ ५ ॥

सत्त्वरजस्तमसाम् आकारं बन्धनप्रकारं च आह—

सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंका स्वरूप और उनसे होनेवाले बन्धनका प्रकार बतलाते हैं—

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥ ६ ॥

उनमें सत्त्वगुण निर्मल होनेके कारण प्रकाशक है और रोगरहित है। निष्पाप अर्जुन! (यह सत्त्वगुण) सुखके सङ्गसे और ज्ञानके सङ्गसे (जीवात्माको) बाँधता है ॥ ६ ॥

तत्र **सत्त्वरजस्तमःसु सत्त्वस्य स्वरूपम् ईदृशं** निर्मलत्वात् प्रकाशकम्; **प्रकाशसुखावरणस्वभावरहितता निर्मलत्वम्; प्रकाशसुखजननैकान्तस्वभावतया प्रकाशसुखहेतुभूतम् इत्यर्थः । प्रकाशो वस्तुयाथात्म्यावबोधः;** अनामयम् **आमयाख्यकार्यं न विद्यते, इति अनामयम् अरोगताहेतुः इत्यर्थः ।**

सत्त्व, रज और तम—इन तीनोंमेंसे सत्त्वगुणका स्वरूप ऐसा है कि वह निर्मल होनेके कारण प्रकाशक है। प्रकाश और सुखके आवरणका अभाव ही निर्मलता है, अतः यह अभिप्राय है कि प्रकाश और सुखको उत्पन्न (प्रकट) करनेका ऐकान्तिक स्वभाव होनेके कारण सत्त्वगुण प्रकाश और सुखका कारण है। वस्तुके यथार्थ स्वरूपज्ञानका नाम प्रकाश है। तथा यह सत्त्वगुण अनामय है। जिसमें आमय—रोगकी उत्पत्तिरूप कार्य न हो उसे अनामय कहते हैं, अतः यह अभिप्राय है कि सत्त्वगुण नीरोगताका कारण है।

एष सत्त्वाख्यगुणो देहिनम् एनं सुखसङ्गेन ज्ञानसङ्गेन च बध्नाति, **पुरुषस्य सुखसङ्गं ज्ञानसङ्गं च जनयति इत्यर्थः ।**

यह सत्त्व नामक गुण इस जीवको सुखकी आसक्तिसे और ज्ञानकी आसक्तिसे बाँधता है। अभिप्राय यह कि सुख और ज्ञानमें पुरुषकी आसक्ति उत्पन्न कर देता है।

ज्ञानसुखयोः सङ्गे हि जाते तत्साधनेषु लौकिकवैदिकेषु प्रवर्तते, ततः च तत्फलानुभवसाधनभूतासु योनिषु जायते; इति सत्त्वं सुखज्ञानसङ्गद्वारेण पुरुषं बध्नाति; ज्ञानसुखजननं पुनः अपि तयोः सङ्गजननं च सत्त्वम् इति उक्तं भवति ॥ ६ ॥

ज्ञान और सुखमें आसक्ति उत्पन्न हो जानेपर मनुष्य उन दोनोंके लौकिक और वैदिक साधनोंमें प्रवृत्त होता है, फिर उन कर्मोंका फल भोगनेकी साधनरूपा योनियोंमें जन्म लेता है। इस प्रकार सत्त्वगुण सुख और ज्ञानकी आसक्तिके द्वारा पुरुषको बाँधता है। कहनेका अभिप्राय यह होता है कि सत्त्वगुण ज्ञान और सुख उत्पन्न करनेवाला और फिर उन दोनोंमें आसक्ति उत्पन्न करनेवाला भी है ॥ ६ ॥

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥ ७ ॥

कुन्तीपुत्र अर्जुन! रजोगुणको तू रागात्मक और तृष्णा तथा सङ्गका उत्पत्तिस्थान जान। वह इस जीवात्माको कर्मके सङ्गसे बाँधता है ॥ ७ ॥

रजो रागात्मकं रागहेतुभूतम्, रागो योषितपुरुषयोः अन्योन्यस्पृहा। तृष्णासङ्गसमुद्भवं तृष्णासङ्गयोः उद्भवस्थानं तृष्णासङ्गहेतुभूतम् इत्यर्थः। तृष्णा शब्दादिसर्वविषयस्पृहा। सङ्गः पुत्रमित्रादिषु संबन्धिषु संश्लेषस्पृहा। तथा देहिनं कर्मसु क्रियासु स्पृहाजननद्वारेण निबध्नाति; क्रियासु हि

रजोगुण रागात्मक है यानी रागका कारणरूप है। स्त्री-पुरुषकी पारस्परिक स्पृहा (मिलनेच्छा) का नाम राग है। यह रजोगुण तृष्णा और आसक्तिकी उत्पत्तिका स्थान है; अर्थात् तृष्णा और सङ्गका कारण है। शब्दादि समस्त विषयोंकी स्पृहाका नाम तृष्णा है। पुत्र-मित्र आदि सम्बन्धियोंमें सम्बन्धविषयक स्पृहाका नाम सङ्ग है। यह रजोगुण कर्मोंमें—क्रियाओंमें स्पृहा उत्पन्न करके जीवको बाँधता है; क्योंकि

स्पृहया याः क्रिया आरभते देही, ताःच पुण्यपापरूपा इति तत्फलानुभवसाधनभूतासु योनिषु जन्महेतवो भवन्ति, अतः कर्मसङ्गद्वारेण रजो देहिनं निबध्नाति । तद् एवं रजो रागतृष्णासङ्गहेतुः कर्मसङ्गहेतुः च इति उक्तं भवति ॥ ७ ॥

जीव क्रियामें स्पृहा करके जिन क्रियाओंका आरम्भ करता है, वे पुण्य-पापरूप होती हैं, इसीलिये वे अपने फलभोगकी साधनरूपा योनियोंमें जन्म देनेवाली होती हैं। इसलिये रजोगुण कर्मासक्तिके द्वारा जीवको बाँधता है। कहनेका अभिप्राय यह होता है कि इस प्रकार यह रजोगुण राग, तृष्णा और सङ्गका कारण है और कर्मासक्तिका भी कारण है ॥ ७ ॥

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥ ८ ॥

परन्तु अर्जुन ! तमोगुणको तू अज्ञानजन्य और सब जीवोंको मोहित करनेवाला जान । वह प्रमाद, आलस्य और निद्राके द्वारा (इस जीवात्माको) बाँधता है ॥ ८ ॥

ज्ञानाद् अन्यद् इह अज्ञानम् अभिप्रेतम्; ज्ञानं वस्तुयाथात्म्यावबोधः, तस्माद् अन्यत् तद्विपर्ययज्ञानं तमः तु वस्तुयाथात्म्यविपरीतविषयज्ञानजं मोहनं सर्वदेहिनाम्; मोहो विपर्ययज्ञानम्, विपर्ययज्ञानहेतुः इत्यर्थः । तत् तमःप्रमादालस्यनिद्राहेतुतया तद्द्वारेण देहिनं निबध्नाति । प्रमादः कर्तव्यात्

यहाँ ज्ञानसे भिन्न वस्तुको 'अज्ञान' कहा है। वस्तुके यथार्थ बोधका नाम ज्ञान है, उससे भिन्न विपरीतज्ञानका नाम अज्ञान है। तमोगुण वस्तुके यथार्थ स्वरूपसे विपरीत ज्ञानसे उत्पन्न होनेवाला और सब जीवोंको मोहित करनेवाला है। विपरीत ज्ञानका नाम मोह है, अर्थात् यह तमोगुण विपरीत ज्ञानका कारण है। तथा यह तमोगुण प्रमाद, आलस्य और निद्राका कारण होनेसे उनके द्वारा भी जीवको बाँधता है। कर्तव्य-

कर्मणः अन्यत्र प्रवृत्तिहेतुभूतम् अनवधानम् । आलस्यं कर्मसु अनारम्भस्वभावः, स्तब्धता इति यावत् । पुरुषस्य इन्द्रियप्रवर्तनश्रान्त्या सर्वेन्द्रियप्रवर्तनोपरतिः निद्रा; तत्र बाह्येन्द्रियप्रवर्तनोपरमः स्वप्नः; मनसः अपि उपरतिः सुषुप्तिः ॥ ८ ॥

कर्मसे भिन्न (अकर्तव्य) कर्ममें प्रवृत्त करनेवाली असावधानीका नाम प्रमाद है । कर्म न करनेके स्वभावका—स्तब्धताका नाम आलस्य है । इन्द्रियोंको कर्मोंमें लगाते-लगाते जब पुरुष थक जाता है, उस थकावटके कारण सम्पूर्ण इन्द्रियोंकी प्रवृत्तिसे उपरत हो जानेका नाम निद्रा है । उसमें बाहरकी इन्द्रिय-प्रवृत्तिका शान्त हो जाना स्वप्न है और मनकी प्रवृत्तिका भी शान्त हो जाना सुषुप्ति है (ये निद्राके भेद हैं) ॥ ८ ॥

सत्त्वादीनां बन्धद्वारभूतेषु प्रधानानि आह—

सत्त्व आदि गुणोंके बन्धनकारक कारणोंमें जो प्रधान हैं, उनको बतलाते हैं—

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥ ९ ॥

अर्जुन ! सत्त्वगुण सुखमें और रजोगुण कर्ममें लगाता है, परन्तु तमोगुण ज्ञानको ढककर फिर प्रमादमें भी लगाता है ॥ ९ ॥

सत्त्वं सुखसङ्गप्रधानम्, रजः कर्मसङ्गप्रधानम्, तमः तु वस्तुयाथात्म्यज्ञानम् आवृत्य विपरीतज्ञानहेतुतया कर्तव्यविपरीतप्रवृत्तिसङ्गप्रधानम् ॥ ९ ॥

सत्त्वगुणमें (मनुष्यके बन्धनका) सुखासक्ति प्रधान कारण है । रजोगुणमें कर्मासक्ति प्रधान है और तमोगुण वस्तुके यथार्थ बोधको ढककर विपरीत ज्ञानका कारण होनेसे उसमें कर्तव्यविरुद्ध निषिद्ध कर्मोंमें प्रवृत्ति-विषयक आसक्ति प्रधान है ॥ ९ ॥

देहाकारपरिणतायाः प्रकृतेः स्वरूपानुबन्धिनः सत्त्वादयो

ये सत्त्वादि गुण शरीरके आकारमें परिणत प्रकृतिके स्वभावसे ही नित्यसम्बन्धी हैं

गुणाः । ते च स्वरूपानुसंबन्धित्वेन सर्वदा सर्वे वर्तन्ते इति परस्परविरुद्धं कार्यं कथं जनयन्ति इत्यत्राह—

तथा वे स्वरूपानुबन्धी होनेके कारण सब-के-सब सदा ही रहते हैं फिर तीनों परस्पर विरोधी कार्य कैसे उत्पन्न करते हैं ? इसपर कहते हैं—

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥ १० ॥

अर्जुन ! रज और तमको दबाकर सत्त्वगुण, सत्त्व और तमको दबाकर रजोगुण एवं ऐसे ही सत्त्व और रजको दबाकर तमोगुण होता (बढ़ता) है ॥१०॥

यद्यपि सत्त्वादयस्त्रयः प्रकृतिसंसृष्टात्मस्वरूपानुबन्धिनः, तथापि प्राचीनकर्मवशाद् देहाप्यायनभूताहारवैषम्यात् च सत्त्वादयःपरस्परसमुद्भवाभिभवरूपेण वर्तन्ते । रजस्तमसी कदाचिद् अभिभूय सत्त्वम् उद्रिक्तं वर्तते । तथा तमःसत्त्वे अभिभूय रजः कदाचित्; कदाचित् च रजःसत्त्वे अभिभूय तमः ॥ १० ॥

यद्यपि सत्त्वादि तीनों गुण प्रकृतिसे संयुक्त आत्माके स्वरूपानुबन्धी (स्वभावसे ही सदा साथ रहनेवाले) हैं तथापि प्राचीन कर्मवश तथा शरीर-पोषणरूप भोजनकी विषमतासे ये एक दूसरेसे दबकर और बढ़कर बर्तते हैं। किसी समय रज और तमको दबाकर सत्त्वगुण बढ़कर बर्तता है, वैसे ही किसी समय तम और सत्त्वको दबाकर रजोगुण और कभी रज और सत्त्वको दबाकर तमोगुण बढ़ जाता है ॥ १० ॥

तत् च कार्योपलब्ध्या एव अवगच्छेद् इत्याह—

इस बातको कार्यकी उपलब्धिसे ही समझना चाहिये; यह कहते हैं—

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद् विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥ ११ ॥

जब सभी इन्द्रियद्वारोंमें ज्ञानरूपी प्रकाश उत्पन्न होता है, तब ऐसा समझो कि इस शरीरमें सत्त्वगुण बढ़ा है ॥ ११ ॥

सर्वेषु चक्षुरादिषु ज्ञानद्वारेषु यदा **वस्तुयाथात्म्यप्रकाशे** ज्ञानम् उपजायते, तदा अस्मिन् देहे सत्त्वं प्रवृद्धम् इति विद्यात् ॥ ११ ॥

जब वस्तुके यथार्थ स्वरूपको प्रकाशित करते समय चक्षु आदि समस्त ज्ञानेन्द्रियोंमें ज्ञान उत्पन्न होता है, तब समझना चाहिये कि इस शरीरमें सत्त्वगुण बढ़ा है ॥ ११ ॥

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥१२॥

भरतश्रेष्ठ ! लोभ, प्रवृत्ति, कर्मोंका आरम्भ, अशान्ति और स्पृहा, ये सब रजोगुणके बढ़नेपर उत्पन्न होते हैं ॥ १२ ॥

लोभः **स्वकीयद्रव्यस्य अत्यागशीलता** । प्रवृत्तिः **प्रयोजनम् अनुद्दिश्य अपि चलनस्वभावता** । आरम्भः कर्मणां **फलसाधनभूतानां कर्मणाम् आरम्भे उद्योगः** । अशमः **इन्द्रियानुपरतिः** । स्पृहा **विषयेच्छा** । एतानि रजसि प्रवृद्धे जायन्ते । **यदा लोभादयो वर्तन्ते, तदा रजः प्रवृद्धम् इति विद्याद् इत्यर्थः** ॥ १२ ॥

अपने द्रव्यको त्याग न कर सकनेके स्वभावका नाम लोभ है । प्रयोजन न समझकर भी कर्मोंमें चपलताके स्वभावका नाम प्रवृत्ति है । फलके साधनरूप कर्मोंके आरम्भके लिये किये जानेवाले उद्योगका नाम कर्मारम्भ है । इन्द्रियोंकी उपरामताके अभावका नाम अशम है । विषयोंकी इच्छाका नाम स्पृहा है । ये सब रजोगुण बढ़नेपर उत्पन्न होते हैं । अभिप्राय यह कि जब लोभ आदि बर्तते हों तब समझना चाहिये कि रजोगुण बढ़ा है ॥ १२ ॥

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥१३॥

कुरुनन्दन ! अप्रकाश, अप्रवृत्ति, प्रमाद और मोह—ये सब तमोगुणके बढ़नेपर उत्पन्न होते हैं ॥ १३ ॥

अप्रकाशः **ज्ञानानुदयः**। अप्रवृत्तिः च **स्तब्धता**। प्रमादः **अकार्यप्रवृत्तिफलम् अनवधानम्**। मोहः **विपरीतज्ञानम्**। एतानि तमसि प्रवृद्धे जायन्ते; **एतैः तमः प्रवृद्धम् इति विद्यात्**॥ १३॥

ज्ञानके उदय न होनेका नाम अप्रकाश है। स्तब्धता (निश्चेष्ट पड़े रहने) का नाम अप्रवृत्ति है। अकर्तव्यमें प्रवृत्ति करनेकी कारणरूपा जो असावधानी है, उसका नाम प्रमाद है। विपरीत ज्ञानका नाम मोह है। ये सब तमोगुण बढ़नेपर उत्पन्न होते हैं, अर्थात् इनसे यह समझना चाहिये कि तमोगुण बढ़ा है॥ १३॥

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते॥ १४॥

जब जीवात्मा सत्त्वगुणकी वृद्धिके समय मृत्युको प्राप्त होता है, तब वह आत्मज्ञानियोंके निर्मल लोकोंको प्राप्त होता है॥ १४॥

यदा **सत्त्वं प्रवृद्धं तदा** सत्त्वे प्रवृद्धे देहभृत् प्रलयं **मरणं** याति **चेद्** उत्तमविदाम् **उत्तमतत्त्वविदाम् आत्मयाथात्म्यविदां** लोकान् **समूहान्** अमलान् **मलरहितान् अज्ञानरहितान्** प्रतिपद्यते **प्राप्नोति**। **सत्त्वे प्रवृद्धे तु मृतः आत्मविदां कुलेषु जनित्वा आत्मयाथात्म्यज्ञानसाधनेषु पुण्यकर्मसु अधिकरोति इति उक्तं भवति**॥ १४॥

जब सत्त्वगुण बढ़ा होता है, तब उस बढ़े हुए सत्त्वगुणके समय यदि जीवात्मा मृत्युको प्राप्त होता है तो वह उत्तम तत्त्वको जाननेवालोंके यानी आत्माके यथार्थ स्वरूपको जाननेवालोंके मलरहित—अज्ञानरहित लोकसमूहोंको प्राप्त होता है। कहनेका अभिप्राय यह है कि सत्त्वगुणकी वृद्धिके समय मरा हुआ पुरुष आत्मज्ञानियोंके कुलमें जन्म लेकर आत्माके यथार्थ स्वरूपके साधनरूप पुण्यकर्मोंका अधिकारी हो जाता है॥ १४॥

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥१५॥

रजोगुणमें मृत्युको प्राप्त होकर (पुरुष) कर्मासक्तोंमें जन्म लेता है और तमोगुणमें मरा हुआ मूढयोनियोंमें जन्म लेता है ॥ १५ ॥

रजसि **प्रवृद्धे मरणं प्राप्य फलार्थं कर्म कुर्वतां कुलेषु** जायते; **तत्र जनित्वा स्वर्गादिफलसाधनकर्मसु अधिकरोति इत्यर्थः ।**

तथा तमसि **प्रवृद्धे मृतो** मूढयोनिषु **श्वसूकरादियोनिषु** जायते; **सकलपुरुषार्थारम्भानर्हो जायते इत्यर्थः** ॥ १५ ॥

बढ़े हुए रजोगुणके समय मरणको प्राप्त होकर पुरुष फलके लिये कर्म करनेवालोंके कुलमें जन्म लेता है अर्थात् वहाँ जन्म लेकर स्वर्गादि फलोंके साधनरूप कर्म करनेका अधिकारी होता है ।

तथा तमोगुणके बढ़नेपर मरा हुआ मनुष्य मूढ़योनियोंमें—कूकर, शूकर आदि योनियोंमें जन्म लेता है । अभिप्राय यह है कि वह सम्पूर्ण पुरुषार्थोंके अयोग्य हो जाता है ॥ १५ ॥

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥१६॥

सात्त्विक कर्मका फल सत्त्वगुणी और निर्मल होता है, रजोगुणका फल दुःख और तमोगुणका फल अज्ञान होता है, ऐसा कहा गया है ॥ १६ ॥

एवं सत्त्ववृद्धौ मरणम् उपगम्य आत्मविदां कुले जातेन अनुष्ठितस्य सुकृतस्य **फलासन्धिरहितस्य मदाराधनरूपस्य** कर्मणः फलं **पुनः अपि ततः अधिकसत्त्वजनितं** निर्मलं **दुःखगन्धरहितं भवति, इति** आहुः **सत्त्वगुणपरिणामविदः ।**

इस प्रकार सत्त्वगुणकी वृद्धिके समय मरणको प्राप्त होकर आत्मज्ञानियोंके कुलमें उत्पन्न हुए पुरुषके द्वारा किये हुए फलाभिसन्धिरहित मेरे आराधनरूप पुण्यकर्मोंका फल पुनः पहलेसे भी बढ़कर सात्त्विक और निर्मल—दुःखगन्धशून्य होता है । सत्त्वगुणके परिणामको जाननेवाले ऐसा कहते हैं ।

अन्त्यकालप्रवृद्धस्य रजसः तु फलं **फलसाधनकर्मसङ्गिकुले जन्म, फलाभिसन्धिपूर्वककर्मारम्भतत्फलानुभवपुनर्जन्मरजोवृद्धिफलाभिसन्धिपूर्वककर्मारम्भपरम्परारूपं सांसारिकं** दुःख**प्रायम् एव इति आहुः तद्गुणयाथात्म्यविदः ।**

अन्तकालमें बढ़े हुए रजोगुणका फल—स्वर्गादि फलके साधनरूप कर्ममें आसक्त रहनेवाले पुरुषोंके कुलोंमें जन्म लेना, फलाभिसन्धिपूर्वक कर्मोंका आरम्भ करना, उनके फलोंको भोगना, पुनः जन्म लेना, पुनः रजोगुणका बढ़ना तथा पुनः फलाभिसन्धिपूर्वक कर्मोंका आरम्भ करना—इस प्रकारकी परम्पराारूप सांसारिक जीवन है जो कि प्रायः दुःखमय ही है; ऐसा उस (रजो) गुणके स्वरूपको यथार्थरूपसे जाननेवाले कहते हैं ।

अज्ञानं तमसः फलम्; **एवम् अन्तकालप्रवृद्धस्य तमसः फलम् अज्ञानपरम्परारूपम् ॥ १६ ॥**

इसी प्रकार अन्तकालमें बढ़े हुए तमोगुणका फल अज्ञान—अज्ञानकी परम्परारूप होता है ॥ १६ ॥

तद् अधिकसत्त्वादिजनितं निर्मलादिफलं किम् इति अत्र आह—

अधिक सत्त्वगुण आदिसे होनेवाला वह निर्मल आदि फल कौन-सा है—इसपर कहते हैं—

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥१७॥

सत्त्वगुणसे ज्ञान उत्पन्न होता है, रजोगुणसे लोभ, ऐसे ही तमोगुणसे प्रमाद, मोह और अज्ञान उत्पन्न होते हैं ॥ १७ ॥

एवं परम्परया जाताद् अधिकसत्त्वाद् **आत्मयाथात्म्यापरोक्षरूपं** ज्ञानं जायते । **तथा प्रवृद्धाद्** रजसः **स्वर्गादिफल**लोभः **जायते; तथा**

इस प्रकार परम्परासे उत्पन्न बढ़े हुए सत्त्वगुणसे आत्मस्वरूपका यथार्थ साक्षात्कार हो जानारूप ज्ञान उत्पन्न होता है । तथा बढ़े हुए रजोगुणसे स्वर्गादि फलोंका लोभ उत्पन्न होता है

प्रवृद्धात् च तमसः प्रमादः अनवधाननिमित्तासत्कर्मणि प्रवृत्तिः, ततः च मोहो विपरीतज्ञानम्, ततः च अधिकतरं तमः, ततः च अज्ञानं ज्ञानाभावः ॥ १७ ॥

और बढ़े हुए तमोगुणसे प्रमाद—असावधानताके कारण होनेवाली असत्-कर्ममें प्रवृत्ति, उससे विपरीत ज्ञानरूप मोह, उससे तमोगुणकी और भी वृद्धि और उससे फिर अज्ञान—ज्ञानका अभाव होता है ॥ १७ ॥

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥ १८ ॥

सत्त्वगुणमें स्थित (पुरुष) ऊपरको जाते हैं, रजोगुणी बीचमें ठहर जाते हैं और निकृष्ट गुणकी वृत्तियोंमें स्थित तमोगुणी नीचेको जाते हैं ॥ १८ ॥

एवम् उक्तेन प्रकारेण सत्त्वस्था ऊर्ध्वं गच्छन्ति **क्रमेण संसारबन्धात् मोक्षं गच्छन्ति । रजसः स्वर्गादिफललोभकरत्वाद्** राजसाः **फलसाधनभूतं कर्म अनुष्ठाय तत्फलम् अनुभूय पुनः अपि जनित्वा तदपेक्षितं कर्म अनुतिष्ठन्ति इति** मध्ये तिष्ठन्ति, **पुनरावृत्तिरूपतया दुःखप्रायम् एव तत् ।**

तामसाः **तु** जघन्यगुणवृत्तिस्था **उत्तरोत्तरनिकृष्टतमोगुणवृत्तिषु स्थिता** अधो गच्छन्ति । **अन्त्यजत्वम्, ततः तिर्यक्त्वम्, ततः कृमिकीटादिजन्म,**

उपर्युक्त प्रकारसे सत्त्वगुणमें स्थित पुरुष क्रमशः ऊपरको जाते हैं—संसारबन्धनसे मुक्त होते हैं। रजोगुण स्वर्गादि फलोंमें लोभ उत्पन्न कर देनेवाला होनेके कारण उससे युक्त राजसपुरुष फलोंके साधन-रूप कर्मोंका अनुष्ठान करके उनके फलोंको भोगकर पुनः जन्म लेकर उसके अनुरूप कर्म करते हैं, इसलिये वे बीच-में रहते हैं, वह स्थिति पुनरावृत्तिरूप होनेके कारण दुःखमय ही है ।

तामस पुरुष जघन्य गुणकी वृत्तियोंमें स्थित—उत्तरोत्तर निकृष्ट तमोगुणकी वृत्तियोंमें स्थित होकर नीचे गिरते जाते हैं अर्थात् पहले अन्त्यज, फिर तिर्यक्, फिर कीड़े-मकोड़े आदि, फिर वृक्ष

ततः स्थावरत्वम्, ततः अपि गुल्म-लतात्वम्,ततः च शिलाकाष्ठलोष्टतृणादित्वं गच्छन्ति इत्यर्थः ॥ १८ ॥

आदि, फिर गुल्म और लता आदि, फिर शिला, काष्ठ, लोष्ट (ढेला) और तृण आदिके रूपोंको प्राप्त हो जाते हैं ॥ १८ ॥

आहारविशेषैः फलाभिसन्धिरहितसुकृतविशेषैः च परम्परया प्रवर्धितसत्त्वानां गुणात्ययद्वारेण ऊर्ध्वगमनप्रकारम् आह—

आहारकी विशेषतासे और फलाभिसन्धिरहित सत्कर्मोंकी विशेषताके कारण परम्परासे जिनका सत्त्वगुण बढ़ गया है, उनकी गुणोंको लाँघकर ऊँचे उठनेकी रीति बतलाते हैं—

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥ १९ ॥

जब द्रष्टा पुरुष गुणोंसे भिन्न (दूसरेको) कर्ता नहीं देखता और गुणोंसे परको (आत्माको अकर्ता) जानता है (तब) वह मेरे भावको प्राप्त होता है ॥१९॥

एवं सात्त्विकाहारसेवया फलाभिसन्धिरहितभगवदाराधनरूपकर्मानुष्ठानैः च रजस्तमसी सर्वात्मना अभिभूय उत्कृष्टसत्त्वनिष्ठो यदा अयं द्रष्टा गुणेभ्यः अन्यं कर्तारं न अनुपश्यति; गुणा एव स्वानुगुणप्रवृत्तिषु कर्तारः इति पश्यति, गुणेभ्यः च परं वेत्ति, कर्तृभ्यो गुणेभ्यः च परम् अन्यम् आत्मानम् अकर्तारं वेत्ति, स मद्भावम् अधिगच्छति, मम यो भावः तम् अधिगच्छति ।

इस प्रकार सात्त्विक आहारके सेवनसे और फलाभिसन्धिरहित भगवदाराधनरूप कर्मोंके अनुष्ठानसे रजोगुण और तमोगुणको सब प्रकारसे दबाकर बढ़े हुए सत्त्वगुणमें स्थित हुआ यह द्रष्टा पुरुष जब गुणोंसे भिन्न दूसरेको कर्ता नहीं समझता है अर्थात् गुण ही अपनी अनुकूल प्रवृत्तियोंमें कर्ता है ऐसा देखता है तथा आत्माको गुणोंसे परे—कर्तृभूत गुणोंसे भिन्न अकर्ता समझता है, वह मेरे भावको प्राप्त होता है—मेरा जो भाव है, उसको प्राप्त होता है ।

एतद् उक्तं भवति आत्मनः स्वतः परिशुद्धस्वभावस्य पूर्वपूर्वकर्ममूलगुणसङ्गनिमित्तं विविधकर्मसु कर्तृत्वम्, आत्मा स्वतः तु अकर्ता अपरिच्छिन्नज्ञानैकाकारः इति एवम् आत्मानं यदा पश्यति, तदा मद्भावम् अधिगच्छति इति ॥ १९ ॥

कहनेका अभिप्राय यह है कि स्वरूपतः परिशुद्ध स्वभाववाले आत्माका नाना कर्मविषयक कर्तापन पूर्व-पूर्व किये हुए कर्मोंसे उत्पन्न गुणासक्तिसे हुआ है । स्वरूपतः आत्मा अकर्ता और केवल अपरिच्छिन्न ज्ञानस्वरूप है । इस प्रकार जब आत्माको समझता है, तब मेरे भावको प्राप्त होता है ॥ १९ ॥

कर्तृभ्यो गुणेभ्यः अन्यम् अकर्तारम् आत्मानं पश्यन् भगवद्भावम् अधिगच्छति इति उक्तम्, स भगवद्भावः कीदृशः? इति अत्र आह—

कर्तारूप गुणोंसे भिन्न, आत्माको अकर्ता समझकर पुरुष भगवद्भावको प्राप्त होता है, यह कहा गया है, अतः वह भगवद्भाव कैसा है, इसपर कहते हैं—

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ २० ॥

यह जीवात्मा शरीर (प्रकृति) से उत्पन्न इन तीनों गुणोंको लाँघकर जन्म, मृत्यु, जराके दुःखोंसे मुक्त होकर अमृतरूप आत्माका अनुभव करता है ॥ २० ॥

अयं देही देहसमुद्भवान् **देहाकारपरिणतप्रकृतिसमुद्भवान्** एतान् सत्त्वादीन् त्रीन् गुणान् अतीत्य **तेभ्यः च अन्यम् ज्ञानैकाकारम् आत्मानम् पश्यन्** जन्ममृत्युजरादुःखैः विमुक्तः अमृतम् **आत्मानम् अनुभवति; एष मद्भाव इत्यर्थः** ॥ २० ॥

यह आत्मा शरीरसे उत्पन्न—शरीरके आकारमें परिणत प्रकृतिसे उत्पन्न इन सत्त्वादि तीनों गुणोंको लाँघकर उनसे भिन्न एकमात्र ज्ञानस्वरूप आत्माका साक्षात्कार करके जन्म-मृत्यु और बुढ़ापेके दुःखोंसे मुक्त होकर अमृतरूप आत्माका अनुभव करता है । यही मेरा भाव है, यह अभिप्राय है ॥ २० ॥

अथ गुणातीतस्य स्वरूपसूचनाचारप्रकारं गुणात्ययहेतुं च पृच्छन् अर्जुन उवाच—

अब गुणातीतके स्वरूपको सूचित करनेवाले आचरणके प्रकारको और गुणोंसे अतीत होनेके उपायको पूछनेके लिये अर्जुन बोला—

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥ २१ ॥

अर्जुनने कहा—प्रभो! इन तीन गुणोंसे अतीत हुआ पुरुष किन-किन चिह्नोंसे युक्त होता है; किस आचारवाला होता है और वह कैसे इन तीनों गुणोंको लाँघता है? ॥ २१ ॥

सत्त्वादीन् त्रीन् गुणान् एतान् अतीतः कैः लिङ्गैः **कैः लक्षणैः उपलक्षितो** भवति किमाचारः **केन आचारेण युक्तः असौ? अस्य स्वरूपावगतेः लिङ्गभूताचारः कीदृशः इत्यर्थः।** कथं च एतान् **केनोपायेन सत्त्वादीन्** त्रीन् गुणान् अतिवर्तते? ॥ २१ ॥

इन सत्त्वादि तीनों गुणोंसे अतीत पुरुष किन-किन लक्षणोंसे युक्त हुआ करता है तथा वह किमाचार—कैसे आचरणवाला होता है अर्थात् उसके स्वरूपको बतलानेवाला चिह्नरूप आचार कैसा होता है? तथा मनुष्य किस प्रकारसे, किस उपायसे इन सत्त्वादि तीनों गुणोंको लाँघ सकता है? ॥ २१ ॥

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥ २२ ॥

श्रीभगवान् बोले—अर्जुन! जो पुरुष प्रकाश, प्रवृत्ति और मोहके प्रवृत्त होनेपर उनसे द्वेष नहीं करता और निवृत्त होनेपर उनकी आकाङ्क्षा नहीं करता ॥ २२ ॥

आत्मव्यतिरिक्तेषु वस्तुषु अनिष्टेषु संप्रवृत्तानि **सत्त्वरजस्तमसां कार्याणि प्रकाशप्रवृत्तिमोहाख्यानि**

जो पुरुष आत्मासे भिन्न अनिष्ट विषयोंके रूपमें जब सत्त्व, रज और तमोगुणके कार्य प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह प्रवृत्त

यो न द्वेष्टि, **तथा आत्मव्यतिरिक्तेषु इष्टेषु वस्तुषु तानि एव** निवृत्तानि न काङ्क्षति ॥ २२ ॥

होते हैं तब उनसे द्वेष नहीं करता तथा जब आत्मासे भिन्न इष्ट विषयोंके रूपमें वे तीनों निवृत्त हो जाते हैं तब उनकी आकाङ्क्षा नहीं करता ॥ २२ ॥

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥२३॥

उदासीनके सदृश स्थित हुआ जो गुणोंके द्वारा विचलित नहीं किया जा सकता । केवल गुण ही बर्त रहे हैं, ऐसे समझता हुआ जो स्थिर रहता है, (अपनी स्थितिसे) चलायमान नहीं होता ॥ २३ ॥

उदासीनवद् आसीनः **गुणव्यतिरिक्तात्मावलोकनतृप्त्या अन्यत्र उदासीनवद् आसीनः** गुणैः **द्वेषाकाङ्क्षाद्वारेण** यो न विचाल्यते, गुणाः **स्वेषु कार्येषु प्रकाशादिषु** वर्तन्ते इति **अनुसंधाय** यः **तूष्णीम् अवतिष्ठते,** न इङ्गते **न गुणकार्यानुगुणं चेष्टते** ॥ २३ ॥

गुणोंसे अतिरिक्त आत्मदर्शनसे तृप्त होनेके कारण जो आत्माके सिवा अन्यत्र उदासीनके सदृश स्थित है तथा इच्छा और द्वेषरूप गुणोंके द्वारा जो विचलित नहीं किया जा सकता । गुण अपने-अपने प्रकाश आदि कार्योंमें बर्त रहे हैं, ऐसा समझकर जो चुप साधे रहता है । विचलित नहीं होता—गुणके कार्योंके अनुरूप चेष्टा नहीं करता ॥२३॥

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥२४॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥२५॥

जो दुःख-सुखमें सम है; जो स्वरूपमें स्थित है; जिसे मिट्टी, पत्थर, सोना समान है; प्रिय-अप्रिय तुल्य है; जो धीर है, जिसे अपनी निन्दा-स्तुति तुल्य है, जो मान-अपमानमें तुल्य है, मित्र और शत्रुके पक्षमें तुल्य है और जो समस्त आरम्भोंका परित्यागी है, वह (पुरुष) गुणातीत कहा जाता है ॥ २४-२५ ॥

समदुःखसुखः **दुःखसुखयोः समचित्तः** स्वस्थः **स्वस्मिन् स्थितः स्वात्मैकप्रियत्वेन तद्व्यतिरिक्तपुत्रादिजन्ममरणादिसुखदुःखयोः समचित्त इत्यर्थः । तत एव** समलोष्टाश्मकाञ्चनः, **तत एव च** तुल्यप्रियाप्रियः **तुल्यप्रियाप्रियविषयः ।** धीरः **प्रकृत्यात्मविवेककुशलः, तत एव** तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः **आत्मनि मनुष्यत्वाद्यभिमानकृतगुणागुणनिमित्तस्तुतिनिन्दयोः स्वासंबन्धानुसंधानेन तुल्यचित्तः, तत्प्रयुक्त**मानापमानयोः **तत्प्रयुक्त**मित्रारिपक्षयोः **अपि स्वसंबन्धाभावाद् एव तुल्यचित्तः, तथा देहित्वप्रयुक्त**सर्वारम्भपरित्यागी; **य एवंभूतः** स गुणातीत उच्यते ॥ २४-२५ ॥

जो दुःख और सुखमें सम यानी दुःख-सुखमें समान चित्तवाला और स्वस्थ है, स्वरूपमें स्थित है अर्थात् केवल एक आत्मा ही उसका प्रिय होनेसे आत्मासे अतिरिक्त पुत्रादिके जन्म-मरणादिरूप सुख-दुःखमें समचित्त है । इसी कारण मिट्टी, पत्थर और सोनेको समान समझनेवाला है । तथा इसी कारण जो प्रिय और अप्रिय विषयोंको भी समान समझनेवाला है । जो धीर है—प्रकृति और आत्माके विवेकमें कुशल है और इसी कारण जो अपनी निन्दा-स्तुतिमें समभाववाला है । अभिप्राय यह है कि आत्मामें मनुष्यत्वादिका अभिमान करनेसे होनेवाली गुण और अवगुण-निमित्तक स्तुति और निन्दासे अपना कोई सम्बन्ध न समझकर जो समचित्त है, तथा उससे होनेवाले मानापमानमें तथा उससे होनेवाले शत्रु-मित्रके पक्षमें भी अपना सम्बन्ध न समझकर ही जो समचित्त है और जो शरीरधारी होनेके नाते होनेवाले समस्त आरम्भोंका त्यागी है; जो ऐसा पुरुष है, वह गुणातीत कहा जाता है ॥ २४-२५ ॥

अथ एवं रूपगुणात्यये प्रधानहेतुम् आह—

अब इस प्रकारका गुणातीत होनेके लिये जो प्रधान उपाय है, उसे बतलाते हैं—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥२६॥

जो अव्यभिचारी भक्तियोगसे मुझको सेवन करता है, वह इन गुणोंको लाँघकर ब्रह्मभावकी प्राप्तिके योग्य होता है ॥ २६ ॥

'नान्यं गुणेभ्यः कर्तारम्' (१४।१९) इत्यादिना **उक्तेन प्रकृत्यात्मविवेकानुसंधानमात्रेण न गुणात्ययः संपत्स्यते, तस्य अनादिकालप्रवृत्तविपरीतवासनाबाध्यत्वसंभवात्** । मां **सत्यसंकल्पं परमकारुणिकम् आश्रितवात्सल्यजलधिम्** अव्यभिचारेण **ऐकान्त्यविशिष्टेन** भक्तियोगेन च यः सेवते, स एतान् **सत्त्वादीन्** गुणान् **दुरत्ययान्** अतीत्य ब्रह्मभूयाय **ब्रह्मत्वाय** कल्पते **ब्रह्मभावयोग्यो भवति, यथावस्थितम् आत्मानम् अमृतम् अव्ययं प्राप्नोति इत्यर्थः** ॥ २६ ॥

'नान्यं गुणेभ्यः कर्तारम्' इस श्लोकके कथनानुसार प्रकृति और आत्माको पृथक्-पृथक् जान लेनेमात्रसे ही कोई गुणातीत नहीं हो सकता; क्योंकि ऐसा विवेकज्ञान अनादिकालसे प्रवृत्त विपरीत वासनासे बाधित हो सकता है । किन्तु जो सत्यसङ्कल्प परम दयालु, शरणागतवत्सलताके समुद्र मुझ परमेश्वरकी अव्यभिचारी ऐकान्तिक सर्वश्रेष्ठ भक्तियोगके द्वारा सेवा करता है, वह इन दुस्तर सत्त्वादि गुणोंसे अतीत होकर ब्रह्मभावको प्राप्त होनेके योग्य पात्र बन जाता है । अभिप्राय यह है कि यथार्थस्वरूपमें स्थित अमृत अव्यय आत्माको प्राप्त हो जाता है ॥२६॥

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥२७॥

क्योंकि अमृत अविनाशी ब्रह्मकी, शाश्वत धर्म (ऐश्वर्य) की और ऐकान्तिक सुखकी प्रतिष्ठा मैं हूँ ॥ २७ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

हि शब्दो हेतौ; यस्माद् अहम् **अव्यभिचारिभक्तियोगेन सेवितः** अमृतस्य अव्ययस्य च ब्रह्मणः प्रतिष्ठा, **तथा** शाश्वतस्य च धर्मस्य **अतिशयितनित्यैश्वर्यस्य** ऐकान्तिकस्य सुखस्य च *'वासुदेवः सर्वम्'* (८ । ९) **इत्यादिना निर्दिष्टस्य ज्ञानिनः प्राप्यस्य सुखस्य इत्यर्थः ।**

यद्यपि शाश्वतधर्मशब्दः प्रापकवचनः, तथापि पूर्वोत्तरयोः प्राप्यरूपत्वेन तत्साहचर्याद् अयम् अपि प्राप्यलक्षकः ।

एतद् उक्तं भवति पूर्वत्र *'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया । मामेव ये प्रपद्यन्ते'* (७ । १४) **इत्यारभ्य गुणात्ययस्य तत्पूर्वकाक्षरैश्वर्यभगवत्प्राप्तीनां च भगवत्प्रपत्त्येकोपायतायाः प्रतिपादितत्वात् तदेकान्तभगवत्प्रपत्त्येकोपायो गुणात्ययः तत्पूर्वकब्रह्मभावः च इति ॥२७॥**

इति श्रीमद्भगवद्रामानुजाचार्यविरचिते श्रीमद्भगवद्गीताभाष्ये चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

इस श्लोकमें 'हि' शब्द हेतुके अर्थमें है। क्योंकि अव्यभिचारी भक्तियोगसे आराधित मैं परमेश्वर अमृतस्वरूप अविनाशी ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हूँ। तथा शाश्वत धर्मकी—अतिशय नित्य ऐश्वर्यकी और ऐकान्तिक सुखकी भी प्रतिष्ठा हूँ। अर्थात् **'वासुदेवः सर्वम्'** इस श्लोकमें कथित ज्ञानीको मिलनेवाले सुखकी भी प्रतिष्ठा हूँ।

यद्यपि 'शाश्वत धर्म' शब्द प्राप्य वस्तुके साधनका वाचक है, तथापि यहाँ उसके पूर्वापरके शब्द प्राप्य वस्तुके वाचक हैं, अतएव यह भी उसका सहचारी होनेसे प्राप्य वस्तुको ही लक्ष्य करानेवाला है (इसी कारण 'धर्म' शब्दका अर्थ 'ऐश्वर्य' किया गया है)।

'हि' शब्दके प्रयोगसे कहना यह है कि पूर्वकथित (सातवें) अध्यायमें **'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया । मामेव ये प्रपद्यन्ते'** यहाँ से लेकर यही प्रतिपादन किया गया है कि गुणोंसे अतीत होनेका तथा तत्पूर्वक अक्षर, ऐश्वर्य और भगवान्‌की प्राप्तिका उपाय भी केवल एक भगवत्-प्रपत्ति (शरणागति) ही है। इसलिये गुणोंसे अतीत होनेका और तत्पूर्वक ब्रह्मभावको प्राप्त करनेका एकमात्र उपाय ऐकान्तिक भगवत्-प्रपत्ति ही है ॥२७॥

इस प्रकार श्रीमान् भगवान् रामानुजाचार्यद्वारा रचित गीता-भाष्यके हिंदी-भाषानुवादका चौदहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १४ ॥

ॐ

पंद्रहवाँ अध्याय

क्षेत्राध्याये क्षेत्रक्षेत्रज्ञभूतयोः प्रकृतिपुरुषयोः स्वरूपं विशोध्य विशुद्धस्य अपरिच्छिन्नज्ञानैकाकारस्य एव पुरुषस्य प्राकृतगुणसङ्गप्रवाहनिमित्तो देवाद्याकारपरिणतप्रकृतिसंबन्धः अनादिः इत्युक्तम् ।

अनन्तरे च अध्याये पुरुषस्य कार्यकारणोभयावस्थप्रकृतिसंबन्धो गुणसङ्गमूलो भगवता एव कृतः, इति उक्त्वा गुणसङ्गप्रकारं सविस्तरं प्रतिपाद्य गुणसङ्गनिवृत्तिपूर्वकात्मयाथात्म्यावाप्तिः च भगवद्भक्तिमूला इति उक्तम् ।

इदानीं भजनीयस्य भगवतः क्षराक्षरात्मकबद्धमुक्तविभूतियुक्तस्य विभूतिभूतात् क्षराक्षरपुरुषद्वयात् निखिलहेयप्रत्यनीककल्याणैकतानतया अत्यन्तोत्कर्षरूपेण विसजातीयस्य पुरुषोत्तमत्वं च वक्तुम् आरभते ।

तेरहवें अध्यायमें क्षेत्र और क्षेत्रज्ञरूप प्रकृति और पुरुषके स्वरूपका स्पष्टीकरण करके यह कहा गया कि जो विशुद्ध अपरिच्छिन्न और एकमात्र ज्ञानस्वरूप ही है, उस पुरुषका प्राकृतगुणसम्बन्धके प्रवाहसे उत्पन्न देवादिके आकारमें परिणत हुई प्रकृतिसे जो सम्बन्ध है, वह अनादि है ।

तदनन्तर चौदहवें अध्यायमें कार्य और कारण दोनों अवस्थाओंमें स्थित प्रकृतिके साथ पुरुषका गुणसङ्गमूलक सम्बन्ध भगवान्का ही किया हुआ है, यह कहकर तथा गुणोंके सङ्गका प्रकार विस्तारपूर्वक बतलाकर यह बात कही गयी कि गुणोंके सङ्गकी निवृत्तिपूर्वक आत्माके यथार्थ स्वरूपकी प्राप्ति भी भगवान्की भक्तिसे ही होती है ।

अब इस पंद्रहवें अध्यायमें, क्षर और अक्षररूप बद्ध और मुक्त जीव जिन भगवान्की विभूतियाँ हैं और भजन करने योग्य जो भगवान् अखिल हेय गुणोंके विरोधी केवल कल्याणमय गुणोंसे युक्त होनेके कारण अपने विभूतिरूप क्षर और अक्षर इन दोनों पुरुषोंसे अत्यन्त श्रेष्ठ हैं, अतएव इन दोनोंसे विलक्षण हैं, उन भगवान्के पुरुषोत्तमत्वका वर्णन आरम्भ किया जाता है ।

तत्र तावद् असङ्गरूपशस्त्रच्छिन्नबन्धाम् अक्षराख्यविभूतिं च वक्तुं छेद्यरूपं बन्धाकारेण विततम् अचित्परिणामविशेषम् अश्वत्थवृक्षाकारं कल्पयन् श्रीभगवानुवाच—

वहाँ, पहले असङ्गरूप शस्त्रके द्वारा जिसका बन्धन काटा जा चुका है, ऐसे अक्षररूप विभूतिका वर्णन करनेके लिये बन्धाकारसे विस्तृत, छेदन करने योग्य अचेतन वस्तुके परिणामविशेष जगत्की अश्वत्थ वृक्षके रूपमें कल्पना करके श्रीभगवान् कहते हैं—

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—ऊपर जड़वाले और नीचे शाखाओंवाले अश्वत्थको अव्यय कहते हैं; वेद जिसके पत्ते हैं । उसको जो जानता है, वह वेदवेत्ता है ॥ १ ॥

यं संसाराख्यम् अश्वत्थम् ऊर्ध्वमूलम् अधःशाखम् अव्ययं प्राहुः **श्रुतयः**—*'ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः ।'* (क० उ० २ । ३ । १) *'ऊर्ध्वमूलमवाक्शाखं वृक्षं यो वेद संप्रति'* (आरण्य० १ । ११ । ५) इत्याद्याः ।

'यह सनातन अश्वत्थ ऊपर मूल और नीचे शाखावाला है ।' 'ऊपर मूल और नीचे शाखावाले वृक्षको जो इस समय भलीभाँति जानता है ।' इत्यादि श्रुतियाँ जिस संसाररूप वृक्षको ऊपर मूल और नीचे शाखावाला तथा अव्यय बतलाती हैं ।

सप्तलोकोपरि निविष्टचतुर्मुखादित्वेन तस्य ऊर्ध्वमूलत्वम्, पृथिवीनिवासिसकलनरपशुमृगपक्षिकृमिकीटपतङ्गस्थावरान्ततया अधःशाखत्वम्, असङ्गहेतुभूताद् आसम्यग्

सातों लोकोंके ऊपर रहनेवाला चतुर्मुख ब्रह्मा इसका आदि है, इसलिये जो ऊपर मूलवाला है । पृथिवीलोकमें बसनेवाले सब मनुष्य, पशु, मृग, पक्षी, कृमि, कीट, पतङ्ग और स्थावरतक फैला होनेके कारण जो नीचे शाखावाला है । अनासक्तिके हेतुभूत सम्यक्

ज्ञानोदयात् प्रवाहरूपेण अच्छेद्यत्वेन अव्ययत्वम् ।

यस्य च अश्वत्थस्य छन्दांसि पर्णानि आहुः; छन्दांसि श्रुतयः ।

'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः' (यजुः २।१।१) 'ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत् प्रजाकामः' (यजुः का० २।१) इत्यादिश्रुतिप्रतिपादितैः काम्यकर्मभिः विवर्धते अयं संसारवृक्षः; इति छन्दांसि एव अस्य पर्णानि, पत्रैः हि वृक्षो वर्धते ।

यः तम् एवंभूतम् अश्वत्थं वेद स वेदवित्, वेदो हि संसारवृक्षस्य छेदोपायं वदति, छेद्यस्य वृक्षस्य स्वरूपज्ञानं छेदनोपायज्ञानोपयोगि इति वेदविद् इति उच्यते ॥ १ ॥

ज्ञानके उदय होनेतक प्रवाहरूपसे अच्छेद्य होनेके कारण जो अव्यय है ।

जिस अश्वत्थ वृक्षके छन्द--वेद पत्ते बतलाये गये हैं ।

'विभूतिकी कामनावाला वायु-देवतासम्बन्धी श्वेतसत्त्वकी बलि दे ।' 'प्रजाकी कामनावाला इन्द्र और अग्नि देवताके लिये ग्यारह पात्रोंमें पुरोडाश अर्पण करे ।' इत्यादि श्रुतियोंसे प्रतिपादित कम्यकर्मोंसे यह संसार-वृक्ष बढ़ता है, इसलिये वेद ही इसके पत्ते हैं, क्योंकि पत्तोंसे ही वृक्ष बढ़ा करता है ।

ऐसे उस अश्वत्थ वृक्षको जो जानता है, वह वेदवेत्ता है, क्योंकि वेद ही इस संसारवृक्षको काटनेका उपाय बतलाता है और काटनेयोग्य इस संसारवृक्षके स्वरूपका ज्ञान भी काटनेके उपायोंको समझनेमें उपयोगी है, इसलिये उसके ज्ञाताको वेदवेत्ता कहा जाता है॥१॥

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥ २ ॥

नीचे और ऊपर इस (संसारवृक्ष) की शाखाएँ फैली हुई हैं । जो गुणोंसे बढ़ायी हुई हैं, विषय जिनकी कोंपलें हैं तथा नीचे मनुष्यलोकमें भी कर्मरूप बन्धनवाली (इसकी) जड़ें फैली हुई हैं ॥ २ ॥

तस्य **मनुष्यादिशाखस्य वृक्षस्य तत्तत्कर्मकृता अपराः** च अधः शाखाः **पुनरपि मनुष्यपश्वादिरूपेण** प्रसृताः **भवन्ति,** ऊर्ध्वं च **गन्धर्वयक्षदेवादिरूपेण प्रसृता भवन्ति । ताः च** गुणप्रवृद्धाः **गुणैः सत्त्वादिभिः प्रवृद्धाः,** विषयप्रवालाः **शब्दादिविषयपल्लवाः ।**

उस मनुष्य आदि शाखावाले संसार-वृक्षकी और भी उन-उन जीवोंके कर्मोंसे बनी हुई नीचेकी शाखाएँ बार-बार मनुष्य और पशु आदि शरीरोंके रूपमें फैलती जाती हैं तथा ऊपरकी ओर गन्धर्व, यक्ष और देव आदिके रूपमें फैल जाती हैं । वे शाखाएँ सत्त्व आदि गुणोंके द्वारा बढ़ायी हुई और शब्दादि विषयरूप कोंपलोंवाली होती हैं ।

कथम् ? इति अत्र आह—

इस प्रकार कैसे होती हैं, इसपर कहते हैं—

अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके । **ब्रह्मलोकमूलस्य अस्य वृक्षस्य मनुष्याग्रस्य अधः मनुष्यलोके मूलानि अनुसंततानि, तानि च कर्मानुबन्धीनि । कर्माणि एव अनुबन्धीनि मूलानि अधो मनुष्यलोके च भवति इत्यर्थः । मनुष्यत्वावस्थायां कृतैः हि कर्मभिः अधो मनुष्यपश्वादयः ऊर्ध्वं च देवादयो भवन्ति ॥ २ ॥**

नीचे मनुष्यलोकमें भी कर्मरूप बन्धनवाली इसकी जड़ें फैली हुई हैं अर्थात् ब्रह्मलोक जिसका मूल है और मनुष्य जिसके शाखाग्र हैं, ऐसे इस वृक्षकी कर्मरूप अनुबन्धवाली जड़ें नीचे मनुष्य-लोकमें भी व्याप्त हो रही हैं । अभिप्राय यह है कि जीवको बार-बार बाँधनेवाली कर्मरूप जड़ें मनुष्यलोकमें ही होती हैं, क्योंकि मनुष्यत्वकी अवस्थामें किये हुए कर्मोंके द्वारा ही जीव नीचे मनुष्य-पशु आदि और ऊपर देव आदि बनता है ॥ २ ॥

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥ ३ ॥

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ ४ ॥

इस लोकमें इस (वृक्ष) का न तो वैसा रूप पाया जाता है; तथा (उसका) न अन्त, न आदि और न पूर्ण प्रतिष्ठा (ही)। इस दृढ़तापूर्वक जमी हुई जड़वाले वृक्षको दृढ़ असङ्गरूपी शस्त्रसे काटकर फिर मैं उसी आदिपुरुषकी शरण ग्रहण करता हूँ, जिससे यह पुरानी प्रवृत्ति फैली हुई है (ऐसा दृढ़ निश्चय करके) वह पद ढूँढ़ना चाहिये, जहाँ पहुँचे हुए फिर वापस नहीं लौटते ॥ ३-४ ॥

अस्य **वृक्षस्य चतुर्मुखादित्वेन ऊर्ध्वमूलत्वं तत्संतानपरम्परया मनुष्याग्रत्वेन अधःशाखत्वं मनुष्यत्वे कृतैः कर्मभिः मूलभूतैः पुनः अपि अधः च ऊर्ध्वं च प्रसृतशाखत्वम् इति यथा इदं** रूपं **निर्दिष्टं** न तथा **संसारिभिः** उपलभ्यते। **'मनुष्यः अहं देवदत्तस्य पुत्रो यज्ञदत्तस्य पिता तदनुरूपपरिग्रहः च' इति एतावन्मात्रम् उपलभ्यते।**

इस वृक्षका आदि (मूल) चतुर्मुख ब्रह्मा हैं, इस कारण यह ऊर्ध्वमूलवाला है, उनकी सन्तान-परम्परासे मनुष्य उसका शाखाग्र होनेसे वह अधःशाखावाला है। मनुष्यत्वकी अवस्थामें किये हुए मूलरूप कर्मोंके द्वारा यह पुनः नीचे और ऊपर फैली हुई शाखाओंवाला है। इस प्रकार इसका जैसा स्वरूप बतलाया गया है, वैसा संसारी मनुष्योंके देखनेमें नहीं आता। संसारी मनुष्य तो यही देख पाते हैं कि 'मैं मनुष्य हूँ, देवदत्तका पुत्र हूँ, यज्ञदत्तका पिता हूँ और इसके अनुरूप परिग्रहवाला हूँ।'

तथा अस्य वृक्षस्य अन्तो **विनाशः अपि गुणमयभोगेषु असङ्गकृतः इति** न **उपलभ्यते तथा अस्य गुणसङ्ग**

तथा इस वृक्षका अन्त विनाश त्रिगुणमय भोगोंमें अनासक्ति होनेसे होता है। यह भी समझमें नहीं आता। वैसे ही गुणोंका सङ्ग ही इसका आदि

एव आदिः **इति** न **उपलभ्यते । तस्य** प्रतिष्ठा च **अनात्मनि आत्माभिमान-रूपम् अज्ञानम् इति** न **उपलभ्यते; प्रतितिष्ठति अस्मिन् एव इति हि अज्ञानम् एव अस्य प्रतिष्ठा ।**

एनम् **उक्तप्रकारं** सुविरूढमूलं **सुष्ठु विविधं रूढमूलम्** अश्वत्थं **सम्यग्ज्ञान-मूलेन** दृढेन **गुणमयभोगासङ्गाख्येन** शस्त्रेण छित्त्वा ततः **विषयासङ्गाद् हेतोः** तत् पदं परिमार्गितव्यम् **अन्वेषणीयम्** यस्मिन् गता भूयः न **निवर्तन्ते ।**

कथम् अनादिकालप्रवृत्तो गुण-मयभोगसङ्गः तन्मूलं च विपरीत-ज्ञानं निवर्तते इति अत्र आह—

अज्ञानादिनिवृत्तये तम् एव च आद्यं **कृत्स्नस्य आदिभूतम् ।** *'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।' (९ । १०) 'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ॥' (१० । ८) 'मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय ।' (७।७)* **इत्यादिषु उक्तम् आद्यं** पुरुषम् **एव शरणं** प्रपद्ये **तम् एव शरणं प्रपद्येत ।**

है, यह भी समझमें नहीं आता। तथा अनात्मामें आत्माभिमानरूप अज्ञान इसकी प्रतिष्ठा है, यह भी समझमें नहीं आता ।

जिसमें स्थित हो, वह उसकी प्रतिष्ठा होती है, इस व्युत्पत्तिके अनुसार अज्ञान ही इस संसारवृक्षकी प्रतिष्ठा है ।

इस बतलाये हुए स्वरूपवाले और अत्यन्त दृढ़ विविध जड़ोंवाले अश्वत्थ-वृक्षको, यथार्थ ज्ञान जिसका कारण है, ऐसे गुणमय भोगोंमें अनासक्तिरूप दृढ़ शस्त्रके द्वारा काटकर उस—विषयोंमें अनासक्तिरूप साधनसे ही उस पदको ढूँढ़ना चाहिये—खोजना चाहिये, जिसमें पहुँचे हुए वापस नहीं लौटते ।

अनादिकालसे प्रवृत्त गुणमय भोगों-का सङ्ग और उससे होनेवाला विपरीत ज्ञान कैसे निवृत्त होता है, इस विषयमें कहते हैं—

अज्ञान आदिकी निवृत्तिके लिये उसी आदि पुरुषकी अर्थात् **'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।' 'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।' 'मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनंजय ।'** इत्यादि श्लोकोंमें वर्णित समस्त जगत्के मूल कारणरूप उसी आदिपुरुषकी मैं शरण ग्रहण करता हूँ; इस भावसे उसीकी शरण ग्रहण करनी

यतः **यस्मात् कृत्स्नस्य स्रष्टुः इयं गुणमयभोगसङ्गप्रवृत्तिः पुराणी पुरातनी** प्रसृता । **उक्तं हि मया एव पूर्वम् एतत्**—*'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया । मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥'* (७।१४) **इति ।**

'प्रपद्य इयतः प्रवृत्तिः' इति वा पाठः । तम् एव च आद्यं पुरुषं प्रपद्य शरणमुपगम्य इयतः अज्ञान-निवृत्त्यादेःकृत्स्नस्य एतस्य साधनभूता प्रवृत्तिः पुराणी पुरातनी प्रसृता । पुरातनानां मुमुक्षूणां प्रवृत्तिः पुराणी; पुरातना हि मुमुक्षवो माम् एव शरणम् उपगम्य निर्मुक्तबन्धाः संजाता इत्यर्थः ॥ ३-४ ॥

चाहिये, सबकी रचना करनेवाले जिस परमेश्वरसे यह पुरातन गुणमय भोगासक्ति-की प्रवृत्ति विस्तृत हुई है । यह बात मेरे द्वारा पहले भी इस प्रकार कही जा चुकी है कि **'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया । मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥'**

अथवा 'प्रपद्य इयतः प्रवृत्तिः' ऐसा पाठ भी माना जा सकता है । उसका अभिप्राय यह होता है कि उस आदि-पुरुषके प्रपन्न होकर—शरण ग्रहण करके (संसार-वृक्षका छेदन करना चाहिये) क्योंकि अज्ञानकी निवृत्ति आदि इन समस्त पुरुषार्थोंकी साधनरूपा यह शरणागतिरूप प्रवृत्ति संसारमें पुरानी—(सदासे) चली आती है । अभिप्राय यह है कि प्राचीन मुमुक्षु पुरुषोंकी प्रवृत्तिका नाम पुरानी प्रवृत्ति है; और प्राचीन मुमुक्षु पुरुष मेरी शरण ग्रहण करके ही बन्धनसे मुक्त हुए हैं ॥ ३-४ ॥

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ ५ ॥

मान-मोहसे रहित, सङ्गदोषको जीत लेनेवाले, सदा अध्यात्ममें स्थित, निवृत्त कामनाओंवाले और सुख-दुःख नामक द्वन्द्वोंसे मुक्त हुए ज्ञानी पुरुष उस अविनाशी पदको प्राप्त होते हैं ॥ ५ ॥

एवं मां शरणम् उपगम्य निर्मानमोहाः—निर्गतानात्मात्माभिमानरूपमोहाः, जितसङ्गदोषाः—जितगुणमयभोगसङ्गाख्यदोषाः; अध्यात्मनित्याः—आत्मनि यद् ज्ञानं तद् अध्यात्मम् आत्मध्याननिरताः, विनिवृत्ततदितरकामाः सुखदुःखसंज्ञैः द्वन्द्वैः च विमुक्ताः अमूढाः आत्मानात्मस्वभावज्ञाः तत् अव्ययं पदं गच्छन्ति अनवच्छिन्नज्ञानाकारम् आत्मानं यथावस्थितं प्राप्नुवन्ति। मां शरणम् उपागतानां मत्प्रसादाद् एव ताः सर्वाः प्रवृत्तयः सुशक्याः सिद्धिपर्यन्ता भवन्ति इत्यर्थः ॥ ५ ॥

इस प्रकार मेरी शरण ग्रहण कर लेनेसे जो निर्मानमोह हो चुके हैं यानी जिनका अनात्मविषयक आत्माभिमानरूप मोह नष्ट हो चुका है। जो जितसङ्गदोष हैं यानी जिन्होंने गुणमय भोगोंमें आसक्तिरूप दोषको जीत लिया है। जो अध्यात्मनित्य हैं—आत्मविषयक ज्ञानका नाम अध्यात्म है, अतः जो आत्माके ध्यानमें संलग्न हैं। आत्मज्ञानके अतिरिक्त जिनकी समस्त कामनाएँ निवृत्त हो चुकी हैं और जो सुख-दुःख नामक द्वन्द्वोंसे मुक्त हो चुके हैं। ऐसे आत्मा और अनात्माके स्वभावको जाननेवाले ज्ञानी उस अविनाशी पदको प्राप्त करते हैं। अर्थात् अनवच्छिन्न (विभागरहित) एकमात्र ज्ञानस्वरूप आत्माके यथार्थ स्वरूपको प्राप्त कर लेते हैं। अभिप्राय यह कि मेरी शरण ग्रहण करनेवालोंकी सिद्धिपर्यन्तकी ये समस्त प्रवृत्तियाँ मेरी कृपासे ही सुखसाध्य हो जाती हैं ॥ ५ ॥

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ ६ ॥

उस (आत्मज्योति) को न सूर्य प्रकाशित करता है, न चन्द्रमा और न अग्नि। जिसको प्राप्त होकर फिर नहीं लौटते, वह मेरा परम धाम है ॥ ६ ॥

तद् **आत्मज्योतिः** न सूर्यो भासयते न शशाङ्को न पावकः **च**। **ज्ञानम् एव हि सर्वस्य प्रकाशकम्। बाह्यानि तु ज्योतींषि विषयेन्द्रियसंबन्धविरोधितमोनिरसनद्वारेण उपकाराणि।**

उस आत्मज्योतिको न सूर्य प्रकाशित कर सकता है, न चन्द्रमा और न अग्नि ही। क्योंकि यथार्थमें ज्ञान ही सबका प्रकाशक है। बाह्य ज्योतियाँ तो केवल विषय और इन्द्रियोंके सम्बन्धके विरोधी अन्धकारका नाश करनेवाली हैं, इस कारण ज्ञानमें सहकारी हेतु हैं।

अस्य च प्रकाशको योगः, तद्विरोधि च अनादिकर्म, तन्निवर्तनं च उक्तं भगवत्प्रपत्तिमूलम् असङ्गादि।

इस आत्मज्योतिका प्रकाशक योग, उसके विरोधी अनादिकालीन कर्म और उनको नाश करनेवाले उपाय भगवत्प्रपत्तिमूलक अनासक्ति आदि, पहले बतलाये गये हैं।

यद् गत्वा **पुनः** न निवर्तन्ते तत् परमं धाम **परमं ज्योतिः** मम **मदीयं मद्विभूतिभूतो ममांश इत्यर्थः।**

जिसको पाकर पुरुष वापस नहीं लौटते, वह परमधाम—परमज्योति मेरी है। मेरी विभूतिरूप है अर्थात् मेरा अंश है।

आदित्यादीनाम् अपि प्रकाशकत्वेन तस्य परमत्वम्। आदित्यादीनि हि ज्योतींषि न ज्ञानज्योतिषः प्रकाशकानि, ज्ञानम् एव हि सर्वस्य प्रकाशकम्॥ ६॥

आदित्यादि ज्योतियोंकी भी प्रकाशक होनेसे उस आत्मज्योतिको उत्कृष्ट माना गया है। क्योंकि आदित्यादि ज्योतियाँ ज्ञानज्योतिकी प्रकाशिका नहीं हैं; बल्कि ज्ञान ही सबका प्रकाशक है॥ ६॥

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥ ७॥

मेरा ही जीवरूप सनातन अंश जीवलोकमें प्रकृतिमें स्थित मनसहित छः इन्द्रियोंको खींचता है॥ ७॥

इत्थम् उक्तस्वरूपः सनातनो मम अंश एव **सन् कश्चिद् अनादिकर्म-**

इस प्रकार बतलाये हुए स्वरूपवाला यह जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है, तो भी जिसका स्वरूप अनादि कर्मरूप

रूपाविद्यावेष्टनतिरोहितस्वरूपो जीवभूतो जीवलोके **वर्तमानो देवमनुष्यादिप्रकृतिपरिणामविशेषशरीरस्थानि** मनःषष्ठानि इन्द्रियाणि कर्षति। **कश्चित् च पूर्वोक्तमार्गेण अस्या अविद्याया मुक्तः स्वेन रूपेण अवतिष्ठते।**

जीवभूतः तु अतिसंकुचितज्ञानैश्वर्यः कर्मलब्धप्रकृतिपरिणामविशेषरूपशरीरस्थानाम् इन्द्रियाणां मनःषष्ठानाम् ईश्वरः तानि कर्मानुगुणम् इतः ततः कर्षति ॥ ७ ॥

अविद्याके घेरेमें छिपा हुआ है, ऐसा यह जीवलोकमें बर्तनेवाला कोई एक जीवात्मा तो प्रकृतिके परिणामरूप देव-मनुष्यादि शरीरमें स्थित मनसहित छः इन्द्रियोंको खींचता रहता है और दूसरा कोई पूर्वोक्त उपायसे इस अविद्यासे मुक्त होकर अपने स्वरूपमें स्थित रहता है।

अति सङ्कुचित ज्ञान और ऐश्वर्यवाला तथा कर्मोंसे प्राप्त प्रकृतिके परिणामविशेष शरीरमें रहनेवाली मनसहित छः इन्द्रियोंका स्वामी यह जीव इन छहोंको कर्मानुसार इधर-उधर खींचता रहता है ॥७॥

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥ ८ ॥

(इन्द्रियोंका) ईश्वर (यह जीव) जिस शरीरको छोड़ता है, उससे जिस शरीरमें जाता है, वहाँ (इन इन्द्रियों) को वैसे ही पकड़कर ले जाता है, जैसे वायु (गन्धके) स्थानोंसे गन्धोंको (ले जाता है) ॥ ८ ॥

यत् शरीरम् अवाप्नोति, **यस्मात् शरीराद्** उत्क्रामति, **तत्र अयम् इन्द्रियाणाम्** ईश्वरः एतानि **इन्द्रियाणि भूतसूक्ष्मैः सह** गृहीत्वा संयाति। वायुः गन्धान् इव आशयात्—

यथा वायुः स्रक्चन्दनकस्तूरिकाद्याशयात् तत्स्थानात् सूक्ष्मावयवैः सह गन्धान् गृहीत्वा अन्यत्र संयाति तद्वद् इत्यर्थः ॥ ८ ॥

यह इन्द्रियोंका ईश्वर जीवात्मा जिस शरीरको प्राप्त होता है, वहाँ जिस शरीरसे बाहर निकलता है, उसमेंसे सूक्ष्म भूतोंके सहित छहों इन्द्रियोंको वैसे ही पकड़कर साथ ले जाता है, जैसे कि गन्धके स्थानसे गन्धको वायु।

अभिप्राय यह है कि जैसे वायु माला, चन्दन और कस्तूरी आदि सुगन्धके स्थानोंसे उनमें स्थित गन्धको सूक्ष्म अंगोंसहित साथ लेकर दूसरी जगह चला जाता है, वैसे ही यह जीव चला जाता है ॥ ८ ॥

कानि पुनः तानि इन्द्रियाणि ? इत्याह—

वे इन्द्रियाँ कौन हैं ? इसपर कहते हैं—

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥

श्रोत्र, नेत्र, त्वचा, रसना और घ्राणको तथा मनको भी अधिष्ठान बनाकर यह (जीव) विषयोंका सेवन करता है ॥ ९ ॥

एतानि मनःषष्ठानि इन्द्रियाणि अधिष्ठाय **स्वस्वविषयवृत्त्यनुगुणानि कृत्वा तान् शब्दादीन्** विषयान् उपसेवते **उपभुङ्क्ते** ॥ ९ ॥

इन मनसमेत छहों (श्रोत्र, चक्षु, त्वचा, रसना और घ्राण तथा मन) इन्द्रियोंको अधिष्ठान बनाकर—अपने-अपने विषयोंकी वृत्तिके अनुकूल बनाकर यह जीवात्मा उन शब्दादि विषयोंका सेवन—उपभोग करता है ॥ ९ ॥

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥ १० ॥

गुणोंसे युक्त (जीवात्मा) को (शरीरसे) निकलते हुए, (शरीरमें) स्थित, अथवा (विषयोंको) भोगते समय मूढ पुरुष नहीं देखते हैं, ज्ञाननेत्रवाले देखते हैं ॥ १० ॥

एवं गुणान्वितं **सत्त्वादिगुणमयप्रकृतिपरिणामविशेषमनुष्यत्वादिसंस्थानपिण्डसंसृष्टं पिण्डविशेषाद्** उत्क्रामन्तं **पिण्डविशेषे अवस्थितं** वा **गुणमयान् विषयान्** भुञ्जानं वा **कदाचिद्** अपि **प्रकृतिपरिणामविशेषमनुष्यत्वादिपिण्डाद् विलक्षणं ज्ञानैकाकारं** विमूढा न अनुपश्यन्ति।

इस प्रकार गुणोंसे युक्त इस जीवात्माको अर्थात् सत्त्व आदि गुणमयी प्रकृतिके परिणामरूप मनुष्य आदि आकृतिवाले पिण्ड (शरीर) से युक्त आत्माको पिण्डविशेष (देहविशेष) से निकलकर जाते हुएको या शरीर-विशेषमें रहते हुएको अथवा गुणमय विषयोंका भोग करते हुएको किसी भी समय मूढ़लोग प्रकृतिके परिणामरूप मनुष्यादि शरीरसे विलक्षण केवल ज्ञानस्वरूपमें नहीं देखते।

विमूढाः मनुष्यत्वादिपिण्डात्माभिमानिनः ।

ज्ञानचक्षुषः **तु पिण्डात्मविवेकविषयज्ञानवन्तः सर्वावस्थम् अपि एनं विविक्ताकारम् एव** पश्यन्ति ॥ १० ॥

मनुष्यादिके शरीरमें आत्माभिमान रखनेवालोंका नाम विमूढ है ।

परन्तु जो ज्ञाननेत्रोंसे युक्त हैं—शरीर और आत्माको पृथक्-पृथक् समझनेवाले हैं, वे इसको सभी अवस्थाओंमें प्रकृतिसे पृथक् (निर्लेप) स्वरूप ही देखते हैं ॥ १० ॥

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥ ११ ॥

यत्न करनेवाले योगीजन इसको आत्मामें स्थित देखते हैं; परन्तु अशुद्ध चित्तवाले अविवेकी पुरुष यत्न करते हुए भी इसको नहीं देख पाते ॥ ११ ॥

मत्प्रपत्तिपूर्वकं कर्मयोगादिषु यतमानाः तैः निर्मलान्तःकरणाः योगिनः **योगाख्येन चक्षुषा** आत्मनि **शरीरे** अवस्थितम् **अपि शरीराद् विविक्तं स्वेन रूपेण अवस्थितम्** एनं पश्यन्ति ।

यतमानाः अपि अकृतात्मानः **मत्प्रपत्तिविरहिणः तत एव असंस्कृतमनसः तत एव** अचेतसः **आत्मावलोकनसमर्थचेतोरहिताः** न एनं पश्यन्ति ॥ ११ ॥

जो मेरे प्रपन्न (शरण) होकर कर्मयोगादिमें यत्न करनेवाले हैं तथा जिनका अन्तःकरण उन साधनोंसे निर्मल हो गया है, ऐसे योगीजन योगरूप नेत्रोंके द्वारा इस आत्माको शरीरमें रहते हुए भी शरीरसे पृथक् (निर्लेप) अपने स्वरूपमें स्थित देखते हैं ।

परन्तु जो अकृतात्मा—मेरी प्रपत्ति (शरणागति) से रहित हैं और इसी कारण जिनका मन शुद्ध नहीं हुआ है, अतएव जो अचेतस् हैं यानी आत्मदर्शनमें समर्थ चित्तसे रहित हैं, वे इस आत्माको यत्न करनेपर भी नहीं देख पाते ॥ ११ ॥

एवं रविचन्द्राग्नीनाम् इन्द्रियसन्निकर्षविरोधिसंतमसनिरसनमुखेन इन्द्रियानुग्राहकतया प्रकाशकानां ज्योतिष्मताम् अपि प्रकाशकं ज्ञानज्योतिः आत्मा मुक्तावस्थो जीवावस्थः च भगवद्विभूतिः इति उक्तम् '*तद्धाम परमं मम*।' (१५।६) '*ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः*॥' (१५।७) इति।

इस प्रकार अग्नि, चन्द्रमा और सूर्य, जो इन्द्रियसम्बन्धके विरोधी अन्धकारका नाश करनेके द्वारा इन्द्रियोंके सहायक होनेके नाते प्रकाशक ज्योति हैं, उनका भी प्रकाशक ज्ञानज्योति आत्मा मुक्तावस्था और जीवावस्थामें भी भगवान्‌की ही विभूति है, यह '**तद्धाम परमं मम**'। '**ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः**' ॥ इत्यादि श्लोकोंमें कहा गया।

इदानीम् अचित्परिणामविशेषभूतम् आदित्यादीनां ज्योतिष्मतां ज्योतिः अपि भगवद्विभूतिः इत्याह—

अब यह कहते हैं कि जडका परिणामविशेष जो कि सूर्य आदि ज्योतियोंका तेज है, वह भी भगवान्‌की ही विभूति है—

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥१२॥

जो सूर्यगत तेज समस्त जगत्‌को प्रकाशित करता है और जो (तेज) चन्द्रमामें है और जो अग्निमें है, उस तेजको तू मेरा ही जान॥ १२॥

अखिलस्य जगतो भासकम् एतेषाम् आदित्यादीनां यत्तेजः तत् मदीयं तेजः तैः तैः आराधितेन मया तेभ्यो दत्तम् इति विद्धि॥१२॥

समस्त जगत्‌को प्रकाशित करनेवाला इन सूर्य आदिका जो तेज है, वह मेरा ही तेज है। अर्थात् उन-उनके द्वारा की हुई आराधनासे प्रसन्न होकर मैंने वह तेज उनको दिया है, ऐसा जान॥ १२॥

पृथिव्याः च भूतधारिण्या धारकत्वशक्तिः मदीया इत्याह—

अब यह कहते हैं कि भूतोंको धारण करनेवाली पृथिवीकी जो धारण-शक्ति है, वह भी मेरी ही है—

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥१३॥

पृथिवीमें प्रवेश करके मैं अपने ओजसे समस्त भूतोंको धारण करता हूँ और रसमय चन्द्रमा होकर सारी ओषधियोंको पुष्ट करता हूँ ॥ १३ ॥

अहं **पृथिवीम्** आविश्य **सर्वाणि** भूतानि ओजसा **मम अप्रतिहतसामर्थ्येन** धारयामि । **तथा अहम् अमृतरसमयः** सोमो भूत्वा सर्वौषधीः पुष्णामि ॥ १३ ॥

मैं पृथिवीमें प्रविष्ट होकर अपने ओजसे—अपनी अप्रतिहत सामर्थ्यसे समस्त प्राणियोंको धारण करता हूँ तथा मैं ही अमृतरसमय चन्द्रमा होकर सब ओषधियोंको पुष्ट करता हूँ ॥ १३ ॥

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥१४॥

मैं प्राणियोंके देहमें रहनेवाला वैश्वानर होकर और प्राण-अपानके साथ युक्त होकर चार प्रकारके भोजनको पचाता हूँ ॥ १४ ॥

अहं वैश्वानरो **जाठरानलो** भूत्वा **सर्वेषां** प्राणिनां देहम् आश्रितः **तैः भुक्तं खाद्यचोष्यलेह्यपेयात्मकं** चतुर्विधम् अन्नं प्राणापान**वृत्तिभेद**समायुक्तः पचामि ॥ १४ ॥

मैं ही समस्त प्राणियोंके शरीरमें स्थित वैश्वानर—जठराग्नि होकर प्राण, अपान आदि वृत्तियोंके भेदोंवाले पञ्च प्राणोंसे युक्त होकर उन प्राणियोंके द्वारा खाये हुए खाद्य, चोष्य, लेह्य और पेयरूप चार प्रकारके अन्नको पचाता हूँ ॥ १४ ॥

अत्र परमपुरुषविभूतिभूतौ सोमवैश्वानरौ अहं सोमो भूत्वा वैश्वानरो भूत्वा इति तत्सामानाधिकरण्येन निर्दिष्टौ । तयोः च सर्वस्य भूत-

यहाँ 'मैं सोम होकर' 'मैं वैश्वानर होकर' इत्यादि वचनोंसे परम पुरुषकी विभूतिरूप सोम और वैश्वानरका समानाधिकरणतासे वर्णन किया गया है, अतः उनका और सम्पूर्ण प्राणियोंका

जातस्य च परमपुरुषसामानाधिकरण्यनिर्देशे हेतुम् आह—

परम पुरुषके साथ समानाधिकरणतासे वर्णन किया जानेका जो कारण है, उसे बतलाते हैं—

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥ १५ ॥

मैं सबके हृदयमें प्रविष्ट हूँ; मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन होता है। सब वेदोंसे मैं ही जानने योग्य हूँ और मैं ही वेदान्तका (वेदोक्त फलका) कर्ता और वेदका जाननेवाला हूँ ॥ १५ ॥

तयोः सोमवैश्वानरयोः सर्वस्य भूतजातस्य च सकलप्रवृत्तिनिवृत्तिमूलज्ञानोदयदेशे हृदि **सर्वं मत्संकल्पेन नियच्छन्** अहम् **आत्मतया** सन्निविष्टः ।

उन सोम और वैश्वानरके तथा समस्त प्राणियोंके हृदयमें—सम्पूर्ण प्रवृत्ति और निवृत्तिके कारणरूप ज्ञानके उत्पत्ति-स्थानमें मैं अपने सङ्कल्पके द्वारा सबका शासन करता हुआ आत्मरूपसे प्रविष्ट हो रहा हूँ ।

तथा आहुः श्रुतयः—*'अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा'* (तै० आ० ३ । ११) *'यः पृथिव्यां तिष्ठन्'* (बृह० उ० ३ । ७ । ३) *'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमयति ।'* (बृह० उ० ३ । ७ । २२) *'पद्मकोशप्रतीकाशं हृदयं चाप्यधोमुखम् ।'* (तै० ना० ११) *'अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म'* (छा० उ० ८ । १ । १) इत्याद्याः ।

यही बात श्रुतियाँ भी इस प्रकार कहती हैं—**'प्राणियोंका शासक सबका आत्मा अन्तरमें प्रविष्ट है' 'जो पृथिवीमें स्थित रहकर' 'जो आत्मामें रहता है, आत्माका अन्तरतम है और (आत्माका) नियमन करता है ।' 'कमलकोषके सदृश नीचेकी ओर मुखवाला हृदय है' 'जो इस ब्रह्मपुर (शरीर) में हृदयकमल है वह (ब्रह्मका) घर है ।'** इत्यादि ।

स्मृतयः च *'शास्ता विष्णुरशेषस्य जगतो यो जगन्मयः।' (वि० पु० १।१७।२०) 'प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणीयसाम्।' (मनु० १२।१२२) 'यमो वैवस्वतो राजा यस्तवैष हृदि स्थितः।' (मनु० ८।९२)* इत्याद्याः।

अतो मत्तः एव सर्वेषां स्मृतिः जायते, स्मृतिः पूर्वानुभूतविषयम् अनुभवसंस्कारमात्रजं ज्ञानम्। ज्ञानम् इन्द्रियलिङ्गागमयोगजो वस्तुनिश्चयः, सः अपि मत्तः। अपोहनं च, अपोहनं ज्ञाननिवृत्तिः।

अपोहनम् ऊहनं वा ऊहनं ऊहः, ऊहो नाम—इदं प्रमाणम् इत्थं प्रवर्तितुम् अर्हति इति प्रमाणप्रवृत्त्यर्हताविषयं सामग्र्यादिनिरूपणजन्यं प्रमाणानुग्राहकं ज्ञानम्; ऊहो नाम वितर्कः, स च मत्त एव।

वेदैः च सर्वैः अहम् एव वेद्यः। अतः अग्निवायुसूर्यसोमेन्द्रादीनां

तथा **'जो जगन्मय विष्णु समस्त जगत्का शासक है।' 'सबके शासक सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मको' 'जो यह तेरे हृदयमें स्थित परमात्मा है, यही वैवस्वत यमराज है'** इत्यादि स्मृतियाँ भी यही बात कहती हैं।

इसलिये सबकी स्मृति भी मुझसे ही होती है। पूर्वमें अनुभव की हुई वस्तुको विषय करनेवाली और अनुभवके संस्कारमात्रसे प्रकट होनेवाली ज्ञानवृत्तिका नाम स्मृति है। इन्द्रियगोलक और शास्त्रके संयोगसे जो वस्तुस्वरूपका निश्चय होता है, उसका नाम ज्ञान है। वह भी मुझसे ही होता है। तथा अपोहन भी मुझसे ही होता है। अपोहनका अर्थ है ज्ञानकी निवृत्ति।

अथवा अपोहन यहाँ ऊहनका वाचक है और ऊहनका पर्याय है 'ऊह'। 'यह प्रमाण इस प्रकार प्रयुक्त किया जाना चाहिये।' ऐसा जो प्रमाणप्रवृत्तिकी योग्यताको विषय करनेवाला है और समग्रता आदिके निरूपणसे उत्पन्न होनेवाला है उस प्रमाणज्ञानके सहायक ज्ञानका नाम ऊह है। भाव यह कि वितर्कका नाम ऊह है और वह ऊह भी मुझसे ही होता है।

सम्पूर्ण वेदोंके द्वारा जानने योग्य भी मैं ही हूँ; क्योंकि अग्नि, वायु, सूर्य,

मदन्तर्यामिकत्वेन मदात्मकत्वात् तत्प्रतिपादनपरैः अपि सर्वैः वेदैः अहम् एव वेद्यः, देवमनुष्यादिशब्दैः जीवात्मा इव ।

वेदान्तकृत् वेदानाम् *'इन्द्रं यजेत'* (*शत० ब्रा० ५ । १ । ६*) *'वरुणं यजेत'* (*शत० ब्रा० २ । ३ । ३७*) इति एवमादीनाम् अन्तः फलं फले हि ते सर्वे वेदाः पर्यवस्यन्ति, अन्तंकृत् फलकृत्, वेदोदितफलस्य प्रदाता च अहम् एव इत्यर्थः ।

तदुक्तं पूर्वम् एव—*'यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।'* (*७ । २१*) इत्यारभ्य *'लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान् ।'* (*७ । २२*) इति; *'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ॥'* (*९ । २४*) इति च ।

वेदविद् एव च अहम् वेदवित् च अहम् एव, एवं मदभिधायिनं वेदम् अहम् एव वेद । इतः अन्यथा यो वेदार्थं ब्रूते, न स वेदविद् इति अभिप्रायः ॥ १५ ॥

चन्द्रमा और इन्द्र आदिका—अन्तर्यामी मैं ही हूँ; इसलिये मैं उनका आत्मा हूँ; अतः उनको प्रतिपादन करनेवाले समस्त वेदोंके द्वारा भी मैं ही जानने योग्य हूँ । अभिप्राय यह है कि देव, मनुष्य आदि शब्दोंसे जीवोंका वर्णन होनेकी भाँति उन नामोंसे मेरा ही वर्णन किया गया है ।

तथा वेदान्तका कर्ता भी मैं ही हूँ । अभिप्राय यह कि **'इन्द्रका पूजन करना चाहिये ।' 'वरुणका पूजन करना चाहिये ।'** इत्यादि वेद-वाक्योंका जो अन्त—फल है, उसका नाम वेदान्त है, क्योंकि उन सब वेद-वाक्योंका अपने फलमें ही पर्यवसान होता है; अतः उस वेदान्तरूप फलका कर्ता यानी वेदोक्त फलका प्रदाता भी मैं ही हूँ ।

यह बात पहले भी **'यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।'** यहाँसे लेकर **'लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान् ।'** यहाँतक तथा **'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ॥'** इस श्लोकमें भी कही गयी है ।

तथा वेदको जाननेवाला भी मैं ही हूँ; वेद मेरा विधान करनेवाले हैं, इसप्रकार मैं स्वयं जानता हूँ । अभिप्राय यह है कि जो इससे विपरीत वेदका अर्थ करते हैं, वे वेदवेत्ता नहीं हैं ॥ १५ ॥

अतः मत्त एव सर्ववेदानां सारभूतम् अर्थं शृणु—

इसलिये तू मुझसे ही समस्त वेदोंका साररूप अर्थ सुन—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥ १६॥

लोकमें ये दो पुरुष हैं—क्षर और अक्षर। क्षर तो समस्त भूतप्राणी है और अक्षर कूटस्थ (आत्मज्ञानी) कहलाता है॥ १६॥

क्षरः च अक्षर एव च **इति द्वौ** इमौ पुरुषौ लोके **प्रथितौ। तत्र** क्षर**शब्दनिर्दिष्टः पुरुषो जीवशब्दाभिलपनीयब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तक्षरणस्वभावाचित्संसृष्टसर्व**भूतानि; **अत्र अचित्सङ्गरूपैकोपाधिना पुरुषः इति एकत्वनिर्देशः।**

अक्षर**शब्दनिर्दिष्टः** कूटस्थः, **अचित्संसर्गवियुक्तः, स्वेन रूपेण अवस्थितो मुक्तात्मा। स तु अचित्संसर्गाभावाद् अचित्परिणामविशेषब्रह्मादिदेहासाधारणो न भवति इति कूटस्थ इति** उच्यते।

अत्र अपि एकत्वनिर्देशः अचिद्वियोगरूपैकोपाधिना अभिहितः।

क्षर और अक्षर ऐसे ये दो पुरुष लोकमें विख्यात हैं, उन दोनोंमें क्षर शब्दसे निर्दिष्ट पुरुष तो, जो जीव नामसे कहा जाता है, जिसका नष्ट होनेके स्वभाववाली जड-प्रकृतिसे सम्बन्ध है, ऐसा यह ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त समस्त भूतोंका समुदाय है। (यद्यपि जीव बहुत हैं, तथापि) यहाँ जडके संसर्गरूप एक ही उपाधिसे सबका सम्बन्ध है, इसलिये 'पुरुषः' पदमें एकवचनका प्रयोग किया गया है।

अक्षर शब्दसे निर्दिष्ट पुरुष कूटस्थ है। जडके संसर्गसे रहित अपने स्वरूपमें स्थित मुक्तात्माको 'कूटस्थ' कहते हैं। वह जड संसर्गसे रहित हो जानेके कारण जड-प्रकृतिके परिणामविशेष ब्रह्मादि शरीरोंको धारण करनेवाला नहीं होता; इसलिये 'कूटस्थ' कहलाता है।

यहाँ भी जडके संसर्गका अभाव हो जानारूप एक उपाधिको लेकर ही एकवचनका प्रयोग किया गया है।

न हि इतः पूर्वम् अनादौ काले मुक्त एक एव। यथा उक्तम्—'*बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥*' (४।१०) '*मम साधर्म्यमागताः। सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥*' (१४।२) **इति ॥ १६ ॥**

क्योंकि अबसे पहले अनादिकालसे एक ही आत्मा मुक्त हुआ हो, ऐसी बात नहीं है। जैसे कहा भी है **'बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥' 'मम साधर्म्यमागताः। सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥'** इति ॥१६॥

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ १७ ॥

परन्तु उत्तम पुरुष दूसरा है, जो परमात्मा कहलाता है। और जो अविनाशी ईश्वर तीनों लोकोंमें प्रवेश करके उन्हें धारण करता है ॥ १७ ॥

उत्तमः पुरुषः तु **ताभ्यां क्षराक्षरशब्दनिर्दिष्टाभ्यां बद्धमुक्तपुरुषाभ्याम्** अन्यः **अर्थान्तरभूतः** परमात्मा इति उदाहृतः।

उत्तम पुरुष तो उन क्षर और अक्षर नामसे निर्दिष्ट बद्ध और मुक्त दोनों पुरुषोंसे अन्य—भिन्न वस्तु है जो कि 'परमात्मा' नामसे कहा गया है।

सर्वासु श्रुतिषु परमात्मा इति निर्देशाद् एव हि उत्तमः पुरुषो बद्धमुक्तपुरुषाभ्याम् अर्थान्तरभूतः इति अवगम्यते। कथम्? यो लोकत्रयम् आविश्य बिभर्ति; **लोक्यत इति लोकः तत्त्रयं लोकत्रयम्, अचेतनं तत्संसृष्टः चेतनो**

समस्त वेदोंमें परमात्मा नामसे उसका निर्देश होनेसे ही उत्तम पुरुष बद्ध और मुक्त दोनों पुरुषोंसे भिन्न वस्तु है, यह बात जानी जाती है। कैसे? (यह बतलाते हैं—) 'जो तीनों लोकोंमें प्रविष्ट होकर सबका धारण-पोषण करता है, (वह उनसे भिन्न है) अभिप्राय यह है कि जो देखा जाय उसका नाम लोक है; ऐसे तीनोंके समुदायोंका नाम लोकत्रय है। इस व्युत्पत्तिके अनुसार प्रमाणसे समझमें आनेवाले जड, जडसे

मुक्तः च इति प्रमाणावगम्यम् एतत् त्रयं य आत्मतया आविश्य बिभर्ति, स तस्माद् व्याप्याद् भर्तव्यात् च अर्थान्तरभूतः ।

इतः च उक्तात् लोकत्रयाद् अर्थान्तरभूतः । यतः सः अव्यय ईश्वरः च । अव्ययस्वभावो हि व्ययस्वभावाद् अचेतनात् तत्संबन्धेन तदनुसारिणः च चेतनाद् अचित्संबन्धयोग्यतया पूर्वसंबन्धिनः मुक्तात् च अर्थान्तरभूत एव; तथा एतस्य लोकत्रयस्य ईश्वरः ईशितव्यात् तस्माद् अर्थान्तरभूतः ॥ १७ ॥

संसर्गयुक्त चेतन और मुक्तात्मा—इन तीनोंका नाम लोकत्रय है । जो इन तीनोंको आत्मरूपसे इनमें प्रविष्ट होकर, धारण करता है, वह इन व्याप्य और धारण किये जाने योग्य तीनों पदार्थोंसे भिन्न पदार्थ है ।

तथा वह अविनाशी और ईश्वर है, इस कारणसे भी इन तीनोंसे भिन्न पदार्थ है । क्योंकि व्यय (क्षय) होनेके स्वभाववाली जडरूपा प्रकृतिसे, उसके सम्बन्धके नाते, उसीके स्वभावका अनुसरण करनेवाले बद्ध जीवसे तथा प्रकृतिसे सम्बन्ध होनेकी योग्यताके कारण जिसका पहले अचेतनसे संसर्ग था, ऐसे मुक्तात्मासे भी नित्य अविनाशी स्वभाववाला तत्त्व (परमात्मा) सर्वथा भिन्न ही है । तथा प्रकृति, जीव और मुक्तात्मा—— इन तीनों लोकोंका ईश्वर है, इसलिये भी वह उसके शासनमें रहनेवाले इन तीनोंसे सर्वथा भिन्न ही है ॥ १७ ॥

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ १८ ॥

जिसलिये कि मैं क्षरसे अतीत और अक्षरसे भी उत्तम हूँ । इसलिये लोक और वेदमें 'पुरुषोत्तम' नामसे प्रसिद्ध हूँ ॥ १८ ॥

यस्माद् **एवम् उक्तैः स्वभावैः** क्षरं **पुरुषम्** अतीतः अहम्, अक्षरात् **मुक्ताद्**

चूँकि उपर्युक्त स्वभावोंके कारण मैं क्षर पुरुषसे अतीत हूँ और अक्षरकी

अपि उक्तैः हेतुभिः उत्कृष्टतमः, अतः अहं लोके वेदे च पुरुषोत्तमः इति प्रथितः अस्मि। वेदार्थावलोकनात् लोक इति स्मृतिः इह उच्यते। श्रुतौ स्मृतौ च इत्यर्थः।

श्रुतौ तावत्—'*परं ज्योतीरूपं संपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः*' (छा० उ० ८।१२।३) इत्यादौ। स्मृतौ अपि '*अंशावतारं पुरुषोत्तमस्य ह्यनादिमध्यान्तमजस्य विष्णोः।*' (वि० पु० ५।१७।३३) इत्यादौ॥ १८॥

अपेक्षा—मुक्तात्माकी अपेक्षा भी उक्त कारणोंसे अत्यन्त श्रेष्ठ हूँ; इसलिये मैं लोक और वेदमें 'पुरुषोत्तम' नामसे प्रसिद्ध हूँ। वेदके अर्थका अवलोकन करनेवाली होनेसे स्मृतियोंको ही यहाँ 'लोक' नामसे कहा गया है। अतः यह अभिप्राय है कि श्रुति और स्मृतियोंमें मैं 'पुरुषोत्तम' नामसे प्रसिद्ध हूँ।

'परम ज्योतिको प्राप्त होकर अपने स्वरूपसे सम्पन्न होता है, अतः वह उत्तम पुरुष है।' इत्यादि श्रुतियोंमें तथा **'आदि, मध्य और अन्तसे रहित एवं जन्मरहित पुरुषोत्तम विष्णुके यह अंशावतार है'** इत्यादि स्मृतियोंमें भी मैं पुरुषोत्तम नामसे प्रसिद्ध हूँ॥ १८॥

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥१९॥

भारत! जो असंमूढ पुरुष इस प्रकार मुझको पुरुषोत्तम जानता है, वह सब कुछ जानता है और मुझको सर्वभावसे भजता है॥ १९॥

यः एवम् उक्तेन प्रकारेण पुरुषोत्तमं माम् असंमूढो जानाति, क्षराक्षरपुरुषाभ्याम् अव्ययस्वभावतया व्यापनभरणैश्वर्यादियोगेन च विसजातीयं जानाति, स सर्ववित् मत्प्राप्त्युपायतया यद् वेदितव्यं तत् सर्वं वेद।

जो मूढतारहित पुरुष उपर्युक्त प्रकारसे मुझको पुरुषोत्तम जानता है, यानी मैं अविनाशी स्वभाववाला तथा व्यापन, धारण, पोषण और ऐश्वर्यादि गुणोंसे युक्त हूँ, इसलिये मुझे क्षर और अक्षर दोनोंसे विलक्षण जानता है, वह सर्ववित् है—मेरी प्राप्तिके लिये जो कुछ साधन जानना आवश्यक है, उस सबको

भजति मां सर्वभावेन **ये च मत्प्राप्त्युपायतया मद्भजनप्रकारा निर्दिष्टाः तैः च सर्वैः भजनप्रकारैः मां भजते ।**

सर्वैः मद्विषयैः वेदनैः मम या प्रीतिः या च मम सर्वैः मद्विषयैः भजनैः उभयविधा सा प्रीतिः अनेन वेदनेन मम जायते ॥ १९ ॥

वह जानता है। तथा सभी भावोंसे मुझको भजता है। मेरी प्राप्तिके उपायरूप जो मेरे भजनके प्रकार बतलाये गये हैं, उन सारे भजन-प्रकारोंसे मुझे भजता है।

अभिप्राय यह है कि मेरे विषयके समस्त ज्ञानोंसे और समस्त भजनोंसे जो मेरी प्रीति (प्रसन्नता) होती है, वह दोनों प्रकारकी प्रीति इस पुरुषोत्तमत्वके जाननेसे हो जाती है ॥१९॥

इति एतत् पुरुषोत्तमत्ववेदनं पूजयति ।

इस प्रकार इस 'पुरुषोत्तमत्व' के ज्ञानकी स्तुति करते हैं।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥२०॥

निष्पाप अर्जुन ! इस प्रकार यह गुह्यतम शास्त्र मेरे द्वारा कहा गया है। इसे जानकर पुरुष बुद्धिमान् और कृतकृत्य हो जाता है ॥ २० ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

इत्थं मम पुरुषोत्तमत्वप्रतिपादनं सर्वेषां गुह्यानां गुह्यतमम् इदं शास्त्रं **त्वम्** अनघतया **योग्यतम इति कृत्वा मया तव** उक्तम्। एतद् बुद्ध्वा बुद्धि-

यह मेरे पुरुषोत्तमत्वका प्रतिपादन करनेवाला शास्त्र समस्त गुप्त रखनेयोग्य पदार्थोंमें गुप्ततम है। तू निष्पाप होनेके कारण श्रेष्ठ अधिकारी है, ऐसा समझकर मैंने तुझसे यह कहा है। इसको समझ-

मान् स्यात् कृतकृत्यः च **मां प्रेप्सुना उपादेया या बुद्धिः सा सर्वा उपात्ता स्यात्। यत् च तेन कर्तव्यम्, तत् च सर्वं कृतं स्याद् इत्यर्थः।**

अनेन श्लोकेन अनन्तरोक्तं पुरुषोत्तमविषयं ज्ञानं शास्त्रजन्यम् एव एतत् सर्वं करोति; न तु साक्षात्काररूपम् इति उच्यते ॥ २० ॥

इति श्रीमद्भगवद्रामानुजाचार्यविरचिते श्रीमद्भगवद्गीताभाष्ये पञ्चदशोऽध्यायः ॥१५॥

कर मनुष्य बुद्धिमान् और कृतकृत्य हो जाता है। अभिप्राय यह है कि मुझे प्राप्त करनेकी इच्छावालेके लिये जो बुद्धि उपादेय है, वह सब-की-सब उसे प्राप्त हो जाती है और उसके लिये जो कर्तव्य है, वह सब किया हुआ हो जाता है। (उसके कर्तव्यकी स्वयमेव पूर्ति हो जाती है)।

इस श्लोकसे यह कहा जाता है कि उपर्युक्त पुरुषोत्तमविषयक शास्त्रजनित ज्ञान ही उपर्युक्त समस्त फल देनेवाला है। साक्षात्काररूप ज्ञानका यह फल है, यह कहना नहीं है ॥ २० ॥

इस प्रकार श्रीमान् भगवान् रामानुजाचार्य-द्वारा रचित गीता-भाष्यके हिन्दी-भाषानुवादका पंद्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १५ ॥

ॐ

सोलहवाँ अध्याय

अतीतेन अध्यायत्रयेण प्रकृतिपुरुषयोः विविक्तयोः संसृष्टयोः च याथात्म्यं तत्संसर्गवियोगयोः च गुणसङ्गतद्विपर्ययहेतुकत्वम्, सर्वप्रकारेण अवस्थितयोः प्रकृतिपुरुषयोः भगवद्विभूतित्वम्, विभूतिमतो भगवतो विभूतिभूताद् अचिद्वस्तुनः चिद्वस्तुनः च बद्धमुक्तोभयरूपाद् अव्ययत्वव्यापनभरणस्वाम्यैः अर्थान्तरतया पुरुषोत्तमत्वेन याथात्म्यं च वर्णितम् ।

अनन्तरम् उक्तस्य अर्थस्य स्थेम्ने शास्त्रवश्यतां वक्तुं शास्त्रवश्यतद्विपरीतयोः देवासुरसर्गयोः विभागं श्रीभगवान् उवाच—

इससे पहले तीन अध्यायोंमें संसर्गरहित और संसर्गयुक्त प्रकृति और पुरुषका यथार्थ स्वरूप बतलाया गया तथा यह भी कहा गया कि उनके संसर्गमें गुणोंका सङ्ग कारण है और संसर्गरहित होनेमें गुणोंके सङ्गका अभाव कारण है। तथा सब प्रकारसे स्थित प्रकृति और पुरुष दोनों ही भगवान्की विभूतियाँ हैं। अपनी विभूतिरूप अचेतन वस्तुसे एवं बद्ध और मुक्त दोनों प्रकारके चेतन आत्माओंसे उन विभूतियोंका स्वामी भगवान् अव्यय, व्यापक, भर्ता और स्वामी होनेके कारण भिन्न वस्तु हैं; इस प्रकार भगवान्को पुरुषोत्तम बतलाकर उनके यथार्थ स्वरूपका भी वर्णन किया गया है।

अभी (पंद्रहवें अध्यायमें) कहे हुए अभिप्रायको दृढ करनेके लिये शास्त्रकी अनुकूलता आवश्यक है, यह बतलानेके लिये क्रमशः शास्त्रके अनुकूल बर्तनेवाले और उससे विपरीत आचरण करनेवाले दैव और आसुर सर्गका विभाग श्रीभगवान् बतलाते हैं—

श्रीभगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—भारत ! अभय, सत्त्वसंशुद्धि, ज्ञानयोगव्यवस्थिति, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, आर्जव ॥ १ ॥

इष्टानिष्टवियोगसंयोगरूपस्य दुःखस्य हेतुदर्शनजं दुःखं भयम्, तन्निवृत्तिः अभयम् ।

इष्टवियोग और अनिष्ट-संयोगरूप दुःखके कारणको देखकर होनेवाले दुःखका नाम भय है । उसकी निवृत्ति-का नाम 'अभय' है ।

सत्त्वसंशुद्धिः **सत्त्वस्य अन्तःकरणस्य रजस्तमोभ्याम् असंस्पृष्टत्वम् ।**

सत्त्व—अन्तःकरणका रजोगुण और तमोगुणके स्पर्शसे रहित हो जाना 'सत्त्व-संशुद्धि' है ।

ज्ञानयोगव्यवस्थितिः **प्रकृतिवियुक्तात्मस्वरूपविवेकनिष्ठा ।**

प्रकृति-संसर्गसे रहित आत्मस्वरूपके विवेचनमें निष्ठाका नाम 'ज्ञानयोगव्यव-स्थिति' है ।

दानं **न्यायार्जितधनस्य पात्रे प्रतिपादनम् ।**

न्यायोपार्जित धनको सत्पात्रके प्रति देनेका नाम 'दान' है ।

दमः **मनसो विषयोन्मुख्यनिवृत्तिसंशीलनम् ।**

मनको विषयोंकी ओर जानेसे रोक लेनेके स्वभावका नाम 'दम' है ।

यज्ञः **फलाभिसन्धिरहितभगवदाराधनरूपमहायज्ञाद्यनुष्ठानम् ।**

फलाभिसन्धिरहित भगवदाराधनके रूपमें किये जानेवाले महायज्ञादिके अनुष्ठानका नाम 'यज्ञ' है ।

स्वाध्यायः **सविभूतेः भगवतः तदाराधनप्रकारस्य च प्रतिपादकः कृत्स्नो वेदः, इति अनुसंधाय वेदाभ्यासनिष्ठा ।**

समस्त वेद विभूतियोंके सहित भगवान्का और उनकी आराधनाके भेदोंका प्रतिपादन करनेवाले हैं; यह समझकर वेदाभ्यासमें निष्ठा करने-का नाम 'स्वाध्याय' है ।

तपः **कृच्छ्रचान्द्रायणद्वादश्युपवासादेः भगवत्प्रीणनकर्मयोग्यतापादनस्य करणम् ।**

भगवान्को प्रसन्न करनेवाले कर्म करनेकी योग्यता उत्पन्न करनेवाले कृच्छ्र, चान्द्रायण तथा द्वादशी-उपवासादि व्रतोंके करनेका नाम 'तप' है ।

आर्जवम् **मनोवाक्कायकर्मवृत्तीनाम् एकनिष्ठता परेषु** ॥ १ ॥

दूसरोंके प्रति व्यवहार करते समय मन, वाणी और शरीरके कर्मोंकी और वृत्तियोंकी एक निष्ठताका नाम 'आर्जव' है ॥ १ ॥

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ २ ॥

अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, अपैशुन, प्राणियोंपर दया, अलोलुपता, मार्दव, ह्री और अचपलता, ॥ २ ॥

अहिंसा **परपीडावर्जनम् ।**

दूसरोंको पीड़ा न पहुँचानेका नाम 'अहिंसा' है ।

सत्यं **यथादृष्टार्थगोचरभूतहितवाक्यम् ।**

देख-सुनकर समझी हुई बातको ठीक वैसे ही बतलानेके लिये कहे जानेवाले प्राणियोंके हितकर वचनका नाम 'सत्य' है।

अक्रोधः **परपीडाफलचित्तविकाररहितत्वम् ।**

दूसरोंको पीड़ा पहुँचानेके कारणरूप चित्तविकारके अभावका नाम 'अक्रोध' है ।

त्यागः **आत्महितप्रत्यनीकपरिग्रहविमोचनम् ।**

आत्म-कल्याणके विरोधी परिग्रहको छोड़नेका नाम 'त्याग' है ।

शान्तिः **इन्द्रियाणां विषयप्रावण्यनिरोधसंशीलनम् ।**

इन्द्रियोंका जो विषयोंकी ओर झुकाव है, उसके निरोध करनेके अभ्यासका नाम शान्ति है ।

अपैशुनं **परानर्थकरवाक्यनिवेदनाकरणम् ।**

दूसरेको हानि पहुँचानेवाले वचन न बोलनेका नाम 'अपैशुनता' है ।

दया भूतेषु **सर्वेषु दुःखासहिष्णुत्वम् ।**

समस्त प्राणियोंके दुःखको न सह सकनेका नाम 'दया' है ।

अलोलुप्त्वम्, **अलोलुपत्वम्, अलोलुत्वम् इति वा पाठः । विषयेषु निःस्पृहत्वम् इत्यर्थः ।**

'अलोलुप्त्व' का अर्थ है अलोलुपता। अलोलुप्त्वकी जगह 'अलोलुत्व' पाठ भी मिलता है। अभिप्राय है विषयोंमें स्पृहाका न होना ।

मार्दवम् अकाठिन्यम्; साधुजनसंश्लेषार्हता इत्यर्थः ।

कोमलताका नाम 'मार्दव' है, यानी साधु पुरुषोंके साथ सम्बन्ध जोड़नेकी योग्यताका नाम 'मार्दव' है ।

ह्रीः अकार्यकरणे व्रीडा ।

न करनेयोग्य काम करनेमें लज्जाका नाम 'ह्री' है ।

अचापलं स्पृहणीयविषयसन्निधौ अचपलत्वम् ॥ २ ॥

आसक्ति पैदा करनेवाले विषयकी समीपतामें भी चपलता न होनेके स्वभावका नाम 'अचपलता' है ॥ २ ॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ ३ ॥

तेज, क्षमा, धैर्य, शौच, अद्रोह, नातिमानिता—हे अर्जुन! (ये सब गुण) दैवी सम्पदामें उत्पन्न हुए (पुरुष) में होते हैं ॥ ३ ॥

तेजः दुर्जनैः अनभिभवनीयत्वम् ।

दुष्ट पुरुषोंके द्वारा न दबाये जा सकनेवाली शक्तिका नाम 'तेज' है ।

क्षमा परनिमित्तपीडानुभवे अपि परेषु तं प्रति चित्तविकाररहितता ।

दूसरोंके कारण अपनेको दुःख पहुँचाये जानेका अनुभव होनेपर भी उसके लिये दूसरोंपर चित्तमें विकार न होनेका नाम 'क्षमा' है ।

धृतिः महत्याम् अपि आपदि कृत्यकर्तव्यतावधारणम् ।

महान् विपत्तिमें भी करनेयोग्य कर्तव्यके निश्चय करनेकी शक्तिका नाम 'धृति' है ।

शौचं बाह्यान्तःकरणानां कृत्ययोग्यता शास्त्रीया ।

बाहर और भीतरकी इन्द्रियोंको शास्त्रानुसार कर्तव्यकर्मके योग्य बना लेनेका नाम 'शौच' है ।

अद्रोहः परेषु अनुपरोधः; परेषु स्वच्छन्दवृत्तिनिरोधरहितत्वम् इत्यर्थः ।

दूसरोंके साथ विरोध न करनेका नाम 'अद्रोह' है। अभिप्राय यह कि दूसरोंकी स्वतन्त्रतामें विघ्न न डालनेके स्वभावका नाम अद्रोह है ।

नातिमानिता **अस्थाने गर्वः अतिमानित्वम्, तद्रहितता ।**

एते गुणा दैवीं संपदम् अभिजातस्य भवन्ति । **देवसम्बन्धिनी संपत् दैवी; देवा भगवदाज्ञानुवृत्तिशीलाः, तेषां संपत् । सा च भगवदाज्ञानुवृत्तिः एव, ताम् अभिजातस्य ताम् अभिमुखीकृत्य जातस्य तां निर्वर्तयितुं जातस्य भवन्ति इत्यर्थः ॥ ३ ॥**

अनुचित स्थानमें (बड़ोंके सामने) गर्व करनेका नाम अतिमानिता है, उसके अभावका नाम 'नातिमानिता' है ।

ये सब गुण दैवी सम्पदाके सम्मुख उत्पन्न हुए पुरुषमें होते हैं । देवोंसे सम्बन्ध रखनेवाली सम्पत्का नाम दैवी सम्पत् है । भगवान्की आज्ञानुसार बर्तनेके स्वभाववालोंका नाम देव है । उनकी सम्पत्ति दैवी सम्पत्ति है । वह सम्पद् भी भगवान्की आज्ञाका पालन करना ही है । उस भगवदाज्ञाके अनुसार आचरण करनेकी वृत्तिको सामने रखकर उत्पन्न होनेवालेमें अर्थात् उसका पालन करनेके लिये उत्पन्न हुए पुरुषोंमें ये सब गुण हुआ करते हैं ॥ ३ ॥

दम्भो दर्पोऽतिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥ ४ ॥

अर्जुन ! दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, पारुष्य और अज्ञान (ये सब दुर्गुण) आसुरी सम्पदामें उत्पन्न हुए (पुरुष) में होते हैं ॥ ४ ॥

दम्भः **धार्मिकत्वख्यापनाय धर्मानुष्ठानम् ।** दर्पः **कृत्याकृत्याविवेककरो विषयानुभवनिमित्तो हर्षः ।** अतिमानः च **स्वविद्याभिजनाननुगुणोऽभिमानः ।** क्रोधः **परपीडाफलचित्त-**

धार्मिकताकी प्रसिद्धिके लिये धर्मानुष्ठान करनेका नाम 'दम्भ' है । कर्तव्य और अकर्तव्यके विवेकको नष्ट करनेवाले तथा विषयोंके अनुभवसे होनेवाले हर्षका नाम 'दर्प' है । जो अपने कुटुम्ब और विद्यादिके अनुरूप न हो, ऐसे अभिमानका नाम 'अतिमान' है । दूसरोंको पीड़ा पहुँचानेके कारणरूप चित्त-

विकारः। पारुष्यं **साधूनाम् उद्वेगकरः स्वभावः**। अज्ञानं **परावरतत्त्वकृत्याकृत्याविवेकः**। **एते स्वभावाः** आसुरीं संपदम् अभिजातस्य **भवन्ति**। **असुरा भगवदाज्ञातिवृत्तिशीलाः** ॥ ४ ॥

विकारका नाम 'क्रोध' है। साधु पुरुषोंको उद्वेग करानेवाले स्वभावका नाम 'पारुष्य' है। इस लोक और परलोकके तत्त्वको तथा कर्तव्य और अकर्तव्यको विवेकपूर्वक न जाननेका नाम 'अज्ञान' है। ये सब स्वभाव आसुरी सम्पदाको सामने रखकर उत्पन्न होनेवाले पुरुषमें होते हैं। भगवान्की आज्ञाका उल्लङ्घन करना जिनका स्वभाव है, उनका नाम 'असुर' है ॥ ४ ॥

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥ ५ ॥

दैवी सम्पदा मोक्षके लिये और आसुरी सम्पदा बन्धनके लिये मानी जाती है। पाण्डुकुमार! (तू) शोक मत कर, तू दैवी सम्पदामें उत्पन्न हुआ है ॥५॥

दैवी **मदाज्ञानुवृत्तिरूपा** संपद् विमोक्षाय **बन्धात् मुक्तये भवति क्रमेण मत्प्राप्तये भवति इत्यर्थः**।

आसुरी **मदाज्ञातिवृत्तिरूपा संपद्** निबन्धाय **भवति, अधोगतिप्राप्तये भवति इत्यर्थः**।

एतत् श्रुत्वा स्वप्रकृत्यनिर्धारणाद् अतिभीताय अर्जुनाय एवम् आह—

शोकं मा **कृथाः; त्वं तु** दैवीं संपदम्

मेरी आज्ञाके अनुसार आचरण करनारूप दैवी सम्पदा मोक्ष प्रदान करनेवाली—बन्धनसे मुक्त करनेवाली है। अभिप्राय यह है कि क्रमसे मेरी प्राप्ति करवा देनेवाली है।

तथा मेरी आज्ञाके विपरीत आचरण करनारूप आसुरी सम्पदा बन्धन करनेवाली—अधोगति प्राप्त करानेवाली होती है।

यह सुनकर अपनी प्रकृतिके विषयमें यथार्थ निश्चय न कर सकनेके कारण अत्यन्त डरे हुए अर्जुनसे भगवान् यह बोले कि 'पाण्डव! तू शोक मत कर। क्योंकि तू दैवी सम्पदाको सामने रख-

अभिजातः असि । हे पाण्डव **धार्मिकाग्रेसरस्य हि पाण्डोः तनयः त्वम् इति अभिप्रायः ॥ ५ ॥**

कर उत्पन्न हुआ है।' 'पाण्डव' नामसे सम्बोधन करनेका यह अभिप्राय है कि तू धार्मिकोंमें अग्रगण्य पाण्डुका पुत्र है ॥५॥

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥ ६ ॥

इस लोकमें (कर्माधिकारी) प्राणियोंकी सृष्टि दो प्रकारकी है—दैवी और आसुरी। अर्जुन ! दैवी सृष्टि तो विस्तारपूर्वक कही जा चुकी है, अब आसुरी मुझसे सुन ॥६॥

अस्मिन् **कर्म**लोके **कर्मकराणां भूतानां** सर्गौ **द्वौ द्विविधौ,** दैवः **च** आसुरः च **इति । सर्गः उत्पत्तिः, प्राचीनपुण्यपापरूपकर्मवशाद् भगवदाज्ञानुवृत्तितद्विपरीतकरणाय उत्पत्तिकाले एव विभागेन भूतानि उत्पद्यन्ते इत्यर्थः ।**

तत्र दैवः **सर्गो** विस्तरशः प्रोक्तः ।

देवानां मदाज्ञानुवर्तिशीलानाम् उत्पत्तिः यदाचारकरणार्था; स आचारः कर्मयोगज्ञानयोगभक्तियोगरूपो विस्तरशः प्रोक्तः । असुराणां सर्गः च यदाचारकरणार्थः तम् आचारं मे शृणु, **मम सकाशाच्छृणु ॥ ६ ॥**

इस कर्मभूमिमें कर्म करनेवाले प्राणियोंका सर्ग दो प्रकारका है; एक दैव, दूसरा आसुर । सर्ग उत्पत्तिको कहते हैं । अभिप्राय यह है कि उत्पन्न होनेके समय ही सब प्राणी प्राचीन पुण्य-पापरूप कर्मवश, भगवान्के आज्ञानुसार बर्तनेके लिये और उससे विपरीत चलनेके लिये इस प्रकार विभागपूर्वक उत्पन्न होते हैं ।

उन दोनोंमेंसे देव-सर्ग तो विस्तारपूर्वक कहा जा चुका । अभिप्राय यह है कि मेरे आज्ञानुसार आचरण करनेवाले देवोंकी उत्पत्ति जिन आचरणोंको करनेके लिये होती है, वह कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोगरूप आचार मैंने विस्तारपूर्वक कहा । अब असुरोंकी उत्पत्ति जिन आचरणोंको करनेके लिये होती है, वह आचार विस्तारपूर्वक तू मुझसे सुन ॥ ६ ॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥ ७ ॥

आसुर लोग प्रवृत्ति और निवृत्तिको नहीं जानते। उनमें न शौच, न आचार और न सत्य ही होता है ॥ ७ ॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च **अभ्युदयसाधनं मोक्षसाधनं च वैदिकं धर्मम्** आसुरा न विदुः **न जानन्ति।**

न **च** शौचं **वैदिककर्मयोग्यत्वं शास्त्रसिद्धम्; तद् बाह्यम् आभ्यन्तरं च असुरेषु न विद्यते।**

न अपि च आचारः, **तद् बाह्याभ्यन्तरशौचं येन सन्ध्यावन्दनादिना आचारेण जायते, स अपि आचारः तेषु न विद्यते। यथा उक्तम्—** *'सन्ध्याहीनोऽशुचिर्नित्यमनर्हः सर्वकर्मसु।'* (दक्षस्मृति २ । २३) इति।

तथा सत्यं **च** तेषु न विद्यते **सत्यं यथार्थज्ञानं भूतहितरूपभाषणं तेषु न विद्यते ॥ ७ ॥**

प्रवृत्ति और निवृत्तिको यानी लौकिक उन्नतिके और मोक्षके साधनरूप दोनों प्रकारके वैदिक धर्मको वे आसुर लोग नहीं जानते।

वैदिक कर्म करनेकी योग्यतारूप बाहर और भीतरकी शास्त्रसिद्ध शुद्धिका नाम शौच है। वह भी असुरोंमें नहीं होता।

तथा वह बाहर और भीतरकी शुद्धि जिन सन्ध्यावन्दनादि आचरणोंसे उत्पन्न होती है, वह आचार भी उनमें नहीं होता। जैसे कहा है—**'जो सन्ध्यावन्दन नहीं करता, वह सदा ही अशुद्ध है और सब कर्मोंके अयोग्य है।'**

अपने ज्ञानके अनुसार प्राणियोंके हितकारक वचन बोलनेका नाम सत्य है, ऐसा सत्य भी उनमें नहीं होता ॥ ७ ॥

किं च—

इसके सिवा—

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥ ८ ॥

वे कहते हैं कि जगत् असत्य, अप्रतिष्ठ और ईश्वररहित है। अपरस्पर (स्त्री-पुरुषके संयोगसे) उत्पन्न हुआ है। कामके अतिरिक्त इसका दूसरा हेतु क्या हो सकता है? ॥ ८ ॥

असत्यं जगत् **एतत् सत्यशब्द-निर्दिष्टब्रह्मकार्यतया ब्रह्मात्मकम् इति न** आहुः। अप्रतिष्ठं **तथा- ब्रह्मणि प्रतिष्ठितम् इति न वदन्ति। ब्रह्मणा अनन्तेन धृता हि पृथिवी, सर्वान् लोकान् बिभर्ति। यथोक्तम्** *'तेनेयं नागवर्येण शिरसा विधृता मही। बिभर्ति मालां लोकानां सदेवासुर-मानुषाम् ॥' (वि० पु० २।५।२७)* **इति।**

अनीश्वरं **सत्यसंकल्पेन परब्रह्मणा सर्वेश्वरेण मया एतत् नियमितम् इति च न वदन्ति।** *'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।' (१०। ८)* **इति हि उक्तम्।**

वदन्ति च एवम्; अपरस्परसम्भूतं किम् अन्यत्? **योषित्पुरुषयोः परस्पर-सम्बन्धेन जातम् इदं मनुष्यपश्वादि-कम् उपलभ्यते। अनेवंभूतं किम् अन्यद् उपलभ्यते? किञ्चिद् अपि न उपलभ्यते इत्यर्थः। अतः सर्वम् इदं जगत्** कामहेतुकम् **इति ॥ ८॥**

वे इस जगत्को असत्य बतलाते हैं यानी यह जगत् सत्यशब्दवाच्य ब्रह्मका कार्य होनेसे ब्रह्मरूप है—यह बात वे नहीं कहते। तथा इसे अप्रतिष्ठ बतलाते हैं—यह ब्रह्ममें प्रतिष्ठित है, ऐसा नहीं कहते। अभिप्राय यह है कि ब्रह्मरूप अनन्त भगवान्के द्वारा धारण की हुई यह पृथ्वी समस्त प्राणियोंको धारण करती है। जैसे कहा है कि **'उस नागश्रेष्ठके द्वारा सिरपर धारण की हुई यह पृथ्वी देवों, असुरों और मनुष्योंके सहित लोकसमूहोंको धारण करती है।'** (यह वे नहीं कहते।)

तथा इसे अनीश्वर बतलाते हैं। यानी मुझ सत्य सङ्कल्पवाले परब्रह्म सर्वेश्वरके द्वारा यह नियममें चलाई जाती है, जैसे कि कहा है—**'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।'** 'इस बातको भी वे नहीं कहते।

उनका कहना यह है कि स्त्री-पुरुष-के पारस्परिक सम्बन्धसे ही उत्पन्न हुए ये मनुष्य-पशु आदि सब प्राणी प्रत्यक्ष दीखते हैं। इसके सिवा दूसरा क्या दीखता है अर्थात् कुछ भी नहीं दीखता। इसलिये यह सारा जगत् कामहेतुक—कामसे ही उत्पन्न हुआ है ॥८॥

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ ९ ॥

इस प्रकारकी दृष्टिका सहारा लेकर वे उग्र कर्म करनेवाले, नष्टात्मा अल्पबुद्धि और बुरा करनेवाले मनुष्य जगत्‌के नाशके लिये ही उत्पन्न होते हैं ॥ ९ ॥

एतां दृष्टिम् अवष्टभ्य **अवलम्ब्य,** नष्टात्मानः, **अदृष्टदेहातिरिक्तात्मानः,** अल्पबुद्धयः—**घटादिवद् ज्ञेयभूते देहे ज्ञातृत्वेन देहव्यतिरिक्त आत्मा न उपलभ्यते, इति विवेकाकुशलाः ।** उग्रकर्माणः **सर्वेषां हिंसकाः,** जगतः क्षयाय प्रभवन्ति ॥ ९ ॥

इस प्रकारके दृष्टिकोणका अवलम्बन करनेके कारण जिनका आत्मा नष्ट हो गया है, यानी जो शरीरके अतिरिक्त आत्माकी स्थिति ही नहीं मानते हैं तथा अल्पबुद्धिवाले हैं अर्थात् घटादिकी भाँति जाननेमें आनेवाले शरीरमें शरीरसे भिन्न ज्ञातारूपसे आत्मा प्रत्यक्ष है, ऐसे विवेकमें असमर्थ हैं । तथा उग्र कर्म करनेवाले—सबकी हिंसा करनेवाले हैं । ऐसे प्राणी जगत्‌का नाश करनेके लिये उत्पन्न हुआ करते हैं ॥ ९ ॥

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥ १० ॥

दम्भ, मान और मदसे युक्त अशुद्ध आचरणवाले लोग दुष्पूरणीय (कठिनतासे पूर्ण होनेवाली) कामनाओंका आश्रय लेकर, मोहसे असत् परिग्रहोंका संग्रह करके बर्तते हैं ॥ १० ॥

दुष्पूरं **दुष्प्रापविषयं** कामम् आश्रित्य **तल्लिप्साधयिषया** मोहाद् **अज्ञानात्** असद्ग्राहान् **अन्यायगृहीतान् असत्परिग्रहान्** गृहीत्वा अशुचिव्रताः **अशास्त्रविहितव्रतयुक्ताः,** दम्भमान-मदान्विताः प्रवर्तन्ते ॥ १० ॥

वे अशुद्ध आचरण करनेवाले—शास्त्र-विरुद्ध आचरणवाले दम्भ, मान और मदसे युक्त पुरुष दुष्प्राप्य विषयोंकी कामनाका आश्रय लेकर उनको प्राप्त करनेकी इच्छासे, मोहके कारण अज्ञानपूर्वक अन्याययुक्त कुत्सित भोग वस्तुओंका संग्रह करके बलपूर्वक बर्तते हैं ॥ १० ॥

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥ ११ ॥

प्रलयकालमें ही जिनका अन्त होता है ऐसी अपरिमित चिन्ताओंका आश्रय लेनेवाले तथा भोगोंके उपभोगको ही श्रेष्ठ माननेवाले और इतना ही (परम पुरुषार्थ) है ऐसा निश्चय रखनेवाले मनुष्य—॥ ११ ॥

अद्य श्वो वा मुमूर्षवः चिन्ताम् अपरिमेयां च **अपरिच्छेद्यां** प्रलयान्तां **प्राकृतप्रलयावधिकालसाध्यविषयाम्** उपाश्रिताः । **तथा** कामोपभोगपरमाः **कामोपभोग एव परमपुरुषार्थः, इति मन्वानाः** । एतावद् इति निश्चिताः, **इतः अधिकः पुरुषार्थो न विद्यते इति संजातनिश्चयाः** ॥ ११ ॥

आज या कल मरनेवाले हैं, तो भी अपरिमित—असीम और कहीं प्रलयकालतक पूर्ण होनेवाली चिन्ताका आश्रय लेते हैं । तथा भोगोंका उपभोग ही परमपुरुषार्थ है, ऐसा मानते हैं । उनका यही निश्चय हो गया है कि इससे बढ़कर और कोई पुरुषार्थ है ही नहीं ॥ ११ ॥

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ॥ १२ ॥

सैकड़ों आशापाशोंसे बँधे हुए और काम-क्रोधके परायण हुए भोगोंको भोगनेके लिये अन्यायपूर्वक अर्थ-सञ्चयकी चेष्टा किया करते हैं ॥१२॥

आशापाशशतैः **आशाख्यपाशशतैः** बद्धाः कामक्रोधपरायणाः **कामक्रोधैकनिष्ठाः** । कामभोगार्थम् अन्यायेन अर्थसंचयान् **प्रति** ईहन्ते ॥ १२ ॥

आशानामक सैकड़ों पाशोंसे बँधे हुए और काम-क्रोधके परायण—केवल काम-क्रोधमें निष्ठा रखनेवाले पुरुष भोगोंको भोगनेके लिये अन्यायपूर्वक अर्थसंग्रह करनेकी चेष्टा किया करते हैं ॥१२॥

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥ १३ ॥

यह मुझे आज मिल गया और इस मनोरथको मैं (फिर) प्राप्त करूँगा । यह धन तो मेरा है और यह (धन) भी फिर मेरा ही हो जायगा ॥ १३ ॥

इदं **क्षेत्रपुत्रादिकं सर्वं** मया **मत्सामर्थ्येन एव** लब्धम्, **न अदृष्टादिना**, इमं **च** मनोरथम् **अहम् एव** प्राप्स्ये, **न अदृष्टादिसहितः**; इदं धनं **मत्सामर्थ्येन लब्धं मे** अस्ति, इदम् अपि पुनः मे **मत्सामर्थ्येन एव** भविष्यति ॥ १३ ॥

(तथा वे समझते हैं कि) यह जमीन और पुत्रादि सब हमने अपने सामर्थ्यसे ही प्राप्त किये हैं, इसमें अदृष्ट (प्रारब्ध) आदि कारण नहीं है। इस मनोरथको मैं स्वयं ही प्राप्त करूँगा, न कि प्रारब्धकी सहायतासे। यह अपने सामर्थ्यसे प्राप्त किया हुआ मेरा धन है, फिर भी इतना धन मुझे अपने सामर्थ्यसे ही मिलेगा ॥ १३ ॥

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥ १४ ॥

अमुक शत्रु तो मुझसे मार डाला गया और दूसरोंको भी मैं मार डालूँगा। मैं ईश्वर हूँ, मैं भोगी हूँ तथा मैं सिद्ध, बलवान् और सुखी हूँ ॥ १४ ॥

असौ मया **बलवता** हतः शत्रुः। अपरान् अपि **शत्रून् अहं शूरो धीरः** च हनिष्ये। **किमत्र मन्दधीभिः दुर्बलैः परिकल्पितेन अदृष्टादिपरिकरेण ?**

तथा च ईश्वरः अहं **स्वाधीनः अहम् अन्येषां च अहम् एव नियन्ता।** अहं भोगी **स्वत एव अहं भोगी, न अदृष्टादिभिः**। सिद्धः अहम्—**स्वतः सिद्धः अहम् न कस्माचिद् अदृष्टादेः। तथा स्वत एव** बलवान् **स्वत एव** सुखी ॥ १४ ॥

मुझ बलवान्के द्वारा अमुक शत्रु मार डाला गया है। मैं शूर और धीर हूँ, इसलिये दूसरे शत्रुओंको भी मार डालूँगा। मन्दबुद्धि और बलहीन मनुष्योंके द्वारा कल्पित प्रारब्ध आदि हेतुओंमें क्या रक्खा है ?

तथा मैं ईश्वर हूँ—मैं स्वाधीन हूँ और दूसरोंका नियन्ता भी मैं ही हूँ। मैं भोगी हूँ—मैं स्वयं ही भोगी हूँ; अदृष्ट आदिके सहयोगसे यह भोग मुझे नहीं प्राप्त हुआ है। मैं सिद्ध हूँ, मैं स्वयं ही सिद्ध हूँ—इसमें प्रारब्ध आदि हेतु नहीं है। तथा मैं स्वयं ही बलवान् हूँ और स्वयं ही सुखी भी हूँ ॥ १४ ॥

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥ १५ ॥

मैं धनवान् हूँ, कुलीन हूँ, मेरे समान दूसरा कौन है ? यज्ञ करूँगा, दान करूँगा और मौज करूँगा । अज्ञानसे मोहित लोग इस प्रकार (समझते हैं) ॥१५॥

अहं स्वतः च आढ्यः **अस्मि,** अभिजनवान् अस्मि; **स्वत एव उत्तमकुले प्रसूतः अस्मि । अस्मिन् लोके** मया सदृशः कः अन्यः **स्वसामर्थ्यलब्धसर्वविभवो विद्यते ? अहं स्वयम् एव** यक्ष्ये, दास्यामि, मोदिष्ये इति अज्ञानविमोहिताः **ईश्वरानुग्रहनिरपेक्षेण स्वेन एव यागदानादिकं कर्तुं शक्यम् इति अज्ञानविमोहिता मन्यन्ते ॥ १५ ॥**

मैं स्वयं (अपनी शक्तिसे) ही बड़ा धनवान् हूँ, मैं उच्च कुटुम्बमें उत्पन्न हूँ यानी अपने-आप उत्तम कुलमें उत्पन्न हुआ हूँ। इस लोकमें मेरे सदृश दूसरा कौन ऐसा है,जिसको अपने सामर्थ्यसे सारा वैभव प्राप्त हुआ हो । मैं स्वयं (अपने सामर्थ्यसे) ही यज्ञ करूँगा, दान करूँगा और आनन्द लूटूँगा । इस प्रकार वे अज्ञानसे मोहित हुए मनुष्य मानते हैं यानी अज्ञानविमोहित मनुष्य ऐसा समझते हैं कि ईश्वरकृपाके बिना ही हम अपनी शक्तिसे ही यज्ञादि सब कुछ कर सकते हैं ॥ १५ ॥

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥ १६ ॥

अनेक सङ्कल्पोंसे जिनका चित्त अत्यन्त भ्रमित है ऐसे मोहजालसे घिरे हुए भोगोंके उपभोगमें फँसे हुए मनुष्य घोर नरकमें गिरते हैं ॥ १६ ॥

अदृष्टेश्वरादिसहकारम् ऋते स्वेन एव सर्वं कर्तुं शक्यम् इति कृत्वा एवं कुर्याम् एतत् च कुर्याम् अन्यत् च कुर्याम् इति अनेकचित्तविभ्रान्ताः— **अनेकचित्ततया विभ्रान्ताः; एवंरूपेण**

बिना प्रारब्ध और ईश्वरकी सहायताके हम अपने-आप ही सब कुछ कर सकते हैं, इस प्रकार मानकर अमुक कार्य हम ऐसे करेंगे, अन्य कार्य भी करेंगे, इत्यादि अनेकों संकल्पोंसे जिनका चित्त भ्रमित हो रहा है तथा जो इस प्रकारके

मोहजालेन समावृताः; **कामभोगेषु प्रकर्षेण** सक्ताः; **मध्ये मृताः** अशुचौ नरके पतन्ति ॥ १६ ॥

मोहरूप जालमें फँसे हुए हैं। ऐसे मनुष्य भोगोंके उपभोगमें अत्यन्त आसक्त रहते हुए बीचमें ही मरकर घोर नरकमें गिरते हैं ॥ १६ ॥

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥ १७॥

अपने-आप महान् बने हुए, कुछ भी न करनेवाले, धन-मानके मदसे युक्त मनुष्य नाममात्रके यज्ञको दम्भसे और अविधिपूर्वक किया करते हैं ॥ १७ ॥

आत्मसम्भाविताः **आत्मना एव सम्भाविताः आत्मना एव आत्मानं सम्भावयन्ति इत्यर्थः।** स्तब्धाः **परिपूर्णं मन्यमाना न किञ्चित्कुर्वाणाः, कथम्?** धनमानमदान्विताः—**धनेन विद्याभिजनाभिमानेन च जनितमदान्विताः;** नामयज्ञैः **नामप्रयोजनैः यष्टा इति नाममात्रप्रयोजनैः यज्ञैः** यजन्ते, **तत् अपि** दम्भेन **हेतुना यष्टृत्वख्यापनाय,** अविधिपूर्वकम् **अयथाचोदनं यजन्ते** ॥ १७ ॥

वे आत्मसंभावित होते हैं—आप ही अपनेको महान् मानते हैं अर्थात् स्वयं ही अपने गुण-गान किया करते हैं तथा स्तब्ध—कुछ भी न करके अपनेको परिपूर्ण माननेवाले होते हैं; क्योंकि वे धन और मानके मदसे युक्त होते हैं—धनसे तथा विद्या और कुलके अभिमानसे उत्पन्न मदके कारण उन्मत्त होते हैं। ऐसे मनुष्य 'यह यज्ञ करनेवाला है' इस प्रकार केवल नाम प्राप्त कर लेना ही जिनका प्रयोजन है, ऐसे यज्ञोंका अनुष्ठान किया करते हैं। सो भी दम्भसे अर्थात् 'हम यज्ञ करनेवाले हैं' यह बात लोगोंमें प्रसिद्ध करनेके लिये, और अविधिपूर्वक—शास्त्राज्ञाके विपरीत यज्ञ किया करते हैं ॥ १७ ॥

ते च ईदृग्भूता यजन्ते इत्याह—

अब यह कहते हैं कि वे ऐसे स्वभावसे युक्त होकर यज्ञ किया करते हैं—

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥१८॥

अहंकार, बल, दर्प, काम और क्रोधका आश्रय लिये रहते हैं तथा वे (मेरी) निन्दा करनेवाले अपने और दूसरोंके शरीरमें (स्थित) मुझ ईश्वरसे द्वेष करते हैं ॥१८॥

अनन्यापेक्षः अहम् एव सर्वं करोमि इति एवंरूपम् अहङ्कारम् **आश्रिताः, तथा सर्वस्य करणे मद्बलम् एव पर्याप्तम् इति च** बलम्, **अतो 'मत्सदृशो न कश्चिद् अस्ति' इति च** दर्पम्, **'एवंभूतस्य मम काममात्रेण सर्वं संपत्स्यते' इति** कामम्, **'मम ये अनिष्टकारिणः तान् सर्वान् हनिष्यामि' इति** च क्रोधम्, **एवम् एतान्** संश्रिताः **स्वदेहेषु** परदेहेषु **च अवस्थितं सर्वस्य कारयितारं पुरुषोत्तमं** माम् अभ्यसूयकाः प्रद्विषन्तः **कुयुक्तिभिः मत्स्थितौ दोषम् आविष्कुर्वन्तो माम् असहमानाः, अहङ्कारादिकान् संश्रिताः, यागादिकं सर्वं क्रियाजातं कुर्वते इत्यर्थः ॥ १८ ॥**

दूसरोंकी मुझे अपेक्षा नहीं है, 'मैं ही सब कुछ करता हूँ' इस प्रकारके अहङ्कारका आश्रय लेनेवाले तथा सब कुछ करनेमें मेरा बल ही पर्याप्त है—इस प्रकार बलका तथा इसीलिये मेरे समान कोई भी नहीं है, ऐसे दर्पका तथा मैं ऐसा हूँ, मेरी इच्छामात्रसे ही मुझे सब कुछ मिल जायगा—इस प्रकार कामका तथा जो मेरा अनिष्ट करनेवाले हैं, उन सबको मैं मार डालूँगा—इस प्रकार क्रोधका आश्रय लेनेवाले होते हैं । वे इस प्रकार इन सबका आश्रय लेनेवाले मनुष्य अपने शरीरमें एवं दूसरोंके शरीरमें स्थित सबके प्रेरक मुझ पुरुषोत्तमकी निन्दा करनेवाले तथा मेरे प्रति द्वेष रखनेवाले अर्थात् कुत्सित युक्तियोंके द्वारा मुझमें दोषारोपण करके मुझको न सह सकनेवाले होते हैं । अभिप्राय यह है कि अहङ्कार आदि समस्त दोषोंका आश्रय लेकर ही यज्ञादि सारी क्रियाओंको करते हैं ॥ १८ ॥

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥१९॥

उन (मुझसे) द्वेष करनेवाले क्रूर, अशुभ नराधमोंको मैं संसारमें निरन्तर आसुरी योनियोंमें ही डालता हूँ ॥ १९ ॥

य एवं मां द्विषन्ति तान् क्रूरान् नराधमान् अशुभान् अहम् अजस्रं संसारेषु **जन्मजरामरणादिरूपेण परिवर्तमानेषु संतानेषु, तत्र अपि** आसुरीषु एव योनिषु क्षिपामि। **मदानुकूल्यप्रत्यनीकेषु एव जन्मसु क्षिपामि। तत्तज्जन्मप्राप्त्यनुगुणप्रवृत्तिहेतुभूतबुद्धिषु क्रूरासु अहम् एव संयोजयामि इत्यर्थः** ॥ १९ ॥

जो इस प्रकार मेरे प्रति द्वेष रखते हैं, उन क्रूर अशुभ नराधमोंको मैं बार-बार जन्म, जरा (वृद्धावस्था) और मरणरूपसे परिवर्तित होनेवाले संसारमें उत्पन्न करता हूँ। वहाँ भी उन्हें आसुरी योनियोंमें ही गिराता हूँ—मेरी अनुकूलताके विरोधी योनियोंमें ही डालता हूँ। अभिप्राय यह है कि उस प्रकारके जन्मकी प्राप्तिके अनुकूल जो प्रवृत्ति है, उसकी हेतुभूत क्रूर बुद्धिके साथ मैं ही उनका संयोग करा देता हूँ ॥१९॥

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥२०॥

अर्जुन ! आसुरीयोनिको प्राप्त होकर वे मूढलोग मुझको न पाकर जन्म-जन्ममें और भी नीच गतिको ही प्राप्त होते हैं ॥ २० ॥

मदानुकूल्यप्रत्यनीकजन्मापन्नाः पुनः अपि जन्मनि जन्मनि मूढा **मद्विपरीतज्ञानाः** माम् अप्राप्य एव **'अस्ति भगवान् वासुदेवः सर्वेश्वरः' इति ज्ञानम् अप्राप्य ततः** ततो **जन्मनः** अधमाम् एव गतिं यान्ति ॥२०॥

मेरी अनुकूलताके विरोधी जन्मोंको पाकर वे फिर भी प्रत्येक जन्ममें मोहित होकर—मुझसे विपरीत ज्ञानवाले होकर और मुझको न पाकर यानी भगवान् वासुदेव सर्वेश्वर हैं—इस ज्ञानको न पाकर पूर्व-पूर्व जन्मोंकी अपेक्षा और भी अधम गतियोंको ही प्राप्त होते रहते हैं ॥२०॥

अस्य आसुरस्वभावस्य आत्मनाशस्य मूलहेतुम् आह—

आत्मनाशक इस आसुर-स्वभावके मूल कारणको बतलाते हैं—

त्रिविधं नरकस्यैतद्द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथालोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥२१॥

काम, क्रोध और लोभ—ये नरकके तीन द्वार आत्माका पतन करनेवाले हैं । इसलिये इन तीनोंका त्याग कर देना चाहिये ॥ २१ ॥

अस्य असुरस्वभावरूपस्य नरकस्य एतत् त्रिविधं द्वारम् **तत् च** आत्मनो नाशनम्; कामः क्रोधः लोभ **इति । त्रयाणां स्वरूपं पूर्वम् एव व्याख्यातम् । द्वारं मार्गो हेतुः इत्यर्थः ।** तस्मात् एतत् त्रयं त्यजेत् । **तस्माद् अतिघोरनरकहेतुत्वात् कामक्रोधलोभानाम् एतत् त्रितयं दूरतः परित्यजेत्** ॥ २१ ॥

इस असुरस्वभावरूप नरकके काम, क्रोध और लोभ—ये तीन द्वार हैं । ये ही आत्माका नाश (पतन) करनेवाले हैं । इन तीनोंके स्वरूपकी व्याख्या पहले की जा चुकी है । द्वार शब्द मार्ग या हेतुका वाचक है । ये तीनों अतिघोर नरकके हेतु हैं । इसलिये काम, क्रोध और लोभ—इन तीनोंके समुदायको दूरसे ही छोड़ देना चाहिये ॥ २१ ॥

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥ २२॥

कुन्तीपुत्र अर्जुन ! नरकके इन तीनों द्वारोंसे छूटा हुआ मनुष्य अपने कल्याणका आचरण करता है, इसलिये परम गतिको प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

एतैः **कामक्रोधलोभैः** तमोद्वारैः **मद्विपरीतज्ञानहेतुभिः** विमुक्तः नर आत्मनः श्रेय आचरति । **लब्धमद्विषयज्ञानो मदानुकूल्ये प्रवर्तते;** ततो **माम् एव** परां गतिं याति ॥ **२२** ॥

इन विपरीत ज्ञानके द्वाररूप—मेरे विरोधी ज्ञानके कारणरूप काम, क्रोध और लोभसे छूटा हुआ पुरुष आत्मकल्याणका आचरण करता है यानी मेरे विषयके ज्ञानको प्राप्त होकर मेरे अनुकूल आचरण करता है, इसलिये मुझ परम गतिको अवश्य प्राप्त हो जाता है ॥२२॥

शास्त्रानादरः अस्य नरकस्य प्रधानहेतुः इति आह—

शास्त्रका अनादर इस नरकका प्रधान कारण है, यह कहते हैं—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥ २३ ॥

जो शास्त्रविधिका त्याग करके अपनी इच्छानुसार बर्तता है, वह न सिद्धिको प्राप्त होता है, न सुखको और न परम गतिको ही ॥ २३ ॥

शास्त्रं वेदाः, विधिः अनुशासनम् वेदाख्यं मदनुशासनम् उत्सृज्य यः कामकारतो वर्तते **स्वच्छन्दानुगुणमार्गेण वर्तते,** न स सिद्धिम् अवाप्नोति, **न काम् अपि आमुष्मिकीं सिद्धिम् अवाप्नोति** । न सुखं **ऐहिकम् अपि किंचिद् अवाप्नोति** । न परां गतिम्; **कुतः परां गतिं प्राप्नोति इत्यर्थः** ॥ २३ ॥

शास्त्र नाम वेदका है । विधि नाम अनुशासनका है । वेदरूप मेरे अनुशासनको त्यागकर जो मनमाने आचरण करता है—अपनी इच्छानुसार मार्गपर चलता है, वह सिद्धिको नहीं पा सकता—किसी भी पारलौकिक सिद्धिको प्राप्त नहीं हो सकता । तथा इस लोकके किञ्चित् भोगसुखको भी नहीं पा सकता । तथा परमगतिको भी नहीं, अर्थात् परम गतिको तो पा ही कैसे सकता है ॥ २३ ॥

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥ २४ ॥

इसलिये कार्य और अकार्यकी व्यवस्थामें तेरे लिये शास्त्र ही प्रमाण है । अतः तुझे यहाँ शास्त्रविधानमें कहे हुए तत्त्वको समझकर कर्म करना चाहिये ॥ २४ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसंपद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

तस्मात् कार्याकार्यव्यवस्थितौ **उपादेयानुपादेयव्यवस्थायां** शास्त्रम् **एव तव** प्रमाणम्। **धर्मशास्त्रेतिहासपुराणाद्युपबृंहिता वेदा यद् एव पुरुषोत्तमाख्यं परं तत्त्वं तत्प्रीणनरूपं तत्प्राप्त्युपायभूतं च कर्म अवबोधयन्ति; तत्** शास्त्रविधानोक्तं **तत्त्वं** कर्म **च** ज्ञात्वा **यथावद् अन्यूनातिरिक्तं विज्ञाय** कर्तुं **त्वम्** अर्हसि **तद् एव उपादातुम् अर्हसि** ॥ २४ ॥

इति श्रीमद्भगवद्रामानुजाचार्यविरचिते श्रीमद्भगवद्गीताभाष्ये षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

इसलिये कर्तव्य-अकर्तव्यकी व्यवस्थामें यानी क्या करना चाहिये, क्या नहीं करना चाहिये? इसका निर्णय करनेमें तेरे लिये शास्त्र ही प्रमाण है। अभिप्राय यह है कि धर्मशास्त्र, इतिहास और पुराण आदिके द्वारा वृद्धिको प्राप्त हुए वेद जिस पुरुषोत्तम नामक परम तत्त्वका, उसकी आराधनाका और उस आराधनाकी प्राप्तिके उपायरूप कर्मोंका बोध कराते हैं, उस शास्त्रविधानसे बतलाये हुए तत्त्वको और कर्मोंको यथार्थ जानकर न्यूनाधिकतासे रहित ठीक-ठीक समझकर तुझे वही करना चाहिये अर्थात् उसे ही स्वीकार करना चाहिये ॥ २४ ॥

इस प्रकार श्रीमान् भगवान् रामानुजाचार्यद्वारा रचित गीता-भाष्यके हिन्दी-भाषानुवादका सोलहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १६ ॥

ॐ

सतरहवाँ अध्याय

देवासुरविभागोक्तिमुखेन प्राप्य-तत्त्वज्ञानं तत्प्राप्त्युपायज्ञानं च वेदैकमूलम् इति उक्तम्।

देव और असुरोंके विभागका वर्णन करते हुए यह कहा गया कि प्राप्त करने योग्य तत्त्वका स्वरूप-ज्ञान और उसकी प्राप्तिके उपायका ज्ञान एकमात्र वेदसे ही हो सकता है।

इदानीम् अशास्त्रविहितस्य आसुर-त्वेन अफलत्वं शास्त्रविहितस्य च गुणतः त्रैविध्यं शास्त्रसिद्धस्य लक्षणं च उच्यते।

अब यह कहा जाता है कि शास्त्र-विधिसे रहित यज्ञादि आसुर होनेसे निष्फल हैं और शास्त्रविहित यज्ञादि गुणोंके भेदसे तीन प्रकारके होते हैं। साथ ही, शास्त्रसिद्ध यज्ञादिके लक्षण भी बतलाये जाते हैं।

तत्र अशास्त्रविहितस्य निष्फल-त्वम् अजानन् अशास्त्रविहिते श्रद्धा-संयुक्ते यागादौ सत्त्वादिनिमित्तफल-भेदबुभुत्सया अर्जुनः पृच्छति—

वहाँ शास्त्रविधिसे रहित यज्ञादि निष्फल होते हैं, इस बातको न जाननेवाला अर्जुन, शास्त्रविधिसे रहित श्रद्धायुक्त यज्ञादिके विषयमें सत्त्व आदि गुणोंके कारण होनेवाले उनके फल-भेदको समझनेकी इच्छासे पूछता है—

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः॥ १॥

अर्जुन बोला— परन्तु श्रीकृष्ण! जो शास्त्रविधिको छोड़कर श्रद्धासे युक्त हुए यज्ञ करते हैं, उनकी निष्ठा क्या है? सत्त्व है या रज है अथवा तम?॥१॥

शास्त्रविधिम् उत्सृज्य श्रद्धयान्विता ये यजन्ते तेषां निष्ठा का? **किं** सत्त्वम्? आहो **स्वित्** रजः? **अथ** तमः?

जो मनुष्य शास्त्रविधिका त्याग करके श्रद्धापूर्वक यज्ञादि कर्म करते हैं, उनकी क्या निष्ठा है? क्या सत्त्वगुण है या रजोगुण है या तमोगुण?

निष्ठा स्थितिः, स्थीयते अस्मिन् इति स्थितिः, सत्त्वादिः एव निष्ठा इति उच्यते, तेषां किं सत्त्वे स्थितिः? किं वा रजसि? किं वा तमसि? इत्यर्थः ॥ १ ॥

निष्ठा स्थितिका पर्याय है। जिसमें स्थित हुआ (ठहरा) जाय, उसे स्थिति कहते हैं; इस व्युत्पत्तिके अनुसार यहाँ सत्त्व आदि तीनों गुण ही निष्ठाके नामसे कहे गये हैं। अभिप्राय यह है कि उनकी स्थिति क्या सत्त्वगुणमें है या रजोगुणमें अथवा तमोगुणमें? ॥१॥

एवं पृष्टः भगवान् अशास्त्रविहित-श्रद्धायाः तत्पूर्वकस्य च यागादेः निष्फलत्वं हृदि निधाय शास्त्रीयस्य एव यागादेः गुणतः त्रैविध्यं प्रति-पादयितुं शास्त्रीयश्रद्धायाः त्रैविध्यं तावद् आह—

इस प्रकार पूछे जानेपर श्रीभगवान् शास्त्रविधिसे रहित श्रद्धा और उसके द्वारा किये हुए यज्ञादि दोनों ही निष्फल हैं, इस बातको हृदयमें रखकर पहले शास्त्रविहित यज्ञादिके गुणोंके कारण होनेवाले तीन भेदोंका प्रतिपादन करनेके लिये शास्त्रविहित श्रद्धाके तीन भेद बतलाते हैं—

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥ २ ॥

श्रीभगवान् बोले—प्राणियोंकी यह स्वभावजन्य श्रद्धा सात्त्विकी, राजसी और तामसी—ऐसे तीन प्रकारकी होती है, उसको तू सुन ॥ २ ॥

सर्वेषां देहिनां श्रद्धा त्रिविधा भवति; सा च स्वभावजा—**स्वभावः स्वासाधा-रणो भावः, प्राचीनवासनानिमित्तः तत्तद्रुचिविशेषः, यत्र रुचिः तत्र**

सभी प्राणियोंकी श्रद्धा तीन प्रकार-की होती है और वह स्वाभाविक होती है। अपना-अपना जो असाधारण (विशेष) भाव है, उसका नाम स्वभाव है। यानी प्राचीन वासनाओंके निमित्तसे होनेवाली विभिन्न रुचिका नाम स्वभाव है। जहाँ रुचि होती है, वहीं

श्रद्धा जायते । श्रद्धा हि 'स्वाभिमतं साधयति एतत्' इतिविश्वासपूर्विका साधने त्वरा । वासना रुचिः च श्रद्धा च आत्मधर्माः गुणसंसर्गजाः ।

श्रद्धा उत्पन्न होती है । क्योंकि 'अमुक साधन अपने अभिमत कार्यको सिद्ध कर सकेगा' इस विश्वासके साथ जो साधनमें शीघ्रता होती है, उसका नाम श्रद्धा है । वासना, रुचि और श्रद्धा—ये सभी आत्माके धर्म गुणसंसर्गसे होनेवाले हैं ।

तेषाम् आत्मधर्माणां वासनादीनां जनकाःदेहेन्द्रियान्तःकरणविषयगता धर्माः कार्यैकनिरूपणीयाः सत्त्वादयो गुणाः, सत्त्वादिगुणयुक्तदेहाद्यनुभवजा इत्यर्थः ।

शरीर, इन्द्रिय, अन्तःकरण और विषयोंमें रहनेवाले सत्त्वादि गुणरूप धर्म ही उन वासनादि आत्मधर्मोंके उत्पादक हैं । वे सत्त्वादि गुण केवल कार्यसे ही समझमें आ सकते हैं । अतः यह अभिप्राय है कि वे वासनादि आत्मधर्म सत्त्व आदि गुणयुक्त शरीरादिके अनुभवसे उत्पन्न होनेवाले हैं ।

ततः च इयं श्रद्धा सात्त्विकी राजसी तामसी च इति **त्रिविधा** । ताम् **इमां श्रद्धां** शृणु; **सा श्रद्धा यत्स्वभावा तं स्वभावं शृणु इति अर्थः** ॥ २ ॥

इस कारण यह श्रद्धा भी सात्त्विकी, राजसी और तामसी—ऐसे तीन प्रकारकी होती है । सो तू इस श्रद्धाको सुन अर्थात् वह श्रद्धा जिस स्वभावसे होनेवाली है, उस स्वभावको सुन ॥ २ ॥

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ ३ ॥

भारत ! अन्तःकरणके अनुरूप सबकी श्रद्धा हुआ करती है । यह पुरुष श्रद्धामय है; जो जिस श्रद्धावाला है, वह वही होता है ॥ ३ ॥

सत्त्वम् अन्तःकरणम्, सर्वस्य **पुरुषस्य अन्तःकरणानुरूपा** श्रद्धा

सत्त्व अन्तःकरणको कहते हैं । सभी पुरुषोंकी श्रद्धा अन्तःकरणके

भवति; **अन्तःकरणं यादृग्गुणयुक्तम्, तद्विषया श्रद्धा जायते इत्यर्थः। सत्त्वशब्दः पूर्वोक्तानां देहेन्द्रियादीनां प्रदर्शनार्थः।**

श्रद्धामयः अयं पुरुषः, **श्रद्धामयः श्रद्धापरिणामः;** यो यच्छ्रद्धः, **यः पुरुषो यादृश्या श्रद्धया युक्तः,** स एव सः स **तादृशश्रद्धापरिणामः। पुण्यकर्मविषये श्रद्धायुक्तः चेत् पुण्यकर्मफलसंयुक्तः भवति इति श्रद्धाप्रधानः फलसंयोग इति उक्तं भवति इति ॥ ३ ॥**

अनुरूप हुआ करती है। अभिप्राय यह कि अन्तःकरण जैसे गुणसे युक्त होता है, वैसे ही गुणवाली श्रद्धा उत्पन्न होती है। यहाँ सत्त्व शब्द पहले बतलाये हुए शरीर और इन्द्रियोंका भी प्रदर्शक है।

यह पुरुष श्रद्धामय है—श्रद्धाके अनुसार परिणामवाला है। जो पुरुष जैसी श्रद्धासे युक्त होता है, वह वैसा ही होता है, यानी उस श्रद्धाके सदृश फलका भागी होता है। कहनेका अभिप्राय यह है कि फलके संयोगमें श्रद्धा ही प्रधान है। यदि मनुष्य पुण्यकर्मविषयक श्रद्धासे युक्त होता है तो पुण्यकर्मके फलका भागी होता है ॥ ३ ॥

तद् एव विवृणोति—

इसीका विस्तार करते हैं—

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥ ४ ॥

सात्त्विक पुरुष देवताओंको पूजते हैं, राजस यक्ष और राक्षसोंको और तामस लोग प्रेतों और भूतोंके समुदायोंको पूजते हैं ॥ ४ ॥

सत्त्वगुणप्रचुराः सात्त्विक्या श्रद्धया युक्ता देवान् यजन्ते। **दुःखासंभिन्नोत्कृष्टसुखहेतुभूतदेवयागविषया श्रद्धा सात्त्विकी इति उक्तं भवति।** राजसा **जना** यक्षरक्षांसि

जिनमें सत्त्वगुणकी अधिकता होती है, ऐसे सात्त्विकी श्रद्धासे युक्त पुरुष देवोंका यजन करते हैं। कहना यह है कि दुःखसे रहित उत्तम सुखकी कारणरूप देवयज्ञविषयक श्रद्धा सात्त्विकी होती है। राजस मनुष्य यक्ष और राक्षसोंका पूजन किया करते

यजन्ते । अन्ये तामसा जनाः प्रेतान् भूतगणान् यजन्ते ।

दुःखसंमिन्नाल्पसुखजननी राजसी श्रद्धा; दुःखप्राया अत्यल्पसुखजननी तामसी इत्यर्थः ॥ ४ ॥

हैं। उनसे भिन्न तामसी मनुष्य प्रेत और भूतगणोंका पूजन किया करते हैं।

अभिप्राय यह है कि राजसी श्रद्धा दुःखमिश्रित अल्पसुख उत्पन्न करनेवाली होती है और तामसी श्रद्धा दुःखसे पूर्ण और अत्यन्त अल्प सुख उत्पन्न करनेवाली होती है ॥ ४ ॥

एवं शास्त्रीयेषु एव यागादिषु श्रद्धायुक्तेषु गुणतः फलविशेषः । अशास्त्रीयेषु दानतपोयागप्रभृतिषु मदनुशासनविपरीतत्वेन न कश्चिद् अपि सुखलवः । अपि तु अनर्थ एव इति हृदि निहितं व्यञ्जयन् आह—

इस प्रकार श्रद्धायुक्त शास्त्रविहित यज्ञादिका ही गुणोंके कारण फल-भेद होता है। शास्त्रविधिसे रहित तप और यज्ञ आदि मेरी आज्ञाके विपरीत हैं, अतः उनमें लेशमात्र भी सुख नहीं है। प्रत्युत उनमें अनर्थ ही है; इस हृदयमें रखे हुए अभिप्रायको प्रकट करते हुए कहते हैं—

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥
कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥ ६ ॥

जो लोग शास्त्रविरुद्ध घोर तप तपते हैं, वे दम्भ, अहङ्कारसे युक्त और काम, आसक्ति तथा बलसे समन्वित पुरुष शरीरमें स्थित भूतसमूहको और वैसे ही शरीरके भीतर स्थित मेरे अंशभूत जीवको कष्ट पहुँचाते हैं; अतः उनको तू आसुरी निश्चयवाले जान ॥ ५-६ ॥

अशास्त्रविहितम् **अति** घोरम् **अपि** तपो ये जनाः तप्यन्ते, **प्रदर्शनार्थम् इदम्, अशास्त्रविहितं बह्वायासं यागादिकं ये कुर्वते, ते** दम्भाहङ्कार-संयुक्ताः कामरागबलान्विताः शरीरस्थं **पृथिव्यादिभूतसमूहं** कर्शयन्तो **मदंशभूतं** जीवं च अन्तःशरीरस्थं **कर्शयन्तो ये तप्यन्ते यागादिकं च कुर्वते,** तान् आसुरनिश्चयान् विद्धि ।

जो मनुष्य शास्त्रविधिसे रहित अत्यन्त घोर तप तपते हैं — यह कथन उपलक्षणके लिये है । अभिप्राय यह है कि जो पुरुष शास्त्रविधिसे रहित अत्यन्त परिश्रमयुक्त यज्ञादि कर्म करते हैं, वे दम्भ, अहंकार, कामना, आसक्ति और बलसे युक्त पुरुष जो कि (इस प्रकार) शरीरमें स्थित पृथिवी आदि भूतसमूहका शोषण करते हुए तथा शरीरमें स्थित मेरे अंशरूप जीवको भी कष्ट पहुँचाते हुए शास्त्रविधिसे रहित तप तपते हैं, या यज्ञादि कर्म करते हैं, उनको तू आसुरी निश्चयसे युक्त जान ।

असुराणां निश्चयः आसुरो निश्चयः, असुरा हि मदाज्ञाविपरीतकारिणः; मदाज्ञाविपरीतकारित्वात् तेषां सुखलवसम्बन्धो न विद्यते । अपि तु अनर्थव्राते पतन्ति इति पूर्वम् एव उक्तम् । *'पतन्ति नरकेऽशुचौ'* (१६ । १६) **इति** ॥५-६॥

असुरोंके निश्चयका नाम 'आसुरी-निश्चय' है । मेरी आज्ञाके विपरीत चलनेवाले असुर ही हैं । मेरी आज्ञाके विपरीत करनेवाले होनेसे उनका लेश-मात्र भी सुखसे सम्बन्ध नहीं होता । बल्कि वे अनर्थके ढेरमें जा गिरते हैं, यह बात पहले ही— **'पतन्ति नरकेऽशुचौ'** इस प्रकार कही गयी है ॥५-६॥

अथ प्रकृतम् एव शास्त्रीयेषु यज्ञादिषु गुणतो विशेषं प्रपञ्चयति; तत्र अपि आहारमूलत्वात् सत्त्वादिवृद्धेः, आहारत्रैविध्यं प्रथमम् उच्यते ।

अब, शास्त्रविहित यज्ञोंमें गुणोंके कारण होनेवाले भेद, जिनका कि प्रकरण चल रहा था, विस्तारपूर्वक बतलाये जाते हैं । उनमें भी सत्त्वगुण आदिकी वृद्धिमें आहार प्रधान कारण है, इसलिये पहले आहारके तीन भेद बतलाते हैं ।

'अन्नमयं हि सोम्य मनः' (छा० उ० ६ । ५ । ४) *'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः'* (छा० उ० ७ । २६ । २) इति हि श्रूयते ।

क्योंकि श्रुतिमें भी यह कहा है कि **'हे सोम्य ! यह मन अन्नमय ही है ।' 'आहारकी शुद्धिसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है।'**

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥ ७ ॥

आहार भी सबको तीन प्रकारका प्रिय होता है । (ऐसे ही) यज्ञ, तप तथा दान भी । उनके इस भेदको तू सुन ॥ ७ ॥

आहारः अपि सर्वस्य **प्राणिजातस्य सत्त्वादिगुणत्रयान्वयेन** त्रिविधः प्रियो भवति । **तथा एव** यज्ञः **अपि त्रिविधः,** तथा तपो दानं **च** । तेषां भेदम् इमं शृणु—**तेषाम् आहारयज्ञतपोदानानां सत्त्वादिगुणभेदेन इमम् उच्यमानं भेदं** शृणु ॥ ७ ॥

सभी प्राणियोंको आहार भी सत्त्वादि तीनों गुणोंके सम्बन्धसे तीन प्रकारका प्रिय होता है । वैसे ही यज्ञ भी तीन प्रकारका प्रिय होता है तथा तप और दान भी तीन-तीन प्रकारके ही प्रिय होते हैं । उनका यह भेद तू सुन; अर्थात् उन आहार, यज्ञ, तप और दानका सत्त्व आदि गुणोंके भेदसे यह आगे बतलाया जानेवाला भेद तू सुन ॥७॥

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥ ८ ॥

आयु, ज्ञान, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिके बढ़ानेवाले रसदार, चिकने, स्थायी और चित्तको रमणीय लगनेवाले आहार सात्त्विक पुरुषको प्रिय होते हैं ॥ ८ ॥

सत्त्वगुणोपेतस्य सत्त्वमया आहाराः प्रिया भवन्ति । सत्त्वमयाः च आहारा आयुर्विवर्धनाः **पुनः अपि**

सत्त्वगुणसम्पन्न पुरुषको सात्त्विक आहार प्रिय होते हैं । सात्त्विक आहार आयुको बढ़ानेवाले और फिर सत्त्वको

सत्त्वस्य विवर्धनाः । सत्त्वम् अन्तःकरणम्, अन्तःकरणकार्यं ज्ञानम् इह सत्त्वशब्देन उच्यते । '*सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानम्*' (१४ । १७) इति सत्त्वस्य ज्ञानविवृद्धिहेतुवचनात् । आहारः अपि सत्त्वमयो ज्ञानविवृद्धिहेतुः ।

तथा बलारोग्ययोः अपि विवर्धनाः, सुखप्रीत्योः अपि विवर्धनाः । परिणामकाले स्वयम् एव सुखस्य विवर्धनाः, तथा प्रीतिहेतुभूतकर्मारम्भद्वारेण प्रीतिवर्धनाः;

रस्याः मधुररसोपेताः, स्निग्धाः स्नेहयुक्ताः, स्थिराः स्थिरपरिणामाः, हृद्याः रमणीयवेषाः, एवंविधाः सत्त्वमया आहाराः, सात्त्विकस्य पुरुषस्य प्रियाः ॥ ८ ॥

भी बढ़ानेवाले होते हैं । सत्त्व-नाम अन्तःकरणका है, पर यहाँ सत्त्व शब्दसे अन्तःकरणका कार्य 'ज्ञान' कहा गया है । क्योंकि **'सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानम्'** इस श्लोकके द्वारा सत्त्वगुणको ज्ञान-वृद्धिका हेतु बतलाया गया है, इसलिये सात्त्विक आहार भी ज्ञानका बढ़ानेवाला होता है ।

तथा सात्त्विक भोज्य पदार्थ बल और नीरोगताको एवं सुख तथा प्रसन्नताको भी बढ़ानेवाले होते हैं । परिणामके समय सुखको तो स्वयं ही बढ़ानेवाले होते हैं, और प्रसन्नताके कारणरूप कर्मोंका आरम्भ करवाकर प्रसन्नताको भी बढ़ानेवाले होते हैं ।

रसदार—मधुररससे युक्त, स्निग्ध—चिकनाईसे युक्त, स्थिर—जिनका परिणाम स्थायी हो, हृद्य—जो देखनेमें मनको प्रसन्न करनेवाले हों । ऐसे सात्त्विक आहार—(भोज्य पदार्थ) सात्त्विक पुरुषोंको प्रिय होते हैं ॥ ८ ॥

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥

कड़वे, खट्टे, नमकीन, बहुत गरम, तीखे, रूखे और जलन पैदा करनेवाले तथा जो दुःख, शोक और रोग उत्पन्न करनेवाले हैं ऐसे आहार राजस पुरुषको प्रिय होते हैं ॥ ९ ॥

कटुरसाः अम्लरसाः लवणोत्कटाः अत्युष्णाः अतितीक्ष्णाः रूक्षाः विदाहिनः च इति कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः; **अतिशैत्यातितैक्ष्ण्यादिना दुरुपयोगाः तीक्ष्णाः, शोषकराः रूक्षाः, तापकरा विदाहिनः, एवंविधाः** आहारा राजसस्य इष्टाः । **ते च रजोमयत्वाद् दुःखशोकामयत्वाद् दुःखशोकमयवर्धनाः रजोवर्धनाः च** ॥ ९ ॥

कड़वे, खट्टे, अधिक नमकवाले, बहुत गरम, अत्यन्त तीखे, रूखे और दाह पैदा करनेवाले आहार 'कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाही' कहे गये हैं (ये राजस पुरुषको प्रिय होते हैं) । अत्यन्त शीतलता अथवा अत्यन्त तीक्ष्णताके कारण जिनका उपयोग दुःखकारक हो, उन पदार्थोंको तीक्ष्ण कहते हैं, शोषण करनेवाले पदार्थोंको रूक्ष कहते हैं और जलन उत्पन्न करनेवालोंको विदाही कहते हैं । ऐसे आहार (भोज्य पदार्थ) राजस पुरुषको प्रिय होते हैं । वे रजोगुणसे ओत-प्रोत तथा दुःख-शोक और रोगस्वरूप होनेके कारण दुःख-शोक और रोगको बढ़ानेवाले और रजोगुणको भी बढ़ानेवाले होते हैं ॥ ९ ॥

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥१०॥

जो बहुत देरका रक्खा हुआ, रसहीन, दुर्गन्धित, बासी, जूँठा और अमेध्य आहार है वह तामस मनुष्योंको प्रिय होता है ॥ १० ॥

यातयामं **चिरकालावस्थितम्,** गतरसं **त्यक्तस्वाभाविकरसम्,** पूति **दुर्गन्धोपेतम्,** पर्युषितं **कालातिपत्त्या**

बहुत देरसे रक्खे हुएका नाम यातयाम है । स्वाभाविक रससे हीन हुएका नाम गतरस है । दुर्गन्धयुक्तको पूति कहते हैं । समय अधिक बीत जानेके कारण जिसका रस बदल गया हो, उस बासी

रसान्तरापन्नम्, उच्छिष्टं **गुर्वादिभ्यः अन्येषां भुक्तशिष्टम्,** अमेध्यम् **अयज्ञार्हम्, अयज्ञशिष्टम् इत्यर्थः; एवंविधं तमोमयं** भोजनं तामसप्रियं **भवति । भुज्यते इत्याहार एव भोजनम्, पुनश्च तमसो वर्धनम् । अतो हितैषिभिः सत्त्ववृद्धये सात्त्विकाहार एव सेव्यः ॥ १० ॥**

आहारको पर्युषित कहते हैं । गुरु आदिके अतिरिक्त दूसरोंके भोजन करनेपर बचे हुएका नाम उच्छिष्ट है । जो यज्ञके अयोग्य हो अर्थात् यज्ञसे बचा हुआ न हो उसे अमेध्य कहते हैं । इस प्रकारका—तमोमय भोजन तामसी पुरुषको प्रिय होता है । जो खाया जाय, उसे भोजन कहते हैं । अतः भोजन आहारका ही नाम है । ऐसा भोजन फिर भी तमोगुणको ही बढ़ानेवाला होता है । इसलिये हित चाहनेवाले मनुष्योंको सत्त्वगुणको बढ़ानेके लिये सात्त्विक आहारका ही सेवन करना चाहिये ॥ १० ॥

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥ ११ ॥

फलकामनासे रहित पुरुषोंके द्वारा 'यज्ञ करना ही कर्तव्य है' इस भावसे मनका समाधान करके जो शास्त्रविधिके अनुसार यज्ञ किया जाता है, वह सात्त्विक होता है ॥ ११ ॥

फलाकाङ्क्षारहितैः पुरुषैः विधिदृष्टः **शास्त्रदृष्टः मन्त्रद्रव्यक्रियादिभिः युक्तः** । यष्टव्यम् एव इति **भगवदाराधनत्वेन स्वयंप्रयोजनतया यष्टव्यम् इति** मनः समाधाय यो यज्ञ इज्यते स सात्त्विकः ॥ ११ ॥

फलकामनासे रहित पुरुषोंके द्वारा जो विधिदृष्ट—शास्त्रनिर्दिष्ट मन्त्र, द्रव्य और क्रिया आदि समस्त अङ्गोंसे युक्त यज्ञ, केवल भगवान्‌की आराधनारूप होनेके कारण वह स्वयं ही प्रयोजनरूप होनेसे कर्तव्य है—इस भावसे मनका समाधान करके किया जाता है, वह सात्त्विक है ॥ ११ ॥

अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यः।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥ १२ ॥

परन्तु भरतश्रेष्ठ! जो फलको लक्ष्य बनाकर और दम्भके लिये भी किया जाता है, उस यज्ञको तू राजस जान ॥ १२ ॥

फलाभिसन्धियुक्तैः दम्भगर्भो यशःफलः च यः **यज्ञ** इज्यते, तं यज्ञं राजसं विद्धि ॥ १२ ॥

जिसका फल यश है, जिसके भीतर दम्भ छिपा है ऐसा जो यज्ञ फलाभिसन्धिसे युक्त पुरुषोंद्वारा किया जाता है, उस यज्ञको तू राजस जान ॥ १२ ॥

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥ १३ ॥

विधिहीन, शास्त्रविहित अन्नसे रहित मन्त्रहीन, दक्षिणाहीन और श्रद्धारहित यज्ञको तामस कहते हैं ॥ १३ ॥

विधिहीनं **ब्राह्मणोक्तविधिहीनं सदाचारयुक्तैः विधिविद्भिः ब्राह्मणैः यजस्व इति उक्तिहीनम् इत्यर्थः।** असृष्टान्नम् **अचोदितद्रव्यम्।** मन्त्रहीनम् अदक्षिणं श्रद्धाविरहितं **च** यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥ १३ ॥

जो यज्ञ विधिहीन है—ब्राह्मणकी आज्ञासे रहित है, अर्थात् सदाचारयुक्त शास्त्रविधिके विद्वान् ब्राह्मणके द्वारा 'यज्ञ करो' ऐसी आज्ञा जिस यज्ञके लिये नहीं मिली है। जो असृष्टान्न है—जिसमें शास्त्रविहित वस्तुओंका प्रयोग नहीं किया गया है, जो मन्त्रहीन है, दक्षिणारहित है और श्रद्धासे भी रहित है; ऐसे यज्ञको तामस कहते हैं ॥ १३ ॥

अथ तपसो गुणतः त्रैविध्यं वक्तुं तस्य शरीरवाङ्मनोभिः निष्पाद्यतया तत्स्वरूपभेदं तावद् आह—

अब तपके गुणजनित तीन भेद बतलानेके लिये पहले उसे शरीर, वाणी और मनसे किये जानेवाला बतलाकर उसके स्वरूपभेदको कहते हैं—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥ १४ ॥

देव, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानीका पूजन, शौच, आर्जव, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—यह शारीरिक तप कहलाता है ॥ १४ ॥

देवद्विजगुरुप्राज्ञा**नां** पूजनम्, शौचं **तीर्थस्नानादिकम्,** आर्जवं **यथा-वाङ्मनःशारीरवृत्तम्,** ब्रह्मचर्यं **योषित्सु भोग्यताबुद्धियुक्तेक्षणादिरहितत्वम्,** अहिंसा **अप्राणिपीडा, एतत्** शारीरं तप उच्यते ॥ १४ ॥

देवता, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानियोंका पूजन; शौच—तीर्थस्नानादि, आर्जव—मनके भावके अनुसार ही वाणी और शरीरकी क्रियाका होना, ब्रह्मचर्य—स्त्रियोंमें भोग्य बुद्धि करके उनका दर्शन आदि न करना; अहिंसा—प्राणियोंको पीड़ा न पहुँचाना—यह शरीरसम्बन्धी तप कहलाता है ॥ १४ ॥

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥ १५ ॥

उद्वेग न करनेवाले, सत्य, प्रिय और हितकारक वाक्य तथा स्वाध्यायका अभ्यास—यह वाचिक तप कहलाता है ॥ १५ ॥

परेषाम् अनुद्वेगकरं सत्यं प्रियहितं च यद् वाक्यं स्वाध्यायाभ्यसनं च **इति एतद्** वाङ्मयं तप उच्यते ॥ १५ ॥

जो दूसरोंको उद्वेग न पहुँचानेवाले, सच्चे, प्रिय और हितकारक वचन हैं तथा स्वाध्यायका अभ्यास है—यह वाणी-सम्बन्धी तप कहलाता है ॥ १५ ॥

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥ १६ ॥

मनकी प्रसन्नता, सौम्यता, मौन, आत्मविनिग्रह और भावसंशुद्धि—इतना यह मानस तप कहलाता है ॥ १६ ॥

मनःप्रसादः—**मनसः क्रोधादिरहितत्वम्**, सौम्यत्वं **मनसः परेषाम् अभ्युदयप्रावण्यम्**, मौनं **मनसा वाक्प्रवृत्तिनियमनम्**, आत्मविनिग्रहः—**मनोवृत्तेः ध्येयविषये अवस्थापनम्**, भावसंशुद्धिः **आत्मव्यतिरिक्तविषयचिन्तारहितत्वम्**, एतत् मानसं तपः ॥ १६ ॥

मनकी प्रसन्नता—मनका क्रोध आदि विकारोंसे रहित होना, सौम्यता—दूसरोंकी उन्नतिके लिये मनका झुकाव, मौन—मनके द्वारा वाणीकी प्रवृत्तिका संयम करना, आत्मविनिग्रह—मनकी वृत्तिका ध्येयमें स्थिरतापूर्वक स्थापन करना, भावसंशुद्धि—आत्मासे अतिरिक्त अन्य किसी विषयके चिन्तनसे रहित होना—यह मानसिक तप है ॥ १६ ॥

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥ १७ ॥

फलकी आकांक्षा न रखनेवाले युक्त पुरुषोंके द्वारा परम श्रद्धाके साथ तपा हुआ वह तीन प्रकारका तप सात्त्विक कहलाता है ॥ १७ ॥

अफलाकाङ्क्षिभिः **फलाकाङ्क्षारहितैः।** युक्तैः **परमपुरुषाराधनरूपम् इदम् इति चिन्तायुक्तैः** नरैः परया श्रद्धया **यत्** त्रिविधं तपः **कायवाङ्मनोभिः** तप्तं तत् सात्त्विकं परिचक्षते ॥ १७ ॥

अफलाकांक्षी—फलाकांक्षासे रहित और 'यह तप परम पुरुषकी आराधना ही है' ऐसी विचारधारासे युक्त पुरुषोंके द्वारा परम श्रद्धाके साथ जो त्रिविध तप शरीर,मन और वाणीके द्वारा तपा जाता है, उसे सात्त्विक कहते हैं ॥ १७ ॥

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥ १८ ॥

जो तप सत्कार, मान और पूजाके लिये तथा दम्भके साथ किया जाता है, वह चञ्चल और अस्थिर (तप) यहाँ राजस कहलाता है ॥ १८ ॥

मनसा आदरः सत्कारः, वाचा प्रशंसा मानम्, शारीरो नमस्कारादिः पूजा। फलाभिसन्धिपूर्वकं सत्काराद्यर्थं च दम्भेन **हेतुना** यत् तपः क्रियते तद् इह राजसं प्रोक्तम्; **स्वर्गादिफल-साधनत्वेनास्थिरत्वात्** चलम् अध्रुवम्; **चलत्वं पातभयेन चलनहेतुत्वम्; अध्रुवत्वं क्षयिष्णुत्वम्** ॥ १८ ॥

मनसे आदर करनेका नाम सत्कार है, वाणीसे प्रशंसा करनेका नाम मान है और शरीरसे नमस्कारादि करना पूजा है। जो तप फलाभिसन्धिपूर्वक (इन) सत्कारादिके लिये और दम्भके कारण किया जाता है, वह चञ्चल और अस्थिर तप यहाँ राजस कहा गया है। क्योंकि वह स्वर्गादि फलका साधन होनेके कारण स्थिर रहनेवाला नहीं है, अतः चल और अध्रुव है। गिरनेका भय रहनेसे वह चञ्चलताका हेतु है, इससे उसको चल कहा गया है और उसका क्षयशील होना ही उसकी अस्थिरता है ॥ १८ ॥

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥ १९ ॥

जो तप मूढ-आग्रहसे, आत्माको पीड़ा देकर अथवा दूसरेका अनिष्ट करनेके लिये किया जाता है, वह तामस कहा गया है ॥ १९ ॥

मूढाः—अविवेकिनः, मूढग्राहेण **मूढैः कृतेन अभिनिवेशेन** आत्मनः **शक्त्यादिकम् अपरीक्ष्य आत्म**पीडया यत् तपः क्रियते परस्य उत्सादनार्थं **च यत् तपः क्रियते,** तत् तामसम् उदाहृतम् ॥ १९ ॥

मूढ अविवेकियोंको कहते हैं। मूढोंके द्वारा किये हुए आग्रहसे, अपनी शक्ति आदिकी बिना जाँच-पड़ताल किये, अपने आत्माको पीड़ा पहुँचाकर जो तप किया जाता है तथा जो तप दूसरोंका अनिष्ट करनेके लिये किया जाता है वह तामस कहा गया है ॥ १९ ॥

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥ २० ॥

'देना कर्तव्य है' ऐसा (समझकर) जो दान देश, काल और पात्रमें अनुपकारीको दिया जाता है, वह दान सात्त्विक बतलाया गया है ॥ २० ॥

फलाभिसन्धिरहितं दातव्यम् इति देशे काले पात्रे च अनुपकारिणे यद् दानं दीयते तद् दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥ २० ॥

जो दान फलाभिसन्धिसे रहित होता है और 'देना कर्तव्य है' इस बुद्धिसे श्रेष्ठ देश, काल और पात्रादिमें तथा जिसने कभी उपकार न किया हो ऐसे मनुष्यको दिया जाता है, वह दान सात्त्विक बतलाया गया है ॥ २० ॥

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ २१ ॥

पर जो प्रत्युपकारके लिये या पुनः फलके उद्देश्यसे दिया जाता है, तथा जो अशुभ द्रव्यसे युक्त होता है, वह दान राजस बतलाया गया है ॥ २१ ॥

प्रत्युपकारकटाक्षगर्भं फलम् उद्दिश्य च परिक्लिष्टम् **अकल्याणद्रव्यकं** यद् दानं दीयते तद् राजसम् उदाहृतम् ॥ २१ ॥

जो दान उपकारका बदला चुकानेके अभिप्रायसे तथा फलकी कामनापूर्वक दिया जाता है तथा जो परिक्लिष्ट—अशुभ द्रव्यसे युक्त होता है, वह राजस बतलाया गया है ॥ २१ ॥

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

जो दान अयोग्य देश-कालमें, बिना सत्कार और बिना आदरके अपात्रोंको दिया जाता है, वह (दान) तामस बतलाया गया है ॥ २२ ॥

अदेशकाले अपात्रेभ्यः च यद् दानं दीयते, असत्कृतं **पादप्रक्षालनादि-गौरवरहितम्,** अवज्ञातं **सावज्ञम्, अनुपचारयुक्तं यद् दीयते** तत् तामसं उदाहृतम् ॥ २२ ॥

जो दान अयोग्य देश-कालमें अपात्रको दिया जाता है, तथा पादप्रक्षालनादि सम्मानके बिना और अपमानपूर्वक—बिना उपचारके दिया जाता है, वह तामस बतलाया गया है ॥ २२ ॥

एवं वैदिकानां यज्ञतपोदानानां सत्त्वादिगुणभेदेन भेद उक्तः । इदानीं तस्य एव वैदिकस्य यज्ञादेः प्रणवसंयोगेन तत्सच्छब्दव्यपदेश्यतया च लक्षणम् उच्यते—

इस प्रकार वैदिक यज्ञ, तप और दानके सत्त्व आदि गुणभेदके कारण होनेवाले भेद बतलाये गये । अब उन्हीं वैदिक यज्ञादिके ॐकारके संयोगसे तथा तत् और सत् शब्दोंके सम्बन्धसे व्यवहार करनेयोग्य लक्षण कहे जाते हैं—

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥ २३ ॥

'ॐ तत्, सत् ऐसा तीन प्रकारका ब्रह्म (वेद) का निर्देश बतलाया गया है । उसीसे पहले ब्राह्मण, वेद और यज्ञ रचे गये हैं ॥ २३ ॥

'ॐ तत् सत्' इति त्रिविधः **अयं** निर्देशः **शब्दः** ब्रह्मणः स्मृतः, **ब्रह्मणः अन्वयी भवति ।**

ब्रह्म च वेदः; वेदशब्देन वैदिकं कर्म उच्यते; वैदिकं यज्ञादिकम्; यज्ञादिकं कर्म 'ॐ तत् सद्' इति शब्दान्वितं भवति ।

'ओम्' इति शब्दस्य अन्वयो वैदिककर्माङ्गत्वेन प्रयोगादौ प्रयुज्य-

'ॐ, तत्, सत्' यह तीन प्रकारका निर्देश (संकेत) ब्रह्म (वेद) का बताया गया है, इसका अन्वय ब्रह्मसे होता है ।

ब्रह्म नाम वेदका है और वेद शब्दसे वैदिक कर्म कहे जाते हैं । वैदिक कर्म हैं यज्ञ आदि । अभिप्राय यह है कि यज्ञादि कर्म ॐ, तत् और सत्—इन तीनों नामोंसे सम्बन्धित होते हैं ।

वैदिक कर्मके अङ्गरूपसे प्रयोगके आदिमें ॐकार प्रयुक्त किया जाता है; इसलिये 'ॐ' इस नामका वैदिक

मानतया; 'तत् सत्' इति शब्दयोः अन्वयः पूज्यत्वाय वाचकतया।

तेन त्रिविधेन शब्देन अन्विता ब्राह्मणा वेदान्वयिनः त्रैवर्णिकाः वेदाः च यज्ञाः च पुरा विहिताः पुरा मया एव निर्मिता इत्यर्थः ॥ २३ ॥

कर्मोंसे सम्बन्ध है। तत् और सत् शब्द पूज्य-भावके वाचक हैं। अतः पूज्य-भाव प्रकट करनेके लिये इनका सम्बन्ध वैदिक कर्मोंसे जोड़ा गया है।

उन तीन प्रकारके शब्दोंसे सम्बन्धित ब्राह्मण—वेदानुसार चलनेवाले त्रैवर्णिक (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) तथा वेद और यज्ञ पूर्वकालमें निर्मित हुए हैं अर्थात् मेरे द्वारा ही रचे गये हैं ॥ २३ ॥

त्रयाणाम् 'ॐ तत् सत्' इति शब्दानाम् अन्वयप्रकारो वर्ण्यते। प्रथमम् 'ओम्' इति शब्दस्य अन्वयप्रकारम् आह—

ॐ, तत् और सत्—इन तीनों शब्दोंके सम्बन्धका प्रकार बतलाया जाता है। इनमें भी पहले 'ॐ' इस शब्दके सम्बन्धका प्रकार बतलाया जाता है—

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥ २४ ॥

इसलिये वेदवादियोंकी शास्त्रोक्त यज्ञ, दान और तपकी क्रियाएँ सदा 'ॐ' ऐसा उच्चारण करके हुआ करती हैं ॥ २४ ॥

तस्माद् ब्रह्मवादिनां वेदवादिनां त्रैवर्णिकानां यज्ञदानतपःक्रियाः विधानोक्ताः वेदविधानोक्ताः आदौ 'ओम्' इति उदाहृत्य सततं सर्वदा प्रवर्तन्ते। वेदाः च 'ओम्' इति उदाहृत्य आरभ्यन्ते।

(वैदिक कर्मोंके साथ ॐ का सम्बन्ध है) इसलिये ब्रह्मवादी—वेदपाठी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंकी वेदमें विधान की हुई यज्ञ, दान और तपरूपी सारी क्रियाएँ सदा सर्वदा पहले 'ॐ' इस शब्दका उच्चारण करके आरम्भ की जाती हैं, तथा वेद भी ॐकारका उच्चारण करके ही आरम्भ किये जाते हैं।

एवं वेदानां वैदिकानां च यज्ञादीनां कर्मणाम् 'ॐ' इति शब्दान्वयो वर्णितः । ओम् इतिशब्दान्वितवेदधारणात् तदन्वितयज्ञादिकर्मकरणात् च ब्राह्मणशब्दनिर्दिष्टानां त्रैवर्णिकानाम् अपि 'ओम्' इति शब्दान्वयो वर्णितः ॥ २४ ॥

इस प्रकार वेदोंके साथ और वैदिक यज्ञादि कर्मोंके साथ ॐ इस शब्दका सम्बन्ध बतलाया गया । ब्राह्मण नामसे जिनका संकेत किया गया है, वे त्रैवर्णिक (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) ॐ इस शब्दसे सम्बन्धित वेदोंको धारण करते हैं, तथा उसी शब्दसे सम्बन्धित यज्ञादि कर्म करते हैं, इसलिये उन तीनोंके साथ भी 'ॐ' इस शब्दका सम्बन्ध बतलाना हो गया ॥ २४ ॥

अथ एतेषां 'तत्' इतिशब्दान्वयप्रकारम् आह—

अब इनके साथ 'तत्' शब्दके सम्बन्धका प्रकार बतलाते हैं—

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥ २५ ॥

मोक्ष चाहनेवाले पुरुषोंके द्वारा विविध भाँतिकी यज्ञ, तप और दानकी क्रियाएँ फलकी आकाङ्क्षा न रखकर की जाती हैं । वे 'तत्' शब्दसे निर्देश करने योग्य हैं ॥ २५ ॥

फलम् अनभिसंधाय **वेदाध्ययनयज्ञतपोदानक्रियाः** मोक्षकाङ्क्षिभिः **त्रैवर्णिकैः याः** क्रियन्ते, **ताः ब्रह्मप्राप्तिसाधनतया ब्रह्मवाचिना** तत् इतिशब्दनिर्देश्याः ।

'सवः कः किं यत्तत्पदमनुत्तमम्' (*वि० सह० ना० ९१*) **इति तच्छब्दो हि ब्रह्मवाची प्रसिद्धः ।**

मोक्षकी कामनावाले त्रैवर्णिक पुरुषोंके द्वारा जो फलाभिसन्धिरहित वेदाध्ययन तथा यज्ञ, तप और दानरूप क्रियाएँ की जाती हैं, वे ब्रह्मप्राप्तिके उपायरूप होनेके कारण ब्रह्मवाची 'तत्' नामसे निर्देश की जाने योग्य हैं ।

'सवः कः किम् यत् तत्, अनुत्तमं पदम्' (ये सब भगवान्के नाम हैं) । इस प्रकार 'तत्' शब्द ब्रह्मका वाचक प्रसिद्ध है ।

एवं वेदाध्ययनयज्ञादीनां मोक्ष-साधनभूतानां तच्छब्दनिर्देश्यतया तत् इति शब्दान्वय उक्तः। त्रैवर्णिकानाम् अपि तथाविधवेदाध्ययनाद्यनुष्ठानाद् एव तच्छब्दान्वय उपपन्नः ॥ २५ ॥

इस प्रकार मोक्षके साधनरूप वेदाध्ययन और यज्ञादि तत् शब्दके वाच्य होनेसे उनके साथ तत् शब्दका सम्बन्ध बतलाया गया, तथा उस प्रकारके वेदाध्ययनादिका अनुष्ठान करनेके कारण ही त्रैवर्णिकोंके साथ भी तत् शब्दका सम्बन्ध सिद्ध हो गया ॥ २५ ॥

अथ एषां 'सत्' शब्दान्वयप्रकारं वक्तुं लोके सच्छब्दस्य व्युत्पत्ति-प्रकारम् आह—

अब इनके साथ 'सत्' शब्दके सम्बन्धका प्रकार बतलानेके लिये संसारमें सत् शब्दकी व्युत्पत्तिका प्रकार बताते हैं—

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥२६॥

अर्जुन ! सद्भाव और साधुभावमें 'सत्' इस नामका प्रयोग किया जाता है। तथा शुभ कर्मके लिये भी सत् शब्दका उपयोग होता है ॥ २६ ॥

सद्भावे **विद्यमानतायां** साधुभावे **कल्याणभावे** च **सर्ववस्तुषु** सद् इति एतत् **पदं** प्रयुज्यते **लोकवेदयोः**। तथा **केनचित् पुरुषेण अनुष्ठिते लौकिके** प्रशस्ते **कल्याणे** कर्मणि **सत्कर्म इदम् इति** सच्छब्दो युज्यते **प्रयुज्यते इत्यर्थः** ॥ २६ ॥

सत्ताके भावमें—विद्यमानतामें और साधुभावमें—कल्याणमय भावमें सब वस्तुओंके साथ सत् शब्दका प्रयोग लोकमें और वेदमें भी किया जाता है। तथा जिस किसी भी पुरुषके द्वारा किये जानेवाले लौकिक प्रशस्त—शुभ कर्मके साथ यह 'सत्-कर्म' है ऐसा कहकर 'सत्' शब्द जोड़ा जाता है, यानी 'सत्' शब्दका प्रयोग किया जाता है ॥ २६ ॥

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥२७॥

यज्ञ, तप और दानमें स्थिति 'सत्' इस नामसे कही जाती है और तदर्थ किये जानेवाले कर्म भी 'सत्' इस नामसे ही कहे जाते हैं ॥ २७ ॥

अतो वैदिकानां त्रैवर्णिकानां यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः **कल्याणतया** सद् इति उच्यते । कर्म च तदर्थीयं **त्रैवर्णिकार्थीयं यज्ञदानादिकं** सद् इति एव अभिधीयते ।

तस्माद् वेदा वैदिकानि कर्माणि ब्राह्मणशब्दनिर्दिष्टाः त्रैवर्णिकाः च 'ओं तत् सत्' इति शब्दान्वयरूपलक्षणेन अवेदेभ्यः च अवैदिकेभ्यः च व्यावृत्ता वेदितव्याः ॥ २७ ॥

इसीलिये वेदानुसार चलनेवाले त्रैवर्णिकोंकी जो यज्ञ, दान और तपमें स्थिति है, वह कल्याणरूप होनेसे 'सत्' कहलाती है । तथा उन त्रैवर्णिकोंके कल्याणार्थ किये जानेवाले यज्ञ, दान और तप आदि कर्म भी सत् है, यही कहा जाता है ।

अतएव यह जानना चाहिये कि वेद, वैदिक कर्म और ब्राह्मण शब्दके वाच्य त्रैवर्णिक—इन सबके साथ 'ॐ' 'तत्' और 'सत्' शब्दका सम्बन्ध बतलाकर अवेद तथा अवैदिकोंसे इन्हें अलग कर दिया गया है ॥ २७ ॥

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥२८॥

अर्जुन ! अश्रद्धासे किया हुआ हवन, दिया हुआ (दान), तपा हुआ तप और जो कुछ भी किया होता है, वह 'असत्' ऐसा कहलाता है । वह (कर्म) न तो मरनेपर (फल देता है) और न इस लोकमें ही ॥ २८ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

अश्रद्धया कृतं **शास्त्रीयम् अपि होमादिकम्** असद् इति उच्यते । **कुतः ?** न च तत् प्रेत्य नो इह, **न मोक्षाय न सांसारिकाय च फलाय इति ॥ २८ ॥**

इति श्रीमद्भगवद्रामानुजाचार्यविरचिते श्रीमद्भगवद्गीताभाष्ये सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

अश्रद्धासे किये हुए शास्त्रविहित भी होम आदि कर्म 'असत्' कहलाते हैं । क्योंकि वे न यहाँ लाभदायक हैं और न मरनेके बाद ही । अभिप्राय यह कि वे न तो मोक्षके लिये उपयोगी होते हैं और न सांसारिक फलके लिये ही ॥२८॥

इस प्रकार श्रीमान् भगवान् रामानुजाचार्यद्वारा रचित गीता-भाष्यके हिन्दी-भाषानुवादका सतरहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १७ ॥

ॐ

अठारहवाँ अध्याय

अतीतेन अध्यायद्वयेन अभ्युदय-निःश्रेयसःसाधनभूतं वैदिकम् एव यज्ञतपोदानादिकं कर्म, न अन्यत्; वैदिकस्य च कर्मणः सामान्यलक्षणं प्रणवान्वयः, तत्र मोक्षाभ्युदय-साधनयोः भेदः तत्सच्छब्दनिर्दिश्या-निर्दिश्यत्वेन, मोक्षसाधनं च कर्म फलाभिसन्धिरहितं यज्ञादिकम्, तदारम्भः च सत्त्वोद्रेकाद् भवति, सत्त्ववृद्धिः च सात्त्विकाहारसेवया इति उक्तम्।

अनन्तरं मोक्षसाधनतया निर्दिष्टयोः त्यागसंन्यासयोः ऐक्यं त्यागस्य संन्यासस्य च स्वरूपम्, भगवति सर्वेश्वरे च सर्वकर्मणां कर्तृत्वानुसन्धानम्, सत्त्वरजस्तमसां

इससे पिछले दो (सोलहवें तथा सतरहवें) अध्यायोंमें यह बतलाया गया कि अभ्युदय (लौकिक उन्नति) और निःश्रेयस (परम कल्याण) इन दोनोंके साधन वैदिक यज्ञ, तप और दान आदि कर्म ही हैं, अन्य कुछ नहीं। उस वैदिक कर्मका सामान्य लक्षण ॐकार-से सम्बन्धित होना है। उनमें यह भेद है कि (वे यज्ञादिकर्म) यदि तत् और सत् शब्दसे वर्णन करने योग्य (उनसे सम्बन्धित) होते हैं तो मोक्षके साधन होते हैं और यदि उनसे वर्णन करने योग्य नहीं होते तो सांसारिक उन्नतिके साधन होते हैं। अतः जो फलकी इच्छासे रहित यज्ञादि कर्म हैं, वे ही मोक्षके साधन हैं। उनका आरम्भ सत्त्वगुणकी वृद्धिसे होता है और सत्त्वगुणकी वृद्धि सात्त्विक आहार-के सेवनसे होती है।

अब मोक्ष-साधनके रूपमें बतलाये हुए त्याग और संन्यासकी एकताका तथा त्याग और संन्यासके स्वरूपका प्रतिपादन किया जाता है। तथा श्रीभगवान् सर्वेश्वरमें समस्त कर्मोंके कर्तापनका अनुसन्धान करना बतलाकर फिर सत्त्व, रज और तम—इन तीनों

कार्यवर्णनेन सत्त्वगुणस्यावश्योपादेयत्वम्, स्ववर्णोचितानां कर्मणां परमपुरुषाराधनभूतानां परमपुरुषप्राप्तिनिर्वर्तनप्रकारः कृत्स्नस्य गीताशास्त्रस्य सारार्थो भक्तियोग इति एते प्रतिपाद्यन्ते ।

तत्र तावत् त्यागसंन्यासयोः पृथक्त्वैकत्वनिर्णयाय स्वरूपनिर्णयाय च अर्जुनः पृच्छति—

गुणोंके कार्यका वर्णन करके सत्त्वगुणको निश्चितरूपसे उपादेय बतलाते हैं, एवं परम पुरुषकी आराधनारूप स्ववर्णोचित कर्म जिस प्रकारसे परम पुरुषकी प्राप्ति करानेवाले होते हैं, उस प्रकारका, एवं सम्पूर्ण गीता-शास्त्रके सार सिद्धान्त भक्तियोगका भी प्रतिपादन किया जाता है ।

वहाँ पहले त्याग और संन्यासकी पृथक्ता और एकताका निर्णय करवानेके लिये तथा दोनोंके स्वरूपका निर्णय करवानेके लिये अर्जुन पूछता है—

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥ १ ॥

अर्जुन बोला—महाबाहो ! हृषीकेश ! केशिनिषूदन ! मैं संन्यास और त्यागके तत्त्वको पृथक्-पृथक् जानना चाहता हूँ ॥ १ ॥

त्यागसंन्यासौ हि मोक्षसाधनतया विहितौ—

'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः' (महाना० ८।१४) *'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः । ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ॥'* (मु० उ० ३।२।६) इत्यादिषु । अस्य

'कुछ लोग कर्मसे, प्रजासे और धनसे नहीं, किन्तु केवल त्यागसे अमृतत्वको प्राप्त हुए ।' 'वेदान्तविज्ञानके द्वारा जिनको परमार्थवस्तुका दृढ निश्चय हो चुका है, जिनका अन्तःकरण संन्यास-योगके द्वारा शुद्ध हो गया है, वे सब मृत्युके पश्चात् ब्रह्मलोकमें जाकर परम अमृतरूप होकर सर्वथा मुक्त हो जाते हैं ।' इत्यादि श्रुतियोंमें त्याग और संन्यास—ये दोनों मोक्षके साधन बतलाये गये हैं । इन त्याग और

संन्यासस्य त्यागस्य च तत्त्वं **याथात्म्यं** पृथग् वेदितुम् इच्छामि । **अयम् अभिप्रायः—किम् एतौ संन्यास-त्यागशब्दौ पृथगर्थौ, उत एकार्थौ एव ? यदा पृथगर्थौ, तदा अनयोः पृथक्त्वेन स्वरूपं वेदितुम् इच्छामि । एकत्वे अपि तस्य स्वरूपं वक्तव्यम् इति** ॥ १ ॥

संन्यासका तत्त्व—यथार्थ स्वरूप मैं विभागपूर्वक जानना चाहता हूँ। अभिप्राय यह है कि क्या वे संन्यास और त्याग शब्द पृथक्-पृथक् अर्थवाले हैं, या दोनोंका एक ही अर्थ है? यदि पृथक्-पृथक् अर्थवाले हैं तो मैं उनका स्वरूप पृथक्-पृथक् जानना चाहता हूँ। यदि दोनोंकी एकता है, तो भी उनका स्वरूप बतलाना चाहिये ॥ १ ॥

अथ अनयोः एकम् एव स्वरूपम्, तत् च ईदृशम् इति निर्णेतुं वादिविप्रतिपत्तिं दर्शयन् श्रीभगवानुवाच—

अब यह निर्णय करनेके लिये कि इन दोनोंका एक ही स्वरूप है, और वह ऐसा है, पहले वादियोंके सिद्धान्तोंका वर्णन करते हुए श्रीभगवान् बोले—

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ २ ॥

श्रीभगवान् बोले—कविलोग काम्य कर्मोंके त्यागको संन्यास समझते हैं और विचक्षण पुरुष सब कर्मोंके फलत्यागको त्याग कहते हैं ॥ २ ॥

केचन विद्वांसः काम्यानां कर्मणां न्यासं **स्वरूपत्यागं** संन्यासं विदुः; **केचित् च** विचक्षणाः **नित्यानां नैमित्तिकानां काम्यानां च सर्वेषां कर्मणां फलत्याग एव मोक्षशास्त्रेषु त्यागशब्दार्थः इति** प्राहुः ।

कितने ही विद्वान् काम्य कर्मोंके न्यासको—स्वरूपतः त्यागको ही संन्यास समझते हैं। कितने विचक्षण पुरुष यह कहते हैं कि मोक्षशास्त्रमें त्याग शब्दका अर्थ नित्य, नैमित्तिक और काम्य—इन सब कर्मोंके फलका त्याग ही है।

तत्र शास्त्रीयः त्यागः काम्यकर्मस्वरूपविषयः, सर्वकर्मफलविषयः, इति विवादं प्रदर्शयन् एकत्र संन्यासशब्दम् इतरत्र त्यागशब्दं प्रयुक्तवान्; अतः त्यागसंन्यासशब्दयोः एकार्थत्वम् अङ्गीकृतम् इति ज्ञायते ।

तथा '*निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।*' (१८ । ४) इति त्यागशब्देन एव निर्णयवचनात् । '*नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते । मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥*' (१८ । ७) '*अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् । भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥*' (१८ । १२) इति परस्परपर्यायतादर्शनात् च तयोः एकार्थत्वं प्रतीयते, इति निश्चीयते ॥ २ ॥

यहाँ शास्त्रीय त्याग काम्य कर्मोंका स्वरूपतः त्याग कर देना है, या समस्त कर्मोंके फलका त्याग है, यह विवाद दिखलाते हुए भगवान्‌ने एक जगह संन्यास शब्दका और दूसरी जगह त्याग शब्दका प्रयोग किया है । इससे यह समझमें आता है कि श्रीभगवान्‌ने संन्यास और त्याग शब्दका एक ही अर्थ स्वीकार किया है ।

तथा '**निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।**' इस प्रकार त्याग शब्दसे ही उसका निर्णय करनेकी बात कही है । इसलिये और '**नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते । मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥**' '**अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् । भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥**' इस प्रकार दोनों शब्द एक-दूसरेके पर्यायरूपमें देखे जाते हैं, इसलिये दोनोंकी एकार्थताकी प्रतीति निश्चित होती है ॥ २ ॥

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ ३ ॥

कई बुद्धिमान् कहते हैं कि कर्म दोषकी भाँति त्याज्य है और दूसरे लोग ऐसा कहते हैं कि यज्ञ, दान, तपरूप कर्म त्याज्य नहीं हैं ॥ ३ ॥

एके मनीषिणः **कापिला वैदिकाः च तन्मतानुसारिणो रागादि**दोषवद् **बन्धकत्वात् सर्वं यज्ञादिकं** कर्म **मुमुक्षुणा** त्याज्यम् **इति आहुः**। अपरे **पण्डिता यज्ञादिकं** कर्म न त्याज्यम् इति प्राहुः ॥ ३ ॥

कितने ही बुद्धिमान्—कपिलके मतानुयायी या उनके मतका अनुसरण करनेवाले वैदिक लोग यह कहते हैं कि रागद्वेष आदि दोषोंकी भाँति बन्धन करनेवाले होनेके कारण मुमुक्षु पुरुषोंके लिये यज्ञादि सभी कर्म त्याज्य हैं। और दूसरे पण्डित कहते हैं कि यज्ञादि कर्म त्याज्य नहीं हैं ॥ ३ ॥

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥ ४ ॥

भरतकुलमें श्रेष्ठ! पुरुषसिंह अर्जुन! उस त्यागमें अब तू मेरा निश्चय सुन। क्योंकि त्याग तीन प्रकारका कहा गया है ॥ ४ ॥

तत्र **एवं वादिविप्रतिपन्ने** त्यागे **त्यागविषयं** निश्चयं मे **मत्तः** शृणु। त्यागः **क्रियमाणेषु एव वैदिकेषु कर्मसु फलविषयतया, कर्मविषयतया, कर्तृत्वविषयतया च पूर्वम् एव हि मया** त्रिविधःसंप्रकीर्तितः—'*मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा। निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥*' (३ । ३०) इति।

कर्मजन्यं स्वर्गादिकं फलं मम न स्याद् इति फलत्यागः। मदीयफलसाधनतया मदीयम् इदं कर्म इति

इस प्रकार त्यागके विषयमें विभिन्न मतावलम्बी वादियोंकी परस्पर-विभिन्न धारणाएँ हैं; इसलिये इस 'त्याग' विषयक निश्चय (सिद्धान्त) को तू मुझसे सुन। किये जानेवाले वैदिक कर्मोंका ही फलविषयक, कर्मविषयक और कर्तृत्वविषयक—ऐसे तीन प्रकारका त्याग मैंने पहले ही इस प्रकार बतलाया है—'**मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा। निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥**'

कर्मसे होनेवाले स्वर्गादि फल मुझे न मिलें, इस भावनाका नाम फलत्याग है। 'मेरे फलका साधन होनेसे यह कर्म मेरा है' इस प्रकार

कर्मणि ममतायाः परित्यागः कर्मविषयः त्यागः; सर्वेश्वरे कर्तृत्वानुसन्धानेन आत्मनः कर्तृतात्यागः कर्तृत्वविषयः त्यागः ॥ ४ ॥

कर्ममें होनेवाली ममताका परित्याग कर्मविषयक त्याग है। तथा जो सर्वेश्वर परमेश्वरको कर्ता समझकर अपने कर्तापनका त्याग है, वह कर्तृत्वविषयक त्याग है ॥ ४ ॥

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ ५ ॥

यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्यागने योग्य नहीं हैं; बल्कि वे तो करने योग्य ही हैं (क्योंकि) यज्ञ, दान और तप बुद्धिमानोंको भी पवित्र करनेवाले हैं ॥ ५ ॥

यज्ञदानतपःप्रभृति वैदिकं कर्म मुमुक्षुणा न कदाचिद् अपि त्याज्यम्; अपि तु आप्रयाणाद् अहरहः कार्यम् एव; कुतः? यज्ञदानतपःप्रभृतीनि वर्णाश्रमसम्बन्धीनि कर्माणि मनीषिणां मननशीलानां पावनानि। मननम् उपासनम्। मुमुक्षूणां यावज्जीवम् उपासनं कुर्वताम् उपासननिष्पत्तिविरोधिप्राचीनकर्मविनाशनानि इत्यर्थः ॥ ५ ॥

यज्ञ, दान और तप आदि वैदिक कर्म मुमुक्षु पुरुषोंके लिये कदापि त्याज्य नहीं हैं, प्रत्युत मरणकालपर्यन्त नित्यप्रति कर्तव्य हैं। क्योंकि मनीषी—मनन करनेवाले पुरुषोंके लिये यज्ञ, दान और तप आदि वर्णाश्रमसम्बन्धी कर्म पवित्र करनेवाले होते हैं। मनन उपासनाको कहते हैं। अभिप्राय यह है कि जीवनपर्यन्त उपासना करनेवाले मुमुक्षु पुरुषोंके लिये ये कर्म उपासनाकी सिद्धिके विरोधी सम्पूर्ण प्राचीन कर्मोंका नाश करनेवाले हैं ॥ ५ ॥

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ ६ ॥

इसलिये अर्जुन! ये कर्म भी (उपासनाकी भाँति ही) सङ्ग और फलोंको छोड़कर करने योग्य हैं। ऐसा मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है ॥ ६ ॥

यस्मात् मनीषिणां यज्ञदानतपःप्रभृतीनि पावनानि, तस्माद् उपासनवद् एतानि अपि **यज्ञादीनि** कर्माणि **मदाराधनरूपाणि** सङ्गं **कर्मणि ममतां** फलानि च त्यक्त्वा **अहरह आप्रयाणाद् उपासननिर्वृत्तये मुमुक्षुणां** कर्तव्यानि इति **मम निश्चितम् उत्तमं मतम्** ॥ ६ ॥

जिससे कि ये यज्ञ, दान और तप आदि कर्म मनीषी पुरुषोंको (भी) पवित्र करनेवाले हैं, इसलिये ये मेरे आराधनरूप यज्ञादि कर्म भी उपासनाकी भाँति, आसक्तिको—कर्मविषयक ममताको और उसके फलोंको छोड़कर उपासनाकी सिद्धिके लिये मुमुक्षु पुरुषोंको मरणकालपर्यन्त नित्यप्रति करने चाहिये। यह मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है ॥ ६ ॥

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥ ७ ॥

शास्त्रनियत कर्मका त्याग नहीं बन सकता । अतः उसका मोहसे त्याग करना तामस (त्याग) कहलाता है ॥ ७ ॥

नियतस्य **नित्यनैमित्तिकस्य महायज्ञादेः** कर्मणः संन्यासः **त्यागो** न उपपद्यते । *'शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥'* (३ । ८) **इति शरीरयात्राया एव असिद्धेः । शरीरयात्रा हि यज्ञशिष्टाशनेन निर्वर्त्यमाना सम्यग् ज्ञानाय प्रभवति । अन्यथा** *'भुञ्जते ते त्वघं पापाः'* (३ । १३) **इति अयज्ञशिष्टाघरूपाशनाप्यायनं मनसो विपरीतज्ञानाय भवति** ।

शास्त्रविहित—नित्य-नैमित्तिक महायज्ञादि कर्मका संन्यास—त्याग नहीं बन सकता। अभिप्राय यह है कि **'शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥'** इस वचनके अनुसार जीवन-निर्वाहकी भी सफलता कर्मोंके बिना नहीं हो सकती; क्योंकि यज्ञसे बचे हुए अन्नके द्वारा किया हुआ जीवन-निर्वाह ही यथार्थ ज्ञानका उत्पादक होता है । अन्यथा **'भुञ्जते ते त्वघं पापाः'** इस कथनके अनुसार यज्ञरहित पापरूप अन्नसे पोषण किया हुआ मन तो विपरीत ज्ञानका उत्पादक हो जाता है ।

'*अन्नमयं हि सोम्य मनः*' (छा० उ० ६ । ५ । ४) **इति अन्नेन हि मन आप्यायते।** '*आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः। स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः*' (छा० उ० ७ । २६ । २) **इति ब्रह्मसाक्षात्काररूपं ज्ञानम् आहार-शुद्ध्यायत्तमिति श्रूयते। तस्मात् महा-यज्ञादिनित्यनैमित्तिकं कर्म आप्रया-णात् ब्रह्मज्ञानाय एव उपादेयम् इति तस्य त्यागो न उपपद्यते।**

एवं ज्ञानोत्पादिनः कर्मणो बन्ध-कत्वमोहात् परित्यागः तामसः परिकीर्तितः। **तमोमूलः त्यागः तामसः, तमःकार्याज्ञानमूलत्वेन त्यागस्य तमोमूलत्वम्। तमो हि अज्ञानस्य मूलम्** '*प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च॥*' (१४ । १७) **इति अत्र उक्तम्। अज्ञानं तु ज्ञान-विरोधिविपरीतज्ञानम्। तथा च वक्ष्यते**—'*अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता। सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥*' (१८ । ३२) **इति। अतो नित्यनैमित्तिकादेः कर्मणः त्यागो विपरीतज्ञानमूल एव इत्यर्थः॥ ७॥**

'हे सोम्य! यह मन अन्नमय है।' इस श्रुतिके अनुसार अन्नसे ही मनका पोषण होता है। **'आहारकी शुद्धिसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है, अन्तः-करणकी शुद्धिसे स्थिर स्मृति होती है। स्मृतिकी स्थिरतासे समस्त बन्धनोंसे छुटकारा मिलता है।'** इस प्रकार श्रुतियों-में ब्रह्मसाक्षात्काररूप ज्ञान आहारशुद्धि-के अधीन बतलाया गया है। इसलिये महायज्ञादि नित्यनैमित्तिक कर्म मरण-कालपर्यन्त ब्रह्मज्ञानके लिये अवश्य कर्तव्य हैं। अतएव उनका त्याग नहीं बन सकता।

ज्ञानके उत्पादक कर्मोंको इस प्रकार मोहसे बन्धनकारक समझकर छोड़ देना तामसी त्याग कहलाता है। जो त्याग तमोमूलक हो, वह तामस है। इस त्यागका मूल तमोगुणका कार्य अज्ञान है, इसलिये वह तमोमूलक है। अज्ञानका मूल तमोगुण है; यह बात इस प्रकार कही है कि **'प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च॥'** ज्ञानके विरोधी विपरीत ज्ञानका नाम अज्ञान है, यह बात आगे चलकर इस प्रकार कही जायगी **'अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता। सर्वार्थान् विप-रीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥'** अतएव यह अभिप्राय है कि नित्य-नैमित्तिक आदि कर्मोंका त्याग विपरीत-ज्ञानमूलक ही है॥ ७॥

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥ ८ ॥

(यज्ञादि कर्म) दुःखरूप है, ऐसा जानकर जो कोई शरीरके क्लेशके भयसे कर्मका त्याग कर दे तो वह राजस त्याग करके त्यागके (यथार्थ) फलको कभी नहीं पाता ॥ ८ ॥

यद्यपि परम्परया मोक्षसाधनभूतं कर्म **तथापि दुःखात्मकद्रव्यार्जन-साध्यत्वात् बह्वायासरूपतया** कायक्लेश-**करत्वात् च मनसः अवसादकरम् इति तद्भीत्या योगनिष्पत्तये ज्ञाना-भ्यास एव यतनीय इति यो महा-यज्ञाद्याश्रमकर्म परि**त्यजेत्; स राजसं **रजोमूलं** त्यागं कृत्वा **तद् अयथा अवस्थितशास्त्रार्थरूपम् इति ज्ञानो-त्पत्तिरूपं** त्यागफलं न लभेत् । '*अयथा-वत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥*' (१८ । ३१) **इति हि वक्ष्यते । न हि कर्म दृष्टद्वारेण मनःप्रसाद-हेतुः । अपि तु भगवत्प्रसादद्वारेण ।८।**

यद्यपि कर्म परम्परासे मोक्षके साधन-रूप हैं, तथापि दुःखरूप द्रव्योपार्जनसे सिद्ध होते हैं और बहुत परिश्रमरूप होनेके कारण शारीरिक क्लेश उत्पन्न करनेवाले हैं; अतएव मनमें विषाद पैदा करनेवाले हैं; इस भयसे जो पुरुष योगकी सिद्धिके लिये ज्ञानके अभ्यासको ही कर्तव्य मानकर महायज्ञादि आश्रमो-चित कर्मोंको छोड़ देता है, वह राजस—रजोमूलक त्याग करके त्याग-के फलको यानी त्यागका वास्तविक फल जो शास्त्रके यथार्थ अभिप्रायरूप ज्ञानकी उत्पत्ति है, उसको नहीं पाता । यह बात कहेंगे भी कि **'अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥'** कर्म अपने फलके द्वारा मनकी प्रसन्नता (विशुद्धि) के हेतु नहीं हैं; बल्कि भगवत्कृपाके द्वारा ही मनको प्रसन्न (विशुद्ध) करनेवाले हैं ॥ ८ ॥

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥ ९ ॥

अर्जुन ! (वर्णाश्रमोचित कर्म) जो शास्त्रनियत कर्म करने ही चाहिये, ऐसा समझकर आसक्ति और फलका त्याग करके किया जाता है, वह त्याग सात्त्विक माना गया है ॥ ९ ॥

नित्यनैमित्तिकमहायज्ञादि वर्णाश्रमविहितं कर्म **मदाराधनरूपतया** कार्यं **स्वयंप्रयोजनम् इति मत्वा** सङ्गं **कर्मणि ममतां** फलं च त्यक्त्वा यत् क्रियते स त्यागः सात्त्विको मतः **स सत्त्वमूलः । यथावस्थितशास्त्रार्थज्ञानमूल इत्यर्थः ।**

सत्त्वं हि यथावस्थितवस्तुज्ञानम् उत्पादयति इति उक्तम्—*'सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानम्' (१४ । १७)* **इति । वक्ष्यते च**—*'प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये । बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥' (१८ । ३०)* **इति** ॥ ९ ॥

वर्णाश्रमके लिये शास्त्रविहित नित्यनैमित्तिक और महायज्ञादि कर्म मेरे (श्रीभगवान्‌के) आराधनरूप होनेसे कर्तव्य हैं यानी स्वयं ही प्रयोजनरूप हैं, ऐसा समझकर सङ्ग—कर्मविषयक ममता और फलको छोड़कर जो कर्म किया जाता है, (उसमें होनेवाला) वह (ममता और फलविषयक) त्याग सात्त्विक माना गया है—वह सत्त्वगुणमूलक है । अभिप्राय यह है कि वह शास्त्रके यथार्थ अर्थका ज्ञान होनेसे होता है ।

सत्त्वगुण यथार्थ वस्तुका ज्ञान उत्पन्न करता है, यह बात इस प्रकार कही भी है—**'सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानम् ।'** तथा फिर भी इस प्रकार कहेंगे—**'प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये । बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥'** ॥ ९ ॥

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥ १० ॥

सत्त्वगुणसे व्याप्त, मेधावी और संशयरहित त्यागी पुरुष न अकुशल कर्मसे द्वेष करता है और न कुशल (कर्म) में राग करता है ॥ १० ॥

एवं सत्त्वसमाविष्टो मेधावी **यथावस्थिततत्त्वज्ञानः तत एव** छिन्नसंशयः

इस प्रकार जो सत्त्वगुणसे ओत प्रोत मेधावी—यथार्थ तत्त्वको जाननेवाला और इसी कारण जो संशयरहित हो चुका

कर्मणि सङ्गफलकर्तृत्वत्यागी न द्वेष्टि अकुशलं कर्म कुशले **च कर्मणि** न अनुषज्जते ।

अकुशलं कर्म अनिष्टफलम्, कुशलं च कर्म इष्टरूपस्वर्गपुत्रपश्वन्नादिफलम्; सर्वस्मिन् कर्मणि ममतारहितत्वात्; त्यक्तब्रह्मव्यतिरिक्तसर्वफलत्वात्, त्यक्तकर्तृत्वात् च तयोः क्रियमाणयोः प्रीतिद्वेषौ न करोति । अनिष्टफलं पापं कर्म अत्र प्रामादिकम् अभिप्रेतम्, *'नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः । नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥'* (कठ० उ० १ । २ । २३) **इति दुश्चरिताविरतेः ज्ञानोत्पत्तिविरोधित्वश्रवणात् ।**

अतः कर्मणि कर्तृत्वसङ्गफलानां त्यागः शास्त्रीयः त्यागः न कर्मस्वरूपत्यागः ॥ १० ॥

है, ऐसा कर्मविषयक **सङ्ग**, फल और कर्तापनका त्यागी पुरुष अकुशल कर्मसे द्वेष नहीं करता और कुशल कर्ममें आसक्त नहीं होता ।

अनिष्ट फल देनेवाले कर्मका नाम अकुशल कर्म है तथा स्वर्ग, पुत्र, पशु और अन्नादि इष्ट फल देनेवाले कर्मका नाम कुशल कर्म है । इन किये जानेवाले दोनों प्रकारके कर्मोंमें वह राग-द्वेष नहीं करता; क्योंकि वह समस्त कर्मोंमें ममतारहित और ब्रह्मके अतिरिक्त अन्य सभी फलोंका त्यागी एवं कर्तापनका भी त्यागी होता है । यहाँ जो अनिष्ट फल देनेवाले पापकर्मोंमें द्वेष न करनेकी बात कही गयी है, वह प्रमादसे (भूलसे) होनेवाले कर्मोंके अभिप्रायसे कही गयी है । क्योंकि **'जो दुष्ट आचरणोंसे विरत नहीं हुआ है, अशान्त है, असमाहित है और शान्तिरहित मनवाला है, वह इस आत्माको विशुद्ध ज्ञानके द्वारा नहीं पा सकता ।'** इस प्रकार श्रुतिमें दुष्ट आचरणों (पापों) से विरक्त न होना ज्ञानोत्पत्तिका विरोधी बतलाया गया है ।

इसीसे यह सिद्ध होता है कि कर्मविषयक कर्तापन, आसक्ति और फलका त्याग ही शास्त्रविहित त्याग है, न कि स्वरूपसे कर्मोंका त्याग ॥ १० ॥

तद् आह—

इसीको कहते हैं—

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥ ११ ॥

क्योंकि देहधारी (प्राणी) समस्त कर्मोंके त्यागमें समर्थ नहीं है । इसलिये जो कर्मफलका त्यागी है, वह (यथार्थ) त्यागी है, ऐसा कहा जाता है ॥ ११ ॥

न हि देहभृता **ध्रियमाणशरीरेण** कर्माणि अशेषतः त्यक्तुं शक्यम् **देहधारणार्थानाम् अशनपानादीनां तदनुबन्धिनां च कर्मणाम् अवर्जनीयत्वात्; तदर्थं च महायज्ञाद्यनुष्ठानम् अवर्जनीयम्** । यः तु **तेषु महायज्ञादि-** कर्मसु फलत्यागी स **एव** *'त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः'* (*महाना० ८ । १४*) **इत्यादिशास्त्रेषु** त्यागी इति अभिधीयते ।

फलत्यागी इति प्रदर्शनार्थः, फलकर्तृत्वकर्मसङ्गानां त्यागी इति; 'त्रिविधः संप्रकीर्तितः' इति प्रक्रमात् ॥ ११ ॥

शरीरधारी प्राणीके लिये कर्मोंका सम्पूर्णतया त्याग संभव नहीं है; क्योंकि शरीरधारणके लिये खान-पान और उनसे सम्बन्ध रखनेवाले कर्म अनिवार्य होनेसे उनके लिये महायज्ञादिका अनुष्ठान भी अनिवार्य है; इसलिये जो उन महायज्ञादि कर्मोंमें फलका त्यागी है वही त्यागी है, ऐसा—**'कुछ लोग केवल त्यागसे ही अमृतत्वको प्राप्त हुए'** इत्यादि शास्त्रोंमें बतलाया गया है ।

यहाँ 'फलत्यागी' कहना उपलक्षणके लिये है । इसका भाव फल, कर्तापन और सङ्ग—तीनोंका त्यागी है । क्योंकि प्रकरणके आरम्भमें ही कह चुके हैं कि 'त्याग तीन प्रकारका कहा गया है' ॥ ११ ॥

ननु कर्माणि अग्निहोत्रदर्शपूर्णमास-ज्योतिष्टोमादीनि महायज्ञादीनि च स्वर्गादिफलसम्बन्धितया शास्त्रैः विधीयन्ते । नित्यनैमित्तिकानाम् अपि *'प्राजापत्यं गृहस्थानाम्'* (*वि० पु० १ । ६ । ३७*) **इत्यादिफल-**

अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास और ज्योतिष्टोम आदि तथा महायज्ञादि कर्म शास्त्रोंमें स्वर्गादि फल देनेवाले बतलाये गये हैं । नित्य और नैमित्तिक कर्मोंका विधान भी **'गृहस्थोंके लिये प्राजापत्य यज्ञ कर्तव्य है'** इत्यादि वचनोंसे फलका

सम्बन्धितया एव हि चोदना। अतः तत्फलसाधनस्वभावतया अवगतानां कर्मणाम् अनुष्ठाने बीजावापादीनाम् इव अनभिसंहितफलस्य अपि इष्टानिष्टरूपफलसम्बन्धः अवर्जनीयः; अतो मोक्षविरोधिफलत्वेन मुमुक्षुणा न कर्म अनुष्ठेयम् इति, अत उत्तरम् आह—

सम्बन्ध बतलाकर ही किया गया है। अतः इस प्रकार फलके साधनरूपमें बतलाये हुए कर्मोंका अनुष्ठान करनेसे फल न चाहनेवालेको भी बीज बोनेपर फल उत्पन्न होनेकी भाँति इष्ट और अनिष्ट फलका प्राप्त होना अनिवार्य होगा। अतएव मोक्षके विरोधी फल देनेवाले होनेके कारण मुमुक्षु पुरुषोंको कर्म नहीं करने चाहिये, यह शङ्का होती है, इसलिये इसका उत्तर देते हैं—

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्॥ १२॥

इष्ट, अनिष्ट और मिश्रित—तीन प्रकारका कर्मफल अत्यागियोंको पीछेसे मिलता है; परन्तु त्यागियोंको कभी नहीं (मिलता)॥ १२॥

अनिष्टं **नरकादिफलम्,** इष्टं **स्वर्गादि,** मिश्रम् **अनिष्टसंभिन्नं पुत्रपश्वन्नादि; एतत्** त्रिविधं कर्मणः फलम् अत्यागिनां **कर्तृत्वममताफलत्यागरहितानां** प्रेत्य भवति; **प्रेत्य कर्मानुष्ठानोत्तरकालम् इत्यर्थः।** न तु संन्यासिनां क्वचित् **न तु कर्तृत्वादिपरित्यागिनां क्वचिद् अपि मोक्षविरोधि फलं भवति।**

अनिष्ट—नरकादि, इष्ट—स्वर्गादि, मिश्र—अनिष्टसे युक्त पुत्र, पशु, अन्नादिकी प्राप्तिरूप ऐसा यह तीन प्रकारका कर्मफल अत्यागियोंको—कर्तापनके अभिमान, ममता और फलका त्याग न करनेवाले पुरुषोंको पीछेसे मिलता है। यहाँ 'प्रेत्य' शब्दका अर्थ कर्मानुष्ठानके बादका समय है। संन्यासियोंको कभी भी नहीं मिलता यानी कर्तापन और फल आदिका परित्याग कर देनेवाले पुरुषोंको तो कभी भी मोक्षविरोधी फल नहीं मिलता।

एतद् उक्तं भवति—यद्यपि अग्निहोत्रमहायज्ञादीनि नित्यानि एव,

कहनेका तात्पर्य यह होता है कि यद्यपि अग्निहोत्र महायज्ञादि कर्म नित्य

तथापि जीवनाधिकारकामाधिकारयोः इव मोक्षाधिकारे च विनियोग-पृथक्त्वेन परिह्रियते, मोक्षविनियोगः च—'*तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन*' (बृ० उ० ४ । ४ । २२) इत्यादिभिः इति ।

ही हैं, तो भी जैसे जीवनके लिये और भोगोंके लिये उनके योग्य कर्म किये जाते हैं, वैसे ही मोक्षके लिये भी पृथक् रीतिसे इनका प्रयोग होता है । **'ऐसे इस परमात्माको ब्राह्मणलोग वेदाध्ययनसे, यज्ञसे, दानसे और निष्काम तपसे जाननेकी इच्छा करते हैं ।'** इत्यादि श्रुतियोंके द्वारा कर्मोंका मोक्षमें प्रयोग बतलाकर उपर्युक्त शङ्काका परिहार किया गया है ।

तद् एवं क्रियमाणेषु एव कर्मसु कर्तृत्वादिपरित्यागः शास्त्रसिद्धः संन्यासः; स एव च त्याग इति उक्तः ॥ १२ ॥

ऐसा जो किये जानेवाले कर्मोंमें कर्तापन आदिका त्याग है, यही शास्त्र-विहित संन्यास है और यही त्यागके नामसे कहा गया है ॥ १२ ॥

इदानीं भगवति पुरुषोत्तमे अन्तर्यामिणि कर्तृत्वानुसंधानेन आत्मनि अकर्तृत्वानुसंधानप्रकारम् आह । तत एव फलकर्मणोः अपि ममतापरित्यागो भवति इति । परमपुरुषो हि स्वकीयेन जीवात्मना स्वकीयैः च करणकलेवरप्राणैः स्वलीलाप्रयोजनाय कर्माणि आरभते । अतो जीवात्मगतं क्षुन्निवृत्त्यादिकम् अपि फलं तत्साधनभूतं च कर्म परमपुरुषस्य एव—

अब अन्तर्यामी भगवान् पुरुषोत्तममें कर्तापन मानकर अपनेमें अकर्तापनके देखनेकी रीति बतलाते हैं । इसीसे फल और कर्मोंकी ममताका त्याग भी हो जाता है; क्योंकि भगवान् पुरुषोत्तम अपने जीवात्माओंद्वारा, अपने ही दिये हुए इन्द्रिय, शरीर और प्राणोंसे अपनी लीलाके लिये ही कर्म करवाते हैं । इसलिये जीवात्मामें होनेवाली क्षुधा-पिपासाकी निवृत्तिरूप फल और उसके साधनरूप कर्म भी परम पुरुषके ही हैं—

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥ १३ ॥

महाबाहु अर्जुन ! सब कर्मोंकी सिद्धिके लिये सांख्यसिद्धान्तमें बतलाये हुए ये पाँच कारण तू मुझसे समझ ॥ १३ ॥

संख्या बुद्धिः, सांख्ये कृतान्ते **यथावस्थिततत्त्वविषयया वैदिक्या बुद्धया अनुसंहिते निर्णये** सर्वकर्मणां सिद्धये—**उत्पत्तये** प्रोक्तानि पञ्च एतानि कारणानि निबोध मे; **मम सकाशात् अनुसंधत्स्व** ।

वैदिकी हि बुद्धिः शरीरेन्द्रिय-प्राणजीवात्मोपकरणं परमात्मानम् एव कर्तारम् अवधारयति । *'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद, यस्यात्मा शरीरम्, य आत्मानमन्तरो यमयति, स त आत्मान्तर्याम्यमृतः'* (*श० प० १४ । ५ । ३०*) *'अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा'* (*तै० आ० ३ । ११ । ३*) इत्यादिषु ॥ १३ ॥

संख्या नाम बुद्धिका है; अतः सांख्यसिद्धान्तमें यानी यथार्थ तत्त्वको विषय करनेवाली वैदिक बुद्धिके द्वारा विचारपूर्वक किये हुए निर्णयमें सब कर्मोंकी सिद्धिके लिये—कर्मोंके होनेमें बतलाये हुए ये पाँच कारण हैं, उनको तू मुझसे समझ ।

'जो आत्मामें रहता हुआ आत्माकी अपेक्षा अन्तरतम है, जिसको आत्मा नहीं जानता, आत्मा जिसका शरीर है, जो आत्माके अंदर रहकर उसका नियमन करता है, वह तेरा अन्तर्यामी अमृतरूप आत्मा है।' 'वह समस्त जीवोंका शासक, सबका आत्मा अन्तरमें प्रविष्ट है।' इत्यादि श्रुतियोंमें शास्त्रीय बुद्धि यही निश्चय करती है कि शरीर, इन्द्रिय, प्राण और जीवात्मा जिसके उपकरण हैं, वह परमात्मा ही समस्त कर्मोंका कर्ता है ॥ १३ ॥

तद् इदम् आह—

इसीको कहते हैं—

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥ १४ ॥
शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥ १५ ॥

अर्जुन! शरीर, वाणी और मनके द्वारा जो भी न्याय्य (शास्त्रविहित) अथवा विपरीत (शास्त्रविरुद्ध) कर्म मनुष्य करता है, उसमें अधिष्ठान (शरीर), कर्ता (जीवात्मा), पृथक्-पृथक् प्रकारका करण (इन्द्रियाँ), विभिन्न प्रकारकी पृथक्-पृथक् चेष्टाएँ और पाँचवाँ दैव (परमात्मा) भी—ये पाँच ही उसके हेतु होते हैं ॥ १४-१५ ॥

न्याय्ये शास्त्रसिद्धे विपरीते प्रतिषिद्धे वा **सर्वस्मिन् कर्मणि शारीरे वाचिके मानसे च** पञ्च एते हेतवः । अधिष्ठानं **शरीरम्, अधिष्ठीयते जीवात्मना इति महाभूतसंघातरूपं शरीरम् अधिष्ठानम्** । तथा कर्ता **जीवात्मा; अस्य जीवात्मनः ज्ञातृत्वं कर्तृत्वं च**— *'ज्ञोऽत एव'* (ब्र० सू० २ । ३ । १८) *'कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्'* (ब्र० सू० २ । ३ । ३३) **इति च सूत्रोपपादितम्** । करणं च पृथग्विधम् **वाक्पाणिपादादिपञ्चकं समनस्कं कर्मेन्द्रियम्, पृथग्विधं कर्मनिष्पत्तौ पृथग्व्यापारम्** । विविधाः च पृथक् चेष्टाः—**चेष्टाशब्देन पञ्चात्मा वायुः अभिधीयते, तद्वृत्तिवाचिना, शरीरेन्द्रियधारकस्य प्राणापानादिभेदभिन्नस्य वायोः पञ्चात्मनो विविधा च चेष्टा विविधा वृत्तिः** । दैवं च एव अत्र पञ्चमम्, **अत्र कर्महेतुकलापे दैवं पञ्चमम् परमात्मा**

शरीर, वाणी और मनसे होनेवाले न्याय्य—शास्त्रसिद्ध, विपरीत—शास्त्रनिषिद्ध ऐसे समस्त कर्मोंके ये पाँच कारण हैं । अधिष्ठान नाम शरीरका है । यानी जो जीवात्मासे अधिष्ठित है, इस व्युत्पत्तिके अनुसार महाभूतोंके संघातरूप शरीरका नाम अधिष्ठान है । कर्ता नाम जीवात्माका है । इस जीवात्माका ज्ञातापन और कर्तापन **'ज्ञोऽत एव' 'कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्** ।' इन सूत्रोंसे सिद्ध किया गया है । मनसहित वाणी, हाथ और पैर आदि पाँचों कर्मेन्द्रियाँ पृथक्-पृथक् कर्म करनेके लिये पृथक्-पृथक् व्यापार करनेवाली हैं, यही नाना प्रकारके करण हैं । विभिन्न प्रकारकी पृथक्-पृथक् चेष्टाएँ—यहाँ वायुकी वृत्तियोंके वाचक चेष्टा शब्द होनेसे पाँच प्रकारका प्राण-वायु विवक्षित है । अभिप्राय यह है कि यहाँ शरीर और इन्द्रियोंको धारण करनेवाले प्राण, अपान आदि पाँच प्रकारोंमें विभक्त वायुकी विविध वृत्तियोंका नाम विविध चेष्टा है । इन कर्मकारणोंकी गणनामें दैव पाँचवाँ कारण है । यानी अन्तर्यामी

अन्तर्यामी कर्मनिष्पत्तौ प्रधानहेतुः इति अर्थः उक्तं हि *'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।'* (१५।१५) इति। वक्ष्यति च—*'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥'* (१८।६१) इति।

परमात्मायत्तं च जीवात्मनः कर्तृत्वम्—*'परात्तु तच्छ्रुतेः'* (ब्र० सू० २।३।४१) इति उपपादितम्।

ननु एवं परमात्मायत्ते जीवात्मनः कर्तृत्वे जीवात्मा कर्मणि अनियोज्यो भवति इति विधिनिषेधशास्त्राणि अनर्थकानि स्युः।

इदम् अपि चोद्यं सूत्रकारेण एव परिहृतम्। *'कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः'* (ब्र० सू० २।३।४२) इति।

एतद् उक्तं भवति—परमात्मना दत्तैः तदाधारैः च करणकलेवरादिभिः तदाहितशक्तिभिः स्वयं च जीवात्मा तदाधारः तदाहितशक्तिः सन् कर्मनिष्पत्तये स्वेच्छया करणा-

परमात्मा कर्मनिष्पत्तिका प्रधान कारण है। यह कहा भी है—**'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।'** तथा आगे भी कहेंगे—**'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥'**

जीवात्माका कर्तापन परमात्माके अधीन है, यह बात **'परात्तु तच्छ्रुतेः'** इस सूत्रमें सिद्ध की गयी है।

शङ्का—इस प्रकार जीवात्माका कर्तापन परमात्माके अधीन होनेसे जीवात्माको कर्म करनेके लिये कहना नहीं बन सकेगा, ऐसी स्थितिमें विधि-निषेधके बोधक शास्त्र व्यर्थ हो जायँगे?

उत्तर—इस शङ्काका परिहार भी **'कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः'** इस सूत्रके द्वारा सूत्रकारने ही कर दिया है।

कहनेका अभिप्राय यह है कि जीवात्मा परमात्माके दिये हुए और उसीके आधारपर स्थित हुए इन्द्रिय और शरीर आदिके द्वारा और उस परमात्माकी दी हुई शक्तियोंके द्वारा कर्म करता है। तथा वह स्वयं भी परमात्माके अधीन और उसके द्वारा दी हुई शक्तिसे युक्त होकर अपनी इच्छासे कर्म-निष्पत्तिके लिये इन्द्रिय आदि

ह्यधिष्ठानाकारं प्रयत्नं च आरभते; तदन्तः अवस्थितः परमात्मा स्वानुमतिदानेन तं प्रवर्तयति इति जीवस्य अपि स्वबुद्ध्या एव प्रवृत्ति-हेतुत्वम् अस्ति। यथा गुरुतरशिला-महीरुहादिचलनादिफलप्रवृत्तिषु बहु-पुरुषसाध्यासु बहूनां हेतुत्वं विधि-निषेधभाक्त्वं च इति ॥१४-१५॥

अधिष्ठानोंकी चेष्टारूप प्रयत्न करता रहता है। इस प्रकार उस जीवात्माके अंदर स्थित हुआ परमात्मा अपनी अनुमति प्रदान करके उसे प्रवृत्त करता है, इसलिये परमात्माका और अपनी बुद्धिसे प्रवृत्त होनेके कारण जीवात्माका भी कर्मप्रवृत्तिका कारण होना सिद्ध होता है। जैसे बहुत-से पुरुषोंके द्वारा सिद्ध होने योग्य बड़ी भारी शिला या पर्वत आदिको हिलानेके कार्यमें बहुत-से मिलकर ही उसके कारण होते हैं और बहुत-से ही विधिनिषेधके अधिकारी भी होते हैं ॥ १४-१५ ॥

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥१६॥

वहाँ ऐसा होनेपर भी फिर जो केवल आत्माको ही कर्ता देखता है, वह दुष्टबुद्धि अकृतबुद्धि होनेके कारण (यथार्थ) नहीं देख पाता है ॥ १६ ॥

एवं **वस्तुतः परमात्मानुमतिपूर्वके जीवात्मनः कर्तृत्वे** सति तत्र **कर्मणि** केवलम् आत्मानम् **एव** कर्तारं यः पश्यति, स दुर्मतिः **विपरीतमतिः**, अकृतबुद्धि-त्वात्—**अनिष्पन्नयथावस्थितवस्तु-बुद्धित्वात्** न पश्यति **न यथावस्थितं कर्तारं पश्यति** ॥ १६ ॥

इस प्रकार वस्तुतः उन-उन कर्मोंमें परमात्माकी अनुमतिसे जीवात्माका कर्तापन होनेपर भी जो केवल जीवात्मा-को ही कर्ता देखता है, वह दुष्ट-बुद्धि—विपरीत बुद्धिवाला है और वस्तुके यथार्थ स्वरूपको समझनेकी बुद्धिसे रहित होनेके कारण वह यथार्थ कर्ताको नहीं देख पाता—नहीं समझ पाता है ॥ १६ ॥

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥१७॥

जिसका मैं कर्ता हूँ ऐसा भाव नहीं है (और) जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती, वह इन लोकोंको मारकर भी न तो मारता है और न बन्धनको ही प्राप्त होता है ॥ १७ ॥

परमपुरुषकर्तृत्वानुसन्धानेन यस्य भावः **कर्तृत्वविशेषविषयो मनोवृत्तिविशेषो** न अहंकृतो **न अहमभिमानकृतः 'अहं करोमि' इति ज्ञानं यस्य न विद्यते इत्यर्थः** । बुद्धिः यस्य न लिप्यते, **अस्मिन् कर्मणि मम कर्तृत्वाभावाद् एतत् फलं न मया संबध्यते, न च मदीयम् इदं कर्म इति यस्य बुद्धिः जायते इत्यर्थः** । स इमान् लोकान् **युद्धे** हत्वा अपि **तान्** न **निहन्ति न केवलं भीष्मादीन् इत्यर्थः । ततः तेन युद्धाख्येन कर्मणा** न निबध्यते, **तत्फलं न अनुभवति इत्यर्थः ॥१७॥**

परमपुरुषमें कर्तापन समझ लेनेके कारण जिसकी भावना—कर्ताविषयक मनोवृत्ति 'मैं करता हूँ' इस अभिमानसे निर्माण नहीं हुई है । अभिप्राय यह है कि जिसके मनमें 'मैं करता हूँ' ऐसा भाव नहीं है तथा जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती यानी जिसकी ऐसी बुद्धि हो गयी है कि 'इस कर्ममें मेरा कर्तापन न रहनेके कारण इसके फलसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है और यह कर्म भी मेरा नहीं है' वह पुरुष भीष्मादिको ही नहीं, इन सब लोगोंको मारकर भी वास्तवमें उनको नहीं मारता और इसी कारण युद्धरूप कर्मसे नहीं बँधता अर्थात् उसके फलको नहीं भोगता ॥१७॥

सर्वम् इदम् अकर्तृत्वाद्यनुसन्धानं सत्त्वगुणवृद्ध्या एव भवति इति सत्त्वस्य उपादेयताज्ञापनाय कर्मणि सत्त्वादिगुणकृतं वैषम्यं प्रपञ्चयिष्यन् कर्मचोदनाप्रकारं तावद् आह—

यह अपनेमें अकर्तापन देखना आदि सब सत्त्वगुणकी वृद्धिसे ही होता है, अतः सत्त्वगुणकी उपादेयता जनानेके लिये कर्मोंमें सत्त्वादि गुणोंके कारण होनेवाली विषमताका विस्तार करनेकी इच्छासे पहले कर्मचोदनाकी रीति बतलाते हैं—

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥१८॥

ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञाता, तीन प्रकारकी कर्मचोदना है। और करण, कर्म तथा कर्ता—यह तीन प्रकारका कर्मसंग्रह है ॥ १८ ॥

ज्ञानं **कर्तव्यकर्मविषयं ज्ञानम्,** ज्ञेयं **च कर्तव्यं कर्म,** परिज्ञाता **तस्य बोद्धा इति** त्रिविधा कर्मचोदना; **बोधबोद्धव्यबोद्धृयुक्तो ज्योतिष्टोमादिकर्मविधिः इत्यर्थः। तत्र बोद्धव्यरूपं कर्म त्रिविधं संगृह्यते** करणं कर्म कर्ता इति। **करणं साधनभूतं द्रव्यादिकम्, कर्म यागादिकम्, कर्ता अनुष्ठाता इति ॥ १८ ॥**

कर्तव्यकर्मविषयक जानकारीका नाम ज्ञान है, कर्तव्यकर्म ही ज्ञेय है और उसको जाननेवाला परिज्ञाता है। यह तीन प्रकारकी कर्मचोदना है। (शास्त्रके विधिवाक्योंका नाम चोदना है) अभिप्राय यह है कि ज्योतिष्टोम आदि कर्मकी विधि ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञातासे युक्त है। उनमें जो ज्ञेयरूप कर्म है, वह करण, कर्म और कर्ता ऐसे तीन प्रकारसे संगृहीत है। साधनभूत द्रव्यादिका नाम करण है। यज्ञ आदिका नाम कर्म है और करनेवालेका नाम कर्ता है ॥ १८ ॥

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥ १९ ॥

ज्ञान, कर्म और कर्ता गुणसंख्यानमें गुणभेदसे तीन प्रकारके ही कहे गये हैं। उनको भी तू यथार्थरूपमें (मुझसे) सुन ॥ १९ ॥

कर्तव्यकर्मविषयं ज्ञानम, **अनुष्ठीयमानं** च कर्म **तस्यानुष्ठाता** च **सत्त्वादि**गुणभेदतः त्रिधा एव प्रोच्यते। गुणसंख्याने **गुणकार्यगणने** यथावत् शृणु तानि अपि—**तानि गुणतो भिन्नानि ज्ञानादीनि यथावत् शृणु ॥ १९ ॥**

कर्तव्यकर्मविषयक ज्ञान, किये जानेवाला कर्म और उसको करनेवाला कर्ता ये सब गुणोंके कार्योंकी गणना करते समय सत्त्वादि गुणोंके भेदसे तीन-तीन प्रकारके कहे गये हैं। तू उन गुणोंके कारण अलग-अलग किये जानेवाले ज्ञानादिको यथार्थरूपमें सुन ॥ १९ ॥

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥२०॥

जिस (ज्ञान) से सब विभक्त भूतोंमें एक अविभक्त अविनाशी भावको देखता है, उस ज्ञानको तू सात्त्विक जान ॥ २० ॥

ब्राह्मणक्षत्रियब्रह्मचारिगृहस्थादिरूपेण विभक्तेषु सर्वेषु भूतेषु **कर्माधिकारिषु** येन **ज्ञानेन एकाकारम् आत्माख्यं** भावं **तत्र अपि** अविभक्तं **ब्राह्मणत्वाद्यनेकाकारेषु अपि भूतेषु सितदीर्घादिविभागवत्सु ज्ञानैकाकारं आत्मानं विभागरहितम्** । अव्ययं **व्ययस्वभावेषु अपि ब्राह्मणादिशरीरेषु अव्ययम् अविकृतं फलादिसङ्गानर्हं च कर्माधिकारवेलायाम्** ईक्षते, तत् ज्ञानं सात्त्विकं विद्धि ॥ २० ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, ब्रह्मचारी, गृहस्थ आदिके रूपमें विभक्त हुए सम्पूर्ण कर्माधिकारी प्राणियोंमें जिस 'ज्ञान'के द्वारा (योगी) एक ही प्रकारका आत्मभाव देखता है, वहाँ भी ब्राह्मण आदि अनेक आकारवाले और छोटे-बड़े आदि विभागोंसे युक्त सब प्राणियोंमें ज्ञानाकार आत्माको विभागरहित देखता है तथा नाशवान् स्वभाववाले ब्राह्मणादि शरीरोंमें नाशरहित देखता है तथा कर्माधिकारके समय विकाररहित—फल आदिके संगसे निर्लेप देखता है, उस ज्ञानको तू सात्त्विक जान ॥ २० ॥

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥२१॥

परन्तु जो ज्ञान पृथक्-पृथक् आकारके कारण सब भूतोंमें विभिन्न प्रकारके पृथक्-पृथक् भावोंको जानता है, उस ज्ञानको तू राजस जान ॥ २१ ॥

सर्वेषु भूतेषु **ब्राह्मणादिषु ब्राह्मणाद्याकार**पृथक्त्वेन **आत्माख्यान् अपि** भावान् **नानाभूतान् सितदीर्घादिपृथक्त्वेन च** पृथग्विधान् **फलादिसंयोग-**

जो 'ज्ञान' ब्राह्मण आदि समस्त प्राणियोंमें ब्राह्मण आदि पृथक्-पृथक् आकारके कारण तथा छोटे-बड़े रूपके कारण आत्मरूप भावोंको विभिन्न प्रकारके देखता है तथा कर्माधिकारके समय

योग्यान् कर्माधिकारवेलायां यद् ज्ञानं वेत्ति तत् ज्ञानं राजसं विद्धि ॥ २१ ॥

फल आदिके साथ उनका सम्बन्ध समझता है उस ज्ञानको तू राजस जान ॥ २१ ॥

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

जो ज्ञान एक कार्यमें पूर्ण फलवालेके समान आसक्त हो, तथा हेतुसे रहित, मिथ्या वस्तुको विषय करनेवाला और अल्प हो वह (ज्ञान) तामस कहलाता है ॥२२॥

यत् तु **ज्ञानम्** एकस्मिन् कार्ये **एकस्मिन् कर्तव्ये कर्मणि प्रेतभूतगणाद्याराधनरूपे अत्यल्पफले** कृत्स्न**फल**वत् सक्तम्, अहेतुकं **वस्तुतः तु अकृत्स्नफलवत्तया तथाविधसङ्गहेतुरहितम्;** अतत्त्वार्थवत् **पूर्ववद् एव आत्मनि पृथक्त्वादियुक्ततया मिथ्याभूतार्थविषयम्, अत्यल्पफलं च प्रेतभूताद्याराधनरूपविषयत्वाद्** अल्पं च, तद् **ज्ञानं** तामसम् उदाहृतम् ॥ २२ ॥

'जो 'ज्ञान' किसी एक कार्यमें—प्रेत-भूतादिकी आराधनारूप अत्यन्त तुच्छ फल देनेवाले किसी एक कर्तव्य-कर्ममें पूर्ण फलवालेके सदृश आसक्त हो जाता है, तथा वस्तुतः वह कर्म पूर्ण फलवाला न होनेके कारण जो वैसी आसक्तिके हेतुसे रहित है; एवं जो पहलेकी भाँति ही आत्मामें पृथक्ता आदि भावोंसे युक्त होनेके कारण यथार्थ तत्त्वसे रहित मिथ्या अर्थको विषय करनेवाला है और अल्प है यानी जो प्रेतादिकी आराधनाके विषयका ज्ञान होनेके कारण अत्यन्त तुच्छ फल देनेवाला है, ऐसे ज्ञानको तामस कहा गया है ॥ २२ ॥

एवं कर्तव्यकर्मविषयज्ञानस्य अधिकारवेलायाम् अधिकार्यंशेन गुणतः त्रैविध्यम् उक्त्वा अनुष्ठेयस्य कर्मणो गुणतः त्रैविध्यम् आह—

इस प्रकार कर्माधिकारके समय कर्तव्यकर्मविषयक ज्ञानके अधिकारीकी भावनाके अनुसार गुणोंके कारण होनेवाले तीन प्रकारके भेद बतलाकर अब किये जानेवाले कर्मके गुणोंके द्वारा होनेवाले तीन भेद बतलाते हैं—

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥ २३ ॥

जो शास्त्रनियत (कर्म) कर्तापनके सम्बन्धसे रहित, बिना राग-द्वेषके और फल न चाहनेवाले पुरुषके द्वारा किया जाता है, वह सात्त्विक कहलाता है ॥ २३ ॥

नियतं **स्ववर्णाश्रमोचितं सङ्गरहितं कर्तृत्वादिसङ्गरहितम्,** अरागद्वेषतः कृतं **कीर्तिरागाद् अकीर्तिद्वेषात् च न कृतम्, अदम्भेन कृतम् इत्यर्थः;** अफलप्रेप्सुना **अफलाभिसन्धिना कार्यम् इति एव कृतं** यत् कर्म तत् सात्त्विकम् उच्यते ॥ २३ ॥

जो कर्म अपने वर्णाश्रमके अनुकूल शास्त्रविहित हो, कर्तापन आदिके सम्बन्धसे रहित हो, बिना राग-द्वेषके किया गया हो यानी कीर्तिमें राग और अकीर्तिमें द्वेष करके न किया गया हो, बिना दम्भके किया गया हो तथा फलाभिसन्धिसे रहित पुरुषके द्वारा कर्तव्य समझकर किया गया हो, वह सात्त्विक कहलाता है ॥ २३ ॥

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ २४ ॥

परन्तु जो कर्म फलाकाङ्क्षी पुरुषके द्वारा अहङ्कारके साथ और बहुत प्रयाससे किया जाता है, वह राजस कहलाता है ॥ २४ ॥

यत् तु पुनः कामेप्सुना **फलप्रेप्सुना** साहंकारेण वा, **वाशब्दः चार्थे, कर्तृत्वाभिमानयुक्तेन च,** बहुलायासं **यत्** कर्म क्रियते, तत् राजसम्—**'बहुलायासम् इदं कर्म मया एव क्रियते' इत्येवंरूपाभिमानयुक्तेन यत् कर्म क्रियते तद् राजसम् इत्यर्थः ॥ २४ ॥**

यहाँ 'वा' शब्द 'च' के अर्थमें आया है। इसके सिवा जो अत्यन्त प्रयाससे युक्त कर्म भोगकामी—फलाकाङ्क्षी और अहंकारयुक्त पुरुषके द्वारा यानी कर्तापनके अभिमानसे युक्त पुरुषके द्वारा किया जाता है, वह राजस है। अभिप्राय यह है कि अत्यन्त प्रयाससे होनेवाला यह कर्म मुझसे ही किया जा सकता है; इस प्रकारके अभिमानसे युक्त मनुष्यके द्वारा जो कर्म किया जाता है, वह राजस है ॥ २४ ॥

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥ २५ ॥

अनुबन्ध, क्षय, हिंसा और पौरुषको न देखकर जो कर्म मोहसे आरम्भ किया जाता है, वह तामस कहलाता है ॥ २५ ॥

कृते कर्मणि अनुबध्यमानं दुःखम् **अनुबन्धः**, **क्षयः कर्मणि क्रियमाणे अर्थविनाशः**, **हिंसा तत्र प्राणिपीडा**, पौरुषम् **आत्मनः कर्मसमापनसामर्थ्यम्**, **एतानि** अनवेक्ष्य **अविमृश्य** मोहात् **परमपुरुषकर्तृत्वाज्ञानाद्** यत् कर्म आरभ्यते **क्रियते**, तत् तामसम् उच्यते ॥ २५ ॥

कर्म करनेपर उसके पश्चात् होनेवाले दुःखका नाम अनुबन्ध है। कर्म-करनेसे होनेवाले धननाशका नाम क्षय है। कर्ममें प्राणियोंको जो पीड़ा पहुँचती है, उसका नाम हिंसा है। कर्मको पूर्ण करनेके अपने सामर्थ्यका नाम पौरुष है। जो कर्म इन सबका विचार न करके मोहपूर्वक यानी परमपुरुष ही सब कर्मोंका कर्ता है—इस तत्त्वको समझे बिना आरम्भ किया जाता है, वह तामस कहलाता है ॥ २५ ॥

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥ २६ ॥

फलासक्तिरहित, अनहंवादी, धृति और उत्साहसे युक्त तथा सिद्धि और असिद्धिमें निर्विकार रहनेवाला कर्ता सात्त्विक कहलाता है ॥ २६ ॥

मुक्तसङ्गः **फलसङ्गरहितः**, अनहंवादी **कर्तृत्वाभिमानरहितः**; धृत्युत्साहसमन्वितः, **आरब्धे कर्मणि यावत्कर्मसमाप्त्यवर्जनीयदुःखधारणं** धृतिः, **उत्साहः उद्युक्तचेतस्त्वम्**, **ताभ्यां**

जो कर्ता मुक्तसङ्ग—फलासक्तिसे रहित है, अनहंवादी—कर्तापनके अभिमानसे रहित है, तथा धृति और उत्साहसे युक्त है। आरम्भ किये हुए कर्ममें कर्मके पूरे होनेतक आनेवाले अनिवार्य दुःखोंको सहन करनेका नाम धृति है और चित्तमें सर्वदा स्फूर्ति रहनेका नाम उत्साह है। भाव यह है कि

समन्वितः; सिद्ध्यसिद्ध्योः निर्विकारः **युद्धादौ कर्मणि तदुपकरणभूतद्रव्यार्जनादिषु च सिद्ध्यसिद्ध्योः अविकृतचित्तः** कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥२६॥

जो कर्ता इन दोनों गुणोंसे भी युक्त है एवं युद्धादि कर्ममें और उसके सहायकरूप द्रव्योपार्जनादि कर्मोंमें होनेवाली सिद्धि-असिद्धियोंमें जिसका चित्त विकृत नहीं होता, ऐसा निर्विकार कर्ता सात्त्विक कहलाता है ॥ २६ ॥

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥ २७ ॥

रागी, कर्मफल चाहनेवाला, लोभी, हिंसात्मक, अपवित्र और हर्ष-शोकसे युक्त कर्ता राजस कहलाता है ॥ २७ ॥

रागी **यशोऽर्थी**, कर्मफलप्रेप्सुः **कर्मफलार्थी**, लुब्धः **कर्मापेक्षितद्रव्यव्ययस्वभावरहितः**; हिंसात्मकः **परान् पीडयित्वा तैः कर्म कुर्वाणः**, अशुचिः **कर्मापेक्षितशुद्धिरहितः**, हर्षशोकान्वितः **युद्धादौ कर्मणि जयादिसिद्ध्यसिद्ध्योः हर्षशोकान्वितः** कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥ २७ ॥

जो कर्ता रागी—यश चाहनेवाला, कर्मफलाकाङ्क्षी—कर्मफलकी इच्छा करनेवाला, लोभी—कर्मकी सफलताके लिये आवश्यक द्रव्य व्यय न करनेके स्वभाववाला, हिंसक— दूसरोंको पीड़ा पहुँचाकर उनके साथ कर्म करनेवाला, अशुचि—कर्मके लिये आवश्यक पवित्रतासे रहित, और युद्धादि कर्मोंमें विजय-पराजयरूप सिद्धि और असिद्धिमें होनेवाले हर्ष-शोकसे युक्त है, ऐसा कर्ता राजस कहा गया है ॥ २७ ॥

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥ २८ ॥

अयुक्त, विद्यारहित, स्तब्ध, शठ, वञ्चक, आलसी, विषादी और दीर्घसूत्री कर्ता तामस कहलाता है ॥ २८ ॥

अयुक्तः **शास्त्रीयकर्मायोग्यः विकर्मस्थः**, प्राकृतः **अनधिगतविद्यः**, स्तब्धः **अनारम्भशीलः**, शठः **अभिचारादिकर्मरुचिः**, नैष्कृतिकः **वञ्चनपरः**, अलसः **आरब्धेषु अपि कर्मसु मन्दप्रवृत्तिः** । विषादी **अतिमात्रावसादशीलः**, दीर्घसूत्री **अभिचारादिकर्म कुर्वन् परेषु दीर्घकालवर्त्यनर्थपर्यालोचनशीलः**, **एवंभूतो यः** कर्ता स तामसः ॥ २८ ॥

जो अयुक्त—शास्त्रीय कर्मके अयोग्य पाप-कर्मोंमें नियुक्त है, प्राकृत है—जिसने विद्या प्राप्त नहीं की है, जो स्तब्ध—कर्मका आरम्भ न करनेके स्वभाववाला है, शठ—मारण-उच्चाटनादि कर्मोंमें रुचिवाला है, नैष्कृतिक—धोखा देने या ठगनेमें लगा है, आलसी—आरम्भ किये हुए कर्ममें भी बहुत थोड़ा चित्त देनेवाला है, विषादी—अत्यधिक शोकमें डूबा रहता है और दीर्घसूत्री—अभिचारादि कर्म करके दूसरोंके लिये दीर्घकालतक रहनेवाले अनर्थका विचार करनेवाला है, जो ऐसा कर्ता है वह तामस कहा गया है ॥ २८ ॥

एवं कर्तव्यकर्मविषयज्ञाने कर्तव्ये च कर्मणि अनुष्ठातरि च गुणतः त्रैविध्यम् उक्तम्, इदानीं सर्वतत्त्वसर्वपुरुषार्थनिश्चयरूपाया बुद्धेः धृतेः च गुणतः त्रैविध्यम् आह—

इस प्रकार कर्तव्यकर्मविषयक ज्ञान, कर्तव्य कर्म और उसका करनेवाला—इन तीनके गुणोंके कारण होनेवाले तीन-तीन भेद बतलाये गये। अब सम्पूर्ण तत्त्व और समस्त पुरुषार्थकी निश्चयरूपा जो बुद्धि है, उसके और धृतिके गुणोंके कारण होनेवाले तीन भेद बतलाते हैं—

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥ २९ ॥

धनंजय ! बुद्धि और धृतिके भेद भी जो गुणभेदसे तीन प्रकारके हैं, मेरे द्वारा पृथक्-पृथक् कहे हुए तू सुन ॥ २९ ॥

बुद्धिः विवेकपूर्वकं निश्चयरूपं ज्ञानम्, धृतिः आरब्धायाः क्रियायाः विघ्नोपनिपाते अपि विधारणसामर्थ्यम्, तयोः सत्त्वादिगुणतः त्रिविधं भेदं पृथक्त्वेन प्रोच्यमानं **यथावत्** शृणु ॥ २९ ॥

विवेकपूर्वक होनेवाले निश्चयरूप ज्ञानका नाम बुद्धि है। आरम्भ की हुई क्रियामें विघ्न उपस्थित होनेपर उसे सहन कर लेनेकी शक्तिका नाम धृति है। इन दोनोंके सत्त्वादि गुणोंसे होनेवाले तीन-तीन भेद मेरेद्वारा पृथक्-पृथक् कहे हुए ठीक-ठीक सुन ॥ २९ ॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३० ॥

प्रवृत्ति और निवृत्ति, कार्य और अकार्य, भय और अभय तथा बन्ध और मोक्ष इन सबको जो बुद्धि जानती है, पार्थ ! वह बुद्धि सात्त्विकी है ॥ ३० ॥

प्रवृत्तिः अभ्युदयसाधनभूतो धर्मः, निवृत्तिः मोक्षसाधनभूतो धर्मः, तौ उभौ यथावस्थितौ या बुद्धिः वेत्ति; कार्याकार्ये **सर्ववर्णानां प्रवृत्तिनिवृत्तिधर्मयोः अन्यतरनिष्ठानां देशकालावस्थाविशेषेषु 'इदं कार्यम् इदम् अकार्यम्' इति च या वेत्ति;** भयाभये **शास्त्रात् निवृत्तिः भयस्थानं तदनुवृत्तिः अभयस्थानं** बन्धं मोक्षं च **संसारयाथात्म्यं तद्विगमयाथात्म्यं च** या वेत्ति, सा सात्त्विकी **बुद्धिः** ॥ ३० ॥

लौकिक उन्नतिके साधनरूप धर्मका नाम प्रवृत्ति है और मोक्षके साधनरूप धर्मका नाम निवृत्ति है। इन दोनोंको जो बुद्धि ठीक-ठीक समझती है, तथा जो कर्तव्य-अकर्तव्यको यानी प्रवृत्ति और निवृत्ति—इन दोनों धर्मोंमेंसे किसी एकमें स्थित हुए सब वर्णवालोंका देश, काल और अवस्थाविशेषकी अपेक्षासे 'यह कर्तव्य है और यह अकर्तव्य है', इस बातको समझती है, एवं भय और अभयको यानी शास्त्रविरुद्ध आचरण भयका स्थान है और शास्त्रानुकूल आचरण अभयका स्थान है इस बातको, और बन्ध-मोक्षको यानी संसारके यथार्थ स्वरूपको और उससे छूटनेके यथार्थ उपायको भी जो ठीक-ठीक जानती है, वह बुद्धि सात्त्विकी है ॥ ३० ॥

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥ ३१ ॥

जिस बुद्धिसे मनुष्य धर्म और अधर्मको तथा कार्य और अकार्यको यथार्थ नहीं जानता है, पार्थ ! वह बुद्धि राजसी है ॥ ३१ ॥

यया **पूर्वोक्तं द्विविधं** धर्मं **तद्विपरीतं** च **तन्निष्ठानां देशकालावस्थादिषु** कार्यं च अकार्यं च **यथावत् न** जानाति सा राजसी बुद्धिः ॥ ३१ ॥

जिस बुद्धिसे मनुष्य पूर्वोक्त दो प्रकारके धर्मोंको और उसके विरोधी अधर्मको एवं उस धर्ममें परिनिष्ठित लोगोंके देश, काल तथा अवस्था आदिके अनुसार कर्तव्य और अकर्तव्यको भी ठीक-ठीक नहीं जान सकता, वह बुद्धि राजसी है ॥ ३१ ॥

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥ ३२ ॥

अन्धकारसे ढकी हुई जो बुद्धि अधर्मको धर्म, ऐसे मानती है तथा सब बातोंको विपरीत मानती है, पार्थ ! वह बुद्धि तामसी है ॥ ३२ ॥

तामसी **तु** बुद्धिः तमसा आवृता **सती** सर्वार्थान् विपरीतान् मन्यते; अधर्मं धर्मं **धर्मं च अधर्मम्, सन्तं च अर्थम् असन्तम्, असन्तं च अर्थं सन्तम्, परं च तत्त्वम् अपरम्, अपरं च तत्त्वं परम्, एवं सर्वं विपरीतं मन्यते इत्यर्थः** ॥ ३२ ॥

तामसी बुद्धि तो तमोगुण (अन्धकार)से आवृत होनेके कारण सब बातोंको विपरीत ही मानती है यानी अधर्मको धर्म और धर्मको अधर्म, अच्छी वस्तुको बुरी और बुरी वस्तुको अच्छी, परम तत्त्वको तुच्छ और तुच्छको परम—इस प्रकार सब कुछ विपरीत मानती है ॥ ३२ ॥

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३३ ॥

जिस अव्यभिचारिणी धृतिसे पुरुष योगके उद्देश्यसे मन, प्राण तथा इन्द्रियोंकी क्रियाओंको धारण करता है, पार्थ ! वह धृति सात्त्विकी है ॥ ३३ ॥

यया धृत्या योगेन अव्यभिचारिण्या मनःप्राणेन्द्रियाणां क्रियाः पुरुषो धारयते; योगो मोक्षसाधनभूतं भगवदुपासनम्; योगेन प्रयोजनभूतेन अव्यभिचारिण्या योगोद्देशेन प्रवृत्ताः तत्साधनभूता मनःप्रभृतीनां क्रियाः यया धृत्या धारयते, सा सात्त्विकी इत्यर्थः ॥ ३३ ॥

जिस अव्यभिचारिणी (अचल) धृतिके द्वारा मनुष्य योगके उद्देश्यसे प्रवृत्त मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको धारण करता है, वह धृति सात्त्विकी है। मोक्षके साधनरूप भगवदुपासनाका नाम योग है। अतः यह अभिप्राय है कि जिस अव्यभिचारिणी धृतिके द्वारा फलरूप योगके लिये प्रवृत्त हुई उसकी साधनरूपा मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको मनुष्य धारण करता है, वह धृति सात्त्विकी है ॥ ३३ ॥

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥ ३४ ॥

अर्जुन ! फलाकाङ्क्षी पुरुष जिस धृतिसे अत्यन्त आसक्तिपूर्वक धर्म, काम और अर्थको धारण करता है, पार्थ ! वह धृति राजसी है ॥ ३४ ॥

फलाकाङ्क्षी पुरुषः प्रकृष्टसङ्गेन धर्मकामार्थान् यया धृत्या धारयते, सा राजसी; धर्मकामार्थशब्देन तत्साधनभूता मनःप्राणेन्द्रियक्रिया लक्ष्यन्ते; 'फलाकाङ्क्षी' इति अत्र अपि फलशब्देन राजसत्वाद् धर्मकामार्था एव विवक्षिताः। अतो धर्मकामार्थापेक्षया मनःप्रभृतीनां क्रियाः यया धृत्या धारयते, सा राजसी इति उक्तं भवति ॥ ३४ ॥

फलाकाङ्क्षी पुरुष जिस धृतिके द्वारा अत्यन्त बढ़ी हुई आसक्तिसे धर्म, काम और अर्थको धारण करता है, वह धृति राजसी है। धर्म, काम और अर्थ शब्दसे उनकी साधनरूपा मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाओंकी ओर लक्ष्य कराया गया है। फलाकाङ्क्षीपदमें भी फल शब्दसे धर्म, काम और अर्थ ही विवक्षित हैं; क्योंकि यहाँ रजोगुणीका प्रकरण है। अतः कहनेका अभिप्राय यह होता है कि धर्म, काम और अर्थके लिये होनेवाली मन आदिकी क्रियाओंको पुरुष जिस धृतिके द्वारा धारण करता है, वह धृति राजसी है ॥ ३४ ॥

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥३५॥

जिस धृतिसे दुर्बुद्धि मनुष्य स्वप्न, भय, शोक, विषाद और मदको नहीं त्यागता। पार्थ ! वह धृति तामसी है ॥ ३५ ॥

यया **धृत्या** स्वप्नं **निद्रां** मदं **विषयानुभवजनितं मदं स्वप्नमदौ उद्दिश्य प्रवृत्ता मनःप्राणादीनां क्रियाः** दुर्मेधाः न विमुञ्चति **धारयति । भय-शोकविषादशब्दाः च भयशोकादि-दायिविषयपराः; तत्साधनभूताः च मनःप्राणादिक्रियाः यया धारयते,** सा धृतिः तामसी ॥ ३५ ॥

दुष्टबुद्धिवाला मनुष्य जिस धृतिके द्वारा स्वप्नको, निद्राको और विषयोंके अनुभवसे होनेवाले मदको यानी स्वप्न और मद आदिके उद्देश्यसे प्रवृत्त हुई मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको नहीं छोड़ता—उन्हें धारण किये रहता है; तथा भय, शोक और विषाद शब्द यहाँ भय-शोकादिके देनेवाले विषयोंके वाचक हैं अतः भाव यह है कि जिस धृतिके द्वारा मनुष्य भय आदिकी साधनरूपा मन-प्राणादिकी क्रियाओंको भी धारण किये रहता है, वह धृति तामसी है ॥ ३५ ॥

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥३६॥

भरतश्रेष्ठ ! अब तीन प्रकारका सुख भी तू मुझसे सुन, जिसमें मनुष्य अभ्याससे रमता है और दुःखके अन्तको प्राप्त होता है ॥ ३६ ॥

पूर्वोक्ताः सर्वे ज्ञानकर्मकर्त्रादयो यच्छेषभूताः, तत् च सुखं गुणतः त्रिविधम् इदानीं शृणु । **यस्मिन् सुखे चिरकालाभ्यासात् क्रमेण निरतिशयां रतिं प्राप्नोति;** दुःखान्तं च निगच्छति,

पूर्वोक्त समस्त ज्ञान, कर्म और कर्ता आदि जिसके शेषरूप हैं,(जिसके लिये हैं) उस सुखके भी तीन भेद अब तू सुन । जिस सुखमें मनुष्य दीर्घकालके अभ्याससे क्रमशः अतिशय प्रीतिको प्राप्त होता है और जिससे दुःखके अन्तको प्राप्त होता

निखिलस्य सांसारिकस्य दुःखस्य अन्तं निगच्छति ॥ ३६ ॥

है—सब सांसारिक दुःखोंके अभावका अनुभव करता है ॥ ३६ ॥

तद् एव विशिनष्टि—

उसीको विस्तारसे कहते हैं—

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥ ३७ ॥

वह जो पहले तो विषके समान और परिणाममें अमृततुल्य होता है और आत्मबुद्धिके प्रसादसे उत्पन्न होता है वह सुख सात्त्विक कहा गया है ॥ ३७ ॥

यत् तत् सुखम् अग्रे **योगोपक्रमवेलायां बह्वायाससाध्यत्वाद् विविक्तस्वरूपस्य अननुभूतत्वात् च** विषम् इव **दुःखम् इव भवति,** परिणामे अमृतोपमं **परिणामे विपाके अभ्यासबलेन विविक्तात्मस्वरूपाविर्भावे अमृतोपमं भवति, तत् च** आत्मबुद्धिप्रसादजम्, **आत्मविषया बुद्धिः आत्मबुद्धिः, तस्याः निवृत्तसकलेतरविषयत्वं प्रसादः, निवृत्तसकलेतरविषयबुद्ध्या विविक्तस्वभावात्मानुभवजनितं सुखम् अमृतोपमं भवति;** तत् सुखं सात्त्विकं प्रोक्तम् ॥ ३७ ॥

जो सुख पहले—योगके आरम्भ-समयमें बहुत प्रयाससे प्राप्त होनेवाला है, इसलिये तथा प्रकृतिसंसर्गसे रहित आत्माका स्वरूप पहलेसे अनुभव किया हुआ नहीं है इसलिये विषके सदृश—दुःखके सदृश प्रतीत होता है, किन्तु परिणाममें—परिपक्व अवस्थामें जब अभ्यासके बलसे प्रकृतिसंसर्गरहित आत्मस्वरूप प्रकट हो जाता है तब अमृतके तुल्य हो जाता है। वह आत्मबुद्धिके प्रसादसे होनेवाला (सुख सात्त्विक कहा गया है।) आत्माको विषय करनेवाली बुद्धिका नाम आत्मबुद्धि है, उसका दूसरे सभी विषयोंसे निवृत्त हो जाना ही प्रसाद है। अन्य समस्त विषयोंसे निवृत्त हुई बुद्धिके द्वारा प्रकृतिसंसर्गरहित स्वभाववाले आत्मस्वरूपके अनुभवसे उत्पन्न सुख अमृततुल्य होता है, वह सुख सात्त्विक कहा गया है ॥ ३७ ॥

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥ ३८ ॥

इन्द्रियों और विषयोंके संयोगसे उत्पन्न वह सुख जो कि पहले अमृततुल्य और परिणाममें विषके सदृश होता है, वह राजस कहलाता है ॥ ३८ ॥

अग्रे **अनुभववेलायां** विषयेन्द्रियसंयोगाद् यत् तद् **अमृतम् इव भवति,** परिणामे **विपाके विषयाणां सुखतानिमित्तक्षुधादौ निवृत्ते तस्य च सुखस्य निरयादिनिमित्तत्वाद्** विषम् इव **पीतं भवति,** तत् सुखं राजसं स्मृतम् ॥ ३८ ॥

जो सुख विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे होता है वह पहले—भोगानुभवके समय अमृततुल्य होता है, परन्तु परिणाममें—परिपक्व अवस्थामें विषयोंकी सुखरूपताके कारणभूत क्षुधा आदिकी निवृत्ति हो जानेपर वह इस लोकमें भी दुःखरूप है और नरकका हेतु होनेसे (परलोकमें भी दुःखदायक है; अतः) उसका भोग करना विषपान करनेके समान होता है, ऐसा वह सुख राजस कहा गया है ॥ ३८ ॥

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥

जो सुख पहले एवं परिणाममें भी आत्माको मोहित करनेवाला है तथा निद्रा, आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न होता है, वह तामस कहा गया है ॥ ३९ ॥

यत् सुखम् अग्रे च अनुबन्धे च **अनुभववेलायां विपाके च** आत्मनो मोहनं **मोहहेतुः भवति मोहः अत्र यथावस्थितवस्त्वप्रकाशः अभिप्रेतः।** निद्रालस्यप्रमादोत्थं **निद्रालस्यप्रमाद-**

जो सुख पहले और पीछे—भोगकालमें और परिणाममें भी आत्माको मोहित करनेवाला होता है तथा जो निद्रा, आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न होता है वह सुख तामस कहा गया है। क्योंकि यहाँ वस्तुके यथार्थ स्वरूपको न समझनेका नाम मोह है। और निद्रा आदि

जनितम्; निद्रादयो हि अनुभववेलायाम् अपि मोहहेतवः ।

निद्राया मोहहेतुत्वं स्पष्टम्; आलस्यम् इन्द्रियव्यापारमान्द्यम्; इन्द्रियव्यापारमान्द्ये च ज्ञानमान्द्यं भवति एव; प्रमादः कृत्यानवधानरूप इति तत्र अपि ज्ञानमान्द्यं भवति; ततः च तयोः अपि मोहहेतुत्वम्; तत् सुखं तामसम् उदाहृतम्; अतो मुमुक्षुणा रजस्तमसी अभिभूय सत्त्वम् एव उपादेयम् इति उक्तं भवति ॥ ३९ ॥

भोगकालमें भी मोहकारक होते हैं । (इस कारण निद्रा, आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न सुख तामस है ।

निद्रा मोहका कारण है यह तो स्पष्ट ही है । इन्द्रियव्यापारकी मन्दताका नाम आलस्य है । इन्द्रियव्यापारकी मन्दतासे ज्ञानकी मन्दता हो ही जाती है । कर्तव्यमें असावधानीका नाम प्रमाद है, उसमें भी ज्ञानकी मन्दता होती है इसलिये आलस्य और प्रमाद—ये दोनों भी मोहके कारण हैं । अतः निद्रा, आलस्य और प्रमादजनित सुखको तामस कहा गया है । इस कारण कहनेका अभिप्राय यह है कि मुमुक्षु पुरुषोंके लिये रज और तमको दबाकर सत्त्वगुणका संग्रह करना उचित है ॥ ३९ ॥

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥ ४० ॥

पृथिवीके (मनुष्योंमें) या द्युलोकके भीतर देवताओंमें ऐसा कोई प्राणी नहीं है जो प्रकृतिसे उत्पन्न इन तीनों गुणोंसे छूटा हुआ हो ॥ ४० ॥

पृथिव्यां मनुष्यादिषु दिवि देवेषु वा प्रकृतिसंसृष्टेषु ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु प्रकृतिजैः एभिः त्रिभिः गुणैः मुक्तं यत् सत्त्वं प्राणिजातं न तद् अस्ति ॥४०॥

पृथिवीलोकके अंदर मनुष्य आदिमें अथवा देवलोकके अंदर देवताओंमें ब्रह्मासे लेकर स्थावरपर्यन्त प्रकृतिसंसर्गसे युक्त प्राणियोंमें ऐसा कोई भी प्राणी नहीं है, जो प्रकृतिजनित इन तीनों गुणोंसे छूटा हुआ हो ॥ ४० ॥

'त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः' (महाना० ८।१४) इत्यादिषु मोक्षसाधनतया निर्दिष्टः त्यागः संन्यासशब्दार्थाद् अनन्यः, स च क्रियमाणेषु एव कर्मसु कर्तृत्वत्यागमूलः; फलकर्मणोः त्यागः कर्तृत्वत्यागः च परमपुरुषे कर्तृत्वानुसन्धानेन इति उक्तम्। एतत् सर्वं सत्त्वगुणवृद्धिकार्यम् इति सत्त्वोपादेयताज्ञापनाय सत्त्वरजस्तमसां कार्यभेदाः प्रपञ्चिताः; इदानीम् एवंभूतस्य मोक्षसाधनतया क्रियमाणस्य कर्मणः परमपुरुषाराधनवेषताम्, तथा अनुष्ठितस्य च कर्मणः तत्प्राप्तिलक्षणं फलं प्रतिपादयितुं ब्राह्मणाद्यधिकारिणां स्वभावानुबन्धिसत्त्वादिगुणभेदभिन्नं वृत्त्या सह कर्तव्यकर्मस्वरूपम् आह—

'कुछ लोग केवल त्यागसे ही अमृतत्वको प्राप्त हुए' इत्यादि श्रुतियोंमें मोक्षके साधनरूपमें बतलाया हुआ त्याग जो कि संन्यास शब्दके अर्थसे अभिन्न है, वह किये जानेवाले कर्मोंमें कर्तापनके त्यागसे ही सिद्ध होता है, तथा कर्मका, उसके फलका और कर्तापनका त्याग परम पुरुष परमेश्वरको कर्ता माननेसे होता है। यह बात पहले कही गयी। ये सब सत्त्वगुणकी वृद्धिके कार्य हैं, अतः सत्त्वगुणकी उपादेयता सूचित करनेके लिये सत्त्व, रज और तमोगुणके कार्यभेद भी विस्तारपूर्वक बतलाये गये। इस प्रकार मोक्षसाधनके रूपमें किये हुए कर्म परम पुरुषकी आराधना ही हैं और ऐसे कर्मोंका फल उस परमपुरुषकी प्राप्ति है; यह बात सिद्ध करनेके लिये अब ब्राह्मणादि अधिकारियोंके स्वाभाविक, सत्त्वादि गुणोंके भेदसे विभक्त कर्तव्यकर्मोंका स्वरूप वृत्तियोंसहित बतलाते हैं—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥ ४१ ॥

अर्जुन! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंके कर्म (उनके अपने-अपने) स्वभावसे उत्पन्न हुए गुणोंसे पृथक्-पृथक् विभाग किये हुए हैं ॥ ४१ ॥

ब्राह्मणक्षत्रियविशां **स्वकीयो भावः स्वभावः;** ब्राह्मणादिजन्महेतुभूतं

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंका जो अपना भाव है, उसका नाम स्वभाव है यानी ब्राह्मणादि योनिमें जन्म होनेके

प्राचीनंकर्म इत्यर्थः। तत्प्रभवाः सत्त्वादयो गुणाः; ब्राह्मणस्य स्वभावप्रभवो रजस्तमोऽभिभवेन उद्भूतः सत्त्वगुणः, क्षत्रियस्य स्वभावप्रभवः सत्त्वतमसोः अभिभवेन उद्भूतो रजोगुणः, वैश्यस्य स्वभावप्रभवः सत्त्वरजोऽभिभवेन अल्पोद्रिक्तः तमोगुणः, शूद्रस्य स्वभावप्रभवः तु रजःसत्त्वाभिभवेन अत्युद्रिक्तः तमोगुणः । एभिः स्वभावप्रभवैः गुणैः सह प्रविभक्तानि कर्माणि शास्त्रैः प्रतिपादितानि। ब्राह्मणादय एवंगुणकाः तेषां च तानि कर्माणि वृत्तयः च एता इति हि विभज्य प्रतिपादयन्ति शास्त्राणि ॥ ४१ ॥

कारणरूप प्राचीन कर्मका नाम स्वभाव है। उससे सत्त्वादि गुण उत्पन्न होते हैं। ब्राह्मणके स्वभावसे रज, तमको दबाकर बढ़ा हुआ सत्त्वगुण उत्पन्न होता है । क्षत्रियके स्वभावसे सत्त्व, तमको दबाकर बढ़ा हुआ रजोगुण उत्पन्न होता है । वैश्यके स्वभावसे सत्त्व और रजको दबाकर थोड़ा बढ़ा हुआ तमोगुण उत्पन्न होता है। शूद्रके स्वभावसे सत्त्व और रजको दबाकर खूब बढ़ा हुआ तमोगुण उत्पन्न होता है। इन स्वभावजनित गुणोंके सहित विभाग किये हुए कर्म शास्त्रोंके द्वारा प्रतिपादित हैं। अर्थात् ब्राह्मण आदि ऐसे गुणोंवाले होते हैं, उनके अमुक-अमुक कर्म होते हैं और अमुक वृत्तियाँ होती हैं। इस प्रकार शास्त्र उनका (पृथक्-पृथक्) विभाग करके प्रतिपादन करते हैं ॥४१॥

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥ ४२ ॥

शम, दम, तप, शौच, क्षमा, आर्जव, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिकता (ये सब) ब्राह्मणके स्वभावज कर्म हैं ॥ ४२ ॥

शमः बाह्येन्द्रियनियमनम् । दमः अन्तःकरणनियमनम् । तपः भोगनियमनरूपः शास्त्रसिद्धः कायक्लेशः ।

बाहरी इन्द्रियोंके नियमनका नाम 'शम' है । अन्तःकरणके नियमनका नाम 'दम' है । भोगोंके नियमनरूप शास्त्रसिद्ध शारीरिक क्लेशका नाम 'तप

शौचं **शास्त्रीयकर्मयोग्यता** । क्षान्तिः **परैः पीड्यमानस्य अपि अविकृतचित्तता** । आर्जवं **परेषु मनोऽनुरूपं बाह्यचेष्टाप्रकाशनम्** । ज्ञानं **परावरतत्त्वयाथात्म्यज्ञानम्** । विज्ञानं **परतत्त्वगतासाधारणविशेषविषयं ज्ञानम्** । आस्तिक्यं **वैदिकार्थस्य कृत्स्नस्य सत्यतानिश्चयः प्रकृष्टः, केनापि हेतुना चालयितुमशक्य इत्यर्थः** ।

भगवान् पुरुषोत्तमो वासुदेवः परब्रह्मशब्दाभिधेयो निरस्तनिखिलदोषगन्धः स्वाभाविकानवधिकातिशयज्ञानशक्त्याद्यसंख्येयकल्याणगुणगणो निखिलवेदवेदान्तवेद्यः स एव निखिलजगदेककारणं निखिलजगदाधारभूतो निखिलस्य स एव प्रवर्तयिता, तदाराधनभूतं च कृत्स्नं वैदिकं कर्म, तैः तैः आराधितो धर्मार्थकाममोक्षाख्यं फलं प्रयच्छति,

है । शास्त्रीय कर्मसम्पादनकी योग्यताका नाम 'शौच' है । दूसरोंके द्वारा पीड़ित होनेपर भी चित्तमें विकार न होनेका नाम 'क्षमा' है । दूसरोंके सामने मनके अनुरूप ही बाहरी चेष्टा प्रकट करनेका नाम 'आर्जव' है । इस लोक और परलोकके यथार्थ स्वरूपको समझ लेनेका नाम 'ज्ञान' है । परमतत्त्वके विषयमें असाधारण विशेष ज्ञानका नाम 'विज्ञान' है । सम्पूर्ण वैदिक सिद्धान्तकी सत्यताके उत्तम निश्चयका नाम आस्तिकता है । अर्थात् वह निश्चय, जो किसी भी हेतुसे हिल न सके, ('आस्तिकता' कहलाता है) ।

अभिप्राय यह है कि जो परब्रह्म शब्दका वाच्य है, जो सम्पूर्ण दोषोंके गन्धमात्रसे सर्वथा रहित है, जो स्वाभाविक सीमारहित, निरतिशय ज्ञानशक्ति आदि असंख्य कल्याणमय गुणगणोंसे युक्त है, और जो समस्त वेद-वेदान्तके द्वारा जाननेयोग्य है, वही भगवान् पुरुषोत्तम वासुदेव समस्त जगत्का एकमात्र कारण है, वही सम्पूर्ण जगत्का आधार है और वही सम्पूर्ण जगत्का प्रवर्तक है । समस्त वैदिक कर्म उसीकी आराधना हैं । उन कर्मोंके द्वारा आराधित भगवान् धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप फल प्रदान करते हैं । इस सिद्धान्तार्थकी

इति अस्य अर्थस्य सत्यतानिश्चयः आस्तिक्यम् । 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः ।' (१५ । १५) 'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।' (१० । ८) 'मयि सर्वमिदं प्रोतम् ।' (७ । ७) 'भोक्तारं यज्ञतपसां·······ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥' (५ । २९) 'मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय ।' (७ । ७) 'यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् । स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥' (१८ । ४६) 'यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।' (१० । ३) इति ह्युच्यते ।

तद् एतद् ब्राह्मणस्य स्वभावजं कर्म ॥ ४२ ॥

सत्यताके निश्चयका नाम आस्तिकता है । यही बात 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' 'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।' 'मयि सर्वमिदं प्रोतम्', 'भोक्तारं यज्ञतपसां·····ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥', 'मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय', 'यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् । स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥' 'यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।' इत्यादि श्लोकोंमें कही है ।

ये सब उपर्युक्त कर्म ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म हैं ॥ ४२ ॥

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥ ४३ ॥

शौर्य, तेज, धृति, दक्षता, युद्धसे न भागना, दान और ईश्वरभाव (ये सब) क्षत्रियके स्वभावज कर्म हैं ॥ ४३ ॥

शौर्यं युद्धे निर्भयप्रवेशसामर्थ्यम् । तेजः परैः अनभिभवनीयता । धृतिः आरब्धे कर्मणि विघ्नोपनिपाते अपि तत्समापनसामर्थ्यम् । दाक्ष्यं सर्वक्रियानिर्वृत्तिसामर्थ्यम् । युद्धे च अपि अपलायनं युद्धे च आत्ममरणनिश्चये

युद्धमें निर्भयताके साथ प्रवेश करनेके सामर्थ्यका नाम 'शौर्य' है । दूसरेसे न दबनेका नाम 'तेज' है । आरम्भ किये हुए कर्ममें विघ्न उपस्थित होनेपर भी उसे पूर्ण करनेके सामर्थ्यका नाम 'धृति' है । समस्त क्रियाओंके सम्पादन करनेके सामर्थ्यका नाम 'दक्षता' है । ये सब, और युद्धमें न भागनेका स्वभाव यानी अपनी मृत्युका निश्चय होनेपर

अपि अनिवर्तनम्, दानम् आत्मीयस्य द्रव्यस्य परस्वत्वापादानपर्यन्तः त्यागः, ईश्वरभावः स्वव्यतिरिक्त-सकलजननियमनसामर्थ्यम्, एतत् क्षत्रियस्य स्वभावजं कर्म ॥ ४३ ॥

भी युद्धसे पीठ न दिखानेका स्वभाव, तथा दान—अपने द्रव्यको दूसरेकी सम्पत्ति बना देने तकका त्याग और ईश्वर-भाव—अपनेसे अतिरिक्त समस्त जन-समुदायको नियमन करनेका सामर्थ्य, ये सब क्षत्रियके स्वाभाविक कर्म हैं ॥ ४३ ॥

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥ ४४ ॥

कृषि (खेती), गोरक्षा और व्यापार—ये वैश्यके स्वभावज कर्म हैं । सेवारूप कर्म शूद्रका भी स्वभावज है ॥ ४४ ॥

कृषिः सस्योत्पादनकर्षणम् । गोरक्ष्यं पशुपालनम् इत्यर्थः । वाणिज्यं धन-संचयहेतुभूतं क्रयविक्रयात्मकं कर्म । एतद् वैश्यस्य स्वभावजं कर्म । पूर्ववर्ण-त्रयपरिचर्यारूपं शूद्रस्य स्वभावजं कर्म ।

तद् एतत् चतुर्णां वर्णानां वृत्तिभिः सह कर्तव्यानां शास्त्रविहितानां यज्ञादिकर्मणां प्रदर्शनार्थम् उक्तम् । यज्ञादयो हि त्रयाणां वर्णानां साधारणाः, शमदमादयः अपि त्रयाणां वर्णानां मुमुक्षूणां साधारणाः । ब्राह्मणस्य तु सत्त्वोद्रेकस्य स्वाभावि-

अन्नादि उत्पन्न करनेके लिये पृथिवीको कर्षण करनेका नाम 'कृषि' है । पशुपालनका नाम 'गोरक्षा' है और धनसञ्चयके हेतुभूत क्रय-विक्रयादिरूप कर्मका नाम वाणिज्य है । ये तीनों वैश्यके स्वाभाविक कर्म हैं । और पूर्वोक्त तीनों वर्णोंकी सेवा करना—यह शूद्रका स्वाभाविक कर्म है ।

चारों वर्णोंकी वृत्ति (जीविका) सहित उनके शास्त्रविहित यज्ञादि कर्तव्यकर्मोंका प्रदर्शन करनेके लिये यह ऊपरवाला वर्णन किया गया है । क्योंकि यज्ञादि कर्म तीनों वर्णोंके लिये समान हैं । और शम-दमादि भी मोक्षकी इच्छा-वाले तीनों वर्णोंके लिये समान हैं । ब्राह्मणमें सत्त्वगुणका उद्रेक स्वाभाविक

कत्वेन शमदमादयः सुखोपादानाः इति कृत्वा तस्य शमदमादयः स्वभावजं कर्म इति उक्तम् । क्षत्रियवैश्ययोः तु स्वतो रजस्तमःप्रधानत्वेन शमदमादयो दुःखोपादानाः इति कृत्वा न तत्कर्म इति उक्तम् । ब्राह्मणस्य तु वृत्तिः याजनाध्यापनप्रतिग्रहाः । क्षत्रियस्य जनपदपरिपालनम् । वैश्यस्य कृष्यादयो यथोक्ताः । शूद्रस्य तु कर्तव्यं वृत्तिः च पूर्ववर्णत्रयपरिचर्या एव ॥ ४४ ॥

होता है, अतः उसके लिये शम-दमादि-सुखसाध्य हैं; यह विचारकर शम-दमादिको उसके स्वभावज कर्म बतलाया गया है । क्षत्रिय और वैश्यमें स्वभावसे रज और तमोगुणकी प्रधानता होनेके कारण उनके लिये शम-दमादि कष्ट-साध्य हैं, यह विचारकर शम-दमादिको उनके स्वभावज कर्म नहीं बतलाया गया । ब्राह्मणकी वृत्ति यज्ञ करवाना, विद्या पढ़ाना और प्रतिग्रह स्वीकार करना, क्षत्रियकी वृत्ति जनपद (राष्ट्र) का पालन करना और वैश्यकी वृत्ति उपर्युक्त कृषि आदि है । तथा शूद्रका कर्तव्य और वृत्ति दोनों ही पूर्वोक्त तीनों वर्णोंकी सेवा करनामात्र है ॥ ४४ ॥

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥ ४५ ॥

अपने-अपने कर्ममें लगा हुआ मनुष्य संसिद्धिको पाता है । किन्तु अपने कर्ममें लगा हुआ मनुष्य जिस प्रकार सिद्धिको पाता है वह तू (मुझसे) सुन ॥ ४५ ॥

स्वे स्वे **यथोदिते** कर्मणि अभिरतो नरः संसिद्धिं **परमपदप्राप्तिं** लभते । स्वकर्मनिरतो यथा सिद्धिं विन्दति **परमं पदं प्राप्नोति तथा** शृणु ॥ ४५ ॥

जैसे बतलाया गया है, वैसे अपने-अपने कर्ममें लगा हुआ मनुष्य परमपद-की प्राप्तिरूप संसिद्धिको पाता है । अपने कर्ममें लगा हुआ पुरुष जिस प्रकार सिद्धि पाता है — परमपदको प्राप्त करता है, वह प्रकार तू मुझसे सुन ॥ ४५ ॥

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥ ४६ ॥

जिससे प्राणियोंकी प्रवृत्ति हुई है, और जिससे यह सब (जगत्) व्याप्त है, उसको अपने कर्मोंसे पूजकर मनुष्य सिद्धिको पाता है ॥ ४६ ॥

यतो भूतानाम् **उत्पत्त्यादिका** प्रवृत्तिः, येन **च** सर्वम् इदं ततं स्वकर्मणा तं **माम् इन्द्राद्यन्तरात्मतयावस्थितम्** अभ्यर्च्य **मत्प्रसादात् मत्प्राप्तिरूपां** सिद्धिं विन्दति मानवः ।

जिससे प्राणियोंकी उत्पत्ति आदि प्रवृत्तियाँ होती हैं और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस इन्द्रादिके अन्तरात्मारूपसे स्थित मुझ परमेश्वरको अपने कर्मोंके द्वारा पूजकर मनुष्य मेरे प्रसादसे मेरी प्राप्तिरूप सिद्धिको पाता है ।

मत्त एव सर्वम् उत्पद्यते, मया च सर्वम् इदम् ततम् इति पूर्वम् एव उक्तम्—*'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय ।'* (७ । ६-७) *'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।'* (९ । ४) *'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ॥'* (९ । १०) *'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।'* (१० । ८) **इत्यादिषु** ॥४६॥

सब मुझसे ही उत्पन्न होते हैं और यह सब मुझसे ही व्याप्त है । यह बात पहले ही **'अहंकृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनंजय ।' 'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना' 'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्' अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।'** इत्यादि श्लोकोंमें कह चुके हैं ॥ ४६ ॥

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ ४७ ॥

अपना धर्म विगुण (होनेपर भी) भलीभाँति अनुष्ठान किये हुए परधर्मसे श्रेष्ठ है, क्योंकि स्वभावनियत कर्म करता हुआ मनुष्य पापको नहीं प्राप्त होता ॥४७॥

एवं त्यक्तकर्तृत्वादिको मदाराधनरूपः स्वधर्मः स्वेन एव उपादातुं

इस प्रकार कर्तापन आदिके त्यागपूर्वक होनेवाला मेरा आराधनरूप कर्म

योग्यो धर्मः । प्रकृतिसंसृष्टेन हि पुरुषेण इन्द्रियव्यापाररूपः कर्मयोगात्मको धर्मः सुकरो भवति । अतः कर्मयोगाख्यः स्वधर्मो विगुणः अपि परधर्माद् इन्द्रियजयनिपुणपुरुषधर्माद् ज्ञानयोगात् सकलेन्द्रियनियमनरूपतया सप्रमादात् कदाचित् स्वनुष्ठितात् श्रेयान् ।

स्वधर्म है—अपने आप ही किये जानेयोग्य होनेसे धर्म है । प्रकृतिसंसर्गयुक्त पुरुषके द्वारा उस इन्द्रियव्यापाररूप कर्मयोगात्मक धर्मका सम्पादन सुगमतासे हो सकता है । इसलिये कर्मयोग नामक स्वधर्म विगुण होनेपर भी परधर्मकी अपेक्षा यानी इन्द्रियविजय करनेमें निपुण पुरुषका धर्मरूप ज्ञानयोग, जिसके सम्पादनमें सम्पूर्ण इन्द्रियोंको वशमें करनेकी कठिनता होनेके कारण प्रमादकी आशङ्का बनी है, इसलिये उसका भलीभाँति अनुष्ठान कदाचित् ही सम्भव है, उस (ज्ञानयोगरूप परधर्म) की अपेक्षा श्रेष्ठ है ।

तद् एव उपपादयति—प्रकृतिसंसृष्टस्य पुरुषस्य इन्द्रियव्यापाररूपतया स्वभावत एव नियतत्वात् कर्मणः कर्म कुर्वन् किल्बिषं संसारं न आप्नोति अप्रमादत्वात् कर्मणः । ज्ञानयोगस्य सकलेन्द्रियनियमनसाध्यतया सप्रमादत्वात् । तन्निष्ठः तु प्रमादात् किल्बिषं प्रतिपद्येत अपि; अतः कर्मनिष्ठा एव ज्यायसी इति तृतीयाध्यायोक्तं स्मारयति ॥४७॥

इसी बातको सिद्ध करते हैं—सभी कर्म इन्द्रिय-व्यापाररूप हैं, इस कारण प्रकृतिसे संसर्गयुक्त पुरुषके लिये ये स्वभावसे ही नियत हैं । इसलिये मनुष्य कर्म करता हुआ पापको—संसारको नहीं प्राप्त होता; क्योंकि कर्ममें प्रमाद नहीं है । ज्ञानयोग सारी इन्द्रियोंको वशमें करनेसे सिद्ध होता है, इसलिये वह प्रमादयुक्त है (उसमें प्रमाद होनेकी आशङ्का है) । अतएव उसमें निष्ठा रखनेवाला कभी प्रमादसे किल्बिष (संसार) को भी प्राप्त हो सकता है । इससे 'कर्मनिष्ठा ही उत्तम' है, तीसरे अध्यायमें कही हुई यह बात याद दिलाते हैं ॥ ४७ ॥

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥ ४८ ॥

अर्जुन ! स्वाभाविक कर्म सदोष (हो तो) भी (उसका) त्याग नहीं करना चाहिये ! क्योंकि धूएँसे अग्निकी भाँति सभी कर्म दोषसे आवृत हैं ॥ ४८ ॥

अतः सहजत्वेन सुकरम् अप्रमादं च कर्म सदोषं **सदुःखम्** अपि न त्यजेत् । **ज्ञानयोगयोग्यः अपि कर्मयोगम् एव कुर्वीत इत्यर्थः ।** सर्वारम्भाः **कर्मारम्भा ज्ञानारम्भाः च** हि दोषेण **दुःखेन** धूमेन अग्निः इव आवृताः । **इयान् तु विशेषः कर्मयोगः सुकरः अप्रमादः च, ज्ञानयोगः तद्विपरीतः इति ॥ ४८ ॥**

इसलिये सहज होनेके कारण जो सुगम और प्रमादरहित है, ऐसे कर्मको यदि वह दोषयुक्त—दुःखयुक्त हो तो भी नहीं त्यागना चाहिये । अभिप्राय यह है कि ज्ञानयोगकी योग्यतावालेको भी कर्मयोग ही करना चाहिये; क्योंकि सभी आरम्भ—कर्मसम्बन्धी आरम्भ और ज्ञानसम्बन्धी आरम्भ धूएँसे अग्निकी भाँति दोषसे—दुःखसे आवृत हैं । यह भेद है कि कर्मयोग सुगम तथा प्रमादरहित है और ज्ञानयोग इसके विपरीत है ॥ ४८ ॥

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥ ४९ ॥

सर्वत्र असक्तबुद्धि, जितात्मा और विगतस्पृह पुरुष संन्याससे युक्त होकर परम नैष्कर्म्य-सिद्धिको प्राप्त होता है ॥ ४९ ॥

सर्वत्र **फलादिषु** असक्तबुद्धिः जितात्मा **जितमनाः परमपुरुषकर्तृत्वानुसन्धानेन आत्मकर्तृत्वे** विगतस्पृहः **एवं त्यागात् अनन्यत्वेन निर्णीतेन** संन्यासेन **युक्तः कर्म कुर्वन्** परमां नैष्कर्म्यसिद्धिम् अधिगच्छति ।

जिसकी बुद्धि सर्वत्र—फल आदिमें आसक्त नहीं है, जो जितात्मा है—मनको जीत चुका है और जो परम पुरुषको कर्ता समझनेके कारण अपने कर्तृत्वसे निःस्पृह हो चुका है, ऐसा पुरुष इस प्रकार त्यागसे अभिन्न निश्चित किये हुए संन्याससे युक्त होकर कर्म करता हुआ 'परम नैष्कर्म्यसिद्धि'

परमां ध्याननिष्ठां ज्ञानयोगस्य अपि फलभूताम् अधिगच्छति इत्यर्थः। वक्ष्यमाणध्यानयोगावाप्तिं सर्वेन्द्रिय-कर्मोपरतिरूपाम् अधिगच्छति ।४९।

को पा जाता है। यानी ज्ञानयोगकी भी फलरूपा परम ध्याननिष्ठाको प्राप्त हो जाता है। अभिप्राय यह है कि आगे कही जानेवाली जो इन्द्रियसम्बन्धी समस्त कर्मोंकी उपरामतारूप ध्यानयोगकी प्राप्ति है, उसको पा जाता है॥ ४९॥

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥५०॥

(उस) सिद्धिको प्राप्त हुआ पुरुष जिस प्रकार ब्रह्मको प्राप्त होता है, जो ज्ञानकी परा निष्ठा है, कुन्तीपुत्र ! वह प्रकार (तू) संक्षेपमें मुझसे समझ ॥५०॥

सिद्धिं प्राप्तः **आप्रयाणाद् अहरहः अनुष्ठीयमानकर्मयोगनिष्पाद्यध्यान-सिद्धिं प्राप्तो** यथा **येन प्रकारेण वर्तमानो** ब्रह्म **प्राप्नोति** तथा समासेन मे निबोध। **तद् एव ब्रह्म विशिष्यते** निष्ठा ज्ञानस्य या परा **इति। ज्ञानस्य ध्यानात्मकस्य या परा निष्ठा परं प्राप्यम् इत्यर्थः** ॥ ५० ॥

सिद्धिको प्राप्त हुआ—मरणकाल-पर्यन्त नित्यप्रति किये हुए कर्मयोगकी फलरूपा ध्यानसिद्धिको प्राप्त पुरुष जिस प्रकारसे बर्तता हुआ ब्रह्मको प्राप्त होता है; वह तू मुझसे संक्षेपमें समझ। जो ज्ञानकी परानिष्ठा है, इस वाक्यसे वह ब्रह्म ही विशेष रूपसे बताया जाता है। अभिप्राय यह है कि जो ध्यानरूप ज्ञानकी परानिष्ठा—परम प्राप्य वस्तु है, उसको तू जान ॥ ५० ॥

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥५१॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥५२॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ५३ ॥

विशुद्ध बुद्धिसे युक्त हो, धृतिसे मनको वशमें करके, शब्दादि विषयोंको त्यागकर, रागद्वेषको नष्ट करके, एकान्तसेवी, अल्पाहारी, तन-मन-वचनको वशमें करनेवाला होकर, नित्य ध्यानयोगपरायण, वैराग्यका भलीभाँति आश्रय किये हुए, अहङ्कार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रहको छोड़कर और ममतासे रहित होकर, शान्त पुरुष ब्रह्मभावका पात्र होता है ॥ ५१-५३ ॥

बुद्ध्या विशुद्धया **यथावस्थितात्मतत्त्वविषयया** युक्तः, धृत्या आत्मानं नियम्य च **विषयविमुखीकरणेन योगयोग्यं मनः कृत्वा**, शब्दादीन् विषयान् त्यक्त्वा **असन्निहितान् कृत्वा, तन्निमित्तौ** च रागद्वेषौ व्युदस्य, विविक्तसेवी **सर्वैः ध्यानविरोधिभिः विविक्ते देशे वर्तमानः**; लघ्वाशी **अत्यशनानशनरहितः**, यतवाक्कायमानसः **ध्यानाभिमुखीकृतकायवाङ्मनोवृत्तिः**, ध्यानयोगपरो नित्यम् **एवंभूतः सन् आप्रयाणाद् अहरहः ध्यानयोगपरः**, वैराग्यं समुपाश्रितः **ध्येयतत्त्वव्यतिरिक्तविषयदोषावमर्शेन तत्र विरागतां वर्धयन्** अहंकारम्, **अनात्मनि आत्माभिमानं** बलं तद्वि-

विशुद्ध बुद्धिसे—यथार्थ आत्मतत्त्वको विषय करनेवाली बुद्धिसे युक्त होकर, धृतिके द्वारा आत्माको वशमें करके यानी विषयोंसे विमुख करनेके अभ्याससे मनको योगके योग्य बनाकर, शब्दादि विषयोंको त्यागकर—उन्हें दूर हटाकर, उनके निमित्तसे होनेवाले राग-द्वेषोंका नाश करके, ध्यानके विरोधी समस्त विघ्नोंसे रहित एकान्त देशमें रहता हुआ, लघु आहार करते हुए यानी बहुत खाने और सर्वथा न खानेके दोषसे रहित होकर, मन-वाणी और शरीरको जीतकर यानी तन-मन-वचन तीनोंकी वृत्तियोंको ध्यानाभिमुखी करके, इस प्रकार मृत्युकालपर्यन्त नित्यप्रति ध्यानयोगके परायण होकर, वैराग्यका पूर्णतया आश्रय लेकर यानी ध्येय तत्त्वके अतिरिक्त विषयोंमें दोषदर्शनके अभ्याससे उन-उनमें वैराग्यको बढ़ाता हुआ; अनात्मामें आत्माभिमानरूप

वृद्धिहेतुभूतं वासनाबलं तन्निमित्तं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहं विमुच्य, निर्ममः **सर्वेषु अनात्मीयेषु आत्मीयबुद्धिरहितः** शान्तः **आत्मानुभवैकसुखः, एवंभूतो ध्यानयोगं कुर्वन्** ब्रह्मभूयाय कल्पते **ब्रह्मभावाय कल्पते सर्वबन्धविनिर्मुक्तो यथावस्थितम् आत्मानम् अनुभवति इत्यर्थः ॥ ५१-५३ ॥**

अहंकारको, उसकी वृद्धिमें कारणरूप वासना-बलको और उसके कार्यरूप दर्प, काम, क्रोध एवं परिग्रहको छोड़कर, ममतारहित होकर—यानी सम्पूर्ण अनात्मवस्तुओंमें आत्मीयबुद्धिको त्यागकर, शान्त—एकमात्र आत्मानुभवमें ही सुखी हुआ—इस प्रकार ध्यानयोग करनेवाला पुरुष ब्रह्मभावका पात्र होता है अर्थात् समस्त बन्धनोंसे मुक्त होकर यथार्थ आत्मस्वरूपका अनुभव करता है ॥ ५१—५३ ॥

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥५४॥

ब्रह्मभूत प्रसन्नात्मा पुरुष न शोक करता है और न आकांक्षा करता है । सब भूतोंमें सम हुआ वह मेरी पराभक्तिको प्राप्त होता है ॥ ५४ ॥

ब्रह्मभूतः **आविर्भूतापरिच्छिन्नज्ञानैकाकारमच्छेषतैकस्वभावात्मस्वरूपः।** *'इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।'* (७ । ५) **इति हि स्वशेषता उक्ता ।**

अपरिच्छिन्न एकमात्र ज्ञानस्वरूपसे आविर्भूत और स्वाभाविक ही एकमात्र मेरा शेषभूत (मैं ही जिसका स्वामी हूँ), ऐसा आत्मा जिसका स्वरूप है, उसे 'ब्रह्मभूत' कहते हैं । **'इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।'** इस श्लोकमें भगवान्‌ने आत्माको अपना शेष (अधीन रहनेवाला) बतलाया है ।

प्रसन्नात्मा **क्लेशकर्मादिभिः अकलुषस्वरूपो मद्व्यतिरिक्तं** न **कंचन भूतविशेषं प्रति** शोचति न **कंचन**

ऐसा ब्रह्मभूत प्रसन्नात्मा पुरुष — क्लेशकर्मादि दोषोंसे निर्लिप्तस्वरूप पुरुष, मेरे अतिरिक्त किसी भी भूतविशेषके लिये न तो शोक करता है और न किसी-

काङ्क्षति; **अपि तु मद्व्यतिरिक्तेषु** सर्वेषु भूतेषु **अनादरणीयतायां समो** **निखिलं वस्तुजातं तृणवत् मन्यमानो** मद्भक्तिं लभते पराम्।

मयि सर्वेश्वरे निखिलजगदुद्भवस्थितिप्रलयलीले निरस्तसमस्तहेयगन्धे अनवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणगणैकताने लावण्यामृतसागरे श्रीमति पुण्डरीकनयने स्वस्वामिनि अत्यर्थप्रियानुभवरूपां परां भक्तिं लभते ॥ ५४ ॥

की आकांक्षा करता है, प्रत्युत मेरे अतिरिक्त समस्त भूतोंमें अनादर भावसे सम हुआ यानी सम्पूर्ण वस्तुमात्रको तृणवत् समझता हुआ वह मेरी पराभक्तिको प्राप्त कर लेता है।

अभिप्राय यह है कि मैं जो सबका ईश्वर, अखिल जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयरूप लीला करनेवाला, समस्त हेय अवगुणोंकी गन्धसे भी सर्वथा रहित, अपार अतिशय असंख्य कल्याणमय गुणगणोंका एकमात्र आश्रय, लावण्यसुधा-समुद्र, श्रीसम्पन्न, कमलदलके सदृश नेत्रोंवाला हूँ, ऐसे मुझ अपने स्वामीमें अत्यन्त प्रेमके अनुभवरूप परा भक्तिको पा जाता है ॥ ५४ ॥

तत्फलम् आह—

ऐसी भक्तिका फल बतलाते हैं—

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥ ५५ ॥

भक्तिके द्वारा वह मुझको, मैं जितना और जो हूँ, तत्त्वसे जान लेता है। तब मुझको तत्त्वसे जानकर उसके बाद वह (मुझमें ही) प्रवेश कर जाता है ॥ ५५ ॥

स्वरूपतः स्वभावतः च यः **अहं गुणतो विभूतितो** यावान् च **अहं तं** माम् **एवंरूपया** भक्त्या तत्त्वतो **विजानाति**। मां तत्त्वतो ज्ञात्वा तदनन्तरं **तत्त्वज्ञानानन्तरं** ततो **भक्तितो** मां विशते **प्रविशति**। **तत्त्वतः स्वरूप-**

स्वरूप और स्वभावसे मैं जो हूँ तथा गुण और विभूतिके कारण मैं जितना हूँ, ऐसे मुझ परमेश्वरको इस प्रकारकी परा भक्तिके द्वारा मनुष्य तत्त्वसे जान लेता है। मुझे तत्त्वसे जान लेनेके बाद—उस तत्त्वज्ञानके अनन्तर उस पराभक्तिसे मुझमें प्रवेश कर जाता है।

स्वभावगुणविभूतिदर्शनोत्तरकालभाविन्या अनवधिकातिशयभक्त्या मां प्राप्नोति इत्यर्थः। अत्र तत इति प्राप्तिहेतुतया निर्दिष्टा भक्तिः एव अभिधीयते। '*भक्त्या त्वनन्यया शक्यः*' (*११।५४*) **इति तस्या एव तत्त्वतः प्रवेशहेतुताभिधानात्॥ ५५॥**

अभिप्राय यह है कि स्वरूप, स्वभाव, गुण और विभूतिका तत्त्वतः साक्षात्कार करनेके बाद होनेवाली अपार अतिशय भक्तिसे मुझे प्राप्त होता है। यहाँ 'ततः' इस पदसे प्राप्तिके हेतुरूपसे निर्देश की हुई भक्तिका ही प्रतिपादन होता है; क्योंकि **'भक्त्या त्वनन्यया शक्यः'** इस श्लोकमें उस भक्तिको ही भगवान्‌में तत्त्वतः प्रवेश करानेमें हेतु बतलाया है॥ ५५॥

एवं वर्णाश्रमोचितनित्यनैमित्तिककर्मणां परित्यक्तफलादिकानां परमपुरुषाराधनरूपेण अनुष्ठितानां विपाक उक्तः। इदानीं काम्यानाम् अपि कर्मणाम् उक्तेन एव प्रकारेण अनुष्ठीयमानानां स एव विपाक इत्याह—

इस प्रकार फल तथा कर्तृत्वाभिमानका त्याग करके परमपुरुषकी आराधनाके रूपमें किये हुए वर्णाश्रमोचित नित्य-नैमित्तिक कर्मोंका फल बतलाया गया। अब यह बतलाते हैं कि उपर्युक्त प्रकारसे किये हुए काम्य कर्मोंका भी यही परिणाम होता है—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥ ५६॥

मेरा आश्रय ग्रहण करके पुरुष सब (काम्य) कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरे प्रसादसे शाश्वत और अव्यय पदको पा जाता है॥ ५६॥

न केवलं नित्यनैमित्तिककर्माणि अपि तु काम्यानि अपि **सर्वाणि** कर्माणि मद्व्यपाश्रयः **मयि संन्यस्तकर्तृत्वादिकः** कुर्वाणो मत्प्रसादात् शाश्वतं पदम् अव्ययम् **अविकलं**

मेरा आश्रय ग्रहण करके—कर्तृत्वादिका मुझमें भलीभाँति त्याग करके जो पुरुष केवल नित्य-नैमित्तिक कर्मोंको ही नहीं, किन्तु समस्त काम्य कर्मोंको भी करता हुआ मेरी कृपासे अविनाशी—अखण्ड शाश्वत पदको प्राप्त हो

प्राप्नोति। पद्यते गम्यते इति पदम् मां प्राप्नोति इत्यर्थः ॥ ५६ ॥

जाता है। जो प्राप्त किया जाय उसका नाम पद है। अभिप्राय यह है कि मुझे प्राप्त हो जाता है ॥ ५६ ॥

यस्माद् एवं तस्मात्—

ऐसा है, इसलिये—

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥ ५७ ॥

चित्तसे समस्त कर्मोंको मुझमें निक्षेप करके मेरे परायण हुआ तू बुद्धियोगका आश्रय लेकर निरन्तर मुझमें चित्तवाला हो ॥ ५७ ॥

चेतसा **आत्मनो मदीयत्वमन्नियाम्यत्वबुद्ध्या उक्तं हि** '*मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।*' (३ । ३०) **इति** सर्वकर्माणि **सकर्तृकाणि साराध्यानि** मयि संन्यस्य मत्परः **'अहम् एव फलतया प्राप्यः' इति अनुसंदधानः कर्माणि कुर्वन् इमम् एव** बुद्धियोगम् उपाश्रित्य सततं मच्चित्तो भव ॥ ५७ ॥

चित्तसे—'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे नियामक हैं,' इस बुद्धिसे **'मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।'** इस कथनके अनुसार कर्तापन एवं आराध्यके सहित समस्त कर्मोंका मुझमें भलीभाँति त्याग करके तथा मेरे परायण होकर यानी फलरूपसे 'मैं ही प्राप्त करनेयोग्य हूँ' इस प्रकार समझकर कर्म करता हुआ इसी बुद्धियोगका आश्रय लेकर निरन्तर मुझमें ही चित्त लगाये रहनेवाला हो ॥ ५७ ॥

एवम्—

इस प्रकार—

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥ ५८ ॥

मुझमें चित्तवाला हुआ तू मेरे प्रसादसे समस्त कठिनाइयोंसे तर जायगा। और यदि अहङ्कारसे तू न सुनेगा तो विनष्ट हो जायगा ॥ ५८ ॥

मच्चित्तः **सर्वकर्माणि कुर्वन् सर्वाणि सांसारिकाणि** दुर्गाणि मत्प्रसादाद् **एव**

मुझमें चित्तवाला होकर सर्व कर्म करता हुआ तू सम्पूर्ण सांसारिक कठिनाइयोंसे केवल मेरी कृपासे ही तर

तरिष्यसि । अथ त्वम् अहंकाराद् **अहम् एव कृत्याकृत्यविषयं सर्वं जानामि इति भावात् मदुक्तं** न श्रोष्यसि चेद् विनङ्क्ष्यसि **नष्टो भविष्यसि । न हि कश्चिद् मद्व्यतिरिक्तः कृत्स्नस्य प्राणिजातस्य कृत्याकृत्ययोः ज्ञाता शासिता वा अस्ति** ॥ ५८ ॥

जायगा । परन्तु यदि तू अहंकारसे यानी इस भावसे कि, मैं स्वयं ही समस्त कर्तव्य-अकर्तव्यको भलीभाँति जानता हूँ' मेरे कथनको नहीं सुनेगा तो नष्ट हो जायगा । मेरे सिवा ऐसा कोई भी नहीं है जो सम्पूर्ण प्राणिमात्रके कर्तव्य-अकर्तव्यको जानता हो और उनका शासन करता हो ॥ ५८ ॥

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥ ५९ ॥

जो अहङ्कारका आश्रय लेकर तू ऐसा मानता है कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा ।' तो यह तेरा निश्चय मिथ्या है । (तेरी) प्रकृति तुझे (युद्धमें) नियुक्त कर देगी ॥ ५९ ॥

यद् अहंकारम् **आत्मनि हिताहित-ज्ञाने स्वातन्त्र्याभिमानम्** आश्रित्य **मन्नियोगम् अनादृत्य** 'न योत्स्ये' इति मन्यसे एष ते **स्वातन्त्र्यव्यवसायो** मिथ्या **भविष्यति । यतः** प्रकृतिः त्वां **युद्धे** नियोक्ष्यति; **मत्स्वातन्त्र्योद्विग्नमनसं त्वाम् अज्ञं प्रकृतिः नियोक्ष्यति** ॥ ५९ ॥

जो तू अहङ्कारका आश्रय लेकर यानी अपने हिताहितके ज्ञानके सम्बन्धमें स्वतन्त्रताके अभिमानका आश्रय लेकर मेरी आज्ञाका अनादर करके यह मानता है कि (मैं) 'युद्ध नहीं करूँगा' यह तेरा स्वतन्त्रतासे किया हुआ निश्चय मिथ्या हो जायगा । क्योंकि प्रकृति तुझे युद्धमें लगा देगी । यानी मेरी स्वतन्त्रतासे उद्विग्नचित्त हुए तुझ अज्ञानीको प्रकृति बलपूर्वक युद्धमें लगा देगी ॥ ५९ ॥

तद् उपपादयति—

इसी बातको सिद्ध करते हैं—

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥ ६० ॥

कुन्तीपुत्र अर्जुन ! अपने स्वभावज कर्मसे बँधा हुआ तू यदि मोहसे युद्ध करना नहीं चाहेगा तो भी विवश हुआ उसे करेगा ॥ ६० ॥

स्वभावजं हि क्षत्रियस्य कर्म शौर्यं स्वभावजेन **शौर्याख्येन** स्वेन कर्मणा निबद्धः **तत एव** अवशः **परैः धर्षणम् असहमानः त्वम् एव** तद् **युद्धं** करिष्यसि; यद् **इदानीं** मोहाद् **अज्ञानात्** कर्तुं न इच्छसि ॥ ६० ॥

क्षत्रियका स्वाभाविक कर्म शौर्य है। उस स्वाभाविक शौर्यरूप अपने कर्मसे बँधा हुआ—उसीसे विवश हुआ दूसरोंके द्वारा किये जाते हुए अपमानको न सहकर तू स्वयं ही वह युद्ध करेगा, जिसको इस समय मोहसे—अज्ञानसे नहीं करना चाह रहा है ॥ ६० ॥

सर्वं हि भूतजातं सर्वेश्वरेण मया पूर्वकर्मानुगुण्येन प्रकृत्यनुवर्तने नियमितम्, तत् शृणु—

समस्त प्राणीमात्र मुझ सर्वेश्वरके द्वारा पूर्वकर्मोंके अनुसार प्रकृतिका अनुसरण करनेमें लगाये हुए हैं, उसे तू सुन—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ ६१ ॥

अर्जुन ! ईश्वर सभी प्राणियोंके हृदय-देशमें स्थित है और यन्त्रारूढ़ सभी प्राणियोंको (अपनी) मायासे घुमा रहा है ॥ ६१ ॥

ईश्वरः **सर्वनियमनशीलो वासुदेवः** सर्वभूतानां हृद्देशे **सकलप्रवृत्तिनिवृत्तिमूलज्ञानोदये देशे** तिष्ठति। **कथं किं कुर्वन् तिष्ठति ?**

यन्त्रारूढानि सर्वभूतानि मायया भ्रामयन् **स्वेन एव निर्मितं देहेन्द्रियावस्थप्रकृत्याख्यं यन्त्रम् आरूढानि सर्वभूतानि स्वकीयया सत्त्वादिगुणमय्या मायया गुणानुगुणं प्रवर्तयन् तिष्ठति इत्यर्थः ।**

ईश्वर—सबका नियामक वासुदेव सब प्राणियोंके हृदयदेशमें यानी सम्पूर्ण प्रवृत्ति-निवृत्तियोंके मूलमें ज्ञानके उत्पत्ति-स्थानमें रहता है। कैसे और क्या करता हुआ रहता है ? सो बतलाते हैं—

यन्त्रपर आरूढ़ हुए सब प्राणियोंको मायासे घुमाता हुआ यानी अपने ही द्वारा बनाये हुए शरीर-इन्द्रिय आदिके रूपमें स्थित प्रकृतिरूप यन्त्रपर आरूढ़ हुए समस्त प्राणियोंको अपनी सत्त्वादि गुणमयी मायासे गुणोंके अनुसार चलाता रहता है।

पूर्वम् अपि एतद् उक्तम् *'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च'* (१५।१५) इति *'मत्तः सर्वं प्रवर्तते'* (१०।८) इति च। श्रुतिश्च–*'य आत्मनि तिष्ठन्'* (शत० ब्रा० १।१३।१) इत्यादिका ॥ ६१ ॥

यह बात पहले भी **'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च'** तथा **'मत्तः सर्वं प्रवर्तते।'** इस प्रकार कही गयी है। इसके सिवा **'जो आत्मामें रहकर'** इत्यादि श्रुतिमें भी यही कहा गया है ॥ ६१ ॥

एतन्मायानिवृत्तिहेतुम् आह—

इस मायाकी निवृत्तिका उपाय बताते हैं—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥ ६२ ॥

भारत! सर्वभावसे तू उस (ईश्वर) की ही शरणमें जा। उसके प्रसादसे तू परमशान्तिको और शाश्वत स्थानको प्राप्त होगा ॥ ६२ ॥

यस्माद् एवं तस्मात् तम् एव **सर्वस्य प्रशासितारम् आश्रितवात्सल्येन त्वत्सारथ्ये अवस्थितम् 'इत्थं कुरु' इति च प्रशासितारं मां** सर्वभावेन **सर्वात्मना** शरणं गच्छ **अनुवर्तस्व। अन्यथा तन्मायाप्रेरितेन अज्ञेन त्वया युद्धादिकरणम् अवर्जनीयम्, तथा सति नष्टो भविष्यसि। अतो मदुक्तप्रकारेण युद्धादिकं कुरु इत्यर्थः। एवं कुर्वाणः** तत्प्रसादात् परां शान्तिं **सर्वकर्मबन्धोपशमनं** शाश्वतं

जब कि ऐसी बात है, इसलिये उसीकी अर्थात् मैं जो सबका शासक, शरणागतवत्सलताके कारण तेरे सारथिके स्थानपर विराजित और प्रत्यक्षरूपमें 'अमुक कार्य इस प्रकार कर' ऐसे बतला रहा हूँ, ऐसे मुझ परमेश्वरकी—सर्वभावसे यानी सब प्रकारसे शरण ग्रहण कर—आज्ञाका अनुसरण कर। नहीं तो, मेरी मायासे प्रेरित तुझ अज्ञानीको युद्धादि अनिवार्यरूपसे करने पड़ेंगे और ऐसा होनेसे तू नष्ट हो जायगा। इसलिये मेरे द्वारा बतलायी हुई रीतिसे युद्धादि कर्म कर, यह भाव है। ऐसा करनेसे तू उस (ईश्वर) की कृपासे परम शान्तिको—सारे कर्मबन्धनोंसे रहित अवस्थाको और शाश्वत स्थानको

च स्थानं प्राप्स्यसि । **यद् अभिधीयते श्रुतिशतैः**—

'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।' (ऋ० सं० १ । २ । ६ । ५) 'ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ।' (यजुः सं० ३१ । १६) 'यत्र ऋषयः प्रथमजा ये पुराणाः ।' 'परेण नाकं निहितं गुहायाम्' (महाना० ८ । १४) 'यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् ।' (ऋ० सं० ८ । ७ । १७ । ७) 'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते' (छा० उ० ३ । १३ । ७) 'सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्' (क० उ० ३ । ९) **इत्यादिभिः** ॥६२॥

प्राप्त होगा, जिसका वर्णन सैकड़ों श्रुतियोंद्वारा इस प्रकार किया जाता है—

'उस विष्णुके परमपदको ज्ञानी लोग सदा देखते हैं ।' 'वे महात्मागण निश्चय ही स्वर्गमें जाते हैं, जहाँ प्रथम देवता साध्यगण निवास करते हैं ।' 'जो पहले होनेवाले पुरातन ऋषिगण हैं वे जहाँ रहते हैं' 'परमपुरुषद्वारा हृदयकी गुहामें छिपाया हुआ है ।' 'जो इसका अध्यक्ष है वह (त्रिपाद्-विभूतिरूप) परम व्योममें रहता है ।' 'फिर इस द्युलोकसे परे जो परम ज्योति प्रकाशित है ।' 'वह मार्गके पार पहुँच जाता है, वह स्थान श्रीविष्णुका परमपद है' ॥ ६२ ॥

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ६३ ॥

इस प्रकार गुह्यसे गुह्यतर ज्ञान मेरे द्वारा तेरे प्रति कहा गया । इसको पूर्णरूपसे विचारकर तू जैसा चाहता है, वैसा कर ॥ ६३ ॥

इति एवं ते **मुमुक्षुभिः अधिगन्तव्यं** ज्ञानं **सर्वस्माद्** गुह्याद् गुह्यतरं **कर्मयोगविषयं ज्ञानयोगविषयं भक्तियोगविषयं च सर्वम्** आख्यातम् । एतद् अशेषेण विमृश्य **स्वाधिकारानुरूपं** यथा इच्छसि तथा कुरु, **कर्मयोगं ज्ञानं भक्तियोगं वा यथेष्टम् आतिष्ठ इत्यर्थः** ॥ ६३ ॥

इस प्रकार यह मुमुक्षु पुरुषोंके द्वारा जाननेमें आनेयोग्य, सम्पूर्ण गुप्त रखनेयोग्य भावोंमें भी गुप्ततम, कर्मयोगविषयक, ज्ञानयोगविषयक और भक्तियोगविषयक ज्ञान मैंने सब-का-सब तुझसे कह दिया । इसपर पूर्णरूपसे भलीभाँति विचार करके अपने अधिकारानुसार जैसी इच्छा हो, वैसा ही कर । अभिप्राय यह कि कर्मयोग, ज्ञानयोग या भक्तियोग जिसको तू पसंद करे उसीमें लग जा ॥ ६३ ॥

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥६४॥

तू मेरा समस्त गुह्योंमें गुह्यतम श्रेष्ठ वचन फिर सुन, तू मेरा अत्यन्त प्रिय है, इसलिये तेरे हितकी बात मैं कहूँगा ॥ ६४ ॥

सर्वेषु एतेषु गुह्येषु भक्तियोगस्य श्रेष्ठत्वाद् गुह्यतमम् **इति पूर्वम् एव उक्तम्** '*इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे* ।' (९।१) **इत्यादौ** । भूयः **अपि तद्विषयं** परमं मे वचः शृणु इष्टः असि मे दृढम् इति ततः ते हितं वक्ष्यामि ॥६४॥

इन सम्पूर्ण गुप्त तत्त्वोंमें भक्तियोग ही श्रेष्ठ है, अतएव वही गुह्यतम है; यह पहले ही **'इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।'** इत्यादि वाक्योंमें कहा जा चुका है । फिर भी उस विषयके मेरे श्रेष्ठ वचनोंको तू सुन । तू मेरा अत्यन्त प्रिय है, इसलिये तेरे हितकी बात कहूँगा ॥ ६४ ॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥६५॥

मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त हो, मेरी पूजा करनेवाला हो और मुझको ही नमस्कार कर (फिर) तू मुझको ही प्राप्त होगा । यह मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ (क्योंकि) तू मेरा प्रिय है ॥ ६५ ॥

वेदान्तेषु—'*वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्* ।' (*श्वे० उ० ३ । ८*) '*तमेवं विद्वानमृत इह भवति* ।' '*नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय*' (*श्वे० उ० ३ । ८*) **इत्यादिषु विहितं वेदनध्यानोपासनादिशब्दवाच्यं दर्शनसमानाकारं स्मृतिसंसन्तानम् अत्यर्थप्रियम् इह** 'मन्मना भव' **इति विधीयते** ।

'मैं सूर्य-सदृश प्रकाशमान एवं अज्ञानमय अन्धकारसे अतीत इस महान् पुरुषको जानता हूँ' 'उस (परमेश्वर) को इस प्रकार जाननेवाला यहाँ अमृत हो जाता है ।' 'परमपदकी प्राप्तिका दूसरा मार्ग नहीं है ।' इत्यादि वेदान्तविहित ज्ञान, ध्यान और उपासना आदि शब्दोंका वाच्य दर्शनके समान आकारवाला मेरा अत्यन्त प्रिय स्मरणका प्रवाह ही यहाँ **'मुझमें मनवाला हो'** इस वाक्यसे कहा गया है ।

मद्भक्तः **अत्यर्थं मत्प्रियः अत्यर्थं-मत्प्रियत्वेन च निरतिशयप्रियां स्मृतिसंततिं कुरुष्व इत्यर्थः** । मद्याजी **तत्रापि मद्भक्त इति अनुषज्यते । यजनं पूजनम्, अत्यर्थप्रियमदाराधन-परो भव । आराधनं हि परिपूर्ण-शेषवृत्तिः ।**

मां नमस्कुरु **नमो नमनं मयि अतिमात्रप्रह्वीभावम् अत्यर्थप्रियं कुरु इत्यर्थः । एवं वर्तमानो** माम् एव एष्यसि **इति एतत्** सत्यं ते प्रतिजाने **तव प्रतिज्ञां करोमि, न उपच्छन्द-मात्रं यतः त्वं** प्रियः असि मे *'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः'* (७।१७)**इति पूर्वम् एव उक्तम् । यस्य मयि अतिमात्रप्रीतिः वर्तते मम अपि तस्मिन् अतिमात्रप्रीतिः भवति इति तद्वियोगम् असहमानः अहं तं मां प्रापयामि, अतः सत्यम् एव प्रतिज्ञातं माम् एव एष्यसि इति ॥ ६५ ॥**

'मेरा भक्त हो'—मेरा अत्यन्त प्रिय हो अर्थात् मुझमें अत्यन्त प्रेम करके बार-बार मेरा परम प्रिय धारावाहिक चिन्तन करता रह । 'मेरा यजन करने-वाला हो' इसमें भी 'मेरा भक्त हो' इस कथनका सम्बन्ध है । यजन नाम पूजनका है । अभिप्राय यह है कि अत्यन्त प्रिय मेरी आराधनाके परायण हो । परिपूर्णशेषवृत्ति (भगवान्‌की सर्वथा पूर्ण अधीनता) का नाम ही आराधना है ।

'मुझको ही नमस्कार कर ।' नमन-का नाम नमस्कार है । अभिप्राय यह है कि अत्यन्त प्रिय मेरे प्रति अत्यधिक नम्रभावका ग्रहण कर । इस प्रकार करता हुआ तू मुझको ही प्राप्त होगा । यह मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ । अभिप्राय यह है कि यह मैं तुझसे प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ; यह केवल कहने-भरके लिये दिखाऊ बात नहीं है; क्योंकि तू मेरा प्रिय है । **'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः'** यह पहले ही कहा गया है । जिसकी प्रीति मुझमें अत्यधिक होती है, मेरी प्रीति भी उसमें अत्यधिक होती है । अतः उसका वियोग न सह सकनेके कारण मैं उसे अपनी प्राप्ति करवा देता हूँ । इसलिये मैं सर्वथा सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ कि 'तू मुझको ही प्राप्त होगा' ॥६५॥

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ ६६ ॥

सब धर्मोंका परित्याग करके मुझ एककी शरणमें आ जा । मैं तुझे सारे पापोंसे छुड़ा दूँगा । शोक मत कर ॥ ६६ ॥

कर्मयोगज्ञानयोगभक्तियोगरूपान् सर्वान् धर्मान् **परमनिःश्रेयससाधनभूतान् मदाराधनत्वेन अतिमात्रप्रीत्या यथाधिकारं कुर्वाण एव उक्तरीत्या फलकर्मकर्तृत्वादिपरित्यागेन** परित्यज्य माम् एकम् **एव कर्तारम् आराध्यं प्राप्यम् उपायं च अनुसंधत्स्व ।**

एष एव सर्वधर्माणां शास्त्रीयपरित्यागः इति *'निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम । त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥'* *(१८ । ४)* **इत्यारभ्य** *'सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ।'* *(१८ । ९)* *'न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः । यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥'* *(१८ । ११)* **इति अध्यायादौ सुदृढम् उपपादितम् ।**

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि

एवं वर्तमानं त्वां मत्प्राप्तिविरोधि-

परम कल्याणकी प्राप्तिके साधनभूत कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोगरूप सर्व धर्मोंको मेरी आराधनाके रूपमें अत्यन्त प्रेमसे अधिकारानुसार करता रह और उन्हें करते-करते ही मेरी बतलायी हुई रीतिसे फल, कर्म और कर्तृत्वके त्यागके द्वारा सबका परित्याग करके मुझ एकको ही आराध्यदेव, सबका कर्ता और प्राप्त होनेयोग्य समझता रह तथा उस प्राप्तिका उपाय भी मुझको ही समझ ।

यही सर्व धर्मोंका शास्त्रीय परित्याग है । इस बातका **'निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम । त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥'** यहाँ से लेकर—**'सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ।' 'न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः । यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥'** इस प्रकार अध्यायके आरम्भमें अत्यन्त दृढ़ताके साथ प्रतिपादन किया गया है ।

मैं तुम्हें सब पापोंसे छुड़ा दूँगा — इस प्रकार बर्तते हुए तुझ भक्तको मैं अपनी प्राप्तिके विरोधी जो अकर्तव्यका

भ्यः अनादिकालसंचितानन्ताकृत्यकरणकृत्याकरणरूपेभ्यः सर्वेभ्यः पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः शोकं मा कृथाः ।

अथवा सर्वपापविनिर्मुक्तात्यर्थभगवत्प्रियपुरुषनिर्वर्त्यत्वाद् भक्तियोगस्य तदारम्भविरोधिपापानाम् आनन्त्यात् च तत्प्रायश्चित्तरूपैः धर्मैः अपरिमितकालकृतैः तेषां दुस्तरतया आत्मनो भक्तियोगारम्भानर्हताम् आलोच्य शोचतः अर्जुनस्य शोकम् अपनुदन् श्रीभगवान् उवाच—सर्वधर्मान् परित्यज्य माम् एकं शरणं व्रज इति ।

भक्तियोगारम्भविरोध्यनादिकालसंचितनानाविधानन्तपापानुगुणान् तत्प्रायश्चित्तरूपान् कृच्छ्रचान्द्रायणकूष्माण्डवैश्वानरप्राजापत्यव्रातपतिपवित्रेष्टित्रिवृदग्निष्टोमादिकान् नानाविधानन्तान् त्वया परिमितकालवर्तिना दुरनुष्ठान् सर्वधर्मान्

करना और कर्तव्यका न करनारूप अनादिकालसे सञ्चित अनन्त पाप हैं, उन सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा । मा शुचः—तू शोक मत कर ।

अथवा (इस श्लोकका अर्थ इस प्रकार भी किया जा सकता है —) सर्व पापोंसे सर्वथा मुक्त भगवान्के अत्यन्त प्रिय पुरुषके द्वारा ही भक्तियोगका सेवन किया जा सकता है और उस भक्तियोगारम्भके विरोधी पाप अनन्त हैं; अनन्त कालतक किये जा सकनेवाले उनके प्रायश्चित्तरूप धर्मोंके द्वारा उन पापोंसे पार होना बहुत कठिन है; इन सब कारणोंसे यह समझकर कि मुझमें भक्तियोगका आरम्भ करनेकी योग्यताका अभाव है, शोक करनेवाले अर्जुनके शोकको दूर करते हुए श्रीभगवान् बोले—सब धर्मोंको छोड़कर मुझ एकको शरणमें आ जा ।

इसका यह भाव है कि भक्तियोगारम्भके विरोधी अनादिकालसे सञ्चित विविध प्रकारके अनन्त पापोंके अनुसार उनके प्रायश्चित्तरूप जो कृच्छ्र-चान्द्रायण, कूष्माण्ड, वैश्वानर और प्राजापत्य व्रत तथा व्रातपति, पवित्रेष्टि, त्रिवृत्, अग्निष्टोमादि यज्ञरूप नाना प्रकारके अनन्त धर्म हैं, उनका तुझ परिमित कालतक जीवित रहनेके स्वभाववाले मनुष्यके द्वारा अनुष्ठान होना कठिन है । अतः तू उन

परित्यज्य भक्तियोगारम्भसिद्धये माम् एकं परमकारुणिकम् अनालोचितविशेषशेषलोकशरण्यम् आश्रितवात्सल्यजलधिं शरणं प्रपद्यस्व । अहं त्वा सर्वपापेभ्यो **यथोदितस्वरूपभक्त्यारम्भविरोधिभ्यः सर्वेभ्यः पापेभ्यो** मोक्षयिष्यामि, मा शुचः ॥ ६६ ॥

सर्वधर्मोंका परित्याग करके भक्तियोगके आरम्भकी सिद्धिके लिये मैं जो परम-दयालु किसी प्रकारके भेदका विचार किये बिना ही समस्त लोकोंको शरण देनेवाला शरणागतवत्सलताका समुद्र हूँ, उसीकी शरणमें आ जा । मैं तुझे, जिनका स्वरूप बतलाया गया है तथा जो भक्ति-योगारम्भके विरोधी हैं, उन सर्व पापोंसे छुड़ा दूँगा । तू शोक मत कर ॥ ६६ ॥

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥ ६७ ॥

यह (शास्त्र) तुझे न कभी तपहीन, न भक्तिहीन, न सुनना न चाहने-वालेके प्रति और न उसके प्रति कहना चाहिये जो मेरी निन्दा करता है ॥ ६७ ॥

इदं ते **परमं गुह्यं शास्त्रं मया आख्यातम्** अतपस्काय **अतपस्तपसे त्वया** न **वाच्यं त्वयि वक्तरि मयि च** अभक्ताय कदाचन न **वाच्यं तप्ततपसे च अभक्ताय न वाच्यम् इत्यर्थः** । न च अशुश्रूषवे **भक्ताय अपि अशुश्रूषवे न** वाच्यं न च मां यः अभ्यसूयति **मत्स्वरूपे मदैश्वर्ये मद्गुणेषु च कथितेषु यो दोषम् आविष्करोति न तस्मै वाच्यम्,**

यह परमगुह्य शास्त्र मेरे द्वारा तुझको कहा गया है; इसे तुझको अतपस्वी—तप न तपनेवाले मनुष्यके प्रति नहीं सुनाना चाहिये; जो तुझ वक्तामें तथा मुझमें भक्ति न रखता हो, उसको भी कभी नहीं सुनाना चाहिये । अभिप्राय यह है कि तपस्या करनेवाला भी यदि भक्त न हो तो उसे नहीं सुनाना चाहिये । न सुनना न चाहनेवालेको—भक्त होनेपर भी सुननेकी इच्छा रखनेवाला न हो तो उसे भी नहीं सुनाना चाहिये । तथा जो मेरी निन्दा करनेवाला है अर्थात् बताये हुए मेरे स्वरूप, मेरे ऐश्वर्य और मेरे गुणोंमें जो दोषका आविष्कार करता है, उसे भी यह (शास्त्र) नहीं सुनाना

असमानविभक्तिनिर्देशः तस्य अत्यन्तपरिहरणीयताज्ञापनाय॥६७॥

चाहिये। ऐसे मनुष्यको अत्यन्त त्याज्य बतलानेके लिये ही असमान विभक्तिके द्वारा* सबसे पृथक् करके उसका वर्णन किया गया है ॥ ६७ ॥

य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥ ६८ ॥

जो इस परम गुह्य (शास्त्रको) मेरे भक्तोंमें कहेगा, वह मुझमें परा भक्ति करके निस्सन्देह मुझको ही प्राप्त होगा ॥ ६८ ॥

इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेषु यः अभिधास्यति, **व्याख्यास्यति सः** मयि **परमां** भक्तिं कृत्वा माम् एव एष्यति **न तत्र संशयः** ॥ ६८ ॥

जो मनुष्य इस परम गुह्य शास्त्रको मेरे भक्तोंमें कहेगा, इसकी व्याख्या करेगा, वह मुझमें परम भक्ति करके मुझको ही प्राप्त होगा; इसमें सन्देह नहीं है ॥६८॥

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥ ६९ ॥

मनुष्योंमें उसके सिवा दूसरा मेरा प्रिय कार्य करनेवाला कोई नहीं हुआ है और उससे बढ़कर मेरा प्रियतर इस पृथ्वीपर कोई दूसरा होगा भी नहीं ॥ ६९ ॥

सर्वेषु मनुष्येषु **इतः पूर्वं** तस्माद् अन्यो **मनुष्यो** मे न कश्चित् प्रियकृत्तमः **अभूत्, इतः उत्तरं** च न भविता, **अयोग्यानां प्रथमम् उपादानं योग्यानाम् अकथनाद् अपि तत्कथनस्य अनिष्टतमत्वात्** ॥ ६९ ॥

अबसे पूर्व समस्त मनुष्योंमें उसके (भक्तोंमें गीता कहनेवालेके) सिवा दूसरा कोई भी मनुष्य मेरा अत्यधिक प्रिय कार्य करनेवाला नहीं हुआ और न इसके बाद कोई होनेवाला ही है। शास्त्राधिकारियोंको शास्त्र न सुनानेकी अपेक्षा भी अनधिकारीको शास्त्र सुनाना अधिक अनिष्टकारी है, इसलिये पहले अनधिकारियोंका वर्णन किया गया है।६९।

* 'अतपस्काय, अभक्ताय और 'अशुश्रूषवे'—इन पदोंमें चतुर्थी विभक्तिका प्रयोग हुआ है; परन्तु दोषदर्शीका निर्देश प्रथमा विभक्तिके द्वारा किया गया है। इस प्रकार यहाँ असमान विभक्तिका प्रयोग है।

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥ ७० ॥

जो हम दोनोंके इस धर्ममय संवादका अध्ययनमात्र भी करेगा, उससे मैं ज्ञानयज्ञके द्वारा पूजित होऊँगा; ऐसी मेरी मति है ॥ ७० ॥

य इमम् आवयोः धर्म्यं संवादम् अध्येष्यते, तेन ज्ञानयज्ञेन अहम् इष्टः स्याम्; इति मे मतिः । **अस्मिन् यो ज्ञानयज्ञः अभिधीयते, तेन अहम् एतद् अध्ययनमात्रेण इष्टः स्याम् इत्यर्थः** ॥ ७० ॥

हम दोनोंके इस धर्मयुक्त संवादका जो अध्ययन करेगा, उसके द्वारा मैं ज्ञानयज्ञसे पूजित होऊँगा; ऐसा मैं मानता हूँ । अभिप्राय यह है कि इसके अध्ययनमात्रसे ही मैं, इस गीताशास्त्रमें जो ज्ञानयज्ञ कहा गया है, उसके द्वारा पूजित हो जाऊँगा ॥ ७० ॥

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥ ७१ ॥

श्रद्धावान् और असूयारहित जो भी मनुष्य (इसको) सुनता है, वह भी मुक्त होकर पुण्यकर्मा पुरुषोंके शुभ लोकोंको प्राप्त हो जाता है ॥ ७१ ॥

श्रद्धावान् अनसूयश्च यो नरः शृणुयाद् अपि **तेन श्रवणमात्रेण** सः अपि **भक्तिविरोधिपापेभ्यो** मुक्तः पुण्यकर्मणां **मद्भक्तानां** लोकान् **समूहान्** प्राप्नुयात् ॥ ७१ ॥

जो श्रद्धावान् और असूयारहित (अदोषदर्शी) पुरुष इस गीताशास्त्रका केवल श्रवणमात्र करता है, वह भी उस श्रवणमात्रके प्रभावसे भक्तिविरोधी पापोंसे छूटकर पुण्यकर्म करनेवाले मेरे भक्तोंके लोकसमूहोंको प्राप्त होता है ।७१।

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥ ७२ ॥

पार्थ ! क्या यह (उपदेश) तेरे द्वारा एकाग्रचित्तसे सुना गया है ? धनंजय ! क्या इससे तेरा अज्ञानजनित सम्मोह नष्ट हो गया है ? ॥ ७२ ॥

मया कथितम् एतत् पार्थ त्वया **अवहितेन** चेतसा कच्चित् श्रुतम्? **तव** अज्ञानसंमोहः कच्चित् प्रनष्टः? **येन अज्ञानेन मूढो न योत्स्यामि, इति उक्तवान्** ॥ ७२ ॥

पार्थ! (भैया अर्जुन!) क्या तूने मेरे द्वारा कहे गये इस शास्त्रको एकाग्रचित्तसे सुना? जिस अज्ञानसे मोहित हुआ तू 'युद्ध नहीं करूँगा' ऐसे कहता था, वह तेरा अज्ञानजनित महामोह क्या नष्ट हो गया? ॥ ७२ ॥

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥ ७३ ॥

अर्जुन बोला—अच्युत! तुम्हारे प्रसादसे (मेरा) मोह नष्ट हो गया है और मैंने स्मृति भी पा ली है। अब मैं सन्देहरहित होकर स्थित हूँ। (अब) तुम्हारे वचनका पालन करूँगा ॥ ७३ ॥

मोहः **विपरीतज्ञानं** त्वत्प्रसादात् **मम तद् विनष्टम्**। स्मृतिः **यथावस्थित तत्त्वज्ञानं त्वत्प्रसादाद् एव तत् च लब्धम्**।

अनात्मनि प्रकृतौ आत्माभिमानरूपो मोहः, परमपुरुषशरीरतया तदात्मकस्य कृत्स्नस्य चिदचिद्वस्तुनः अतदात्माभिमानरूपः च, नित्यनैमित्तिकरूपस्य कर्मणः परमपुरुषाराधनतया तत्प्राप्त्युपायभूतस्य बन्धकत्वबुद्धिरूपः च, सर्वो विनष्टः।

विपरीत ज्ञानका नाम 'मोह' है, वह मेरा मोह तुम्हारे प्रसादसे सर्वथा नष्ट हो गया है। यथार्थ तत्त्वज्ञानका नाम 'स्मृति' है, वह भी तुम्हारे प्रसादसे मुझे मिल गयी है।

अभिप्राय यह है कि अनात्मा—प्रकृतिमें आत्माभिमान कर लेना और समस्त चेतनाचेतन वस्तु परम पुरुषका शरीर होनेसे उसीका स्वरूप है, उसे अतद्रूप मान लेना (उसीका स्वरूप न मानना), और नित्य-नैमित्तिक समस्त कर्म परम पुरुषकी आराधनाके रूपमें किये जानेपर उसकी प्राप्तिके उपायरूप हैं, उनको बन्धनकारक समझ बैठना, ऐसा जो मोह था, वह सारा सर्वथा नष्ट हो गया।

आत्मनः प्रकृतिविलक्षणत्वतत्स्वभावरहितताज्ञातृत्वैकस्वभावतापरमपुरुषशेषतातन्नियाम्यत्वैकस्वरूपताज्ञानम्, भगवतो निखिलजगदुत्पत्तिस्थितिप्रलयलीलाशेषदोषप्रत्यनीककल्याणैकस्वरूपस्वाभाविकानवधिकातिशयज्ञानबलैश्वर्यवीर्यशक्तितेजःप्रभृतिसमस्तकल्याणगुणगणमहार्णवपरब्रह्मशब्दाभिधेयपरमपुरुषयाथात्म्यविज्ञानं च, एवंरूपं परावरतत्त्वयाथात्म्यविज्ञानतदभ्यासपूर्वकाहरहरुपचीयमानपरमपुरुषप्रीत्यैकफलनित्यनैमित्तिककर्मनिषिद्धपरिहारशमदमाद्यात्मगुणनिर्वर्त्यभक्तिरूपतापन्नपरमपुरुषोपासनैकलभ्यो वेदान्तवेद्यः परमपुरुषो वासुदेवः त्वम् इति ज्ञानं च लब्धम्।

ततः च बन्धुस्नेहकारुण्यप्रवृद्धविपरीतज्ञानमूलात् सर्वस्माद् अवसादाद्

आत्मा प्रकृतिसे विलक्षण, प्रकृतिके स्वभावसे रहित, एकमात्र ज्ञातापनके स्वभाववाला, परम पुरुषका शेष (किङ्कर), उसीके नियमनमें रहनेवाला और एकरूप है, ऐसा समझना। भगवान् जो कि सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयरूप लीला करनेवाले, सम्पूर्ण दोषोंके विरोधी एकमात्र कल्याणस्वरूप स्वाभाविक अपार अतिशय ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, शक्ति और तेज प्रभृति समस्त कल्याणमय गुणगणोंके महान् सागर तथा परब्रह्म शब्दके वाच्य परम पुरुष हैं, उनके यथार्थ स्वरूपको भी समझ लेना। तथा इस प्रकार पूर्वापरके तत्त्वको यथार्थरूपमें समझकर उसके अभ्याससहित नित्यप्रति वृद्धिशील एकमात्र परम पुरुषकी प्रीतिरूप फलवाले नित्य-नैमित्तिक कर्मोंसे, और निषिद्ध कर्मोंका परिहार करनेवाले शम-दमादि आत्मगुणोंसे प्राप्त की जानेवाली परमपुरुषकी भक्तिभावमें परिणत उपासना ही एकमात्र जिसकी प्राप्ति करानेवाली है, वह वेदान्तसे जाननेमें आनेवाले परम पुरुष वासुदेव तुम ही हो, ऐसा समझ लेना। यह सारा ज्ञान भी मुझको प्राप्त हो चुका है।

इस कारण मैं अब बन्धुस्नेहजनित करुणासे बढ़े हुए विपरीत ज्ञानमूलक

विमुक्तो गतसंदेहः **स्वस्थः** स्थितः अस्मि। **इदानीम् एव युद्धादिकर्तव्यताविषयं** तव वचनं करिष्ये **यथोक्तं युद्धादिकं करिष्ये इत्यर्थः** ॥ ७३ ॥

सम्पूर्ण शोकसे छूटकर सर्वथा सन्देह-रहित हो स्वस्थभावमें स्थित हूँ। अब मैं तुरंत युद्धकी कर्तव्यतारूप तुम्हारे वचनोंका पालन करूँगा अर्थात् कहे हुए प्रकारसे युद्धादि कर्म करूँगा ॥ ७३ ॥

धृतराष्ट्राय स्वस्य पुत्राः पाण्डवाः च युद्धे किम् अकुर्वत इति पृच्छते— संजय उवाच—

मेरे और पाण्डुके पुत्रोंने युद्धमें क्या किया, इस प्रकार पूछनेवाले धृतराष्ट्रसे संजय बोला—

संजय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥ ७४ ॥

संजय बोला—इस प्रकार मैंने महात्मा श्रीवासुदेव और अर्जुनका यह अद्भुत और रोमाञ्चकारी संवाद सुना ॥ ७४ ॥

इति **एवं** वासुदेवस्य **वसुदेवसूनोः** पार्थस्य च **तत्पितृष्वसुः पुत्रस्य च** महात्मनो **महाबुद्धेः तत्पदद्वन्द्वम् आश्रितस्य** इमं रोमहर्षणम् अद्भुतं संवादम् अहं **यथोक्तम्** अश्रौषं **श्रुतवान् अहम्** ॥ ७४ ॥

इस प्रकार मैंने महात्मा—महान् बुद्धिमान् वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णका और उसके चरणयुगलके आश्रित उसकी बुआ पृथाके पुत्र अर्जुनका यह उपर्युक्त रोमाञ्चकारी अद्भुत संवाद सुना ॥७४॥

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥ ७५ ॥

श्रीव्यासदेवके प्रसादसे यह योगनामक परम गुह्य (रहस्य) मैंने स्वयं योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णसे साक्षात् कहते हुए सुना ॥ ७५ ॥

व्यासप्रसादाद् **व्यासानुग्रहेण दिव्यचक्षुःश्रोत्रलाभाद्** एतत् परं **योगाख्यं** गुह्यं योगेश्वराद् **ज्ञानबलैश्वर्यवीर्यशक्तितेजसां निधेः भगवतः**

यह योगनामक परम गुह्य रहस्य मैंने श्रीव्यासदेवके प्रसादसे—उनके अनुग्रहसे दिव्यनेत्र और श्रोत्र पाकर ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, शक्ति और तेजके निधान योगेश्वर

कृष्णात् स्वयम् **एव** कथयतः साक्षात् श्रुतवान् अहम् ॥ ७५ ॥

भगवान् श्रीकृष्णसे स्वयं उनके कहते हुए ही साक्षात् सुना है ॥ ७५ ॥

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥ ७६ ॥

राजन् ! श्रीकृष्ण और अर्जुनके इस अद्भुत और पुण्यमय संवादको पुनः-पुनः स्मरण करके मैं बार-बार हर्षित हो रहा हूँ ॥ ७६ ॥

केशवार्जुनयोः इमं पुण्यम् अद्भुतं संवादं **साक्षाच्छ्रुतं स्मृत्वा** मुहुः मुहुः हृष्यामि ॥ ७६ ॥

श्रीकेशव और अर्जुनके इस पुण्यमय अद्भुत साक्षात् सुने हुए संवादको याद करके मैं बार-बार हर्षित हो रहा हूँ ॥ ७६ ॥

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान्राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः ॥ ७७ ॥

राजन् ! भगवान् श्रीहरिके उस अति अद्भुत रूपको भी बार-बार स्मरण करके मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है और मैं पुनः-पुनः हर्षित हो रहा हूँ ॥७७॥

तत् च **अर्जुनाय प्रकाशितम् ऐश्वरं** हरेः अत्यद्भुतं रूपं **मया साक्षात्कृतं** संस्मृत्य संस्मृत्य **हृष्यतो** मे महान् विस्मयो **जायते** पुनः पुनः च हृष्यामि ॥७७॥

अर्जुनके लिये प्रकट किये हुए और मेरे द्वारा साक्षात् देखे हुए श्रीहरिके उस अति अद्भुत ऐश्वर्यमय रूपको भी बार-बार याद करके हर्षित होते-होते मुझे महान् विस्मय होता है, और मैं पुनः-पुनः हर्षित हो रहा हूँ ॥७७॥

किम् अत्र बहुना उक्तेन ?

इस विषयमें बहुत कहनेसे क्या प्रयोजन है—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥ ७८ ॥

जहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण और जहाँ धनुर्धर अर्जुन हैं, वहीं श्री, विजय, विभूति और अचल नीति है। यह मेरी सम्मति है ॥ ७८ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसंन्यासयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

यत्र योगेश्वरः **कृत्स्नस्य उच्चावचरूपेण अवस्थितस्य चेतनस्य अचेतनस्य च वस्तुनो ये ये स्वभावयोगाः तेषां सर्वेषां योगानाम् ईश्वरः स्वसंकल्पायत्तस्वेतरसमस्तवस्तुस्वरूपस्थितिप्रवृत्तिभेदः** कृष्णो **वसुदेवसूनुः**, यत्र **च** पार्थो धनुर्धरः **तत्पितृष्वसुः पुत्रः तत्पदद्वन्द्वैकाश्रयः** तत्र श्रीः विजयो भूतिः नीतिः **च** ध्रुवा **निश्चला इति** मतिः मम **इति** ॥७८॥

इति श्रीमद्भगवद्रामानुजाचार्यविरचिते श्रीमद्भगवद्गीताभाष्ये अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

मेरी बुद्धि तो यह कहती है कि उच्च-नीचरूपमें स्थित समस्त चेतनाचेतन वस्तुओंके जो-जो स्वभावयोग हैं, उन सब योगोंका जो ईश्वर है तथा अपनेसे भिन्न सम्पूर्ण वस्तुओंके स्वरूप, स्थिति और प्रवृत्तिके भेद जिसके स्वसङ्कल्पके अधीन हैं, वह समस्त योगोंका ईश्वर वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण जहाँ (जिसके पक्षमें) है, और जहाँ (जिस पक्षमें) उस (श्रीकृष्ण) की बुआ पृथाका पुत्र, एकमात्र उसी (श्रीकृष्ण) के चरणयुगलका आश्रय लेनेवाला, धनुर्धर अर्जुन है, वहीं श्री, विजय, विभूति और ध्रुवा—निश्चला नीति है ॥ ७८ ॥

इस प्रकार श्रीमान् भगवान् रामानुजाचार्यद्वारा रचित गीता-भाष्यके हिन्दी-भाषानुवादका अठारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १८ ॥